आद्य वक्तव्य

आज के भौतिकता-प्रधान युग मे भी हमारे पुण्योदय से हमे अध्यात्म की अजस्र धारा परमपूज्य कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार ग्रन्थराज के रूप मे उपलब्ध है। इस ग्रन्थराज को पढकर असख्य जीवो ने अपना कल्याण किया है और भविष्य मे करते रहेगे। श्री आचार्य चारित्र विभूषण ज्ञानमूर्ति १०८ ज्ञानसागर जी महाराज के अजमेर के विगत चातुर्मास मे सिद्धकूट चैत्यालय नशिया मे समयसार ग्रन्थराज का प्रवचन उनके द्वारा हुआ। पूज्य गुरुदेव ने एक विशेष दृष्टि समयसार को समझने की हमे दी। इस दृष्टि से कुछ मतभेद होते हुऐ भी उसका समादर हुआ। महाराज श्री ने समय प्राभृत के श्लोको की आचार्य जयसेन स्वामी की टीका का हिन्दी रूपान्तर किया और अपने हिन्दी विशेषार्थों मे यह नई दिशा स्वाध्याय प्रेमियो को दी है। जयसेन स्वामी ने समयसार ग्रन्थ मुख्यतया वीतराग निर्विकल्प समाधि मे स्थित साधुजनो के कल्याणार्थ रचा है, जब कि पूज्य अमृतचन्द्राचार्य ने गुणस्थान की परिपाटी के परिपेक्ष्य मे उसे घटित नही किया है।

श्री १०८ आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज बाल ब्रह्मचारी हैं। इन्होने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी मे शिक्षा प्राप्त की और पडित भूरामल जी शास्त्री के रूप मे अनेक ग्रन्थो की पाडित्यपूर्ण रचना की है जिनकी साहित्यिक छटा देखते ही वनती है। इनमे से कतिपय ग्रन्थ जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, दयोदय, भद्रोदय, सम्क्त्वसार शतक, एव विवेकोदय हैं। आचार्य श्री १०८ वीरसागरजी के सघ मे स्थित मुनिराजो एव त्यागियो को आपने विधिपूर्वक पढाया है। सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ के आप उद्भट विद्वान हैं। क्लिष्ट से क्लिष्ट धार्मिक विषय को आप वडे सरल शब्दो से सुस्पष्ट करते हैं। आपने आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज से मुनिदीक्षा ली और उनके प्रमुख शिष्य हुए। आप आगमानुकूल मुनिचर्या का वडी कठोरता से पालन करते आ रहे हैं और इस वृद्धावस्था मे भी उसमे कहीं शिथिलता का लवलेश भी दिखाई नही देता। किंचित् विश्रामकाल के अतिरिक्त दिनरात आपका समय ध्यान अध्ययन, एव अध्यापन मे ही व्यतीत होता है। आचार्य समन्तभद्र द्वारा रत्नकरड श्रावकाचार के निम्नलिखित श्लोक मे साधु के जिस स्वरूप का वर्णन है वह हमे आचार्य ज्ञानसागरजी मे पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होता है—

> विषयाशावशातीतो निरारभोऽपरिग्रह ।
> ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

नवयुवक मनोज्ञ मुनि १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज की दीक्षा समारोह के अवसर पर ग्रन्थ प्रकाशन हेतु समाज से कुछ धनराशि एकत्रित हुई थी। इसके अतिरिक्त अन्य महानुभावो ने भी इस

शुभकार्य मे अपना योगदान दिया । इस धनराशि से इस अनुपम ग्रन्थराज का प्रकाशन हो सका। एतदर्थ सब दानी महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

सबसे अधिक हम १०८ स्व. आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के आभारी हैं जिनके पास अजमेर से कतिपय व्यक्ति ग्रन्थ प्रकाशन के लिये आशीर्वाद लेने हेतु प्रतापगढ गये। तब आचार्य श्री ने स्वयं बड़ा उत्साह एव हर्ष प्रकट कर तथा ब्र० प० रतनचन्द्र जी मुख्तार सा० एवं बहुश्रुत विद्वान मुनिराज श्री १०८ श्रुतसागर जी महाराज ने इस कार्य की अत्यत सराहना करके हमारे उत्साह की अभिवृद्धि की। न मालूम भविष्य की किस अधकारग्रस्त परिस्थिति का सकेत पाकर स्व० आचार्य श्री ने अपना आतरिक हर्ष प्रकट कर तथा अपने ग्रन्थ का वेष्टन ही आशीर्वाद रूप मे देकर इन व्यक्तियो को विदा किया और कहा कि इस कार्य को अविलब सम्पन्न किया जावे । हमे क्या पता था कि उनके इस शीघ्रता के सकेत मे क्या रहस्य छिपा था ।

ब्रह्मचारी प्यारेलाल जी ने अथक परिश्रम करके ग्रन्थराज की प्रेस-कापी तैयार की एव प्रूफ संशोधन का कठिन कार्य भी उन्ही के द्वारा सम्पन्न हुआ। हमारे शब्द कोष में शब्द नही हैं कि जिनके द्वारा हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकें।

ग्रन्थराज की अनुक्रमणिका के तैयार करने में ब्र० प० रतनचदजी सा० मुख्तार सहारनपुर ने अपना अमूल्य समय दिया। हम उनके अत्यंत आभारी हैं।

ग्रन्थ के सशोधन आदि कार्य मे नगर के प्रतिष्ठित विद्वान् प० विद्याकुमार जी सेठी का सहयोग सदैव मिलता रहा। हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नही रह सकते।

ग्रन्थराज के प्रकाशन के विभिन्न अंगो का समन्वय करने में मेरे मित्र श्री छगनलाल जी पाटनी ने एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। एतदर्थ वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। सूरज प्रिन्टर्स के व्यवस्थापक श्री इन्द्रचंद जी पाटनी एव पदमकान्त जैन के अथक परिश्रम एवं तत्परता को भी इस समय हम स्मरण करने का लोभ सवरण नही कर सकते। इनके सिवा प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से जिन जिन महानुभावो का ग्रन्थराज के प्रकाशन में हमें सहयोग प्राप्त हुआ है उन सबके प्रति अत्यत विनम्रतापूर्वक हम अपना आभार प्रदर्शित करते हैं।

इन दो शब्दो के साथ पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सुदीर्घ जीवन के लिये परमप्रभु देवाधिदेव अरहतदेव से प्रार्थना करते हुये हम इस ग्रन्थराज को समाज एव विद्वन्मडली के समक्ष रखते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

श्रीनगर (अजमेर)
१-७-६६

मनोहरलाल जैन
एम. ए., एल-एल. बी., बी. टी.
प्रधानाध्यापक
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय,
श्रीनगर (अजमेर)

प्रस्तावना के अन्तर्गत

विषय परिचय

१. श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रथम गाथा मे श्री सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके यह बतलाया है कि पंच परमेष्ठी की भक्ति से मात्र पुण्य वध नही होता किन्तु जीव का उद्धार भी होता है।

२ इसी प्रथम गाथा मे 'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भरिणय।' इस वाक्य द्वारा यह वतलाया है कि केवली व श्रुत केवली, पुद्गल रूप-द्रव्य-श्रुत के कर्ता हैं और मैं (कु दकु द आचार्य) भी उसी मोक्षपाहुड-द्रव्यश्रुत को पौद्गलिक वचनो द्वारा कहूगा। अर्थात् जीवद्रव्य अपनी पर्याय द्वारा पुद्गलद्रव्य की पर्याय का निमित्त कर्त्ता है।

३. प्रथम गाथा की टीका मे "समय पाहुड" शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है "प्राभृत सार सार शुद्धावस्था समयस्यात्मन प्राभृत समयप्राभृत" अर्थात् इस समयसार ग्रंथ मे आत्मा की अवस्था का कथन है।

४. दूसरी गाथा मे वतलाया है कि जो चारित्र, दर्शन, ज्ञान मे स्थित है वह 'स्वसमय' है। यद्यपि यहां गुणस्थानो का सकेत नही तथापि रयणसार की निम्न गाथाओ द्वारा श्री कु दकुदाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा (अर्हत और सिद्ध) तो स्वसमय है और क्षीणमोह गुणस्थान तक जीव 'परसमय' है। इससे स्पष्ट है कि असयत सम्यग्दृष्टि 'स्वसमय' नही है, परसमय है।

वहिरतरप्पभेय परसमय भण्णये जिणिदेहिं।
परमप्पो सगसमय तब्भेय जाण गुरण ठाणे ॥१४८॥
मिस्सोत्ति वाहिरप्पा तरतमया तुरिय अतरप्प जहण्णा।
सतोति मज्झिमतर खीणुत्तम परमजिणसिद्धा ॥१४६॥

५ गाथा ३ की उत्थानिका मे कहा है "स्वसमय एव शुद्धात्मन स्वरूपन तु पर समय अर्थात् स्वसमय शुद्धात्मा (परमात्मा) का स्वरूप है।

६ इस समयसार ग्र थ मे 'सम्यग्दृष्टि' शव्द से वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही ग्रहण करना चाहिये जैसा कि गाथा २०३ की टीका मे कहा गया है "अत्र ग्र थे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहण।

७ जो जीव वीतराग निर्विकल्प समाधि मे स्थित नही है उस जीव को इस ग्रथ मे अज्ञानी कहा है—

"अज्ञानिनानिर्विकल्पसमाधिभ्रष्टाना" (पृ० १६)

"त्रिगुप्तसमाधिलक्षरणभेदज्ञानाद् वाह्या ये ते व्रत नियमान् धारयत शीलानि तपश्चरण च कुर्वाणा अपिमोक्षन लभते। कस्मादिति चेत्? येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थवाह्यास्तेन कारणेन ते भवत्यज्ञानिन। अज्ञानिना तु कथ मोक्ष" (पृ० १३७)

"तावत्काल परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीव कर्मणा कारको भवतीति ज्ञातव्य.।"(पृ.२५६)

"व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानतकेवलज्ञानादिचतुष्टयाभिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पाद केनिश्चय कारण समयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च" (पृ ३२६)

जो निर्विकल्प समाधि में स्थित है उसको ही ज्ञानी कहा है

"निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेनभेदज्ञानेनसर्वारम्भापरिणतत्वाज् ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिसवित्युपलव्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति। अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेद ज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थ।" (पृ० ११५)

८ गाथा ८६ में वतलाया है कि जीव परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्म रूप परिणमित होता है और पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव भी विभाव रूप परिणमता है यदि ऐसा न माना जाय तो मुक्तात्मा के भी कर्मोदय के विना भाव क्रोधादिरूप विकारभाव हो जायगे।

"तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमतरेणापि भावक्रोधादिभि परिणमतु। तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यकर्मोदय निमित्ताभावेपि भावक्रोधादय प्राप्नुवंति।" (पृ० १०६)

"एते मिथ्यात्वादि भावप्रत्यया शुद्धनिश्चयेनाचेतना खलु स्फुट। कस्मात् पुद्गल कर्मोदय सभवादस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्या समुत्पन्न पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्ताया पुत्रोऽय केचन वदंति। देवदत्तस्य पुत्रोऽय मिति केचन वदति-दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसयोगेनोत्पन्ना मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसवद्धा। शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतना पौद्गलिका:। परमार्थत पुनरेकातेन न जीवरूपा न च पुद्गलरूपा सुधाहरिद्रयो सयोग परिणामवत्। ये केचन वदत्येकातेन रागादयो जीवसवधिन पुद्गलसवधिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या। कस्मादिति चेत् ? पूर्वोक्त स्त्रीपुरुषदृष्टातेन सयोगोद्भवत्वात्।"(पृ० १०१)यहा यह वतलाया गया है कि जिस प्रकार चूना व हल्दी के सयोग से एक तीसरी पर्याय लाल वर्ण रूप उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल के वध से रागादि रूप तीसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार पुत्रोत्पत्ति न मात्र माता से है न मात्र पिता से है किन्तु दोनो के सयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार रागादि विकार भाव न मात्र जीव के हैं न पुद्गल के हैं दोनो के वध से रागादि की उत्पत्ति होती है। जो मात्र जीव की भूल से रागादि की उत्पत्ति मानते हैं या मात्र कर्म से रागादि की उत्पत्ति मानते हैं उनके वचन मिथ्या हैं।

दो शब्द

ग्रन्थ के प्रकाशन मण्डल की इच्छानुसार इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन के विषय मे दो शब्द लिखते हुऐ मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस ग्रथराज की भाषा टीका श्री १०८ आचार्य पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा हुई हैं। उनकी ज्ञान गरिमा को विद्वत् समाज भली प्रकार जानता है। प्रस्तुत टीका उनके गहन अध्ययन, विशिष्ट विद्वत्ता एव अगाध अनुभव का सार है। ग्रथराज की विषय वस्तु विद्वानो एव स्वाध्याय प्रेमियो के लिये मनन करने योग्य है। जिस सरल भाषा मे ऐसे कठिन विषय पर इस ग्रथ मे विवेचन हुआ है उसमे अनेको समाधान सहज ही हो जाते हैं। टीका के निर्माण मे आचार्य श्री ने लगातार कई वर्षों तक अथक परिश्रम किया है। उनकी इस ज्ञानाराधना के प्रति विनयपूर्वक शत शत वन्दन! वे एक महान् योगी, साधु एव विद्वान् हैं।

जिस लगन और तत्परता से ब्र० प्यारेलाल जी सा० ने प्रारंभ से ही इसको वर्तमान रूप देने मे योगदान दिया है वह श्लाघनीय है। उनके अथक परिश्रम से ही इसका प्रकाशन सभव हुआ है, यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही समझी जानी चाहिये। अत वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वाध्याय प्रेमी इस ग्रथ का उचित समादर करेंगे।

भागचन्द सोनी

।। समयसार का विषय-क्रम ।।

१ जीवाजीवाधिकार

गाथा स०	विषय	पृष्ठ स०
	प्रयोजनवान है किन्तु निर्विकल्पसमाधि रहित के लिये व्यवहारनय प्रयोजनवान है	१२
१४	शुभोपयोगी प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानो तक व्यवहारनय प्रयोजनवान है	१४
१५	उत्थानिका—जीवादि पदार्थ सम्यक्त्व के विषय होने के कारण व्यवहार-सम्यक्त्व के निमित्त होते हैं।	१५
१५	निश्चयनय से निर्णय किये हुए जीवादि नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते हैं।	१५
१५	तीर्थ वर्तना निमित्त तथा प्राथमिक शिष्य अपेक्षा नव पदार्थ भूतार्थ हैं किंतु निर्विकल्प समाधि काल मे अभूतार्थ हैं।	१६
१५	'प्रमाणनय निक्षेप' सविकल्प अवस्था मे भूतार्थ, समाधि काल मे अभूतार्थ	१६
१६	शुद्धात्मा का साधक होने से और शुद्ध अभिप्राय मे परिणत जीव को शुद्धनय समझना चाहिये क्योंकि वह आत्मा को वध रहित, अन्यत्वरहित, चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के सयोग रहित अवलोकन करता है।	१८
१७	जो आत्मा को अवद्धस्पृष्ट अनन्य, अविशेष आदि रूप से अनुभव करता हैं वह द्रव्य-श्रुत भावश्रुत मय द्वादशागरूप सव जिन शासन का जानकार होता है	१८ १६
	'सूत्रार्थ' श्रुत और प्रकृत सामर्थ्य से युक्त होता है अर्थात् सूत्र मे नही कही गई बात भी प्रसग से स्वीकार कर ली जाती है।	१६
	'अपदेश का अर्थ द्रव्य श्रुत और सूत्र का अर्थ भाव श्रुत होता है।	१६
	निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट अज्ञानी है। उसको ज्ञेय पदार्थो के भेद से आत्मा खण्ड खण्ड ज्ञानरुप जानपडती है।	१६
१८	मेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र मे तथा प्रत्याख्यान, संवर और योग (ध्यान) मे मात्र आत्मा ही है ऐसा ज्ञानी का विचार है।	२०
	'योग' का अर्थ निर्विकल्प समाधि परम सामायिक परम ध्यान है।	२०
१६	प्रारम्भिक अवस्था मे दर्शन ज्ञान चारित्र भिन्न भिन्न अनुभव मे आते है किन्तु शुद्ध निश्चय नय से इन तीन मयी आत्मा अनुभव मे आती है।	२१
	निर्विकल्प समाधि मे ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र होते हैं।	२१
२०-२१	उदाहरण के द्वारा स्पष्टीकरण करके शुद्धात्मा ही जानने योग्य हैं, निश्चय करने योग्य है तथा निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव करने योग्य है।	२१
	अणुचरण का अर्थ है निर्विकल्प समाधि द्वारा अनुभव करना	२२
२२	जव तक कर्म नोकर्म भाव कर्म मे आत्म बुद्धि तथा ममत्व भाव रहता है तव तक अज्ञानी है	२२
	शुद्धात्मानुभूति जिन को प्राप्त होती है वे जीव शुभाशुभ पदार्थो मे दर्पण के समान निर्विकार होकर रहते हैं।	२३
२३	स्व शुद्ध जीव मेउपयुक्त अर्थात् तन्मय बुद्धिसे परिणत होता है तो मोक्ष होती है। देहादि अजीव मे उपयुक्त होने से वध होता है	२३
२४	निश्चयनय से आत्मा अपने भावो का कर्ता है और व्यवहार नय से पुद्गल कर्मो का कर्ता है। शुद्ध निश्चय नय मे शुद्ध भावो का कर्ता है अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्ध	

(२) अजीवाधिकार

(३) कर्तृ कर्माधिकार

(४) पुण्यपापाधिकार

(५) आस्रव अधिकार

गाथा स०	विषय	पृष्ठ स०

(६) संवराधिकार

(७) निर्जराधिकार

(८) बंधाधिकार

मोक्षाधिकार (९)

सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार (१०)

(मोक्ष पदार्थ चूलिका)

गाथा स०	विषय	पृष्ठ स०
३३७	निरपराधी नि शक होता हुआ अपने आप को जानता हुआ निरन्तर आराधना में हो तत्पर होता है।	२८१
३३८	शास्त्रो को भले प्रकार पढ कर भी अभव्य जीव कर्मोदय स्वभाव को नही छोडता जैसे गुड सहित दूध पीते हुए भी सर्व निर्विष नही होता।	२८२
३३९	ज्ञानी जीव वैराग्य सहित होता हुआ मधुर कटुक आदि अनेक प्रकार कर्म फल को जानता तो है किन्तु भोक्ता नही होता।	२८२
३४०	निर्विकल्प समाधि मे स्थित ज्ञानी कर्मो को न तो करता है और न भोगता है किन्तु कर्म वध, कर्मफल, पुण्य और पाप को जानता ही है।	२८४
३४१	जैसे चक्षु पदार्थ को देखता ही है उस का कर्ता भोक्ता नही होता वैसे ही ज्ञान भी वध,मोक्ष,कर्मोदय,निर्जरा,जानता ही है कर्ता भोक्ता नही होता।	२८४
	मोक्षाधिकार चूलिका का उपसहार।	२८५
	भव्यत्व अभव्यत्व और जीवत्व परिणामिक भाव।	२८६
	मोहादि-कर्म सामान्य भव्यत्व भाव के आच्छादक हैं।	२८६
	कालादि लब्धियो के वश भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है।	२८६
	शक्ति रूप मोक्ष तो शुद्ध पारिणामिक रूप यदि पहले से ही प्रवर्तमान है किन्तु व्यक्ति रूप मोक्ष पहले से नही है।	२८६
	परमार्थ दृष्टि से यह जीव न उपजता है, न मरता है, न वधता है, और न मुक्त होता है।	२८६

समयसार चूलिका

गाथा स०	विषय	पृष्ठ स०
	चूलिका शब्द का अर्थ।	२८८
	चूलिका की समुदाय पातनिका।	२८८-२८९
३४२-३४४	जैसे सुर नर आदि प्राणियो को विष्णु वनाता है यदि एकात से छहकायके जीवो को आत्मा करता है तो फिर लोगोका और श्रमणोका एक ही सिद्धांत ठहरे इसलिये लोक और श्रमणो मे से किसी को भी मोक्ष नही होगा।	२९१
३४५-३४८	पदार्थ का स्वरूप जानने वाले भी व्यवहार मे परद्रव्य को अपना कहते हैं किन्तु निश्चय मे वे जानते हैं कि परमाणु मात्र मेरा भी नही है यदि वे परद्रव्य को अपना वनाते हैं तो वे मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं।	२९३
	व्यवहार नय प्राथमिक लोगो को सवोधन करने के लिये है।	२९४

स्याद्वाद अधिकार

॥ इति ॥

卐 卐卐卐卐
卐 卐
卐 卐
卐卐卐卐卐卐卐
卐 卐
卐 卐
卐卐卐卐 卐

नम श्रीपरमात्मने ।

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित:

समयसार:

समयसार अधिकार को सेतु तुल्य उरधार ।
हो पाते हैं भव्यजन भव वारिधि से पार ।।

श्री जयसेनाचार्यकृता तात्पर्यवृत्तिः (हिन्दी टीका सहित)

वीतरागं जिन नत्वा ज्ञानानंदैकसंपदम् ।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्ति तात्पर्यसंज्ञिकाम् ।।

अर्थ—मैं (जयसेनाचार्य) ज्ञान और आनन्द के अद्वैत (अद्भुत) अपूर्व स्थान और वीतराग जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके समयसार परमागम की तात्पर्य नाम की वृत्ति (टीका) को कहता हूँ।

तात्पर्यवृत्ति—अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्तररुचिशिष्यप्रतिवोधनार्थं श्रीकु दकु दाचार्यदेव-निर्मिते समयसारप्राभृतग्रन्थे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितव्याख्यान क्रियते। तत्रादौ **वंदित्तु सव्वसिद्धे** इति नमस्कारगाथामादि कृत्वा सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले स्वतत्रगाथाषट्क भवति। तदनतर द्वितीयस्थले भेदाभेदरत्न-त्रयप्रतिपादनरूपेण **ववहारेणुवदिस्सदि** इत्यादिगाथाद्वय। अथ तृतीयस्थले निश्चयव्यहारश्रुतकेवलिव्याख्यानमुख्यत्वेन **जो हि सुदेण** इत्यादिसूत्रद्वय। अत पर चतुर्थस्थले भेदाभेदरत्नत्रयभावनार्थं तथैव भावनाफलप्रतिपादनार्थं च **णाणह्मिभावणा** इत्यादिसूत्रद्वय। तदनतर पचमस्थले निश्चयव्यवहारनयद्वयव्याख्यानरूपेण **ववहारो भूदत्थो** इत्यादिसूत्रद्वय। एव चतुर्दशगाथाभि स्थलपचकेन समयसारपीठिकाव्याख्याने समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ प्रथमतस्तावद्गाथाया पूर्वार्द्धेन मगलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तरार्द्धेन तु समयसारग्रथव्याख्यान करोमीत्यभिप्राय मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति।

टीका—अव शुद्ध परमात्म तत्व के प्रतिपादन को मुख्य लेकर विस्तार मे रुचि रखने वाले शिष्यो के प्रतिवोधन के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के वनाये हुये समयसार प्राभृत ग्रन्थ मे अधिकार की शुद्धि-पूर्वक पातनिका (पीठिका) सहित व्याख्यान किया जा रहा है। वहा पर सवसे पहले "वदित्तु सव्व सिद्धे" इस प्रकार नमस्कार गाथा को आरभ मे लेकर सूत्रपाठ के क्रम से पहले स्थल मे छह स्वतन्त्र गाथाये है। इसके आगे द्वितीय स्थल मे भेदाभेदरत्नत्रय का प्रतिपादन करते हुए "ववहारेणुवदिस्सदि"

इत्यादि दो गाथाये हैं । फिर तीसरे स्थल मे निश्चय व्यवहार श्रुतकेवली के व्याख्यान की मुख्यता से "जो हि मुदेरा" इत्यादि दो गाथाये हैं । इसके आगे चौथे स्थल मे भेदाभेदरत्नत्रय की भावना के लिये और उस भावना के फल को वर्णन करने के लिये "णाणम्हि भावणा" इत्यादि दो सूत्र हैं । इसके आगे पाचवें स्थल मे निश्चय व्यवहार नामक दोनो नयो का व्याख्यान करते हुये "ववहारो भूदत्थो" इत्यादि दो गाथायें हैं । इस प्रकार पाच स्थलो मे चौदह गाथाओं के द्वारा समयसार ग्रथ की पीठिका का व्याख्यान करने मे समुदाय पातनिका है ।

अब सबसे प्रथम भगवान कुन्दकुन्द गाथा के पूर्वार्द्ध मे मगल के लिये इष्ट देवता को नमस्कार करके उत्तरार्द्ध मे समयसार के व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा का अभिप्राय मनमे धरकर पहला सूत्र कहते हैं—

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुड़मिणमो सुदकेवलीभणिदं ।। १ ।।

वंदित्वा सर्व्वसिद्धान्, ध्रुवाममलामनुपमां गतिं प्राप्तान् ।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदमहो श्रुतकेवलिभणितं ।।१।।

अर्थ—अविनाशी निर्मल और उपमा रहित गति में विराजमान सब सिद्धो को नमस्कार करके हे भव्यजीवो ! मै श्रुतकेवलियो द्वारा वर्णन किये हुये समयसार ग्रन्थ को कहूगा ।।१।।

तात्पर्यवृत्ति–वंदित्तु इत्यादि पदखडनारूपेण व्याख्यान क्रियते । **वंदित्तु** निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधक-भावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मकद्रव्यनमस्कारेण वदित्वा कान्, **सव्वसिद्धे** स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान् । किं विशिष्टान् **पत्ते** प्राप्तान् का **गदिं** सिद्धगति सिद्धपरिणति-। कथभूता **धुवं** टकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वरा । **अमलं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेन शुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मला । अथवा **अचलं** इति पाठातरे द्रव्यक्षेत्रादिपचप्रकारससारभ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचला । **अणोवमं** निखिलोपमारहितत्वेन निरुपमस्वभावसहितत्वेन अनुपमा । एव पूर्वार्द्धेन नमस्कार कृत्वा परार्द्धेन सबधाभिधेयप्रयोजनसूचनार्थ प्रतिज्ञा करोति । वक्ष्यामि किं **समयपाहुडं** समयप्राभृत सम्यक् अय. बोधो यस्य स भवति समय आत्मा । अथवा सम एकीभावेनायन गमन समय । प्राभृत सार सार शुद्धावस्था । समयस्यात्मन. प्राभृत समयप्राभृत । अथवा समय एव प्राभृत समयप्राभृत । **इण** इद प्रत्यक्षीभूत **ओ** अहो भव्या कथभूत **सुदकेवली-भणिदं** प्राकृतलक्षणबलात्केवलीशब्ददीर्घत्व । श्रुते परमागमे केवलिभि सर्वज्ञैर्भणित श्रुतकेवलिभणित । अथवा श्रुतकेवलिभणित गणधरदेवकथितमिति । सबधाभिधेयप्रयोजनानि कथ्यते । व्याख्यान वृत्तिग्रथ· व्याख्येय तत्प्रतिपादकसूत्रमिति । तयोस्सबधो व्याख्यानव्याख्येयसबध: । सूत्रमभिधान सूत्रार्थोभिधेय तयो: सबधोऽभिधानाभिधेय-सबध । निर्विकारस्वसवेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञान प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्राय. ।।१।। अथ गाथापूर्वार्द्धेन स्वसमय-मपरार्द्धेन परसमय च कथयामीत्यभिप्राय मनसि सप्रधार्य सूत्रमिद निरूपयति—

अब पदच्छेद करके अर्थ किया-जाता है:—

टीका—(वदित्तु) निश्चय नय से तो अपने आप मे ही आराध्य आराधक भाव को स्वीकार करने रूप निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भाव नमस्कार के द्वारा और व्यवहार नय से वचनात्मक द्रव्य नमस्कार के द्वारा वदना करके किनको ? (सव्वसिद्धे) स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि है लक्षण जिसका

ऐसे सम्पूर्ण सिद्धो को (गइ पत्ते) जो सिद्ध गति को प्राप्त हो गये हैं। (ध्रुवम्) जो सिद्धगति टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप से अडिग है या अविनश्वर है (अमलम्) भावकर्म द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित होने के कारण तथा शुद्ध स्वभाव सहित होने से निर्मल है अथवा (अचलम्) द्रव्य क्षेत्र कालादि पच प्रकार ससार परिभ्रमण से रहित होने तथा अपने स्वरूप मे निश्चल होने से चलपने से रहित है। (अणोवम) ससार मे कोई भी उपमा नही होने से वह उपमा रहित है, ऐसी सिद्ध अवस्था को जो प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार गाथा के पूर्वार्द्ध से सिद्धो को नमस्कार करके व उत्तरार्द्ध से मवधाभिधेय और प्रयोजन की सूचना के लिये प्रतिज्ञा करते है कि (वोच्छामि) कहूँगा (समय पाहुड) समय प्राभृत ग्रन्थ को—सम्यक्—समीचीन अय-वोध, ज्ञान है जिसके वह समय अर्थात् आत्मा। अथवा समम्—एकीभावेना यनम्—गमन "समय" अर्थात् एकमेकरूप से जो गमन उसका नाम समय, प्राभृत अर्थात् सार—शुद्धावस्था, इस प्रकार समय नाम आत्मा उसका प्राभृत अर्थात् शुद्धावस्था वही हुवा समय प्राभृत। अथवा समय जो है वही प्राभृत सो समय प्राभृत। (इण ओ) अहो भव्यो! वह समय प्राभृत हमारे सामने है। (सुय केवली भणिय) प्राकृत भाषा के नियम अनुसार केवली शब्द दीर्घ है। श्रुत मे—परमागम मे जो केवली हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा कहा गया है अथवा श्रुतकेवली जो गणधर देव उनसे कहा गया है।

अब सवध अभिधेय और प्रयोजन कहते हैं—व्याख्यान तो वृत्ति ग्रन्थ (टीका) व्याख्येय—व्याख्यान के प्रतिपादक सूत्र, इन दोनो का सवध है वह व्याख्यान व्याख्येय सवध है। सूत्र तो वाचक हैं और सूत्र का अभिधेय-वाच्य है इन दोनो का सवध 'अभिधान अभिधेय' सवध है। निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का जानना रूप जो प्राप्ति वही इसका प्रयोजन है ॥१॥

विशेषार्थ—इसमे आचार्य देव ने आराध्य आराधक भाव की उपयोगिता, वाणी की प्रामाणिकता और अपने आपका ग्रन्थकर्तृत्व ये तीन वाते वताई हैं। आराधक तो हम लोग ससारी छद्मस्थ है और आराध्य श्री सिद्ध भगवान हैं। उनकी आराधना करके हम लोग अपने कर्मो को नष्ट कर सकते हैं। आराधना दो प्रकार की है (१) व्यवहार आराधना (२) निश्चय आराधना। वचन विकल्पात्मक व्यवहार आराधना है और निर्विकल्प समाधि मे तन्मय होकर शुद्धात्माका ध्यान करना निश्चय आराधना है। छट्ठे गुणस्थान तक व्यवहार आराधना होती है और सातवे से आगे निश्चय आराधना है। इन दोनो प्रकार की आराधनाओ के द्वारा छद्मस्थ आत्मायें अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को क्रमश ढीला करते हुये नष्ट कर देते है।

वाणी की सार्थकता—भगवान अर्हन्तदेव की वाणी अथवा द्वादशाग के ज्ञाता श्रुतकेवली गणधरादिक की वाणी प्रमाणभूत होती है जिसका सवध इस ग्रन्थ से है और जिसके द्वारा हम सरीखे ससारी आत्माओ का भला होता है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता स्वय कुन्दकुन्द आचार्य देव हैं जिनकी प्रामाणिकता को लेकर हम लोगो की इस ग्रन्थ के पढने मे अभिरुचि होती है।

आगे गाथा के पूर्वार्द्ध से स्वसमय और उत्तरार्द्ध से परसमय को कहता हू ऐसा अभिप्राय मन मे रखकर आचार्य देव आगे का सूत्र कहते हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च, तं जाण परसमयं ॥२॥

जीवश्चरित्रदर्शनज्ञानस्थितस्तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयं ॥२॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा ।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥४॥

अर्थ—काम बंध और भोग की कथा तो सबही जीवो के सुनने मे भी आई है, परिचय मे भी आई है तथा अनुभव मे भी आई है किन्तु सबसे पृथक होकर केवल एकाकी होने की बात सुलभ नही है ॥४॥

तात्पर्यवृत्तिः—**सुदपरिचिदाणुभूदा** इत्यादि । **सुदा** श्रुता अनंतशो भवति । **परिचिदा** परिचिता सा पूर्वमनंशो भवति । **अणुभूदा** अनुभूतानंतशो भवति कस्य **सव्वस्सवि** सर्वस्यापि जीवलोकस्य । कासौ **कामभोगबंधकहा** कामरूपभोगा कामभोगा अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेंद्रिय भोगशब्देन घ्राणचक्षु श्रोत्रत्रय तेषा कामभोगाना बंध संबंधस्तस्य कथा । अथवा बंधशब्देन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधस्तत्फल च नरनारकादिरूपम भण्यते । कामभोगबंधाना कथा कामभोगबंध कथा यत पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न दुर्लभा किंतु सुलभैव । **एयत्तस्स** एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य **उवलभो** उपलंभ प्राप्तिर्लाभ **णवरि** केवल अथवा नवरि किंतु **ण सुलभो** नैव सुलभ कथंभूतस्यैकत्वस्य **विभित्तस्स** विभक्तस्य रागादिरहितस्य । कथ न सुलभ इति चेत् श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ॥ ४ ॥ अथ यस्मादेकत्व सुलभ न भवति तस्मात्तदेव कथ्यते—

टीका-(सुदा) अनन्तवार सुनी गई है (परिचिदा) अनन्तवार परिचय मे आई है (अणुभूदा) अनन्त ही वार अनुभव मे भी आई है (सव्वस्स वि) सब ही ससारी जीवो के (काम भोग बध कहा) काम शब्द से स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषय और भोग शब्द से घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय लिए गये हैं । उनके बध या सबध की कथा अथवा बध शब्द के द्वारा प्रकृति, स्थिती, अनुभाग और प्रदेश बध एव उसका फल नरनारकादिरूप लिया जा सकता है, इस प्रकार काम भोग और बध की कथा जो पूर्वोक्त प्रकार से श्रुत परिचित और अनुभूत है इसलिए दुर्लभ नही हैं किन्तु सुलभ है । (एयतस्स) परन्तु एकत्व का अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ एकता को लिए हुए परिणमन रूप जो निर्विकल्प समाधि उसके बल से अपने आपके अनुभव मे आने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उस एकत्व का (उपलभो) उपलम्भ सप्राप्ति अर्थात् अपने उपयोग मे ले आना (णवरि) वह केवल (ण सुलभो) सुलभ नही है (विहत्तस्स) कैसे एकत्व का ? रागादिसे रहित एकत्व का । क्योकि वह न तो कभी सुना गया न कभी परिचय मे आया और न अनुभव मे ही लाया गया है ॥ ४ ॥

वह सुलभ नही है इसलिये उसका कथन आगे किया जा रहा है —

तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घित्तव्वं

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलितं छलं न गृहीतव्यं ॥५॥

अर्थ—(कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि) मैं अपने आपके ज्ञान से उस एकत्व विभक्त का अर्थात् शुद्धात्मा का वर्णन कर बतलाऊंगा । यदि मैं बतला सकू तो उसे स्वीकार कर लेना और यदि उसमे कही चूक जाऊ तो छल ग्रहण नही करना ॥५॥

तात्पर्यवृत्ति—**तं** तत्पूर्वोक्त **एयत्तविभत्तं** एकत्वविभक्त अभेदरत्नत्रयैकपरिणत मिथ्यात्वरागादिरहित परमात्मस्वरूपमित्यर्थ । **दाएहं** दर्शयेह केन **अप्पणो सविहवेण** आत्मन स्वकीयमिति विभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसवेदनप्रत्यक्षेणेति । **जदि दाएज्ज** यदि दर्शयेय तदा **पमाणं** स्वसवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्य भवद्भि । **चुक्किज्ज** यदि च्युतो भवामि **छलं ण घित्तव्वं** तर्हि छल न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ॥५॥ अथ कोय शुद्धात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति—

टीका-(त एयत्त विहत्त) उस पूर्वोक्त एकत्व विभक्त शुद्धात्माका जो कि अभेद रत्नत्रय के साथ एकमेक होकर रहता है एव मिथ्यात्व तथा रागादिसे रहित है ऐसे उस परमात्मा के स्वरूपको (दाएह) दिखलाता हू (अप्पणो सविहवेण) अपने आप की वुद्धि के वैभव से अर्थात् आगम तर्क और परम गुरुओ के उपदेश के साथ साथ होने वाले स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा । (जदि दाएज्ज) यदि वतला सकू तो (पमाण) अपने स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा तोलकर हे भव्यो ! आप लोग उसे स्वीकार करना । (चुक्किज्ज) यदि भूल जाऊ तो (छल ण घेत्तव्व) दुर्जन के समान उलटा अभिप्राय नही ग्रहण कर लेना ॥५॥

विशेषार्थ-आचार्य देव ने इस गाथा मे यह बात कही है कि भले आदमी को जो भी बात कहना हो वह आगम परम्परा, युक्ति का वल और परम गुरुओ के आदेश व उपदेश के साथ अपने भी विचार मे अच्छी प्रकार तोलकर कहना चाहिए ।

अव शुद्धात्मा कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं.—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव ॥ ६ ॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धा ज्ञाता यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

अर्थ— जो प्रमत्त और अप्रमत्त इन दोनो अवस्थाओ से ऊपर उठकर केवल ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण किये हुये है वह शुद्धात्मा है ऐसा शुद्धनय के जाननेवाले महापुरुष कहते हैं ॥६॥

तात्पर्यवृत्ति—**णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्त प्रमत्तश्च । प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तातानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यतान्यष्टगुणस्थानानि गृह्य ते । स क कर्त्ता **जाणगो दु जो भावो** ज्ञायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भाव पदार्थं शुद्धात्मा । **एवं भणंति सुद्धा** शुद्धनयावलविन , तर्हि किं भवति **णादा जो सो दु सो चेव** ज्ञाता शुद्धात्मा य कथ्यते स तु स चैव ज्ञातैवेत्यर्थ ॥६॥ इति स्वतत्रगाथाषट्केन प्रथमस्थल गत । अथानतर तथाप्रमत्तादिगुणस्थानविकल्पा जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यते शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयेन न विद्यते तथा दर्शनज्ञानचारित्रविकल्पोपीत्युपदिशति—

टीका-(णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से जिसमे शुभ और अशुभ रूप परिणमन करने का अभाव होने से जो न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है । यहा पर प्रमत्त शब्द से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर प्रमत्त विरत गुणस्थान तक ६ गुणस्थान और अप्रमत्त शब्द से अप्रमत्तादि अयोग केवली पर्यन्त ८ गुण स्थान समझने चाहिए इनसे जो अतीत है (जाणगो दु जो भावो) वह केवल ज्ञायक भाव को प्राप्त हुआ ही शुद्धात्मा है । (एव भणति सुद्धा) ऐसा शुद्ध नय के जानने वाले कहते हैं (णादा जो सोदु सो चेव) कि उसे ज्ञाता कहो या शुद्धात्मा कहो एक बात है ॥ ६ ॥

आगे कहते हैं कि जीव के प्रमत्तादिगुणस्थानो का विकल्प व्यवहार से है, शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयनय से नही उसी प्रकार दर्शन ज्ञान चारित्र का भी विकल्प जानना —

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्रं दर्शनं ज्ञानं।
नापि ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७ ॥

अर्थ—व्यवहार नाम अभेद मे भेद कर वताने का है। इसके द्वारा ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान चारित्र पृथक् पृथक् वताये जाते है। किन्तु ज्ञान दर्शन और चारित्र कोई पृथक् २ न होकर उन सवसे समाविष्ट एक केवल ज्ञायक शुद्धात्मा ही है ॥७॥

तात्पर्यवृत्ति—**ववहारेण** सद्भूतव्यवहारनयेन **उवदिस्सदि** उपदिश्यते कथ्यते। कस्य **णाणिस्स** ज्ञानितो जीवस्य। किं **चरित्तदंसणं णाणं** चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूप। **णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं** शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञान न चारित्र न दर्शन। तर्हि किमस्तीति चेत् **जाणगो** ज्ञायक शुद्धचैतन्यस्वभाव। **सुद्धो** शुद्ध एव रागादिरहित इति। अयमत्रार्थ —यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहक पचतीति पाचक प्रकाश करोतीति प्रकाशक इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते।। तथा जीवोपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्य-रूपोपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञान, पश्यतीति दर्शन चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति ॥७॥ अथ यदि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचारित्राणि न सति तर्हि परमार्थएवैको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तन्न—

टीका-(ववहारेण) सद्भूत व्यवहारनय से (उवदिस्सदि) कहा जाता है (णाणिस्स) कि ज्ञानी जीव के (चरित्त दसण णाण) चारित्र, दर्शन और ज्ञान है जो कि उसके स्वरूप मे है। किन्तु (ण वि णाण ण चरित्त ण दसण) शुद्ध निश्चय नय से तो न ज्ञान है न चारित्र है और न दर्शन है। तो फिर क्या है? कि (जाणगो) ज्ञायक मात्र,है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव,है (सुद्धो) जो कि रागादि रहित शुद्ध है सार यह है कि जैसे अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है फिर भी भेदरूप व्यवहार के द्वारा जो दहती अर्थात् जलाती है वह दाहक, पचति अर्थात् पचाती है वह पाचक, जो प्रकाश करती है-वह प्रकाशक इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय भेद से वही अग्नि तीन प्रकार भिन्न भिन्न कर वतलाई जाती है, वैसे ही जीव भी अभेदरूप निश्चयनय से तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है फिर भी भेदरूप व्यवहारनय से जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन और जो आचरण करता है वह चारित्र इस प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा विषय भेद से वह जीव तीन प्रकार भिन्न भिन्न कहा जाता है ॥७॥

विशेषार्थ-यहा गाथा न २ मे वताया गया था कि जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे स्थित है वह स्वसमय है अर्थात् शुद्ध आत्मा है एकत्व विभक्त है, इस कथन को लेकर शिष्य के मन मे जिज्ञासा पैदा हुई कि आपके वताने मे ही दर्शन ज्ञान चारित्र के द्वारा उसमे भेद है। इस शका के निवारण करने के लिए आचार्य देव ने यहा वतलाया है कि वास्तव मे तो आत्मा अनतगुणो का अखण्ड पिंड एक ज्ञायक मात्र है। इसमे जो दर्शन ज्ञान और चारित्र को भिन्न भिन्न कर वतलाया गया है वह सद्भूत व्यवहारनय से वतलाया गया है। सद्भूत व्यवहारनय का काम है कि जो गुण गुणी के साथ अभिन्न होकर रहते हैं उनको भिन्न भिन्न कर वतलाये।

अब शिष्य कहता है कि जब शुद्ध निश्चय नय से दर्शन ज्ञान और चारित्र नाम के गुण जीव से भिन्न नही हैं तो फिर उन्हें भिन्न २ क्यो कहा जाता है, एक परमार्थ रूप अखण्ड आत्मा का ही वर्णन करना चाहिए, व्यवहार की (भेद करने की) आवश्यकता ही क्या है इस पर आचार्य उत्तर देते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुं ।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यं ॥ ८॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी अनार्य (अनाडी) पुरुष को उसकी भाषा मे बोले विना नही समझाया जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी व्यवहार के विना नही हो सकता अर्थात् परमार्थ को समझने समझाने के लिए व्यवहार नय का अवलवन लिया जाता है ॥ ८ ॥

तात्पर्यवृत्ति.—**जह णवि सक्कं** यथा न शक्य कोसौ **अणज्जो** अनार्यो म्लेच्छ । किं कर्तुं **गाहेदुं** अर्थग्रहणरूपेण सवोधयितु । कथ **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा ता विना । दृष्टातो गत । इदानी दार्ष्टातमाह—**तह** तथा **ववहारेण विणा** व्यवहारनय विना **परमत्थुवदेसणमसक्कं** परमार्थोपदेशन कर्तुमशक्य इति । अयमत्राभिप्राय । यथा कश्चिद्ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्या गत तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्ष्यते मेष इव । तथायमज्ञानिजनोप्यात्मेतिभणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रात्या निरीक्ष्यत एव । यदा पुनर्निश्चयव्यवहारज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जीवशब्दस्यार्थ इति कथ्यते तदा सतुष्टो भूत्वा जानातीति । एव भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीय स्थल गत ॥८॥ अथ पूर्वगाथाया भणितव्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते ततस्तमेवार्थं कथयति—

टीका—(जहअणज्जो) जैसे कि अनार्य पुरुष को (अणज्जभास विणा) अनार्य भाषा या म्लेच्छ भाषा मे बोले विना (गाहेदु णविसक्क) अर्थ ग्रहण नही कराया जा सकता। यह तो दृष्टात हुआ, अब दार्ष्टांत पर आते है। (तह ववहारेण विणा) उसी प्रकार व्यवहार नय के विना (परमत्थुवदेसणमसक्क) परमार्थ का उपदेश नही किया जा सकता। यहा यह अभिप्राय है कि कोई ब्राह्मण अथवा यति म्लेच्छो की वस्ती मे चला गया, वहा किसी म्लेच्छ ने जब उन्हे नमस्कार किया तव उस ब्राह्मण या यति ने उसे 'स्वस्ति' इस प्रकार आशीर्वाद दिया तो 'स्वस्ति' का अर्थ जो "नही नष्ट होना है" उसको नही जानने के कारण वह मेढे के समान इधर उधर देखता है कि ये क्या कह रहे हैं उसी प्रकार यह अज्ञानी (व्यवहारी) प्राणी 'आत्मा' इस प्रकार कहने पर आत्मा शब्द का क्या अर्थ है इसको न जानता हुआ भ्रम मे पडकर इधर उधर देखने लगता है कि ये क्या कह रहे है। किन्तु जब किसी निश्चय और व्यवहार इन दोनो के अर्थ को जानने वाले पुरुष से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह जीव शब्द का अर्थ है ऐसा समझाया जाने पर वह सतुष्ट होकर समझ जाता है ॥८॥

इस प्रकार दो गाथाओ द्वारा भेद अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहा व्यवहार नय की उपयोगिता वतलाई है कि व्यवहार के विना निश्चय का कथन नही किया जा सकता और न उसे समझाया जा सकता है। अत निश्चय को समझने के लिए व्यवहार का उपदेश परमावश्यक है। इसके साथ यह भी वतलाया है कि उस व्यवहार नय का उपदेश देने के अधिकारी भी मुनि हैं जो कि निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयो के तत्व को जानने वाले हैं।

अब जैसा पूर्व गाथा मे कहा गया है कि व्यवहार नय के बिना परमार्थ नही जाना जा सकता है उसी के अर्थ को दृढ करने के लिए कहते हैं—

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।। ९ ।।
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुदकेवली तह्मा ।। १० ।।

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धं ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ।। ९ ।।
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ।। १० ।।

अर्थ—जो द्वादशाग श्रुतज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को अपने अनुभव मे लाता है उसे सर्वज्ञ भगवान निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं। और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान द्रव्य श्रुतकेवली कहते हैं ।।९–१०।।

तात्पर्यवृत्ति—**जो** य. कर्त्ता **हि** स्फुट **सुदेण** भावश्रुतेन स्वसवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन **अभिगच्छदि** अभि समताज्जानात्यनुभवति क **अप्पाणं** आत्मान **इणं** इम प्रत्यक्षीभूत **तु** पुन कि विशिष्ट **केवलं** असहाय **सुद्धं** रागादिरहित **तं** पुरुष **सुदकेवलिं** निश्चयश्रुतकेवलिन **इसिणो** परम ऋषय **भणंति** कथयति **लोगप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति । अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षण । अथ **जो सुदणाण मित्यादि जो** य कर्त्ता **सुदणाणं** द्वादशागद्रव्यश्रुत **सव्वं** सर्वं परिपूर्णं **जाणदि** जानाति **सुदकेवलिं** व्यवहार-श्रुतकेवलिन **तमाहुजिणा** त पुरुष आहु ब्रुवति के ते जिना सर्वज्ञा । कस्मादिति चेत् **जह्मा** यस्मात्कारणात् **सुदणाणं** द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्न भावश्रुतज्ञान **आदा** आत्मा भवति कथभूत **सव्वं** आत्मसवित्तिविषय परपरिच्छित्ति-विषय वा **तह्मा** तस्मात्कारणात् **सुदकेवली** द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति । अयमत्रार्थ - यो भावश्रुतरूपेण स्वसवेदन-ज्ञानेन शुद्धात्मान जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति । यस्तु स्वशुद्धात्मान न सवेदयति न भावयति वहिर्विषय द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति । ननु तर्हि स्वसवेदनज्ञानवलेनास्मिन् कालेपि श्रुतकेवली भवति तन्न यादृश पूर्वपुरुपाणा शुक्लध्यानरूपस्वसवेदनज्ञान तादृशमिदानी नास्ति किंतु धर्म्यध्यान योग्यमस्तीत्यर्थ । एव निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थल गत ।।९–१०।। अथ गाथाया पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रय-भावनामुत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावना च प्रतिपादयति—

टीका-(जोहि सुदेणहिगच्छइ) जो जीव (कर्ता) करणता को प्राप्त हुये निर्विकल्प समाधि रूप स्वसवेदन ज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव मे लाता है (इण अप्पाण) इस प्रत्यक्षीभूत अपनी आपकी आत्मा को (केवल) सहाय रहित (सुद्ध) रागादि से रहित अनुभव मे लाता है (त सुद केवलि) उस पुरुष को निश्चय श्रुतकेवली (भणति) कहते हैं। कौन कहते हैं ? (लोगप्प-दीवयरा इसिणो) लोकालोक के प्रकाशक परम ऋषि कहते है। इस प्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चय श्रुतकेवली का लक्षण कहा गया। (जो सुदणाण) किन्तु जो पुरुष द्वादशाग द्रव्य श्रुत ज्ञान को (सव्व) परिपूर्ण रूप (जाणदि) जानता है (त) उसे (जिणा) जिन भगवान (सुदकेवलि आहु) द्रव्य श्रुतकेवली

कहते हैं। (जम्हा) क्योकि (सुदणाण) द्रव्य श्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भाव श्रुतज्ञान है वह (आदा) आत्मा ही है (सव्व) जो कि आत्मा की सवित्ति को विषय करनेवाला और परकी परिच्छित्ति को विपय करने वाला होता है (तम्हा) इसलिए (सुदकेवली) वह द्रव्य श्रुतकेवली होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो भावश्रुत रूप स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है वह निश्चय श्रुतकेवली होता है किन्तु जो अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नही कर रहा है न उसकी भावना कर रहा है, केवल बहिर्विपयक द्रव्य श्रुत के विपयभूत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली होता है।

इस पर शिष्य प्रश्न करता है कि फिर तो स्वसवेदनज्ञान के वल से इस काल मे भी श्रुतकेवली हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए क्या ? इसका समाधान यह है कि नही हो सकता क्योकि जैसा शुक्ल ध्यानात्मक स्वसदेनज्ञान पूर्व पुरुपो को होता था वैसा इस समय नही होता, किन्तु इस समय तो यथायोग्य धर्म्यध्यान होता है।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवली का व्याख्यान करने वाली दो गाथाओ के द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ ॥ ९ १० ॥

अव पूर्वार्द्ध से भेद रत्नत्रय की भावना और उत्तरार्द्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना का वर्णन करते है–

***णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।**
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ॥११॥

ज्ञाने भावना खलु कर्त्तव्या दर्शने चारित्रे च।
तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावना आत्मनि ॥११॥

अर्थ–ज्ञान मे दर्शन मे और चारित्र मे दृढता से भावना करनी चाहिए किन्तु ये तीनो आत्मा के स्वरूप हैं इसलिए आत्मा की भावना वार वार करनी चाहिए ॥११॥

तात्पर्यवृत्तिः—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयभावना खलु स्फुट कर्त्तव्या भवति। पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यत कारणात् तस्मात् कुरु भावना शुद्धात्मनीति ॥११॥ अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफल दर्शयति—

टीका–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनो का पुन २ अनुचिन्तन अवश्य स्पष्टरूप से करते रहना चाहिए। किन्तु निश्चयनय से ये तीनो आत्म स्वरूप ही हैं इसलिए फिर शुद्धात्मा की भावना भी हे भव्य ! अवश्य करना चाहिए।

अव इस भेदाभेद रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हैं–

***जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।**
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ १२ ॥

यः आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः मुनिः समाचरति।
सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ १२ ॥

अर्थ–जो मुनि या तपोधन तत्परता के साथ इस आत्मभावना को स्वीकार करता है वह सम्पूर्ण दु खो से थोडे ही काल मे मुक्त हो जाता है।

---

* यह गाथा आत्मख्याति मे नही है।

तात्पर्यवृत्तिः—य कर्ता आत्मभावनामिमा नित्योद्यत सन् मुनि तपोधन समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदु खमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थं । इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाभावनाफलव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थस्थल गत । अथ यथा कोपि ब्राह्मणादिविशिष्टोजनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषा ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानिपुरुषोप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले ॥१२॥ कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति—

टीका—इस तात्पर्यवृत्ति का अर्थ मूल गाथा मे आचुका है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हुए दो गाथाओ के द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कोइ ब्राह्मण आदि विशिष्ट पुरुष म्लेच्छो को समझाने के समय मे ही म्लेच्छ भाषा को बोला करता है अन्य काल मे नही उसी प्रकार ज्ञानी (सयत) पुरुष भी अज्ञानी (असयत) पुरुषो को प्रतिबोध देने के समय मे ही व्यवहार का आश्रय लेता है और काल मे नही, क्योकि व्यवहार अभूतार्थ होता है ऐसा बतलाते है—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥१३॥
व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितिः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ १३ ॥

अर्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है अर्थात् विशेषता को दृष्टि मे रखकर विषमता को पैदा करने वाला है किन्तु शुद्धनय भूतार्थ है क्योकि वह समता को अपना कर एकत्व को लाता है। समता को अपनाकरही सम्यग्दृष्टि अर्थात् समीचीनतया देखने वाला होता है ॥ १३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**ववहारो** व्यवहारनय **अभूदत्थो** अभूतार्थ असत्यार्थो भवति। **भूदत्थो** भूतार्थ सत्यार्थ **देसिदो** देशित कथित **दु** पुन कोसौ **सुद्धणओ** शुद्धनय निश्चयनय । तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेद् **भूदत्थं** भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनय **अस्सिदो** आश्रितो गत स्थित । खलु स्फुटं **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यान । द्वितीयव्याख्यानेन पुन **ववहारो अभूदत्थो** व्यवहारोऽभूतार्थो **भूदत्थो** भूतार्थश्च **देसिदो** देशित कथित । न केवल व्यवहारो देशित' **सुद्धणओ** शुद्धनिश्चयनयोपि दु शब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोपीतिव्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोपि द्विधा इति नयचतुष्टयं । इदमत्र तात्पर्यं यथा कोपि ग्राम्यजन सकर्दम नीर पिबति नागरिक पुन विवेकीजन कतकफल निक्षिप्य निर्मलोदक पिबति । तथा स्वसवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति सद्दृष्टिजन पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीय निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थ ॥१३॥ अथ पूर्वगाथाया भणित भूतार्थनयाश्रितो जीव सम्यग्दृष्टिर्भवति । अत्र तु न केवल भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरताना प्रयोजनवान् भवति । किंतु निर्विकल्पसमाधिरहिताना पुन षोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्केषाचित्प्राथमिकाना कदाचित् सविकल्पावस्थाया मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवचनार्थं व्यवहारनयोपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति—

टीका—(ववहारो) व्यवहारनय (अभूदत्थो) अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है (भूदत्थौ देसिदो दु सुद्धणओ) किन्तु शुद्ध निश्चय नय भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ कहा गया है। इन दोनो नयो मे किसका आश्रय लेकर सम्यग्दृष्टि होता है ? इसका समाधान करते हैं कि (भूदत्थ) भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थरूप

जो निश्चयनय है उसको (अस्सिदो) आश्रय लेकर उसमे पूर्ण रूप से स्थित होकर (सम्मादिट्ठी हवदि जीवो) यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है इस प्रकार टीकाकार (अमृतचन्द्राचार्य) का एक व्याख्यान है। अब दूसरा व्याख्यान करते हैं। (ववहारो अभूदत्थो भूदत्थो देसिदो) व्यवहार नय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है ऐसे दो प्रकार का कहा गया है अब केवल व्यवहारनय ही दो प्रकार का नही किन्तु (सुद्धणओ) निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय के भेद से दो प्रकार है ऐसा गाथा मे आये हुए 'दु' शब्द से प्रगट होता है।

यहा यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड़ सहित तालाब आदि का जल पीलेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमे कतकफल निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है उसी प्रकार स्वसवेदन ज्ञानरूप भेदभावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है किन्तु जो सम्यग्दृष्टि (सयत) मनुष्य होता है वह तो अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पसमाधि के बल से कतक स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्माका अनुभव करता है ॥१३॥

विशेषार्थ–यहा तात्पर्यवृत्तिकार ने है इस गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक तो यह कि व्यवहारनय तो अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है जो कि अमृतचन्द्र आचार्य द्वारा भी सम्मत है किन्तु-इन्ही आचार्य ने गाथा के 'दु' शब्द को लेकर दूसरी प्रकार से भी अर्थ किया है कि व्यवहारनय भूतार्थ व अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार है उसी प्रकार निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय व अशुद्ध निश्चयनय के भेद से दो प्रकार है उसमे भूतार्थ को आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।

यहा पर भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ व अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया है किन्तु यहा पर असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा निस्सार नही लेना चाहिये, किन्तु 'अ' का अर्थ ईषत् लेकर व्यवहारनय अभूतार्थ अर्थात् तात्कालिक प्रयोजनवान है ऐसा लेना चाहिये जैसा कि स्वय जयसेनाचार्य ने भी अपने तात्पर्यार्थ मे बतलाया है।

किंच भूत शब्द का अर्थ सस्कृत भाषा के विश्वलोचन कोश मे जिस प्रकार सत्य बतलाया है उसी प्रकार उसका अर्थ 'सम' भी बतलाया है। अत भूतार्थ का अर्थ जब कि सम होता है अर्थात् सामान्य धर्म को स्वीकार करने वाला है तो अभूतार्थ का अर्थ विषम अर्थात् विशेषता को कहने वाला अपने आप हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय और निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिक नय इस प्रकार का अर्थ अनायास ही निकल जाता है जो कि इतर आचार्यों के द्वारा सर्व सम्मत है, और फिर निश्चयनय को स्वीकार कर लेने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है यह बात भी कुन्दकुन्दाचार्य की सर्वथा-ठीक बैठती है क्योकि जब तक यह जीव जिस पर्याय मे जाता है उस पर्यायरूप ही अपने आपको (पशु होने पर पशु मनुष्य होने पर मनुष्य इत्यादि) मानता रहता है किन्तु जब अपने आपको पशु या मनुष्य इत्यादि रूप ही न मानकर सदा शाश्वत-रहने वाला ज्ञान का धारक आत्मा मानने लगता है तब ही सम्यग्दृष्टि होता है ॥१३॥

उत्थानिकाः–यहा इस पूर्वोक्त गाथा मे कहा गया है कि भूतार्थ नय को आश्रय लेकर ही सम्यग्दृष्टि होता है किन्तु इस गाथा मे स्पष्टीकरण करते हैं कि निर्विकल्प समाधि मे निरत होकर रहने वाले सम्यग्दृष्टियो को भूतार्थ स्वरूप निश्चयनय ही प्रयोजनवान हो ऐसा नही है परन्तु उन्ही निर्विकल्प समाधिरतो को किन्ही २ को कभी सविकल्प अवस्था मे मिथ्यात्व विषय कषायरूप दुर्ध्यान को दूर करने के लिये व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है जैसे किसी

को शुद्ध सोलहवानी के सुवर्ण का लाभ न हो तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह चौदह वानी का सोना भी सम्मत समझा जाता है ऐसा कहते हैं—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदाभावे ।।१४।।

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहार देशितः पुनः ये त्वपरमे स्थिता भावे ।।१४।।

अर्थ—शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है, वह परमशुद्धात्मा की भावना मे लगे हुये पुरुषो के द्वारा अङ्गीकार करने योग्य है। परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे की अवस्था मे स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय ही कार्यकारी है ।।१४।।

तात्पर्यवृत्ति—**सुद्धो** शुद्धनय निश्चयनय कथभूत **सुद्धादेसो** शुद्धद्रव्यस्यादेश कथन यत्र स भवति शुद्धादेश । **णादव्वो** ज्ञातव्य भावयितव्य कै **परमभावदरसीहिं** शुद्धात्मभावदर्शिभि । कस्मादिति चेत् यत षोडशवर्णिकाकार्त्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्रयस्वरूपसमाधिकाले सप्रयोजनो भवति । नि प्रयोजनो न भवतीत्यर्थ । **ववहारदेसिदो** व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण दर्शित कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनय **पुण** पुन अधस्तनवर्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति । केषा **जे** ये पुरुषा **दु** पुन **अपरमे** अशुद्धे असयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोग प्रमत्ताप्रमत्तसयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा **ठिदा** स्थिता कस्मिन् स्थिता ? **भावे** जीवपदार्थे तेपामिति भावार्थ ।। एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पचम स्थल गत ।।

टीका-(सुद्धोसुद्धादेसो) शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है (णादव्वो परमभाव दरसीहि) वह शुद्धता को प्राप्त हुये आत्मदर्शियो के द्वारा जानने भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है। क्योकि वह सोलह वानी स्वर्ण के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधिकाल मे प्रयोजनवान होता है। (ववहार देसिदो) किन्तु व्यवहार अथात् विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहारनय है वह (पुण) पन्द्रह चौदह आदि वानी के स्वर्ण लाभ के समान उन लोगो के लिये प्रयोजनवान है (जेदु) जो लोग (अपरमे ट्ठिदा भावे) अशुद्ध रूप शुभोपयोग मे,-जो कि असयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणवाला है और प्रमत्त अप्रमत्त सयत लोगो की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षणवाला है ऐसे शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ मे स्थित हैं ।।१४।।

इस प्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय का व्याख्यान-प्रतिपादन करते हुये दो गाथाओ मे पचम स्थल पूर्ण हुआ। यहा तक १४ गाथाओ द्वारा पाच स्थलो मे पीठिका पूर्ण हुई।

विशेषार्थ—आचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि सयत मनुष्य जव अभेदात्मक परम समाधि मे तल्लीन होकर रहता है उस समय वह शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करने वाला है किन्तु उससे नीची अवस्था मे क्या सयत क्या सयतासयत और क्या असयत सम्यग्दृष्टि ये सभी व्यवहारनय मे प्रवृत्त रहते हैं उसके विना उनका निर्वाह नही हो सकता। एव क्षयोपशम ज्ञानका धारी सयमी मनुष्य भी जव तक समाधि मे स्थिर है तव तक वह शुद्धोपयोगी है किन्तु इतर काल मे वह शुभोपयोगी होता है पर सयतासयत और असयत सम्यग्दृष्टि तो शुभोपयोगी ही होते है क्योकि उनकी तो शुद्धोपयोग तक पहुँच भी नही है।

इति चतुर्दशगाथाभि स्थलपचकेन पीठिका समाप्ता ।।

(१) जीवाधिकार (प्रथमाधिकार)

अथ कश्चिदासन्नभव्य पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्व परिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव निजस्वरूप भावयति । विस्तररुचि पुनर्नवभिरधिकारैः समयसार ज्ञात्वा पश्चाद्भावना करोति तद्यथा–विस्तररुचिशिष्य प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकार समयसारव्याख्यान क्रियते । तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थिताना यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धि सवित्ति प्रतीति ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व भण्यते । तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूप भवतीत्येका पातनिका । अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाता सतस्तएव भेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद्व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्त भवति निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वय मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्ररूपयति ।

कोई आसन्न भव्य जीव इस पीठिका मात्र व्याख्यान से हेय उपादेय तत्वको जानकर विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाले अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसमे तल्लीन रहता है किन्तु विस्तार रुचिवाला जीव नव अधिकारो से प्रस्तुत किये जाने वाले समयसार को जानकर फिर आत्म भावना करता हैं इसलिये विस्तार रुचि शिष्य को लक्ष्य मे रखकर जीवादि नव अधिकारो से समयसार का व्याख्यान किया जाता है। वहा पर सबसे पहले नव पदार्थ के अधिकार रूप जो गाथा है उस गाथा मे आर्त्त रौद्र का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्विकल्प समाधि मे स्थित रहने वाले जो जोव हैं उनको जो शुद्धात्मा के स्वरूप का दर्शन है, अनुभवन है, अवलोकन है, उपलब्धि है, सवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है, अनुभूति है वही निश्चयनय से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् उसे (वीतराग चारित्र को) साथ मे लिये हुये रहता है। और वही गुण गुणी मे अभेदरूप जो निश्चयनय है उससे शुद्धात्मा का स्वरूप कहा जाता है इस प्रकार एक उत्थानिका हुई। अथवा जीवादि नव पदार्थ, जव भूतार्थनय से जाने जाते हैं तव ये ही अभेद उपचारनय से सम्यक्त्व के विषय होने के कारण व्यवहार सम्यक्त्व के निमित्त होते हैं। निश्चयनय से अपने शुद्धात्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है यह दूसरी पातनिका है। इस प्रकार दोनो पातनिकाओ को मनमे रखकर आगे का सूत्र कहते हैं—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसव संवर णिज्जर, बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

भूतार्थेनाऽभिगता जीवाऽजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रव संवर निर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥१५॥

अर्थ—निश्चयनय से निर्णय किये हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव सवर निर्जरा बध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते है ॥१५॥

तात्पर्यवृत्तिः—भूदत्थेरा भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन **अभिगदा** अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाता संत के ते **जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसवरणिज्जरबंधो मोक्खो य** जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबवमोक्षस्वरूपा नव पदार्था **सम्मत्तं** तएवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्व भवति । निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति । नव पदार्था भूतार्थेन ज्ञाता सत सम्यक्त्व भवतीत्युक्त भवद्भिस्तत्कीदृश भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह । यद्यपि नव पदार्था तीर्थवर्त्तनानिमित्त प्राथमिकशिक्षापेक्षया भूतार्था भण्यते तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्था शुद्धात्मस्वरूप न भवति । तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति । या चानुभूति प्रतीति शुद्धात्मोपलब्धि साचैव निश्चयसम्यक्त्वमिति साचैवानुभूतिर्गु णगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षाया शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यं । कि च ये च प्रमाणनयनिक्षेपा परमादितत्त्वविचारकाले सहकारिकारणभूतास्तेपि सविकल्पावस्थायामेव भूतार्था । परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयत इति नवपदार्थाधिकारगाथा गता ।

तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यंत जीवाधिकार कथ्यते । तथा हि—सहजानदैकस्वभावशुद्धात्मभावनामुख्यतया **जो पस्सदि अप्पाण**मित्यादि सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थलेगाथात्रय । तदनतर दृष्टातदार्ष्टातद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया **दंसरणणारणचरित्तारिण** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रय । तत पर जीवस्याप्रतिबुद्धत्वकथनेन प्रथमगाथा, बधमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरिणामाणामेव कर्त्तेति तृतीया, चेत्येव **कम्मेरणोकम्मा हि य** इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसबधनिरपेक्षस्वतत्रगाथात्रय । तदनतरमिंधनाग्निदृष्टातेनाप्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थं **अहमेदमित्यादि** चतुर्थस्थले सूत्रत्रय । अत पर शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणाभेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थं **अण्णारणमोहिदमदी** इत्यादि पचमस्थले सूत्रत्रय । अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्त्वमजानन् देहएवात्मेति योऽसौ पूर्वपक्ष करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं **जदि जीवो** इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण गाथैका । तदनतर व्यवहारेण देहस्तवन निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादनमुख्यत्वेन **ववहारणओ भासदि** इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टय । अथ परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्मसवित्तिरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन **जो इदिए जिणित्ता** इत्यादि सूत्रत्रय । एव गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थल । तत पर निर्विकारस्वसवेदनज्ञानमेव विषयकषायादिपरद्रव्याणा प्रत्याख्यानमिति कथनेन, **णारण सव्वे भावा** इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टय । तदनतरमनतज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकस्वसवेदनमेव भावितात्मन स्वरूपमित्युपसहारमुख्यतया **अहमेक्को खलु सुद्धो** इत्यादि सूत्रमेक । एव दडकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रै सप्तभिरतरस्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका तद्यथा—अथ प्रथमगाथायामबधस्पृष्टमनन्यक नियतमविशेषमसयुक्त ससारावस्थायामपि शुद्धनयेन विसिनीपत्रमृत्तिकावार्द्धिसुवर्णोऽग्निरहितजलवत्पचविशेषणविशिष्ट शुद्धात्मान कथयति—

टीका— (भूदत्थेरा) भूतार्थरूप निश्चयनय शुद्धनय के द्वारा (अभिगदा) निर्णय किये हुये, निश्चय किये हुये, जाने हुये (जीवाजीवा य पुण्ण पाव च आसव सवर णिज्जर बधो मोक्खो य) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध, और मोक्ष स्वरूप जो नव पदार्थ है वे ही (सम्मत्त) अभेद उपचार के द्वारा सम्यक्त्व के विषय होने से सम्यक्त्व हैं, किन्तु अभेदरूप निश्चयनय से देखें तब तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है। अब शिष्य कहता है कि भूतार्थनय के द्वारा जाने हुये नव पदार्थ सम्यक्त्व होते हैं ऐसा जो आपने कहा उस भूतार्थ के ज्ञान का क्या स्वरूप है ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये प्रारभिक शिष्य की अपेक्षा से नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते है। फिर अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के काल मे वे अभूतार्थ असत्यार्थ ठहरते हैं, अर्थात् वे शुद्धात्मा के स्वरूप नही होते किन्तु इस परम समाधि काल मे तो उन नव पदार्थो मे शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही झलकता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति मे आता है, अनुभव किया जाता है, और जो वहा पर वह

अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चय सम्यक्त्व है। वह अनुभूति ही गुण और गुणी मे निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है ऐसा तात्पर्य है। और जो प्रमाण, नय, निक्षेप है वे केवल प्रारम्भ मे तत्व विचार काल मे सम्यक्त्व के सहकारी कारणभूत होते है वे भी सविकल्प अवस्था मे ही भूतार्थ हैं, परम समाधि काल मे तो फिर वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं उन सव मे भूतार्थरूप से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति मे आता है ॥१५॥

विशेषार्थ—आचार्य देव के कहने का यहा पर सार यह है कि जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष तथा पुण्य व पाप ये नव तत्व प्रत्येक ससारी आत्मा के साथ लगे हुये हैं। ये सव आत्मा की हो भिन्न २ प्रकार की परिणतिया है जो कि प्रारभिक अवस्था मे तो भिन्न २ जानकर स्वीकार की जाती हैं। किन्तु आगे चलकर निर्विकल्प अवस्था मे ये सव ओझल होकर केवल एक शुद्धात्मा ही दृष्टि गोचर होता है, स्पष्ट प्रतीति मे आता है जो कि उपादेय है।

इस प्रकार ये नव पदार्थों के अधिकार की गाथा हुई। जिन नव अधिकारो मे सवसे पहले २८ गाथाओ से जीवाधिकार का वर्णन है वहा पर भी सहजानन्द एक स्वभावरूप शुद्धात्मा की भावना की मुख्यता से जो 'पस्सदि अप्पाण' इत्यादि सूत्र पाठ के क्रम से प्रथम स्थल मे तीन गाथाये हैं, पश्चात् दृष्टात और दार्ष्टांत से भेदाभेद रत्नत्रय की भावना को मुख्य लेकर 'दसण णाण चरित्ताणि' इत्यादि तीन गाथाये दूसरे स्थल मे है, तत्पश्चात् जीव की अप्रतिवुद्धता का कथन करने वाली एक गाथा है तथा वध मोक्ष के योग्य परिणाम का कथन करने वाली दूसरी गाथा है। और निश्चयनय से जीव रागादि परिणामो का ही कर्त्ता है इस प्रकार का कथन करने वाली तीसरी गाथा है। इस प्रकार 'कम्मे णोकम्मम्हिय' इत्यादि तीसरे स्थल मे परस्पर के सवध से निरपेक्ष तीन स्वतन्त्र गाथायें हैं। फिर इधन और अग्नि के दृष्टात द्वारा अप्रतिवुद्ध के लक्षण का कथन करने के लिये 'अहमेद' इत्यादि चौथे स्थल मे तीन गाथायें हैं। इसके पश्चात् पाचवे स्थल मे शुद्धात्म तत्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूति लक्षण अभेद रत्नत्रय की भावना के विपय मे जो जीव अनभिज्ञ है उसको समझाने के लिये 'अण्णाण मोहिदमदी' इत्यादि तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शद्धात्म तत्व को नही जानता हुवा जीव जो देह को ही आत्मा है देह से भिन्न कोई आत्मा नही है इस प्रकार का पक्ष रखता है उसके स्वरूप का कथन करने के लिये 'जदि जीवो' इत्यादि पूर्व पक्ष के रूप में एक गाथा है इसके अनन्तर व्यवहार से (पूज्य पुरुषो की) देहका स्तवन किया जाता है किन्तु निश्चय से तो शुद्धात्मा का ही स्तवन किया जाता है, जो इस प्रकार दोनो नयो में भेद है उसके प्रतिपादन की मुख्यता से 'ववहारणओ भासदि' इत्यादि परिहार स्वरूप चार गाथाये है। इसके आगे परम उपेक्षा है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के सवेदन स्वरूप निश्चय स्तुतिकी मुख्यतासे 'जो इन्दिये जिणित्ता' इत्यादि तीन गाथा है। इस प्रकार आठ गाथाओ में छट्ठा स्थल है। इसके पश्चात् सातवे स्थल मे निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान ही विषय कषायादि पर द्रव्यो का प्रत्याख्यान स्वरूप है ऐसा कथन करते हुये 'णाण सव्वेभावा' इत्यादि चार गाथाये है। तत्पश्चात् अनत ज्ञानादि है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप जो अभेद रत्नत्रयात्मक स्वसवेदन ही भावी शुद्धात्मा का स्वरूप है इस प्रकार उपसहार की मुख्यता से 'अहमिक्को' इत्यादि एक सूत्र गाथा है इस प्रकार दण्डको के सिवाय २८ सूत्रो से उत्पन्न हुये सात स्थलो से जीवाधिकार की समुदाय पातनिका हुई।

अव पहली गाथा मे तो यह वतलाते है कि ससार अवस्था मे भी शुद्ध नय से आत्मा अवद्ध स्पृष्ट अनन्य,

नियत अविशेष और असयुक्त इन पाच विशेषणो से युक्त है जैसे कि कमल पत्र, मृत्तिका, समुद्र, स्वर्ण और उष्णता रहित जल होता है इस प्रकार का कथन किया गया है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्यं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१६॥

यः पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं ।
अविशेषमसंयुक्तं, तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१६॥

अर्थ—जो आत्मा को बंध रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित, चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के सयोग रहित अवलोकन करता है वह शुद्धनय है ॥१६॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो पस्सदि य कर्त्ता पश्यति जानाति ।क। **अप्पाणं** शुद्धात्मान ।कथभूत। **अवद्धपुट्ठं** द्रव्यकर्मनोकर्मभ्याममस्पृष्ट जले विसिनीपत्रवत् ।**अणण्णयं** अनन्यक नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत् **णियदं** नियतमवस्थित निस्तरगोत्तरगावस्थासु समुद्रवत् **अविसेसं** अविशेषमभिन्न ज्ञानदर्शनादिभेदरहित गुरुत्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत् **असजुत्तं** असयुक्तमसवद्ध रागादिविकल्परूपभावकर्मरहित निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति **तं सुद्धणयं वियाणीहि** त पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्ध विजानीहीति भावार्थ । अथ द्वितीयगाथाया या पूर्व भणिता शुद्धात्मानुभूति. सा चैव निर्विकारस्वसवेदनज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयति—

टीका—(जो पस्सदि अप्पाण) जो शुद्धात्मा को जानता है, किस प्रकार ? (अवद्धपुट्ठ) जलमें रहकर भी उससे अस्पृष्ट रहने वाले कमल के समान द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित (अणण्णय) स्थास, कोश, कुशूल, और घटादि पर्यायो मे मृत्तिका वनी ही रहती है वैसे ही नरनारकादि पर्यायो मे द्रव्यरूप से आत्मा ही वनी रहती है, (णियद) निस्तरग और उत्तरग (ज्वारभाटा) अवस्था मे परिणमता हुआ समुद्र समुद्र ही रहता है उसी प्रकार आत्मा सव अवस्थाओ मे अवस्थित रहने वाला है (अविसेसं) जैसे गुरुता, स्निग्धता और पीततादि धर्मो को स्वीकार किये हुये होकर भी स्वर्ण अभिन्न है उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनादि गुणो से अभिन्न है, (असजुत्त) जैसे जल वास्तविकता मे उष्णता रहित होता है उसी प्रकार आत्मा रागादि विकल्पवाले भावकर्मो से भी रहित है, इस प्रकार जो आत्मा को जानता है (त सुद्धनयवियाणीहि) अभेदनय के द्वारा शुद्धनय का विषय होने से व शुद्धात्मा का साधक होने से और शुद्ध अभिप्राय मे परिणत होने से उस पुरुष को ही शुद्धनय समझना चाहिये ॥१६॥

विशेषार्थ—आचार्य देव का कहना है कि जो जीव (सयमी) जिस समय अपने आप को अवद्ध स्पृष्ट आदि पाच भावात्मक अनुभव करता है उस समय वह स्वय ही शुद्धनय स्वरूप है ।

अव आगे की गाथा मे वतलाते हैं कि जो पहले हम शुद्धात्मा की अनुभूति का वर्णन कर आये हैं वह ही निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान की अनुभूति है—

जो पस्सदि अप्पाणं अवद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१७॥

यः पश्यति आत्मानं अवद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्
अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१७॥

अर्थ—जो आत्मा को अवद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष आदिरूप से अनुभव करता हैं वह द्रव्यश्रुत भावश्रुतमयें द्वादशागरूप सब जिन शासन का जानकार होता है ।।१७।।

तात्पर्यवृत्ति—**जो पस्सदि** य कर्त्ता पश्यति जानात्यनुभवति । क **अप्पाणं** शुद्धात्मान । किं विशिष्ट ? **अबद्धपुट्ठं** अवद्धस्पृष्ट । अत्र वधशब्देन सश्लेषरूपवधो ग्राह्य स्पृष्टशब्देन तु सयोगमात्रमिति । द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसस्पृष्ट जले विसिनीपत्रवत् । **अणण्ण** अनन्य मृत्तिकाद्रव्यवत् । **अविसेसं** अविशेषमभिन्न सुवर्णवत् नियतमवस्थित समुद्रवत् असयुक्त परद्रव्यसयोगरहित निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति । नियतासयुक्तविशेषणद्वय सूत्रे नास्ति । कथ लभ्यत इति चेत् सामर्थ्यात् । तदपि कथ, श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थं इति वचनात् । स पुरुष **पस्सदि** पश्यति जानाति किं तत् **जिणसासणं** जिनशासन अर्थसमयरूप जिनमत **सव्वं** सर्वं द्वादशागपरिपूर्णं । कथमूत । **अपदेससुत्तमज्झं** अपदेशसूत्रमध्य अपदिश्यतेर्थो येन स भवत्यपदेशशब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रपरिच्छित्तिरूप भावश्रुत ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्य ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्य भण्यते इति । अयमत्र भाव —यथा लवणखिल्य एकरसोपि फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्यसयोगेन भिन्नभिन्नास्वाद प्रतिभात्यज्ञानिना । ज्ञानिना पुनरेकरसएव तथात्माप्यखडज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगधशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिना निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टाना खडखडज्ञानरूप प्रतिभाति ज्ञानिना पुनरखडकेवलज्ञानस्वरूपमेव इति हेतोरखडज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासन ज्ञात भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति । किं च मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्य । अथ तृतीयगाथाया सम्यग्ज्ञानादिक सर्वशुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति ।

टीका—(जो पस्सदि अप्पाण) जो शुद्धात्मा को जानता है, अनुभव करता है कि (अवद्धपुट्ठ) आत्मा अवद्धस्पृष्ट है । यहा वध शब्द से सश्लेप रूप बध और स्पृष्ट शब्द से सयोग मात्र का ग्रहण है । जो आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्मों से जल मे रहने वाले कमल के समान अस्पृष्ट है, (अणण्णं) घटादिक मे मिट्टी के समान अपनी पर्यायो मे अनन्य होकर रहता है (अविसेस) कुण्डलादिक मे स्वर्ण के समान अभिन्न है, समुद्र के समान नियत है अवस्थित है, निश्चयनय से परद्रव्य के सयोग से रहित है जैसे कि शीतल जल अग्नि के सयोग से रहित है । यहा पर गाथा मे नियत और असयुक्त शब्द यद्यपि नही है तो भी सामर्थ्य से ले लिये गये है क्योकि सूत्रार्थ श्रुत और प्रकृत सामर्थ्य से युक्त होता है अर्थात् सूत्रमे नही कही हुई वात भी प्रसग से स्वीकार करली जाती है ऐसी कहावत है । वह (पस्सदि जिणसासणसव्व) द्वादशागरूप सम्पूर्ण अर्थात्मक जिनशासन को जानता है । कैसे जानता है ? (अपदेस सुत्तमज्झ) "अपदिश्यते अर्थोयेन"—जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाय वह अपदेश है इस प्रकार अपदेश का अर्थ शब्द होता है जिससे कि यहा पर द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना और सूत्र शब्द से परिच्छित्तिरूप भावश्रुत जो कि ज्ञानात्मक है उसे ग्रहण करना, इस प्रकार द्रव्यश्रुत के द्वारा वाच्य और भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य हो वह अपदेश सूत्र मध्य कहा जाता है । इसका भाव यह है कि जिस प्रकार लवण की डली एक खारे रस वाली होती है फिर भी वह अज्ञानियो को फल साग और पत्रसाग आदि परद्रव्य के सयोग से भिन्न भिन्न स्वाद वाली जान पडती है, पर ज्ञानियो को तो वह एक खारी रस वाली ही प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा भी जो कि एक अखण्ड ज्ञान स्वभाव वाली है वह निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट होने वाले अज्ञानियो को तो स्पर्श, रस गध, शब्द और नील पीतादि वर्णमय ज्ञेय पदार्थ के भेद से खण्ड खण्ड ज्ञानरूप जान पडती है, किन्तु जो ज्ञानी (निर्विकल्प समाधि मे स्थित) हैं उनको वही आत्मा एक अखण्ड-ज्ञानस्वरूप प्रतीत होती है । इस प्रकार अखण्ड ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा के जान लेने पर समस्त जिनशासन जान लिया जाता है, ऐसा समझकर समस्त मिथ्यात्व और रागादि विभाव भावो को दूर

करके उस शुद्धात्मा की ही भावना करना चाहिये। यहा मिथ्यात्व शब्द से दर्शनमोह और रागादि शब्द से चारित्रमोह लिया गया है। ऐसा ही आगे भी जहा ये शब्द आवे तो उनका यही अर्थ लेना।। १७।।

विशेषार्थ—लूण की डली जब साग इत्यादि मे मिलाकर खाते हैं तो अकेले लवण का स्वाद न आकर शाकादि मिश्रित स्वाद आता है किन्तु अकेले लवण की डली खाने वाले को केवल लवण का ही स्वाद आता है उसी प्रकार जो वाहिरी विषय कपायोमे फसे हुये हैं व रागादि रूप परिणत हैं उनको केवल शुद्धात्मा का अनुभव कभी भी नही होकर रागादि मिश्रित अनुभव ही होता है। किन्तु जो वाहिरी पदार्थों से सर्वथा दूर हटकर निर्विकल्प समाधि मे तल्लीन रहते हैं उन्ही को शुद्धात्मा का अनुभव होता है। यहा पर अज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट और ज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि मे स्थित लिया गया है। ऐसा ही अन्य स्थान मे भी समझना चाहिये।

अव आगे की गाथा मे यह कहा जाता है कि शुद्ध आत्मभावना मे परिणत होने पर ही अर्थात् समाधि मे समाविष्ट होने पर ही सम्यग्ज्ञानादि प्राप्त होते हैं—

❀ आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ।।१८।।

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ।।१८।।

अर्थ—मेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र मे तथा प्रत्याख्यान में एव सवर मे और ध्यान के समय मे केवल आत्मा ही आत्मा है ऐसा ज्ञानी का विचार होता है।।

तात्पर्यवृत्ति—**आदा** शुद्धात्मा **खु** स्फुट **मज्झ** मम भवति **क्व** विपये **णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे** सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसवरयोगभावनाविपये। योगे कोऽर्थ निर्विकल्पसमाधौ परमसामायिके परमध्याने चेत्येको भाव भोगाकाक्षानिदानवधशल्यादिभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वं सम्यग्ज्ञानादिक लभ्यत इत्यर्थ एव शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रय गतं। इत ऊर्ध्वं भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रय कथ्यते—तद्यथा—प्रथम गाथाया पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपरार्द्धेन चाभेदरत्नत्रयभावना कथयति—

टीका—(आदा खु मज्झ) स्पष्ट रूप से मेरी तो एक शुद्धात्मा है। (णाणे आदा मे दसणे चरित्ते य आदा पचक्खाणे आदा मे सवरे जोगे) सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग इन सब ही भावनाओ मे एक आत्मा ही है। योग का क्या अर्थ है? यहा योग से निर्विकल्प समाधि को लिया गया है जिसको परम सामायिक या परम ध्यान भी कहते है। जिस परम समाधि मे भोगाकाक्षा निदान, वध और शल्य आदि भाव से रहित शुद्धात्मा का ध्यान करने पर उपर्युक्त समस्त सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शुद्धनय के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल मे तीन गाथा हुई ।।१८।।

अव भेदाभेदरूप रत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथा कही जा रही हैं उसमे पहली गाथा के पूर्वार्द्ध से भेद रत्नत्रय की भावना को और उत्तरार्द्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना को स्पष्ट करते हुए कथन करते हैं—

❀ यह गाथा आत्मख्याति मे नही है।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवी अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१९॥
दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥१९॥

अर्थ—साधक को अपनी प्रारंभिक अवस्था मे दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनो को भिन्न २ रूप से भली प्रकार समझ कर स्वीकार करना चाहिए किन्तु निश्चयनय को अगीकार करने पर तो ये तीनो आत्मस्वरूप होते हैं ॥१९॥

तात्पर्यवृत्ति—**दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्य सर्वकाल **ताणि पुण जाण तिण्णिवि** तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि **अप्पाणं चेव** शुद्धात्मान चैव **णिच्छयदो** निश्चयत शुद्धनिश्चयत । अयमत्रार्थ—पचेंद्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमस्तीति । अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावना दृष्टातदार्ष्टांताभ्या समर्थयति ।

टीका—(दसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्च) साधु को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनो को भिन्न २ समझ कर नित्य सदा ही इनकी उपासना करना चाहिए अपने उपयोग मे लाना चाहिए। (ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाण चेव णिच्छयदो) किन्तु शुद्ध निश्चय नय से वे तीनो एक शुद्धात्म स्वरूप ही है उससे भिन्न नही हैं ऐसा समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पचेन्द्रियो के विषय और क्रोधादि कषायो से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो होते है ॥ १९ ॥

अब-उपर्युक्त भेदाभेद भावना को दृष्टात और दार्ष्टांत से आगे दो गाथाओ से स्पष्ट करके बतलाते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥२०॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥२१॥ (युगलम्)

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥२०॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥२१॥

अर्थ—जैसे कोई भी धन की इच्छा वाला जीव पहले राजा को राजा जानकर उस पर भरोसा करता है फिर प्रयत्नपूर्वक तदनुकूल आचरण करके उससे धन प्राप्त करता है उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को भी जीव रूपी राजा को जानकर उस पर भरोसा करते हुये प्रयत्न पूर्वक तदनुकूल आचरण करना चाहिये।

तात्पर्यवृत्तिः—**जह** यथा **णाम** अहो स्फुट वा **कोवि** कोपि कश्चित् **पुरिसो** पुरुष **रायाणं** राजान **जाणिऊण** छत्रचामरादिराजचिह्नैर्ज्ञात्वा **सद्दहदि** श्रद्धत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति **तो** ततो ज्ञानश्रद्धानानतर **तं**

त राजान **अणुचरदि** अनुचरति आश्रयत्याराधयति कथभूत' सन् **अत्थत्थीओ** अर्थार्थिको ‚ जीवितार्थी **पयत्तेण** प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टातगाथा गता **एवं** अनेन प्रकारेण **हि** स्फुट **जीवराया** शुद्धजीवराजा **णादव्वो** निर्विकार-स्वसवेदनज्ञानेन ज्ञातव्य । **तह य** तथैव **सद्दहेदव्वो** अयमेव नित्यानदैकस्वभावो रागादिरहित शुद्धात्मेति निश्चेतव्य **अणुचरिदव्वो य** अनुचरितव्यश्च निर्विकल्प समाधिनानुभवनीय । पुन. **सो चेव** स एव शुद्धात्मा **दु** पुन **मोक्ख-कामेण** मोक्षार्थिना पुरुषेणेति दार्ष्टांत । इदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपया परमात्मचितयैव पूर्यतेऽस्माक कि विशेषेण शुभाशुभरूपविकल्पजालेनेति । एव भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रय द्वितीयस्थले गत । अथ स्वतत्र-व्याख्यानमुख्यतया गाथात्रय कथ्यते तद्यथा स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति पर किंतु कियत्कालपर्यंत इति न ज्ञायते एव पृष्टे सति प्रथमगाथाया प्रत्युत्तर ददाति —

टीका—(जह णाम को वि पुरिसो) जैसे कोई भी पुरुष (रायाण जाणिऊण सद्दहदि) छत्र चमर आदि राज चिह्नो से राजा जानकर यही राजा है ऐसा निश्चय करता है (तो त अणुचरदि) तदनतर उसका आश्रय लेता है, उसकी आराधना करता है (अत्थत्थीओ पयत्तेण) पूर्ण प्रयत्न से, क्योकि वह धन का इच्छुक है। इस प्रकार दृष्टात हुआ। (एव हि) इसी प्रकार (जीवराया) शुद्ध जीवराजा (णादव्वो) निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान से जानने योग्य है (तह य) वैसे ही (सद्दहेदव्वो) यह नित्यानन्द स्वभाव वाला रागादि रहित ही शुद्धात्मा है ऐसा निर्णय करने योग्य है (अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु) तथा वही शुद्धात्मा आश्रय करने योग्य है—निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव करने योग्य है (मोक्ख कामेण) मोक्ष के इच्छुक द्वारा, इस प्रकार यह दार्ष्टांत हुआ। तात्पर्य यह है कि हम संसारी आत्माओ का भेदाभेद रत्नत्रयात्मक भावनारूप परमात्मचिंतन के द्वारा ही वाछित सिद्ध हो जाता है तो फिर इधर उधर के शुभाशुभ विकल्प जाल से क्या प्रयोजन है ?

इस प्रकार भेदाभेद रत्नत्रय की मुख्यता से दूसरे स्थल मे तीन गाथाये पूर्ण हुई ।

विशेषार्थ—यहा पर आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मुमुक्षु हैं दु खो से दूर होकर रहना चाहते हैं उन्हे चाहिए कि ससार की इतर सब बातो को भूल कर केवल एक शुद्धात्मा को जाने, पहचाने और उसी मे तल्लीन होकर रहे बस यही एक कल्याण का मार्ग है ॥२०-२१॥

आगे स्वतत्र व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाये कही जाती हैं।

अब जिस जीव को आपा परके भेद का ज्ञान नही है वह अज्ञानी होता है यह तो हम समझे किन्तु वह अज्ञानी कब तक रहता है ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं —

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥२२॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म ।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥२२॥

अर्थ—जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म मे मैं कर्म नोकर्म हूं और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं ऐसी प्रतीति रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी है ॥२२॥

तात्पर्यवृत्ति—**कम्मे** कर्मणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि च **णोकम्मह्मि य** शरीरादिनोकर्मणि च **अहमिदि** अहमिति प्रतीति **अहकं च कम्म णोकम्मं** अहक च कर्म नोकर्मेति प्रतीति यथा घटे वर्णादयो गुणा घटाकारपरिणत-

पुद्गलस्कधाश्च वर्णादिपु च घट इत्यभेदेन **जा** यावत काल **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता **खलु** स्फुटं **बुद्धी** तथा कर्मनोकर्मणा सह शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजपरमात्मवस्तुन ऐक्यबुद्धि **अप्पडिबुद्धो** अप्रतिवुद्ध. स्वसवित्तिशून्यो वहिरात्मा **हवदि** भवति **ताव** तावत्कालमिति। अत्र भेदविज्ञानमूलान् शुद्धात्मानुभूतिम् स्वत स्वयवुद्धापेक्षया परतो वा वोधितवुद्धापेक्षया ये लभते ते पुरुपा. शुभाशुभवहिर्द्रव्येषु विद्यमानेष्वपि मुकुरुदवदविकारा भवतीति भावार्थ । अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहित परिणामस्तदा मोक्षो भवति । अजीवे देहादौ यदा रागादि परिणामस्तदा वधो भवतीत्याख्याति—

टीका—(कम्मे) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादि भावकर्म (णो कम्महिय) तथा शरीरादि नोकर्म मे (अहमिदि) मैं हू ऐसी प्रतीत होती है (अहकं च कम्म णोकम्म) अथवा ये कर्म व नोकर्म मेरे हैं इस प्रकार प्रतीति होती है, जैसे कि घडे मे वर्णादि गुण, और घटाकार परिणत पुद्गल स्कध होते हैं। अत वर्णादिक मे जव तक घट इस प्रकार की अभेद प्रतीति होती है (जा एसा खलु वुद्धी) उसी प्रकार कर्म नोकर्म के साथ शुद्ध वुद्ध एक स्वभाव निज परमात्मा की एकता रूप स्पष्ट वुद्धि वनी रहती है (अप्पडिवुद्धो हवदि ताव) तव तक यह जीव अप्रतिवुद्ध स्वसवेदन से रहित वहिरात्मा (वाहिरी वुद्धिवाला) होता है । यहा पर भेद विज्ञान मूलक जो शुद्धात्मानुभूति है वह स्वयबुद्धो को तो अपने आप और वोधितवुद्धो को दूसरे के द्वारा प्राप्त होती है। जव यह शुद्धात्मानुभूति जिनको प्राप्त होती है वे जीव संसार के विद्यमान शुभाशुभ वाहिरी पदार्थों मे अर्थात् आत्मा से भिन्न सभी पदार्थों मे दर्पण के समान निर्विकार होकर रहते हैं।

विशेषार्थ—जव तक ससार के शरीर आदि सभी पदार्थों मे अहकार या ममकार रूप वुद्धि बनी रहती है तव तक यह आत्मा अप्रतिवुद्ध (अज्ञानी) रहता है। किन्तु वाह्य पदार्थो मे अहकार ममकार हटने पर जव यह आत्मा स्वय आत्म निमग्न हो जाता है तव यह प्रतिवुद्ध (ज्ञानी) वनता है।

जव इस जीव की शुद्ध जीवमे रागादि रहित परिणति होती है तव मोक्ष होता है और जव अजीवरूप देहादिक मे रागादि सहित परिणति होती है तव वंध होता है—

❀ जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंध मोक्खो, होदि समासेण णिदिट्ठो ।।२३।।

जीवे वा अजीवे वा संप्रतिसमये यत्रोपयुक्तः
तत्रैव बंधः मोक्षो भवति समासेन निर्दिष्टः ।।२३।।

अर्थ—जीव तथा अजीव देहादिकमे जिस समय यह आत्मा उपयुक्त रहता है वही मोक्ष तथा वध होता है ऐसा कथन मक्षेप से श्री सर्वज्ञदेव ने किया है ।।२३।।

तात्पर्यवृत्ति—**जीवेव** स्वशुद्धजीवे वा **अजीवे वा** देहादौ वा **संपदिसमयह्मि** वर्त्तमानकाले **जत्थ उवजुत्तो** यत्रोपयुक्त तन्मयत्वेनोपादेयवुद्धया परिणत **तत्थेव** तत्रैव अजीवे जीवेवा **वधमोक्खो** अजीवदेहादौ वधो, जीवे शुद्धात्मनि मोक्ष **हवदि** भवति **समासेण णिद्दिट्ठो** सक्षेपेण सर्वज्ञैर्निर्दिष्ट इति । अत्रैव ज्ञात्वा सहजानदैकस्वभावनिजात्मनि रति कर्त्तव्या । तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्राय ।। अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणा कर्त्ता अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति—

❀ यह गाथा आत्मख्याति मे नही है।

टीका—(जीवे व) अपनी शुद्ध आत्मा में (अजीवे वा) अथवा देहादिक इतर पदार्थों में (संपदि समयम्हि) वर्तमान समय मे (जत्थ उवजुत्तो) जहा पर उपयुक्त रहता है अर्थात् उपादेय बुद्धिसे तन्मय होकर रहता है (तत्थेव) वही पर अजीव मे या जीवमे (वध मोक्खो) अजीवरूप देहादिक मे परिणत होने पर वध और शुद्ध जीव मे परिणत होने पर मोक्ष होता है (समासेण णिदिट्ठो) ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने सक्षेप से कहा है। ऐसा जानकर यहा सहजानन्द एक स्वभाव वाले निज आत्मा मे रमण करना चाहिये और उससे विलक्षण जो परद्रव्य हैं उनसे विरक्त होकर रहना चाहिये ऐसा आचार्यदेव का अभिप्राय है ॥२३॥

आगे कहते हैं कि अशुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा रागादि भावकर्मोंका कर्त्ता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मो का कर्त्ता है ऐसा वतलाते हैं—

❀ जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥२४॥

यः करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।
निश्चयतः व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्त्ता ॥२४॥

अर्थ—निश्चयनय से आत्मा जिस समय जैसे शुद्ध या अशुद्ध भावो को उपजाता है उस समय उस भाव का कर्त्ता होता है। और व्यवहारनय से वह पुद्गल कर्मों का कर्त्ता होता है ॥२४॥

तात्पर्यवृत्तिः—जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं करोति रागादि भावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्त्ता भवति । **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावाना, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावाना कर्त्तेति भावाना परिणामनमेव कर्तृत्व । **ववहारा** अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् **पोग्गलकम्माण** पुद्गलद्रव्यकर्मादीना **कत्तारं** कर्त्तेति । कर्तार इति कर्मपद कर्त्तेति कथ भवतीति चेत्, प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारोलिंगव्यभिचारश्च । अत्र रागादीना जीव कर्त्तेति भणित ते च ससारकारण तत ससारभयभीतेन मोक्षार्थिना समस्तरागादिविभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपर्याये स्वरूपे निज परमात्मनि भावना कर्त्तव्येत्यभिप्राय । एव स्वतत्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रय गत ॥ अथ यथाकोऽप्यप्रतिवुद्ध अग्निरिंधन भवति इधनमग्निर्भवति अग्निरिंधनमासीत् इधनमग्निरासीत् अग्निरिंधन भविष्यति इधनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा य कालत्रयेपि देहरागादिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिवुद्धो वहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयतिः—

टीका—(ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स) जिस रागादि भाव को आत्मा करता है उस समय उस भाव का अर्थात् परिणाम का करने वाला होता है। (णिच्छयदो) अशुद्ध निश्चय नय से अशुद्ध भावो का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्धभावो का कर्त्ता होता है क्योकि उन भावो के रूप मे परिणमन करना ही कर्त्तापना है। (ववहारा) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से (पोग्गल कम्माण) पुद्गलमयी द्रव्यकर्मादि का (कत्तारं) कर्त्ता होता है यहा 'कर्त्तारं' यह कर्मपद कर्त्ता के अर्थ मे आया है सो प्राकृत मे कही कही कारक व्यभिचार और लिंग व्यभिचार देखा जाता है। यहा ऐसा अभिप्राय है कि जिन रागादि भावो का कर्त्ता जीव को कहा गया है वे भाव ससार के कारण हैं इसलिये ससार से भयभीत तथा मोक्ष के इच्छुक पुरुप को समस्त प्रकार के रागादि विभाव भावो से रहित और शुद्ध द्रव्य तथा गुण पर्याय स्वरूप निज परमात्मा मे भावना करनी चाहिये ॥२४॥

❀ यह गाथा आत्मख्याति मे नही है

इस प्रकार स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय स्थल मे तीन गाथायें हुई ।

आगे कहते हैं कि कोई भोला प्राणी अग्नि है वह ईंधन है इंधन वही अग्नि है, अग्नि ही पहले ईंधन था, और ईंधन ही पहले अग्नि थी, आगे भी अग्नि ही इंधन होगा और इंधन ही अग्नि होगी इस प्रकार कहा करता है वैसे ही जो सदा देह रागादि रूप पर द्रव्यो को अपनी आत्मा मे जोडता है वह अप्रतिवुद्ध वहिरात्मा अर्थात् वाह्य दृष्टिवाला अतएव मिथ्या ज्ञानी होता है —

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्त मिस्सं वा ॥२५॥
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि ।
होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि ॥२६॥
एवं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि सम्मूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असम्मूढो ॥२७॥ (त्रिकलम्)

अहमिदं इदमहं अहमेतस्य एव भवामि मम इदम् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्त मिश्रं वा ॥२५॥
आसीन्मम पूर्वमेतत् अहमिदं चैव पूर्वकाले ।
भविष्यति पुनरपि मम अहमिदं चैव भविष्यामि ॥२६॥
एवंत्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन् न करोति पुनः तमसंमूढः ॥२७॥

अर्थ—आत्मा अपने आप से भिन्न सचित्त स्त्री पुत्रादिक, अचित्त मुकुट कुण्डलादिक, और मिश्र आभरण सहित स्त्री आदि इन वस्तुओ मे मैं हू सो यह है, यह है सो मैं हूँ, ये मेरे हैं मैं इनका हूँ, ये मेरे पहले थे, मैं पहले इनका था, आगे भी ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा इस प्रकार का सयोगात्मक विकल्प करता है वह मूढ अर्थात् मोह भाव का धारक होता है किन्तु जो मोह रहित अर्थात् सयत होता है वह भूतार्थ (निश्चयनयात्मक) आत्मस्वरूप को अनुभव करता हुवा इन सव विकल्पो से दूर रहता है ॥२५-२६-२७॥

तात्पर्यवृत्ति—**अहमेदं एदमह** अह इद, परद्रव्य इद अह भवामि । **अहमेदस्सेव हि होमि ममएदं** अहमस्य सवधी भवामि मम सवधीद । **अण्णं जं परदव्वं** देहादन्यद्भिन्न पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्य **सचित्ताचित्तमिस्सं वा** सचित्ताचित्तमिश्र वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्त स्त्र्यादि, अचित्त सुवर्णादि, मिश्र साभरणस्त्र्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्त छात्रादि. अचित्त पिच्छकमडलुपुस्तकादि मिश्रमुपकरणसहितछात्रादि । अथवा सचित्त रागादि, अचित्त द्रव्य कर्मादि, मिश्र द्रव्य भावकर्म द्वय । अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थ पुरुषापेक्षया सचित्त सिद्ध परमेष्ठि स्वरूप, अचित्त पुद्‌गलादि पच द्रव्यरूप मिश्र गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादि परिणतससारिजीवस्वरूपमिति वर्तमानकालापेक्षया गाथा गता । **आसीत्यादि आसि मम पुव्वमेद** आसीत् मम पूर्वमेतत् । **अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि** अहमिद चैव पूर्वकाले **होहिदि पुणोवि मज्झं** भविष्यति पुनरपि मम **अहमेदं चावि होस्सामि** अहमिद चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता । **एदमित्यादि एदं** इम तु पुन **असंभूदं** असद्भूत

कालत्रयपरद्रव्यमवविमिथ्यारूप **आदवियप्पं** आत्मविकल्प अशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणाम **करेदि** करोति **संमूढो** सम्यट्‌ मूढ अज्ञानी वहिरात्मा । **भूदत्थं** भूतार्थं निश्चयनय **जाणंतो** जानन् सन् **ण करेदि** न करोति **दु** पुन कालत्रय-परद्रव्यमवविमिथ्याविकल्प **असमूढो** असमूढ. सम्यग्दृष्टिरतरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारत । किं च यथा कोप्यज्ञानी अग्निरिंधन इंधनमग्नि कालत्रये निश्चयेनैकातेनाभेदेन वदति तथा देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमह भवामि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्यामीति यो वदति सोऽज्ञानी वहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरतरात्मेति । एव अज्ञानी ज्ञानी जीवलक्षण ज्ञात्वा निर्विकारस्वसवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कर्त्तेति तामेव भावना दृढयति । यथा कोपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभि सह ससर्गं कार्येति कुर्वाण मन् राजाराधको न भवति तथा परमात्माऽराधकपुरुष-स्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभि परिणममाण परमात्माराधको न भवतीति भावार्थ । एवमप्रतिवुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रय गत । अथाप्रतिवुद्धसवोधनार्थं व्यवसाय क्रियते ।

टीका—(अहमेद एदमह) मैं हूँ सो यह है, यह है सो मैं हूँ (इस प्रकार अहकार भाव) (अहमेदस्सेव होमि मम एद) यह मेरा है और मैं इसका हूँ (इस प्रकार ममकारभाव) (अण्ण ज परदव्व) इसी प्रकार देह से भिन्न जो परद्रव्य है (सच्चित्ताचित्त मिस्सवा) वे सचित्त अचित्त और मिश्र तीन प्रकार हैं। उनमे गृहस्थ की अपेक्षा स्त्री आदि सचित्त, स्वर्णादि अचित्त, साभरण स्त्री आदि मिश्र हैं। अथवा तपोवन की अपेक्षा छात्रादि सचित्त, पीछी, कमण्डलु, पुस्तक आदि अचित्त, और उपकरण सहित छात्रादि मिश्र हैं। अथवा रागादि भावकर्म सचित्त, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अचित्त, द्रव्य और भावकर्मरूप मिश्र हैं। अथवा विषय कषाय रहित निर्विकल्प समाधि मे स्थित पुरुष की अपेक्षा सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप सचित्त, पुद्गल आदि पाच द्रव्य अचित्त, और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणादि रूप परिणत जो ससारी जीव का स्वरूप वह मिश्र है। इस प्रकार वर्त्तमान काल की अपेक्षा गाथा समाप्त हुई। अव (आसि मम पुव्वमेद) ये सव मेरे पहले थे (अहमेद चावि पुव्वकालह्मि) मैं भी इनका पहले था (होहिदि पुणोवि मज्झ) ये सव आगे भी मेरे होगे (अहमेद चावि होस्सामि) और मैं भी आगे इनका होऊ गा। इस प्रकार भूत और भविष्यत् काल की अपेक्षा गाथा समाप्त हुई। (एदतु) इस प्रकार (असभूद) असद्भूत तीन काल सवधी परद्रव्यो से ससर्ग लिये हुये मिथ्यारूप (आद वियप्प) अपने आपके विचार को अर्थात् अशुद्धनिश्चयनय से होने वाले जीव के (रागादिरूप) परिणाम को (करेदि) जो करता है (सम्मूढो) वह मोह को लिये हुये अज्ञानी वहिरात्मा होता है। किन्तु (भूदत्थ) जो भूतार्थ निश्चयनय को (जाणतो) जानता हुआ (ण करेदि दु त) तीन काल मे होने वाले उपर्युक्त परद्रव्यसवधी मिथ्या विकल्प को नही करता है वह (असमूढो) मोह भाव रहित सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा ज्ञानी होता है अर्थात् भेदाभेद रत्नत्रय की भावना मे निरत होता है। जैसे कि कोई भी भोला प्राणी कहे कि तीनो कालो मे अग्नि ही ई धन है और ईंधन ही अग्नि है ऐसा एकात अभेदरूप से कहता है वैसे ही देह रागादि परद्रव्य ही इस समय मैं हूँ, पहले भी मैं परद्रव्य रागादिरूप था और आगे भी परद्रव्य रागादिरूप होऊ गा ऐसा कहता है वह अज्ञानी वहिरात्मा है किन्तु ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अ तरात्मा जीव इससे विपरीत विचार वाला है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीव का लक्षण जानकर निर्विकार स्वसवेदन है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान मे निमग्न होकर भावना करनी चाहिये। इसी वात को फिर दृढ करते हैं कि जैसे कोई राजपुरुष भी राजा के शत्रुओं के साथ ससर्ग रखता है तो वह राजा का आराधक नही कहला सकता उसी प्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा के प्रतिपक्षभूत जो मिथ्यात्व व रागादिभाव हैं उन रूप परिणमन करने वाला होता है तव वह परमात्मा का आराधक नही हो सकता यह इसका निचोड है। ॥२५-२६-२७॥

इस प्रकार अप्रतिवुद्ध के लक्षण के कथन रूप मे चतुर्थ स्थल मे तीन गाथाये पूर्ण हुई।

विशेषार्थ—पाठक देख रहे है कि इन गाथाओ मे जिस प्रकार आत्मा से इतर पदार्थो मे अहकार रखने वाले को अप्रतिवुद्ध वतलाया है उसी प्रकार उन मे ममकार रखने वाले को भी अप्रतिबुद्ध वताते हुए उन सव से दूर हट कर केवल निर्विकल्प समाधि में स्थित होने वाले जीव को ही प्रतिबुद्ध, ज्ञानी एव सम्यग्दृष्टि कहा है।

आगे-इस अप्रतिवुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न किया जाता है—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२८॥
सवण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणोणिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वी भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२९॥
जदि सो पुग्गलदव्वी भूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्का वुत्तु जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥३०॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥२८॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव, उपयोगलक्षणो नित्यं।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदं ॥२९॥
यदि स पुद्गल द्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यं ॥३०॥

अर्थ—अज्ञान से ठगी हुई वुद्धिवाला ससारी प्राणी अपने साथ मे मिलकर रहने वाले शरीर और अपने से पृथक् गहने इत्यादि पुद्गल द्रव्य को अपना कहता है और नाना प्रकार की रागद्वेषादि रूप कल्पना करता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि हे भाई! जव कि सर्वज्ञ भगवान ने जीव को नित्य उपयोग लक्षण वाला देखा है तो फिर वह पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है? जिससे कि तू पुद्गलात्मक पदार्थ को मेरा मेरा कहता है। हा, यदि जीवद्रव्य पुद्गल रूप हो जाय तो पुद्गल द्रव्य भी जीव रूप हो जाय, तव तू कह सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। (पर ऐसा तीन काल मे नही हो सकता अत. तेरा यह कहना भूल भरा है)

तात्पर्यवृत्ति—अण्णाणेत्यादिव्याख्यान क्रियते **अण्णाणमोहिदमदी** अज्ञानमोहितमति **मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं** ममेद भणति पुद्गल द्रव्य। कथभूत? **बद्धमबद्धं च** वद्ध सबधदेहरूप अवद्ध च असवद्ध देहाद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि **तहा** तथा **जीवे** जीवद्रव्ये **बहुभावसंजुत्तो** मिथ्यात्वरागादि बहुभावसयुक्त। अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलत्रादिक परद्रव्य ममेद भणतीत्यर्थ। इति प्रथमगाथा गता। अथास्य वहिरात्मन सवोधन क्रियते रे दुरात्मन्! **सवण्हु** इत्यादि **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञज्ञानदृष्ट **जीवो** जीवपदार्थ कथभूतो दृष्ट **उवओगलक्खणो** केवलज्ञान-दर्शनोपयोगलक्षण **णिच्चं** नित्य सर्वकाल। **कह** कथ **सो** स जीव **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्य जात न कथमपि **जं** येन कारणेन **भणसि** भणसि त्व **मज्झमिणं** ममेद पुद्गलद्रव्य। इति द्वितीया गाथा गता। **जदि** इत्यादि-**जदि**

यदि चेत् **सो** म जीवः **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यजात **जीवो** जीव **जीवत्तं** जीवत्व **आगदं** आगत प्राप्त **इदरं** इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्य **तो सक्का वुत्तुं** तत शक्य वक्तु **जे** अहो अथवा यस्मात्कारणात् **मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं** ममेद पुद्गलद्रव्यमिति । नचैव यथा वर्षासु लवणमुदकी भवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति । तथा यदि चैतन्य विहाय जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्य च मूर्त्तत्वमचेतनत्व विहाय चिद्रूप चामूर्तत्व च भवति तदा भवदीयवचन सत्य भवति । रे दुरात्मन् ! न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ततो जीवद्रव्य देहाद्भिन्नममूर्त्तं शुद्धबुद्धैक-स्वभाव सिद्धमिति । एव देहात्मनोर्भेदज्ञान ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्पजाल त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कार-मात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् । इत्यप्रतिबुद्धसबोधनार्थं पचमस्थले गाथात्रय गत ।

अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टक कथ्यते, तत्रैकगाथाया पूर्वपक्ष गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहार । गाथात्रये निश्चयस्तुतिरूपेण परिहार इति षष्ठस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—प्रथमतस्तावत् यदि जीवशरीरयोरेकत्व न भवति तदा तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्य पूर्वपक्ष करोति—

टीका—(अण्णाण मोहिदमदी) अज्ञान से मोहित हो रही है—विगड रही है बुद्धि जिसकी ऐसा जीव (मज्झमिण भणदि पुग्गल दव्व) कहता है कि यह शरीरादि पुद्गल द्रव्य मेरा है। कैसा है वह पुद्गल द्रव्य ? (वद्धमवद्ध च) कि वद्ध अर्थात् आत्मा से सबधित देह और अवद्ध देह से भिन्न पुत्र कल-त्रादि हैं। (तहा जीवो वहु भाव सजुत्तो) उनमे यह ससारी जीव मिथ्यात्व रागादिरूप विकारी भावो को लिये हुये है इसलिये उन देह पुत्र कलत्रादि पर द्रव्य को मेरा है इस प्रकार कहता है। यह पहली गाथा का अर्थ हुआ ॥२८॥ आगे की गाथामे उस अज्ञानी को समझाया जा रहा है कि हे दुरात्मन् ! (सव्वण्हुणाणदिट्ठो) सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान से देखा हुआ (जीवो) जीव नामा पदार्थ (उवओग लक्खणो णिच्च) सव ही काल मे केवल मात्र ज्ञान और दर्शन उपयोग लक्षण वाला है फिर (कह सो पुग्गलदव्वी भूदो) वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? कभी नही हो सकता (ज भणसि मज्झमिण) जिससे कि तू पुद्गलद्रव्य मेरा है ऐसा कहता है। इस प्रकार दूसरी गाथा पूर्ण हुई ॥२९॥ (जदि सो पुग्गलदव्वी भूदो) यदि वह जीव पुद्गल द्रव्यरूप हो जाय- तो (जीवत्तमागदइदर) शरीरादि पुद्गलद्रव्यभी जीवपने को प्राप्त हो जाय (तो सक्का वुत्तु जे) तो तू फिर कह सकता है कि (मज्झमिण पुग्गलदव्व) यह पुद्गल द्रव्य मेरा है किन्तु ऐसा होता नही ॥३०॥ तात्पर्य यह है कि जैसे वर्षा काल मे लवण पिघलकर जलरूप हो जाता है और ग्रीष्मकाल मे वही जल घन होकर लवण हो जाता है वैसे ही कभी भी चेतनता को छोडकर जीव यदि पुद्गल द्रव्य रूप परिणत हो जाय तो और पुद्गल द्रव्य अपने मूर्त्तपने को व अचेतनपने को छोडकर चेतनरूप और अमूर्त्त वन जाय तो तेरा कहना सत्य हो सकता है। किन्तु हे दुरात्मन ! ऐसा कभी होता नही क्योकि ऐसा मानने मे प्रत्यक्ष विरोध आता है। फलस्वरूप हम स्पष्ट देख रहे हैं कि जीव तो इस जडस्वरूप देह से भिन्न है जो कि अमूर्त्त और शुद्ध वुद्ध एक स्वभाववाला है। इस प्रकार देह और आत्मा मे परस्पर भेद जानकर मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के (अहकार और ममकाररूप) विकल्प जाल को छोड़कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र निज परमात्म तत्व मे भावना करनी चाहिये। इस प्रकार अप्रतिवुद्ध अज्ञानी को सवोधने के लिये पाचवे स्थल मे तीन गाथाये पूर्ण हुई ॥२८ २९ ३०॥

आगे पूर्वपक्ष (जीव व शरीर को एक मानना) के परिहार रूप मे आठ गाथायें कही जाती हैं वहा पहली गाथा मे पूर्वपक्ष का कथन है, फिर चार गाथाओ मे निश्चय और व्यवहार के समर्थन रूप

से उसका परिहार है तथा तीन गाथाओं में निश्चय स्तुति रूप से पूर्व पक्ष का परिहार है इस प्रकार छट्ठे स्थल की समुदाय पातनिका है।

अब सबसे प्रथम अज्ञानी शिष्य अपनी बात कहता है कि यदि जीव और शरीर मे एकपना नही है तो तीर्थंकरो की और आचार्यों की जो स्तुतिया शरीर को लेकर की गई हैं वह सब व्यर्थ ठहरती हैं (सो ही कहा जा रहा है)।—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चैव
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥३१॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥३१॥

अर्थ—हे भगवन् ! यदि जीव और शरीर एक रूप नही है तो भक्त लोगो के द्वारा की गई तो तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति सब व्यर्थ ठहरती है अत आत्मा और शरीर एक है ऐसा मानना ही चाहिए ॥३१॥

तात्पर्यवृत्तिः—जदि जीवो ण सरीर हे भगवन् ! यदि जीव शरीर न भवति **तित्थयरायरिय संथुदीचैव** र्ताह "द्वौ कु देदुतुषारहारधवलावित्यादि" तीर्थंकरस्तुति. "देसकुलजाइसुद्धा" इत्याचार्यस्तुतिश्च **सव्वावि हवदि मिच्छा** सर्वापि भवति मिथ्या **तेण दु आदा हवदि देहो** तेन त्वात्मा भवति देह । इति मर्मकातिकी प्रतिपत्ति । एव पूर्वपक्षगाथा गता। हे शिष्य ! यदुक्तं त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्यसाधकभाव न जानासि त्वमिति।

टीका—हे भगवन् (जदि जीवो ण सरीर) यदि जीव शरीररूप नही है (तित्थयरायरिय सथुदी चैव) तो "द्वौ कु देदुतुषारहारधवलौ" इत्यादि शरीर को आधार लेकर की गई तीर्थंकर की स्तुति और "देस कुल जाइ सुद्धा" इत्यादि आचार्यों की स्तुति (सव्वावि हवदि मिच्छा) सब ही मिथ्या ठहरती है (तेण दु आदा हवदि देहो) इसलिये आत्मा ही शरीर है या शरीर ही आत्मा है ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। इस प्रकार यह पूर्वपक्ष की गाथा हुई ॥३१॥

अब आचार्य महाराज इसका परिहार करते हैं कि हे भाई ! तूने कहा सो ठीक नही बैठता क्योकि तू निश्चय और व्यवहारनय मे परस्पर जो साध्य साधक भाव है उसको नही जानता —

ववहारणओ भासदि जीवो देवो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥३२॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥३२॥

अर्थ—व्यवहार नय (जो कि सयोग मात्र को लेकर चलता है) कहता है कि जीव और देह अवश्य एक हैं किन्तु निश्चयनय (जो तादात्म्य सबध को ही स्वीकार करता है) से जीव और देह किसी काल मे भी एक नही है (किन्तु भिन्न भिन्न हैं) ॥३२॥

तात्पर्यवृत्ति—ववहारणयो भासदि व्यवहारनयो भाषते ब्रूते किं ब्रूते ? **जीवो देहो य हवदि खलु इक्को** जीवो देहश्च भवति खल्वेक **ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो** न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च

कदाचित्काले एकार्थ एको भवति। यथा कनककलधौतयो समावर्त्तितावस्थाया व्यवहारेणैकत्वेपि निश्चयेन भिन्नत्व तथा जीवदेहयोरिति भावार्थ । तत कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवन युक्तं भवतीति नास्ति दोप. । तथाहि–

टीका:—(ववहारणयो भासदि) व्यवहारनय कहता है कि (जीवो देहो य हवदि खलु इक्को) जीव और देह अवश्य ही एक है (ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो) किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और देह दोनो परस्पर कभी किसी काल मे भी एक नही होते हैं। जैसे-चादी और सोना मिली हुई दशामे व्यवहारनय से परस्पर एक हैं फिर भी निश्चय से वे अपने रूप रग को लिये हुये भिन्न भिन्न हैं वैसे ही जीव और देह का व्यवहार है। इसलिये व्यवहारनय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मान लेना दोष कारक नही है ।।३२।।

इसी को फिर स्पष्ट करते हैं—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।३३।।

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ।।३३।।

अर्थ—जीव से अन्य इस पुद्गलमयी देह की स्तुति गुणानुवाद करके मुनि भी ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति व वदना करली है ।।३३।।

तात्पर्यवृत्तिः—**इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी** इदमन्यद्भिन्न जीवात्सकाशाद्देह पुद्गलमय स्तुत्वा मुनि । **मण्णदि हु सथुदो वदिदा मए केवली भयवं** पश्चाद्व्यवहारेण मन्यते सस्तुतो वदितो मया केवली भगवानिति। यथा सुवर्णरजतैकत्वे सति शुक्ल सुवर्णमिति व्यवहारो न निश्चय तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्ण, केवलिपुरुष इत्यादिदेहस्तवने व्यवहारेणात्मस्तवन भवति न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थ । अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढयति।

टीका.—(इणमण्णं जीवादो देह पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी) जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह का स्तवन करके मुनि (मण्णदि हु सथुदो वदिदो मए केवली भयव) व्यवहार से ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान की स्तुति और वदना करली। तात्पर्य यह है कि जैसे चादी के साथ मिले हुये स्वर्ण को व्यवहार से सफेद सोना कहते हैं, पर वास्तव मे सोना सफेद नही होता उसी प्रकार अमुक केवली भगवान श्वेत लाल, या कमल के रगवाले है इत्यादि रूप से उनके देह का स्तवन करने पर व्यवहार से उनकी आत्मा का स्तवन हो जाता है किन्तु निश्चय से नही ।।३३।।

आगे इसी को दृढ करते हैं कि निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने पर केवली भगवान का स्तवन नही होता—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीर गुणा हि होंति केवलिणो।
केवलि गुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ।।३४।।

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्वं केवलिनं स्तौति ।।३४।।

अर्थ—किन्तु उपर्युक्त बात निश्चयनय मे घटित नहीं होती क्योकि शरीर के पुद्गलमयी गुण केवली के नही हो सकते। अत निश्चयनय मे तो जो केवली के ज्ञानादि गुणो का स्तवन करता है तभी केवली भगवान का स्तवन समझा जाता है ॥३४॥

तात्पर्यवृत्तिः— **तं णिच्छये ण जुज्जदि** तत्पूर्वोक्तदेहस्तवने सति केवलिस्तवन निश्चयेन न युज्यते कथमिति चेत् **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** यत कारणाच्छरीरगुणा शुक्लकृष्णादय. केवलिनो न भवति। तर्हि कथ केवलिस्तवन भवति **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलि थुणदि** केवलिगुणान् अनतज्ञानादीन् स्तौति य. स तत्त्व वास्तव स्फुट वा केवलिन स्तौति। यथा शुक्लवर्णरजतशब्देन सुवर्णं न भण्यते तथा शुक्लादिकेवलिशरीरस्तवनेन चिदानदैकस्वभाव केवलिपुरुषस्तवन निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्राय। अथ शरीरप्रभुत्वेपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवन न भवति निश्चयनयेन तत्र दृष्टातमाह—

टीका—(त णिच्छये ण जुज्जदि) पूर्वोक्त प्रकार देह का स्तवन करने पर जो केवली का स्तवन है वह निश्चयनय को मान्य नही है (ण सरीरगुणा हि होति केवलिणो) शरीर के गुण जो शुक्ल कृष्णादि हैं वे केवली के अपने गुण नही हो सकते। तव केवली का स्तवन कैसा होता है? (केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्च केवलि थुणदि) कि जो जीव केवली के अनत ज्ञानादिक गुणो का वर्णन करता है वही वास्तव मे केवली भगवान का स्तवन करने वाला होता है। भावार्थ यह है कि जैसे शुक्ल वर्णवाली चादी के कथन से स्वर्ण का कथन नहीं वन सकता वैसे ही केवली के शरीर मे होने वाले शुक्लादि वर्णों के स्तवन से चिदानद एक स्वभाववाले केवली भगवानका स्तवन निश्चय से नही माना जा सकता ॥३४॥

आगे आत्मा शरीर का धारक होने पर भी शरीर मात्र के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन निश्चयनय से नही माना जा सकता इसी को स्पष्ट करने के लिए दृष्टात देते हैं।

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३५॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवति ॥३५॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेपि नैव राज्ञो वर्णना कृता भवति तथा शुक्लादिदेहगुणस्तूयमानेप्यनतज्ञानादिकेवलिगुणा स्तुता न भवतीत्यर्थ। इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टय गत। अथानतर यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति द्रव्येंद्रियभावेंद्रियपचेंद्रियविषयान् स्वसवेदनलक्षणज्ञानेन जित्वा योसौ शुद्धमात्मान सचेतयते स जिन इति जितेंद्रिय इति सा चैव निश्चयस्तुतिपरिहार ददाति।

टीकाः—जैसे प्राकार उपवन और खाई आदि के वर्णन से किसी राजा के नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नही हो सकता है। वैसे ही केवली भगवान के श्वेतादि शरीर के गुणो का वर्णन करने पर केवली के अनतज्ञानादि गुणो का वर्णन नही हो जाता ॥३५॥ इस प्रकार निश्चय व्यवहार रूप से चार गाथा पूर्ण हुई।

अव यदि देह के गुणो का वर्णन करने से निश्चय स्तुति नही होती है तो फिर वास्तविक स्तुति क्या है, ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि जो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप पाचो इन्द्रियो के विषयो को स्वसवेदन

ज्ञान के वल से जीतकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है वह जिन है वही जितेन्द्रिय है, इस प्रकार निश्चय स्तुति होती है। यही वात आगे कि गाथामे कहते हैं —

जो इंदिए जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं
तं खलु जिंदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३६॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं।
तं खलु जितेन्द्रियं ते, भणंति ये निश्चिताः साधवः ॥३६॥

अर्थ —निश्चयमे तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्माका अनुभव करनेवाले साधु लोग उसको जितेन्द्रिय कहते हैं जो इन्द्रियो को वशमे करके अपने ज्ञानादि गुणोंसे परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है ॥३६॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं य कर्त्ता द्रव्येंद्रियभावेंद्रियपचेंद्रियविषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिक परिपूर्णं शुद्धात्मान मनुते जानात्यनुभवति सचेतयति **तं खलु जिंदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू** त पुरुष खलु स्फुट जितेंद्रिय भणति ते साधव के ते ये निश्चिता निश्चयज्ञा इति। किंच ज्ञेया. स्पर्शादिपचेंद्रियविषया ज्ञायकानि स्पर्शनादिद्रव्येंद्रियभावेंद्रियाणि तेषा योसौ जीवेन सह सकर सयोग संबध स एव दोष त दोष परमसमाधिवलेन योसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थ। अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावकसकरदोषपरिहारेण कथयति। अथवा उपशमश्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह —

टीकाः—(जो इ दिए जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आद) जो जीव द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियरूप पचेन्द्रियो के विषयो को जीतकर शुद्ध ज्ञानचेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्ध आत्मा को मानता है, जानता है, अनुभव करता है, सचेतता है, अर्थात् शुद्धात्मा से तन्मय होकर रहता है, (तं खलु जिंदिदियं ते भणति जे णिच्छिदा साहू) उस पुरुष को ही निश्चयनय के जाननेवाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं। भावार्थ यह है कि स्पर्श आदि पाचो इन्द्रियो के विषय तो ज्ञेय हैं और उनके जाननेवाली द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रियरूप स्पर्शनादि पाचो इन्द्रिया हैं और उनका जीव के साथ जो सकर है—सयोग संबध है वही दोष है, उस दोष को परम समाधि के वल से जीत लेता है वही जिन है। यह पहली निश्चय स्तुति हुई ॥३६॥

आगे उसी निश्चय स्तुति को दूसरे प्रकार से भाव्य (ससारी जीव) भावक (मोहकर्म) इन दोनो मे जो सकर दोष है उसका परिहार करनेरूप अथवा उपशम श्रेणी की अपेक्षा आत्मा जित मोह है ऐसा कथन करते हैं—

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विंति ॥३७॥
यो मोहं तु जित्वा, ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं।
तं जितमोहं साधुं, परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥३७॥

अर्थ—जो मोह को दवाकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्माका अनुभव करता है परमार्थ के जानने वाले उस साधुको मोह का जीतने वाला अर्थात् जिन कहते हैं ॥३७॥

तात्पर्यवृत्ति —जो मोह तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं य. पुरुष उदयागत मोह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यरूपनिर्विकल्पसमाधिवलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिक परिपूर्णमात्मान मनुते जानाति भावयति

तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति त साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थविज्ञायका ब्रुवति कथयतीति । इय द्वितीया स्तुतिरिति । किंच भाव्यभावकसकरदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकाया भणित भवद्भि स्तत्कथ घटतेति भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयो शुद्धजीवेन सह सकर सयोग सवध स एव दोष त दोष स्वसंवेदनज्ञानवलेन योसौ परिहरति सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थ । एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेपक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पचाना श्रोत्रचक्षुघ्राण-रसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि । अनेनैव प्रकारेणान्यान्यप्यसख्येयलोकमात्रविभाव-परिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि । अथवा भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुति कथ्यते । अथवा तामेव क्षपक-श्रेण्यपेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह—

टीका—(जो मोह तु जिणित्ता णाणसहावाधिय मुणदि आद) जो पुरुष उदयमे आये हुये मोहको सम्यग्दर्शन, सम्यग्यज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनो की एकाग्रतारूप निर्विकल्प समाधि के वल से जीतकर अर्थात् दवाकर शुद्ध ज्ञानगुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आत्माको मानता है, जानता है, और अनुभव करता है (त जिद मोह साहु परमट्ठवियाणया विंति) उस साधुको परमार्थ के जाननेवाले 'जित मोह' अर्थात् मोहसे रहित जिन इस प्रकार कहते हैं। यह दूसरी निश्चय स्तुति है। भावार्थ—यहा कोई पूछता है कि आपने पातनिकामे वतलाया था कि भाव्य भावक मे परस्पर जो सकर दोष है उसका निराकरण करने से दूसरी स्तुति होती है सो यह वात यहा कैसे घटित होती है तो उसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाव्य तो रागादिरूपमे परिणत आत्मा और भावक रागरूप करने वाला उदयमे आया हुआ मोह कर्म इन दोनो भाव्य भावको का जो शुद्ध जीव के साथ सकर अर्थात् सयोग सवध है वही हुआ दोष उसको जो साधु स्वसवेदन ज्ञान के वल से परास्त कर देता है वह जिन है। यह दूसरी स्तुति हुई ॥३७॥

इसी प्रकार यहा मोह पद के स्थान पर राग, द्वेप, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, ये ग्यारह तो इस सूत्र द्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये पाच इन्द्रिय सूत्रके द्वारा पृथक् २ लेकर व्याख्यान करना चाहिये। और इसी प्रकार और भी असख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम हैं उनको भी प्रासगिक रूप से समझ लेना चाहिए।

अव भाव्य भावक के अभावरूप तीसरी निश्चय स्तुति कही जाती है अथवा यो कहो कि क्षपकश्रेणी की अपेक्षा क्षीण मोह है ऐसा कथन किया जाता है—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीण मोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३८॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥३८॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार जो मोह को परास्त करता हुआ आ रहा है उस साधु का जव मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है उस समय निश्चय के ज्ञाता गणधरादिक क्षीण मोह जिन कहते हैं ॥३८॥

तात्पर्यवृत्ति—**जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स** पूर्वगाथाकथितक्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत् कस्य साधो शुद्धात्मभावकस्य **तइया हु खीणमोहो**

भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधु क्षीणमोहो भण्यते। कैर्निश्चयविद्भि परमार्थज्ञायकैं-र्गणधरदेवादिभि । इय तृतीया निश्चयस्तुतिरिति । भाव्यभावक भावाभावरूपेण कथ जाता स्तुतिरिति चेत्—भाव्यो-रागादिपरिणत आत्मा, भावको रजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोर्भाव स्वरूप तस्याभाव क्षयो विनाश सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्राय । एवं रागद्वेष इत्यादि दडको ज्ञातव्य । इनि प्रथमगाथाया पूर्वपक्षस्तदनतर गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहार समर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्ष-परिहारगाथाष्टक समुदायेन षष्ठस्थल गत । अथ रागादिविकल्पोपाधिरहित स्वसवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरण-रूपेण गाथाचतुष्टय कथ्यते । तत्र स्वसवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा प्रत्याख्यानविषये दृष्टात-रूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वय । तदनतर मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वय एव सप्तमस्थले समुदायपातनिका । तथाहि—तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्निरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीवदेहयोरेकत्व कर्तुं नाया-तीति ज्ञात्वा शिष्य इदानी प्रतिबुद्ध सन् हे भगवन् ! रागादीना किं प्रत्याख्यानमिति पृच्छति । इति पृच्छति कोर्थ इति पृष्टे प्रत्युत्तर । एव प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेतिशब्दस्यार्थो ज्ञातव्य ।

टीका—(जिद मोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स) पूर्व गाथामे कहे हुये क्रमसे जिसने मोहको परास्त कर दिया है ऐसे शुद्धात्मा के अनुभव करनेवाले साधु के निर्विकल्प समाधिमे जव मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है (तइया हु खीण मोहो भण्णदि सो णिच्छय विदूहिं) उस समय (तीन) गुप्तिरूप समाधिकालमे वह साधु 'क्षीणमोह जिन' होता है ऐसा परमार्थके जाननेवाले गणधरादिक देव कहते हैं। इस प्रकार तीसरी निश्चय स्तुति हुई। भाव्यभावक भावके अभावरूप से यह स्तवन कैसे हुआ तिसका समाधान आचार्य करते है कि भाव्य तो रागादि परिणत आत्मा है और भावक राग उत्पन्न करने वाला उदयमे आया हुआ मोह कर्म है। इन दोनो भाव्य भावको का जो सद्भाव अर्थात् स्वरूप उसका अभाव, विनाश या क्षय है वही तीसरी निश्चय स्तुति हुई ।।३८।।

यहा पर भी उपर्युक्त गाथामे वताये हुए रागद्वेषादिरूप जो दण्डक है वे सब यहा भी लगालेना ।

विशेषार्थ—यहा पर आचार्यमहाराज ने 'जिन' शब्द की तीन प्रकारसे निरूक्ति की है। (१) जो समस्त परद्रव्यो से दूर होता हुआ इन्द्रियो को पूर्णरूप से जीतता है अतएव अपनी आत्मामे निमग्न है वह जिन है। (२) जो मोह को सर्वथा उपशम कर आत्मानुभवमे मग्न होता है वह जिन है। (३) जिसने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया वह साधु जिन है। इस प्रकार आचार्य देवने जिन शब्द का अर्थ साधु अवस्थासे ही प्रारभ किया है, इससे यह बात स्पष्ट होती है कि इनको गृहस्थ अवस्थामे जिनपना अभीष्ट नही है।

इस प्रकार इस प्रकरण की प्रथम गाथामे देह और आत्मा को एक माननेरूप पूर्वपक्ष किया। फिर चार गाथाओ से निश्चय और व्यवहारनय का समर्थन करते हुए उसका उत्तर दिया। फिर तीन गाथाओसे निश्चय स्तुति के कथन से उसीका विशेष समाधान किया। इस प्रकार पूर्वपक्ष और उसका परिहार रूप आठ गाथाओ मे छटा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे रागादि विकल्पो की उपाधिसे रहित जो स्वसवेदन ज्ञान है वही है लक्षण जिसका ऐसे प्रत्याख्यान के वर्णन से चार गाथाये कही जाती हैं तिनमे स्वसवेदनज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा कथन करते हुए पहली गाथा है, फिर प्रत्याख्यान के विषयमे दृष्टान्तरूप दूसरी गाथा है। इस प्रकार दो गाथा हैं। फिर मोह के त्यागरूप से पहली गाथा है और ज्ञेय पदार्थके त्यागरूपसे दूसरी गाथा है। ऐसे दो गाथा है। ऐसे सातवें स्थलकी चार गाथाओ मे समुदाय पातनिका हुई।

यहा यदि जीव और देह को एक नही माना जायगा तो तीर्थंकर व आचार्य की स्तुति की गई है वह व्यर्थ होती है इस प्रकार पूर्वपक्षके बलसे जीव और देहमे एकपना मानना ठीक नही है ऐसा जानकर प्रतिबुद्ध होता हुआ शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! रागादिको का प्रत्याख्यान किस प्रकार किया जाय ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते है (नोट—इसी प्रकार और स्थान पर भी प्रश्नोत्तररूप पातनिका जहा पर आवे वहा सभी स्थानो पर 'इति' शब्द का ऐसा ही अर्थ लेना)

णाणं सव्वेभावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३९॥

ज्ञानं सर्वान्भावान् प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् मन्तव्यम् ॥३९॥

अर्थ—यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थों को पर जान लेता है तब उन्हें उसी समय छोड देता है अत वास्तवमे ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ।

तात्पर्यवृत्ति—**णाणं सव्वे भावे पचक्खाई परेत्ति णादूण** जानातीति व्युत्पत्या स्वसवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते त ज्ञान कर्तृ मिथ्यात्वरागादिभाव परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति त्यजति निराकरोति **तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं** तस्मात्कारणात् निर्विकल्पस्वसवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यान नियमान्निश्चयात् मतव्य ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति । इदमत्र तात्पर्य—परमसमाधिकाले स्वसवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मात्मानमनुभवति तदेवानुभवन निश्चयप्रत्याख्यानमिति । अथ प्रत्याख्यानविषये दृष्टातमाह ।

टीका—(णाणं सव्वेभावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण) 'जानाति इति ज्ञान' इस प्रकार ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है । अत स्वसवेदन ज्ञानही आत्मा नाम से कहा जाता है वह ज्ञान मिथ्यात्व और रागादि भावो को ये परस्वरूप हैं ऐसा जान लेता है तबही उन्हे छोड देता है उनसे दूर हो जाता है । (तम्हा पच्चक्खाण णाण णियमा मुणेयव्व) इसलिये निर्विकल्प स्वसवेदन ज्ञानही नियमसे प्रत्याख्यान है ऐसा मानना चाहिये जानना चाहिये और अनुभव करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि परम समाधि कालमे स्वसवेदन ज्ञान के बलसे आत्मा अपने आप को शुद्ध अनुभव करता है वह अनुभव ही निश्चय प्रत्याख्यान है ॥३९॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान और प्रत्याख्यान दोनो एक ही वस्तु है । वास्तवमे इनमे कोई भेद नही है क्योकि जब भेदज्ञान होता है कि ये सब परवस्तु मेरेसे भिन्न है तो उन्हे उसी समय छोड देता है । ऐसा नही हो सकता कि किसी भी वस्तु को पर जानते हुये अपने आपके लिए हानिकारक तो जानले फिर भी उसे छोडे नही । यदि नही छोडता है तो समझो उसके जाननेमे ही कमी है अर्थात् वह अज्ञानी है । इसी को आचार्यदेव स्वय आगे की गाथामे स्पष्ट करते है—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुंचदे णाणी ॥४०॥

आत्मख्याति मे सव्वे भावे जम्हा इत्यादि हैं

यथानाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति ।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी ।।४०।।

अर्थ—जैसे कोई भी पुरुष यह जान लेता है कि यह परद्रव्य है तो उसे वह छोड देता है । उसी प्रकार जो आत्मासे अतिरिक्त पदार्थों को अपने से भिन्न जान लेता है तो उन्हे छोड ही देता है वह ज्ञानी कहलाता है ।।४०।।

तात्पर्यवृत्ति—**जहणाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणति जाणिदुं चयदि** यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्-पुरुषो वस्त्राभरणादिक परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति **तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी** तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरागादिपरभावान् पर्यायान् स्वसवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्धया विमुचति त्यजति स्वसवेदनज्ञानीति । अयमत्र भावार्थ —यथा कश्चिद्देवदत्त परकीयचीवर भ्रात्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयान सन् पश्चादन्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्राचलमादायाच्छोद्य नग्नीक्रियमाण सन् वस्त्रलाच्छन निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्र मुचति तथाय ज्ञानी जीवोपि परम निर्विण्णेन गुरुणा मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूप न भवति, एकएव त्वमिति प्रतिबोध्यमान सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुचति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति । एव गाथाद्वय गत । अथ कथ शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टेसति मोहादिपरित्यागप्रकारमाह ।

टीका (जहणाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणति जाणिदु चयदि) जैसे कोई भी पुरुष वस्त्र आभरण आदि कोई भी वस्तुको यह परद्रव्य है ऐसा स्पष्ट रूपसे जान लेता है तब उसे छोड देता है । (तह सव्वे परभावे णाऊण विमुचदे णाणी) उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादि सबही परभावो को अर्थात् पर्यायो को अपने स्वसवेदन ज्ञानके बलसे जानकर उन्हे विशेषरूपसे अर्थात् मन वचन कायरूप त्रिशुद्धि द्वारा छोड देता है तवही वह स्वसवेदन ज्ञानी होता है (अन्यथा नही) । भावार्थ यह है कि जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष भ्रमसे दूसरे के वस्त्र को अपना समझकर धोबी के घर से उसे लेआया और पहनकर सो गया । पीछे उस वस्त्र का स्वामी आकर उस वस्त्र को पकडकर खीचता है और उतारना चाहता है तो उस वस्त्रके विशेष चिह्न को देखकर वह जव उसे दूसरे का समझ लेता है तब उसे उतार देता है । उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परम वैरागी गुरुदेव के द्वारा 'यह सब मिथ्यात्व व रागादि विभाव भाव तेरे स्वरूप नही हैं, तू एक (शुद्ध आत्मा) ही है', ऐसा समझाया जाने पर उनको पर जान छोड देता है और शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है (वही ज्ञानी है) । इस प्रकार दो गाथाये पूर्ण हुई ।।४०।।

विशेषार्थ—आचार्य के सव कथन का सार यह है कि जो प्रत्याख्यानी है—सब पर वस्तुओ को त्यागकर पृथक् हो जाता है एव अपने शुद्धात्मा के स्वरूप मे निमग्न हो जाता है वही ज्ञानी होता है ।

आगे शुद्धात्मा की अनुभूति का अनुभव किस प्रकार होता है ऐसा पूछने पर आचार्यदेव मोहादिक के परित्याग का प्रकार वतलाते हैं—

णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोह णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ।।४१।।

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः
तं मोह निर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विन्दन्ति ।।४१।।

अर्थ—मोह (परको अपनाना) मेरा कोई भी सवधी नही है उससे मेरा कोई प्रयोजन नही है, मैं तो केवल एक उपयोग स्वरूप हू इस प्रकार के जाननेको सिद्धान्त के जानकर लोग निर्मोहपना कहते हैं ।।४१।।

तात्पर्यवृत्तिः—णत्थि मम को वि मोहो नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तृभूतेन भावयितु रजयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्यभावरूपो मोह । **बुज्झदि उवश्रोग एव अहमिक्को** बुध्यते जानाति स क कर्त्ता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव । किं बुध्यते यत कारणादहमेक. ततो मोहप्रति निर्ममत्वोस्मि निर्मोहो भवामि । अथवा बुध्यते जानाति किं जानाति विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेक॰ । **तं मोहणिम्ममत्त समयस्स वियाणया विंति** त निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूप निर्ममत्व ब्रुवति वदति जानति वा केते समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायका पुरुषा इति । किंच विशेष —यत्पूर्वं स्वसवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यान व्याख्यात तस्यैवेद निर्मोहत्व विशेषव्याख्यानमिति । एवमेव मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्र चक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि । अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूप न भवतीतिप्रतिपादयति —

टीका —(णत्थि मम कोवि मोहो) शुद्ध निश्चयनय से टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला जो मैं उसको रजायमान करने के लिये रागादि परभाव कभी समर्थ नही है, इसलिये द्रव्य और भावरूप कोई भी मोह मेरा नही है। (बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को) किन्तु ज्ञान दर्शन उपयोगरूप लक्षणवाला होने से मेरा आत्मा तो इस प्रकार जानता है कि मैं तो केवल उपयोग स्वरूप ही हू अतएव मैं तो मोह से दूर हू निर्मम हू इस प्रकार जो अपने आपको केवल विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमयी जानता है (त मोह णिम्ममत्त समयस्स वियाणया विंति) उसे ही शुद्धात्माके स्वरूपको जाननेवाले लोग मोहसे निर्ममत्व हुआ (शुद्धात्म स्वरूप हुआ) वतलाते है जानते है। सार यह है कि आचार्यदेवने स्वसवेदन ज्ञान को ही प्रत्याख्यान वतलाया था उसी का यह निर्मोहरूप से विशेष व्याख्यान है। यहा जहा मोह पद लगाया है उसीके स्थानपर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह सूत्र क्रमसे लगाकर व्याख्यान करना चाहिये। और इसी प्रकार अन्य भी असख्यात लोक परिमित जो विभाव भाव हैं उन्हे भी समझना चाहिये ॥४१॥

आगे कहते हैं कि धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ भी मेरा आत्मा का स्वरूप नही है —

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्म णिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति ॥४२॥

न संति मम धर्मादयो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विन्दन्ति ॥४२॥

अर्थ—मैं तो केवल एक उपयोग स्वभाव हू धर्मादि (अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और इतर जीव द्रव्य) द्रव्य मेरे कुछ भी नही है इस प्रकार जो जानता है उसे सिद्धान्त के जानने वाले पुरुष धर्मादि पर द्रव्यो से निर्ममत्व हुआ कहते हैं।

तात्पर्यवृत्ति —णत्थि मम धम्म आदी न सति न विद्यते धर्मास्तिकायादिज्ञेयदार्था ममेति **बुज्झदि** बुध्यते ज्ञानी तर्हि किमह **उवओगएव अहमिक्को** विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाह अथवा ज्ञान दर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभेदेनोपयोग एवात्मा स जानाति । केन रूपेण, यतोह टकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एक ततो दधिखडशिखिरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूप न भवतीति परद्रव्य प्रति निर्ममत्वोस्मि **तं धम्मणिम्ममत्त समयस्स वियाणया विंति** त शुद्धात्मभावानास्वरूपं परद्रव्य निर्ममत्व समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायका पुरुषा ब्रुवति कथयतीति ।

किंच इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यं इति गाथाद्वयं गतं । एवं गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तं । अथ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूपं चारित्रमिति निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं स्वरूपं भवतीत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति ।

टीका—(णत्थि मम धम्म आदी) धर्मास्तिकाय आदि जो समस्त ज्ञेय पदार्थ हैं वे सब मेरे नहीं हैं (बुज्झदि) ऐसा ज्ञानी जीव जानता है—वह जानता है कि (उवओग एव अहमिक्को) मैं तो केवल विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमयी हूँ अथवा वह जानता है कि ज्ञान दर्शन उपयोगमय होने से मैं तो उपयोग के साथ अभिन्न हूँ, उपयोगमयी हूँ, क्योंकि मैं एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव हूँ इसलिये व्यवहार नयसे परद्रव्यों के साथ दधि खांड आदि शिखरिणी के समान भले ही मेरे साथ एकता हो फिर भी शुद्ध निश्चयनय से यह सब मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये मैं तो इन सब पर द्रव्यों से निर्मम हूँ (तं धम्म णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति) ऐसे शुद्धात्मा के स्वरूप के अनुभव करने वाले को सिद्धान्तके जानकार पुरुष परद्रव्य से निर्मम हुआ कहते हैं । यहां परद्रव्य से निर्ममपना बताया गया है वह भी उसी का विशेष व्याख्यान है जो पूर्व में कह आये हैं कि स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा समझना चाहिये ।।४२।।

इस प्रकार दो गाथायें कही गई । और इस प्रकार समुदाय रूप से चार गाथाओं द्वारा सातवां स्थल पूर्ण हुआ ।

अब शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान तो सम्यक्त्व, उसी शुद्ध आत्मा में स्वसंवेदन रूप ज्ञान वही सम्यग्ज्ञान, और उसी आत्मा में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान को स्थिर करके रखना सो सम्यग्चारित्र इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय में परिणत जीव का कैसा स्वरूप है यह बताते हुए आचार्यदेव जीवाधिकार का उपसंहार करते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ।।४३।।

अहमेकः खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ।।४३।।

अर्थ—(ज्ञानी जीव का ऐसा विचार होता है कि) मैं एकाकी हूं, शुद्ध हूँ अर्थात् पर द्रव्य सबध से सर्वथा रहित हूं, दर्शनज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ अतः इन सब बाह्य पर द्रव्यों में मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है ।

तात्पर्यवृत्ति—**अहं** अनादिदेहात्मैक्यभ्रात्याज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोपि करतलविन्यस्तसुतविस्मृत पश्चान्निद्राविनाशस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो भूत्वा शुद्धात्मनि रतो यः सोहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः । पुनरपि कथं भूतः **इक्को** यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः । **खलु** स्फुटं । पुनरपि किंरूपः **सुद्धो** व्यावहारिकनवपदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः । अथवा रागादिभावेभ्योभिन्नोहमिति शुद्धः । पुनरपि किंविशिष्टः **दंसणणाणमइओ** केवलदर्शनज्ञानमयः । पुनरपि किंरूपः **सदारूवी** निश्चयनयेन रूपरसगंधस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्त्तः । **णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ।** इत्थंभूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणुमात्रमपि परं द्रव्यं किमपि । यदेकत्वेन रंजकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति । कस्मात् परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वात् ।

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलसप्तकेन **जो पस्सदि अप्पाण**मित्यादि सप्तविंशतिगाथा तदनतरमुपसहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकार समाप्त । इति प्रथमरग ।

टीका—(अह) अनादिकाल से देह और आत्मा की एक मान्यता रूप भ्रमात्मक अज्ञानभाव से जो पहले अप्रतिबुद्ध था (सही बात को नही समझने वाला था) किन्तु जिस प्रकार हाथ मे रखे हुए सोने को भूल जाता है, या निद्रा मे मग्न हो कर सो जाता है फिर निद्रा के दूर हटने पर उस स्वर्ण का स्मरण आ जाने से प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही मैं भी परम गुरु के प्रसाद से प्रतिबुद्ध होकर अब शुद्धात्मा मे तल्लीन हो रहा हूँ एव वीतराग चेतनामात्र ज्योति स्वरूप हूँ। (इक्को) यद्यपि व्यवहार नय से नरनारकादि रूप पर्यायो से अनेक रूप हूँ (खलु) ऐसा स्पष्ट है। (सुद्धो) शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यावहारिक जीवादि नव पदार्थो से मैं भिन्न हू अथवा रागादि विभाव भावो से भिन्न हूँ। (दसणणाण-मइओ) केवल मात्र दर्शन ज्ञान मय हूँ, (सदारूवी) निश्चयनय से रूप रस गध और स्पर्श का अभाव होने से मैं सदा ही अमूर्तिक हूँ। (णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमित्तपि) इस प्रकार इन पर द्रव्योमे से मेरे पास एक परमाणु मात्र भी नही है जो कि एकत्व रूप से रजायमान करने वाला होकर या ज्ञेयरूप होकर मेरी आत्मा मे मोह उत्पन्न कर सके क्योकि मैं तो परम विशुद्ध ज्ञान रूप में परिणत हो रहा हूँ। (अर्थात् परम समाधि मे तत्पर होकर अपने आप मे लीन हो रहा है ।।४३।।

इस प्रकार **श्री जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी तात्पर्य नामकी समयसार की व्याख्या मे सात स्थलो से 'जो पस्सदि अप्पाण' इत्यादि २७ गाथा व उसके पीछे एक उपसहार गाथा इस प्रकार २८ गाथाओ से प्रथम जीवाधिकार समाप्त हुआ ।

इस प्रकार प्रथम रग समाप्त हुआ

---

(२) अजीवाधिकार (दूसरा अधिकार)

तात्पर्यवृत्ति—*अथानतर शृगारसहितपात्रवज्जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशत । तत्र स्थलत्रयेण त्रिंशद्गाथा-* पर्यंतमजीवाधिकार कथ्यते। तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्य जीवस्वरूप न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन **अप्पाणमयाणता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यंत व्याख्यान करोति। तत्र गाथादशकमध्ये पर-द्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन गाथापचक तदनतर परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेक। अथाष्टविध कर्मपुद्गलद्रव्य भवतीति कथन-मुख्यत्वेन सूत्रमेक। ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रय कथ्यत इति समुदायपातनिका। तद्यथा। अथ देहरागादि-परद्रव्य निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्ष करोति।

अब इसके आगे शृगार किये हुए नाटक पात्र के समान जीव और अजीव दोनो एक रूप होकर आते है। वहा तीन स्थलोसे तीस गाथा पर्यन्त अजीवाधिकार कहा गया है। उनमेसे पहले स्थलमे 'अप्पाण मयाणतो' इत्यादि दस गाथा पर्यन्त तो मुख्यतासे यह वतलाते है कि शुद्ध निश्चयनयसे देह और रागादि

पर द्रव्य जीवके स्वरूप नही हो सकते । उन दस गाथाओमे से भी परद्रव्य को आत्मा माननेरूप पूर्व पक्ष की मुख्यतासे प्रथम पाच गाथा हैं, तत्पश्चात् एक गाथा से उसका निराकरण है, उसके आगे आठ प्रकार का कर्म भी पुद्गल द्रव्य है ऐसा एक गाथासे कथन किया गया है, फिर व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथा कही हैं । इस प्रकार समुदाय पातनिका हुई ।

अब देह व रागादि जो परद्रव्य है, वह नियम से जीव है ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ।।४४।।
अवरे अज्झवसाणे,सुतिव्व मंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवोत्ति ।।४५।।
कम्मसुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमदंत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ।।४६।।
जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ।।४७।।
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
तेण दु परप्पवादी णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ।।४८।।

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयंति ।।४४।।
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवं ।
मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म्म चापि जीव इति ।।४५।।
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्म्मानुभागमिच्छन्ति ।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ।।४६।।
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति ।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ।।४७।।
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः ।
तेन तु परात्मवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ।।४८।।

अर्थ—आत्मा को नहीं जानने वाले मूढ पुरुष परद्रव्य को ही आत्मा मानते है उनमे से कितने ही अध्यवसान (रागादि) को, कोई कर्मको ही जीव कहते हैं । तथा कोई अध्यवसानोमे भी तीव्रता, मन्दता को लिये हुये जो अनुभाग होता है उसे जीव मानते हैं । अन्य कोई नोकर्म को (चलते फिरते शरीर को) ही जीव मानते हैं । कोई कर्म के उदयको जीव मानते हैं । कोई कर्मके फलको जो तीव्र मद रूप गुणोंसे भेदको प्राप्त होता है वह जीव है ऐसा इष्ट करते है ।

कोई जीव और कर्म दोनो मिले हुए को जीव मानते हैं। अन्य कोई लोग कर्मोंके परस्पर सयोग से पैदा हुआ जीव को मानते हैं। इस प्रकार और भी अनेक प्रकार की आत्माके विषयमे अज्ञानी लोग भिन्न भिन्न कल्पनायें करते है, वे वस्तु स्थितिके जानने वाले नही किन्तु मन्दबुद्धि हैं ऐसा यथार्थ जानने वाले सर्वज्ञ देव तथा गणधरादि ऋषियो ने कहा है ।।४४-४८।।

तात्पर्यवृत्ति —**अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई** आत्मानमजानत मूढास्तु दरद्रव्यमात्मान वदतीत्येवशीला केचन परात्मवादिन **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति** यथागारात् कार्ष्ण्यं भिन्न नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसान कर्म च जीव वदतीति। अथ **अवरे अज्झवसाणेसुतिव्व मंदाणुभावगं जीवं मण्णंति** अपरे केचनैकातवादिन रागाद्यध्यवसानेपु तीव्रमदतारतम्यानुभावस्वरूप शक्तिमाहात्म्य गच्छतीति तीव्रमदानुभावगस्त जीव मन्यते। **तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति** तथैवापरे चार्वाकादय कर्मनोकर्म-रहितपरमात्मभेदविज्ञानशून्या शरीरादिनोकर्म चापि जीव मन्यते। अथ—**कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** अपरे कर्मण उदय जीवमिच्छन्ति **कम्माणुभागमिच्छंति** अपरे च कर्मानुभाग लतादार्वस्थिपापाणरूप जीवमिच्छिति। कथभूत: स चानुभाग **तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो** तीव्रत्वमदत्वगुणाभ्या वर्त्तते य - स जीवो भवतीति। अथ—**जीवोकम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति** जीवकर्मोभय द्वे अपि जीवकर्माणि शिखरिणीवत् खलु स्फुट जीवमिच्छति। **अवरे सजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति**। अपरे केचन अष्टकाष्ठखट्वावदष्टकर्मणा सयोगेनापि जीवमिच्छति। कस्मात् अष्टकर्मसयोगादन्यस्य शुद्धजीवस्यानुपपत्ते। अथ **एवंविहावहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** एवविधा वहुविधा वहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मान वदति दुर्मेधसो दुर्बु द्धय **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा** तेन कारणेन तु पुन. देहरागादिक परद्रव्यमात्मान वदतीत्येव शीला परात्मवादिनो निश्चयवादिभि सर्वज्ञै-र्निर्दिष्टा इति पचगाथाभि. पूर्वपक्ष कृत। अथ परिहार वदति।

टीका·—(अप्पाणमयाणता मूढा दु परप्पवादिणो केई) जो आत्माको तो जानते नही हैं किन्तु आत्मासे भिन्न शरीरादि पर द्रव्यको ही जीव नाम से कहते है ऐसे कितने ही परात्मवादी मोही जीव है उनमे से कोई (जीव अज्झवसाण कम्म च तहा परूविति) जैसे अ गारेसे कालापन कोई भिन्न नही है वैसे ही रागादिभावों से भिन्न जीव नही है किन्तु रागादिरूप अध्यवसान भाव या कर्मही जीव है ऐसा कहते है। (अवरे अज्झवसाणेसुतिव्वमदाणुभावग जीव मण्णति) कुछ एकान्तवादी लोग रागादि अध्यवसान भावोमे जो तीव्रता मन्दतारूप तारतम्य लिए हुए अनुभव होता है तत्स्वरूप शक्ति समूह को प्राप्त होवे वाला ही जीव है ऐसा कहते हैं (तहा अवरे णोकम्म चावि जीवोत्ति) वैसे हो चार्वाक आदि जो कर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध परमात्मा के भेद विज्ञान से शून्य है वे शरीरादि नोकर्मको ही जीव मानते है। (कम्मसुदय जीव अवरे) कुछ कर्मके उदय को ही जीव कहते है। (कम्माणुभागमिच्छति) व कुछ लता, दारु, अस्थि, और पापाणादि रूप जो कर्मोंका फल होता है उसे जीव कहते हैं वह अनुभाग (तिव्वत्तण मदत्तण गुणेहिं जो सो हवदि जीवो) तीव्रता मदतारूप स्वभावसे अपना फल देता है वही जीव है। (जीवो कम्म उहय दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छति) जीव और कर्म इन दोनो को शिखरिणि के समान मिले हुए को ही कुछ लोग जीव कहते हैं। (अवरे सजोगेण दु कम्माण जीवमिच्छति) जैसे आठ काठोका परस्पर सयोग होकर एक खाट वन जाती है, वैसे ही आठ कर्मोके सयोगसे जीव हो जाता है ऐसा कुछ लोग कहते हैं क्योकि आठ कर्मोंके सयोगसे भिन्न शुद्ध जीव की उपलब्धि नही है। (एवविहा-वहुविहा परमप्पाण वदन्ति दुम्मेहा) इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार की कल्पना करनेवाले मदवुद्धि

वाले जीव है जो कि देह रागादिरूप परद्रव्य को ही आत्मा कहते हैं (तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा) इसलिये वास्तविक कथन करनेवाले सर्वज्ञ भगवानने ऐसा कहा है कि ये लोग इन देह रागादि पर द्रव्य को ही आत्मा मानने वाले होनेसे परात्मवादी हैं इस प्रकार पूर्व पक्ष का कथन करने वाली पाच गाथायें हुई ॥४४-४८॥

अब उपर्युक्त जो जीवका स्वरूप वतलाया है उसका परिहार करते हैं—

एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४९॥

एते सर्वेभावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ॥४९॥

अर्थ—केवली भगवान ने वतलाया है कि उपर्युक्त सब अवस्थायें पौद्‌गलिक द्रव्य कर्म के सबध से होने वाली हैं। इसलिये ये सब जीव नही कही जा सकती ॥४९॥

तात्पर्यवृत्ति—एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पणा एते सर्वे देहरागादयः कर्मजनितपर्याया. पुद्‌गलद्रव्यकर्मोदयपरिणामेन निष्पन्ना । **केवलीजिणेहिं भणिया कह ते जीवोति उच्चंति** केवलिजिनैः सर्वज्ञै. कर्मजनिता इति भणिता कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यते न कथमपि । किंच विशेष अ गारात् कार्ण्यवद्रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति यद्‌भणित तदयुक्त । कथमिति चेत् । रागादिभ्यो भिन्न शुद्धजीवोस्तीति पक्ष परमसमाधिस्थ पुरुषै शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानदैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतु । किट्टकालिकास्वरूपात् सुवर्णवदिति दृष्टात । किं च अ गारदृष्टातोपि न घटते । कथमिति चेत् । यथा सुवर्णस्य पीतत्व अग्नेरुष्णत्व स्वभावस्तथागारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्व कर्तुं नायाति । रागादस्तु विभावा स्फटिकोपाधिवत् ततस्तेषा निर्विकारशुद्धात्मानुभूति-वलेन पृथक्कर्तुं शक्यते इति । यदप्युक्तमष्टकाष्ठसयोगखट्वावदष्टकर्मसयोग एव जीवस्तदप्यनुचित अष्टकर्मसयोगात् भिन्न शुद्ध जीवो स्तीति पक्षवचन अष्टकाष्ठसयोगखट्वाशायिन पुरुषस्येव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धवुद्धैकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टातसहितहेतु । किं च देहात्मनोरत्यत भेद इति पक्ष भिन्नलक्षण-लक्षितत्वादिति हेतु जलानलवदिति दृष्टात । इति परिहारगाथा गता । अथ चिद्रूपप्रतिभासेपि रागाद्यध्यवसानादय कथं पुद्‌गलस्वभावा भवतीति चेत्—

टीका—(एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा) ये सभी देह रागादि रूप कर्म जनित अवस्थायें पौद्‌गलिक द्रव्य कर्म के उदय रूप परिणास से उत्पन्न हुई हैं। इसलिए (केवलि जिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति उच्चति) सर्वज्ञ भगवान ने इन्हे कर्म जनित वतलाया है, अत निश्चयनय से इन्हे जीव कैसे कहा जा सकता है—कभी नही कहा जा सकता। देखो, अ गारे से कालेपन के समान जीव भी रागादि से भिन्न नही है ऐसा जो कहागया है वह ठीक नही है यह वात हम अनुमान से सिद्ध कर दिखाते हैं। देखो, शुद्ध जीव रागादि से भिन्न है— यह पक्ष हुआ, क्योकि परम समाधि मे स्थित पुरुषो के द्वारा शरीर और रागादि से सर्वथा भिन्न ऐसे चिदानद एक स्वभाव वाले शुद्ध जीव की उपलब्धि देखी जाती है—यह हेतु हुआ। कीट कालिकादि से भिन्न स्वर्ण के समान यह दृष्टात हुआ। किं च पूर्व पक्षकारने जो अ गार का दृष्टात दिया है यहा घटति नही होता क्योकि जैसे स्वर्ण का पीलापन और अग्नि का उष्णपना स्वभाव है वैसे अ गारे का भी कृष्णपना स्वभाव है उसे पृथक् नही कर सकते किन्तु रागादिक तो डाक के द्वारा स्फटिक मे आई हुई उपाधि के समान जीव के विभाव भाव हैं इसलिए उनको निर्विकार शुद्धात्मानुभूति के वल से जीव से पृथक किया जा सकता है—दूर हटाया जा सकता है। इसी प्रकार जो यह कहा गया है

कि आठ काठो के सयोग से खाट नाम की वस्तु बन जाती है, उसी प्रकार आठ कर्मों के सयोगसे जीव उत्पन्न हो जाता है सो भी ठीक नही है। इस वात को भी सिद्ध करने के लिए अनुमान देते है। देखो, शुद्ध जीव आठ कर्मों के सयोग से भिन्न वस्तु है—यह पक्ष हुआ। क्योकि परम समाधि मे स्थित रहने वाले महापुरुषो के द्वारा आठ कर्मो के सयोग से पृथग्भूत शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले जीव की उपलब्धि हुई देखी जाती है—यह हेतु हुआ। जैसे कि आठ काठ के सयोग से बनी हुई खटिया पर सोने वाला पुरुष उससे भिन्न होता है—यह दृष्टात हुआ। और सुनो, देह और आत्मा मे परस्पर अत्यन्त भेद है—यह पक्ष हुआ। क्योकि इन दोनो का लक्षण भिन्न भिन्न है जिससे वे दोनो भिन्न २ पहचाने जा सकते हैं—यह हेतु हुआ। जैसे कि अग्नि और पानी—यह दृष्टात हुआ। इस प्रकार परिहार गाथा पूर्ण हुई ।।४९।।

जब कि रागादि अध्यवसान भावो मे चिद्रूप का प्रतिभास होता है तब इनको पुद्गल स्वभाव कैसे कहा जा सकता है इस प्रश्न का उत्तर आगे देते है।

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ।।५०।।

अष्टविधमपि च कर्म्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विन्दंति।
यस्य फलं तदुच्यते, दुःखमिति विपच्यमानस्य ।।५०।।

अर्थ—ये आठ प्रकार के कर्म सभी पुद्गलमयी हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। क्योकि इन उदयमे आये हुए सभी कर्म्मों का फल दु ख स्वरूप होता हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—**अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति** सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमय भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवति कथयति। कथभूत यत्कर्म **जस्सफलं तं वुच्चदि दुक्खति विपच्चमाणस्स** यस्य कर्मण फल तत्प्रसिद्धमुच्यते किं व्याकुलत्वस्वभावत्वाद्दु खमिति। कथभूतस्य कर्मण। विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य। इदमत्र तात्पर्यं–अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमार्थसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दु ख रागादयोप्याकुलत्वोत्पादकदु खलक्षणास्तत कारणात्पुद्गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पौद्गलिका इति। अष्टविध कर्म पुद्गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता। अथ यद्यध्यवसानादय पुद्गलस्वभावास्तर्हि रागी द्वेषी मोही जीव इति कथ जीवत्वेन ग्रथातरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति।

टीकाः—(अट्ठविह पि य कम्म सव्व पुग्गलमय जिणा विंति) कर्म आठ प्रकारके होते हैं वे सभी पुद्गलमय हैं ऐसा सर्वज्ञ जिन भगवान वतलाते है क्योकि (जस्स फल त वुच्चदि दुक्खति विपच्चमाणस्स) उदयमे आये हुए इन कर्मों का फल आकुलता को लिये हुए दु खरूप होता है। तात्पर्य यह है कि आठो प्रकारके कर्मोका कार्य, अनाकुलता है लक्षण जिसका ऐसे पारमार्थिक सुखसे, विलक्षण है, आकुलता का उत्पादक है अत वह दु खरूप है और रागादि भावभी आकुलताके उत्पादक होनेसे दु ख स्वरूपही हैं। इस कारणसे वे भी पुद्गलके कार्य ही है इसलिये शुद्ध निश्चयनय से पौद्गलिक है। इस प्रकार आठ कर्मों को पुद्गल मय वताने वाली यह गाथा हुई ।।।५०।।

इस पर कोई प्रश्न करता है कि यदि रागद्वेषादि अध्यवसान भाव पुद्गलमय ही हैं तो फिर जीव रागी,द्वेषी, मोही होता है, इस प्रकार अन्य ग्रन्थो मे इनको जीव स्वरूप क्यो कहा गया है इसका उत्तर आगे देते हैं–

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।।५१।।

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा ऐते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥५१॥

अर्थ—ये सब रागादि अध्यवसानमई भाव जीव हैं ऐसा जिनवर भगवान ने जो उपदेश दिया है वह व्यवहार नय का मत है ॥ ५१ ॥

तात्पर्यवृत्ति —ववहारस्स दरीसणं व्यवहारनयस्य स्वरूप दर्शित यत्कि कृत **उवएसो वण्णिओ जिणवरेहिं** उपदेशो वर्णित कथितो जिनवरै । कथभूत **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावा परिणामा भण्यत इति । कि च विशेष यद्यप्यय व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलबत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलबनरहितविशुद्धज्ञानस्वभावस्वावलबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवतीति मत्वा नि शकोपमर्दन कुर्वंति जना । ततश्च पुण्यरूप धर्माभाव इत्येक दूषण तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित पूर्वमेव मुक्तोजीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीय च दूषण । तस्माद्व्यवहारनयव्याख्यानमुचित भवतीत्यभिप्राय । अथ केन दृष्टातेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति ।

टीका-(ववहारस्स दरीसणं) यह व्यवहार नय का दर्शन है—मत है-स्वरुप है-जो कि (उवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं) जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है कि (जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा) ये सब अध्यवसानादि भाव भी, परिणाम भी जीव हैं। स्पष्टीकरण यह है कि यद्यपि व्यवहारनय बहिर्द्रव्य का आलबन लेने से अभूतार्थ है किन्तु रागादि बहिर्द्रव्य के आलबन से रहित और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के आलबन सहित ऐसे परमार्थ का प्रतिपादक होने से इसका भी कथन करना आवश्यक है। क्योकि यदि व्यवहारनय को सर्वथा भुला दिया जाय तो फिर शुद्ध निश्चयसे तो त्रस स्थावर जीव हैं ही नही अत. फिर लोग नि.शक होकर उनके मर्दन मे प्रवृत्ति करने लगेंगे ऐसी दशा में पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायगा एक दूषण तो यह आवेगा। तथा शुद्ध निश्चयनय से तो जीव रागद्वेषमोह से रहित पहले से ही है अत मुक्त ही है ऐसा मान कर फिर मोक्ष के लिए भी अनुष्ठान क्यो कोई करेगा, अतः मोक्षका भी अभाव हो जायगा, यह दूसरा दूषण आवेगा। इसलिए व्यवहारनय का व्याख्यान परम आवश्यक है, निरर्थक नही है ॥५१॥

यहां पर पं. जयचंदजी का भावार्थ—परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग, द्वेष, मोह से भिन्न कहता है यदि इसीका एकान्त किया जाय तव शरीर तथा रागद्वेष मोह पुद्गलमय ठहरे तब पुद्गल के घात से हिंसा नही हो सकती और राग द्वेष मोह से बंध नही हो सकता। इस प्रकार परमार्थ से ससार और मोक्ष दोनो का अभाव हो जायगा ऐसा एकातरूप वस्तु का स्वरूप नही है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरुप ही है इसलिए व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है इस प्रकार स्याद्वाद से दोनो नयो का विरोध मेटकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

जब कि व्यवहार का उपदेश आवश्यक है तो फिर वह कैसे प्रवृत्त होता है सो दृष्टान्त द्वारा बताते हैं—

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥५२॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जोवो ।।५३।। (युगलं)

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ।।५२।।
ऐवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानां ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ।।५३।।

अर्थ —राजा जव कही जाता है तो अपने किंकरो को साथ लेकर जाता है वहा उस सारे समुदाय को ही यह राजा जा रहा है इस प्रकार व्यवहारसे कहा जाता है । वैसे ही रागद्वेषादि अध्यवसान भाव जो अन्य पुद्गलादि द्वारा उत्पन्न हुए हैं अतएव कथचित जीवसे भिन्न हैं उन भावो सहित जीवको ही व्यवहारनय से आगममे जीव कहा गया है ।।५२-५३।।

तात्पर्यवृत्तिः—राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो राजा हु स्फुट निर्गत एव बलसमुदयस्यादेश कथन **ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया** बलसमूह दृष्ट्वा पच योजनानि व्याप्य राजा निर्गत इति व्यवहारेणोच्यते । निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टातो गत । इदानी दार्ष्टांतमाह—**एमेवयववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाण** एवमेव राजदृष्टात प्रकारेणैव व्यवहार । केषा अध्यवसानादीना जीवाद्भिन्नभावादीना रागादिपर्यायाणा **जीवो त्ति कदो सुत्ते** कथभूतो व्यवहार । रागादयो भावा व्यवहारेण जीव इति कृत भणित सूत्रे परमागमे **तत्थेको णिच्छिदो जीवो** तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्य कोसौ जीव कथभूत शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितशुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थ । इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रय गत । एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्य जीवस्वरूप न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोत्तराधिकारो व्याख्यात ।

अथानतर वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनतज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथापर्यंत व्याख्यान करोति । तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानदसुखसमरसीभावपरिणतशुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन **अरसमरूव** इत्यादिसूत्रगाथैका । अथाभ्यतरे रागादयो वहिरगे वर्णादयश्च शुद्धजीवस्वरूप न भवतीति तस्यैव गाथासूत्रस्य विशेषविवर्णार्थं **जीवस्स णत्थिवण्णो** इत्यादिसूत्रषट्क । तत पर त एव रागादयो वर्णादयश्च व्यवहारेण सति शुद्धनिश्चयनयेन न सतीति परस्परसापेक्षनयद्वयविवरणार्थं **ववहारेणदु** इत्यादि सूत्रमेक । तदनतरमेतेषा रागादीना व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत्सवधो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण **एदे हि य संबधो** इत्यादि सूत्रमेक । ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्तार्थं दृष्टातदार्ष्टांतसमर्थनरूपेण **पंथे मुस्सत** इत्यादि गाथात्रय । इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा —अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथभूत शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्यत्राह ।

टीका—(*राया हु णिग्गदो त्तिय एसो वलसमुदयस्स आदेसो*) राजा के साथ जाती हुई सेना को देखकर सारी सेना को ही यह राजा जारहा है (ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया) जोकि पाच योजन तक फैला हुआ है ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है किन्तु निश्चय से देखे तो राजा एक ही है (जोकि अधिक से अधिक दो फुट मे फैला हुआ है) यह दृष्टात हुआ । अव दार्ष्टान्ति वतलाते हैं—(एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाण) इसी प्रकार राजा के दृष्टात से मिलता हुआ ही यह व्यवहार है कि रागादि अध्यवसान भाव जीव से भिन्न है उनको (जीवो त्ति कदो सुत्ते) यह रागादि भाव जीव हैं

इस प्रकार परमागममे कहा गया है (तत्थेको णिच्छिदो जीवो) किन्तु वहा पर जीव तो निश्चित रूपसे एक ही है जो कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है । ।।५२-५३।।

इस प्रकार व्यवहारनय के समर्थनरूप तीन गाथाए हुई ।

इस प्रकार अजीव अधिकारमे शुद्ध निश्चयनय से देह रागादि परद्रव्य है वे जीव स्वरूप नही होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता लिए हुए दस गाथाओ से यह पहला स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे यह बताते हुए कि वर्ण, रसादि पुद्गल के स्वरूप से रहित और अनत ज्ञानादि गुण स्वरूप जो शुद्ध जीव है वही उपादेय है इस भावना की मुख्यतासे १२ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं। उन १२ गाथाओ मे से 'अरसमरूव' ऐसी एक गाथा है जिसमे मुख्यता से यह वतलाया जाता है कि परम सामायिक भावना मे परिणत जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्दमय सुखरूप जो समरसी भाव उसमे परिणत रहने वाला शुद्ध जीव है वही उपादेय है। फिर अभ्यतर रागादि और वाहिर वर्णादि ये सभी शुद्ध जीव के स्वरूप नही हैं ऐसा जो एक गाथा से बताया था उसीका विशेष वर्णन करने के लिए "जीवस्स णत्थि वण्णो" इत्यादि छह गाथा सूत्र हैं। इसके आगे रागादि और वर्णादि ऐसे-दोनो भाव व्यवहारनय से जीव के हैं किन्तु शुद्ध निश्चय नय से जीव के नही हैं इस प्रकार परस्पर अपेक्षा लिए हुए दोनो नयो का व्याख्यान करने के लिए 'ववहारेणदु' इत्यादि एक सूत्र है। उसके आगे इन रागादिको का जीव के साथ दूध और जल के समान सबध है वह व्यवहार से है किन्तु निश्चय से नही, इस प्रकार का समर्थन करते हुए 'एदेहिं य सबधो' इस प्रकार एक सूत्र है। उसके आगे उसी व्यवहारनय को दृष्टात दार्ष्टांत से स्पष्ट करते हुये 'पथे मुस्सत इत्यादि तीन गाथा सूत्र है। इस प्रकार द्वितीय स्थल की समुदाय पातनिका हुई ।

अव यदि निश्चय से जीव रागादिरूप नही है तो फिर उपादेय स्वरूप शुद्ध जीव कैसा है सो वतलाते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदनागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।५४।।

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं ।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ।।५४।।

अर्थ—शुद्ध जीव तो ऐसा है कि जिसमे न रस है, न रूप है, न गध ही है और न इन्द्रियो के गोचर है। केवल चेतना गुणवाला है। शब्दरूप भी नही है, जिसका किसी भी चिह्न द्वारा ग्रहण नही हो सकता, और जिसका कोई निश्चित आकार भी नही है ।।५४।।

तात्पर्यवृत्ति—अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं निश्चयनयेन रसरूपगधस्पर्शशब्दरहित मनोगत-कामक्रोधादिविकिल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्त सूक्ष्म । पुनरपि किं विशिष्ट शुद्धचेतनागुण पुनश्च किं रूप **जाणमलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण** निश्चयनयेन स्वसवेदनज्ञानविषयत्वादलिंगग्रहण समचतुरस्रादिषट्सस्थानरहित च य पदार्थ तमेवगुणविशिष्ट शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि । इदमत्र तात्पर्य्यं । शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्य-मवविवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहित सर्वद्रव्येंद्रियभावेंद्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेषजीवा-तरभिन्नोनतज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च य स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजन-समस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभ स एवापूर्व मचैवोपादेय इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरजननिजशुद्धात्मसमाधि-सजातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति । एव सूत्रगाथा गता । अथ वहिरगे वर्णाद्यभ्यतरे रागादिभावा पौद्गलिका शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूप न भवतीति प्रतिपादयति ।

टीका—(अरसमरुवमगध अव्वत्त चेदनागुणमसद्द) निश्चय नय से जीव रस, रूप, गध, स्पर्श और शव्द से भी रहित है और मनोगत काम क्रोधादि विकल्पो के विषय से रहित होने के कारण अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है। फिर कैसा है—कि शुद्ध चेतना गुणवाला है तथा (जाण अलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठ सठाण) निश्चय नय की अपेक्षा (केवल मात्र) स्वसवेदन ज्ञान का विषय होने के कारण किसी भी वाह्य लिंग से ग्रहण नही किया जा सकता, तथा समचतुस्रादि छह् सस्थानो से भी रहित है। ऐसे उपर्युक्त गुणो से विशिष्ट जीव को हे शिष्य ! तुम शुद्ध जीव समझो और उसे ही उपादेय रूप से स्वीकार करो। तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय नय से जीव पुद्गल द्रव्य सवधी वर्णादि गुण और शव्दादि पर्याय इन सबसे रहित है। सव प्रकार की द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा मन इनसे होने वाले रागादि विकल्पो का जो विषय नही है, तथा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य एव इतर सव जीव द्रव्यो से भिन्न है। किन्तु अनतज्ञान, अनतदर्शन अनतसुख और अनतवीर्य इन गुणो से युक्त है वही शुद्धात्मा है जो कि सम्पूर्ण पदार्थो मे, सम्पूर्ण देशो मे, सव ही कालो मे, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नाना वर्णभेदो से विभक्त रहने वाले जन साधारण के समस्त मन, वचन और काय के व्यापारो मे मिलना दुर्लभ है क्योकि वह अपूर्व है और वही उपादेय है। ऐसा मानकर पर्वत की गुफा दराड इत्यादि मे वैठकर विकल्प रहित, मोह रहित, तथा सव प्रकार के झझटो से रहित जो निज शुद्धात्मा उसकी समाधि से उत्पन्न जो सुखामृत रस उसकी अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्ध जीव का भले प्रकार से ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार सूत्र गाथा पूर्ण हुई ॥५४॥

आगे कहते हैं कि वाह्य मे शरीर के वर्णादि और अभ्यतर मे रागादि विभाव भाव जो कि पुद्गल सवध से उत्पन्न हुए हैं, शुद्ध निश्चय नय से जीव का स्वरूप नही है ऐसा प्रतिपादन करते है—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५५॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५७॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५९॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥६०॥ (षट्कम्)

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननं ॥५५॥
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥५६॥
जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यवसानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥५७॥
जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा ।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥५८॥
नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥५९॥
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः॥ ६०॥

अर्थ —वर्ण, गध रस, स्पर्श और रूप तथा सस्थान और सहनन ये जीवके स्वभाव नही हैं । राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्वादि प्रत्यय, तथा कर्म नोकर्म ये जीवके स्वभाव नही हैं । वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवसायस्थान, अनुभागस्थान ये भी जीव के स्वभाव नही है । कोई भी योगस्थान बधस्थान उदयस्थान, और मार्गणास्थान, ये सब जीव के स्वभाव नही हैं । स्थितिबधस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, और सयमलब्धिस्थान भी तथा जीवस्थान और गुणस्थान ये सब भी जीवके स्वभाव नही हैं किन्तु ये सबही पुद्गल द्रव्य के सयोग से होनेवाले परिणाम हैं ॥५५-६०॥

तात्पर्यवृत्ति —वर्णगंधरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्या स्पर्शरसगधवर्णवती मूर्तिश्च औदारिकादि पच शरीराणि समचतुरस्रादिपट्सस्थानानि वज्रर्षभनाराचादिषट्सहननानि चेति । एते वर्णादयो धर्मिण शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सतीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदयलक्षण पक्ष आस्थासधाप्रतिज्ञेति यावत् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वादिति हेतु । एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणागद्वयमनुमान ज्ञातव्य । अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपाययोगरूपपचप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिपट्पर्याप्तिरूपनोकर्माणि इत्यस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न सति कस्मात्पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ परमाणोरविभागपरिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते । वर्गाणा समूहो वर्गणा भण्यते । वर्गणासमूहलक्षणानि स्पर्द्धकानि च कानिचिन्न सति । अथवा कर्मशक्ते क्रमेण विशेषवृद्धि स्पर्द्धकलक्षण । तथा चोक्त वर्गवर्गणास्पर्द्धकाना त्रयाणा लक्षण—

'वर्ग शक्तिसमूहोऽणोर्बहूना वर्गणोदिता । वर्गणाना समूहस्तु स्पर्द्धक स्पर्द्धकापहै' । शुभाशुभरागादिविकल्परूपाध्यवसानानि भण्यते । तानि च न सति लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिरूपाणि घातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यते । गुडखडशर्करामृतसमानानि शुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि भण्यते । निंवकाजीरविषहालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि च तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितमनोवचनकायवर्गणावलवनकर्मादानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पद, लक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपचतुर्विधबधस्थानानि सुखदु खफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि

गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सति कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ जीवेन सह कालातरावस्थानरूपाणि स्थितिबधस्थानानि कषायोद्रेकरूपाणि सक्लेशस्थानानि कषायमदोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानिरूपाणि सयमलब्धिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सति कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ–जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन "वादरसुहमेइ दी बितिचउरिंदी असण्णिसण्णीए । पज्जत्तापज्जत्ता एव ते चउदसा होति" इति गाथाकथितक्रमेण वादरैकेंद्रियादिचतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्यादृष्टयादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न सति पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । कुत इति चेत् ! यत कारणादेते वर्णादिगुणस्थानाता परिणामा शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति । अयमत्रभावार्थ –सिद्धातादिशास्त्रे अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यतरे रागादयो बहिरगे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोपि जीवा इत्युक्ता अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोध इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्क गत । अथ यदुक्त पूर्वं सिद्धातादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिता अत्र तु प्राभृतग्रथे निश्चयनयेन निषिद्धा तमेवार्थं दृढयति ।

टीका— रूप शब्दसे कहे जाने वाले वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श तथा रस गन्ध वर्ण वाली मूर्ति व औदारिक आदि पाच शरीर, समचतुरस्रादि छह सस्थान, वज्रवृषभनाराच आदि छह सहनन, ये सभी वर्णादिक धर्मी हुए वे निश्चय नय से जीव के नही होते यह साध्य अथवा धर्म हुआ। धर्म और धर्मी दोनो मिलकर समुदाय रूप पक्ष हुआ जिसको आस्था, सधा या प्रतिज्ञा नाम से भी कहा जाता है। ये सब जीव के नही है क्योकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाममय है एव शुद्धात्मानुभूति से भिन्नता रखने वाले हैं यह हेतु हुआ। इस प्रकार इस व्याख्यान मे पक्ष तथा हेतु इन दो अगोवाला अनुमान हुआ।

इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप पाचो प्रत्यय एव मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से विभक्त किये जाने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म, औदारिक, वैक्रियिक और आहारकरूप तीन शरीर, आहारादि छह पर्याप्तिरूप नोकर्म ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नही हैं, क्योकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय है एव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।

परमाणु के अविभाग प्रतिच्छेद रूप शक्तिसमूह को वर्ग कहते है और वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं तथा वर्गणा के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं। ये सभी जीव के नही हैं। अथवा कर्म की शक्ति क्रम से विशेष वृद्धि को प्राप्त हो उसे स्पर्धक कहते है सो ही इन तीनो का लक्षण आगम मे बतलाया है– अणु की शक्ति के समूह का नाम वर्ग, और बहुत से वर्गों के समूह का नाम वर्गणा, और वर्गणाओके समूह का नाम स्पर्द्धक ऐसे स्पर्द्धको के नष्ट करने वालो द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शुभ तथा अशुभ रूप रागादिक का विकल्प जहा हो वे अध्यवसान कहलाते हैं। वे भी जीव के नही हैं। लता, दारू, हड्डी और पाषाण जैसी शक्ति को लिये हुए चार घातिया कर्मों के अनुभाग स्थान होते है। गुड, खाड, शर्करा और अमृत समान जो शुभरूप अघातिया कर्म हैं उनके अनुभाग स्थान होते हैं। नीम, काजी, विष और हलाहल सरीखे अनुभाग स्थान अशुभ अघाती कर्मो के होते हैं। ये सभी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नही है क्योकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न है। और वीर्यातराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जो मन, वचन, काय उनकी वर्गणा का आलम्बन से कर्म ग्रहण करने को हेतुभूत जो आत्म प्रदेशो का परिस्पन्दन वही है लक्षण जिसका ऐसे योगस्थान, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार का बधस्थान, सुख दुख का अनुभव रूप उदयस्थान, और गति आदि मार्गणास्थान, ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नही हैं, क्योकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।

जीव के साथ कुछ काल तक रहने वाले स्थितिवंधस्थान कषायो की उत्कटतारूप सक्लेशस्थान, कषायो के मद उदयरूप विशुद्धस्थान और कषायो को क्रम से हीन करने रूप सयमलब्धिस्थान, ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नही हैं, क्योकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न है। जैसा कि गाथा मे बताया है—"वादर सुहमे इ दी वितिचउरिंदी असण्णिसण्णीण। पज्जत्तापज्जत्ता एव ते चउदसा होति" अर्थात् वादर एकेन्द्री, सूक्ष्म एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौन्द्री असैनी पचेन्द्री, सैनी पचेन्द्री ये सात पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से चौदह जीवसमास हैं, तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान ये सभी शुद्ध निश्चय नय से जीव के नही है, क्योकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। इसका भी कारण यह है कि ये सब वर्णादि गुणस्थान पर्यंत भाव शुद्ध निश्चयनय से (देखने पर) पुद्गलद्रव्य की पर्याय हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त आदि शास्त्रो मे अशुद्ध पर्यायार्थिकनय का आश्रय लेकर अन्तरग मे तो रागादिक भाव और वाह्य मे शरीर के वर्ण की अपेक्षा वर्णादिक इन सब को जीव कहा है। किन्तु यह तो अध्यात्म शास्त्र है इसलिए यहा पर शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है। इस प्रकार दोनो स्थानो पर नय विभाग की विवक्षा से कोई विरोध नही है। इस प्रकार वर्णादिक के अभाव का विशेष व्याख्यान करने रूप मे छह गाथायें कही ॥ ५५-६० ॥

पूर्व मे जो वताया था कि सिद्धान्तादि ग्रन्थो मे वर्णादिक को व्यवहार से जीव के कहे हैं और इस प्राभृत ग्रन्थ मे निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है इसी वात को दृढ करने के लिए आगे की गाथा कहते हैं —

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥६१॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः।
गुणस्थानांताभावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥६१॥

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवति वर्णाद्या गुणास्थानांता भावा पर्याया न तु कोपि निश्चयनयेनेति। एव निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता। अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न सतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति।

अर्थ व टीका—स्वामी कुंदकुंद कहते हैं कि यद्यपि वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव ऊपर कह आये हैं वे सव निश्चयनय से तो जीव के नही हैं किन्तु व्यवहारनय से तो ये सव जीव के हैं। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार के समर्थनरूप यह गाथा पूर्ण हुई ॥६१॥

विशेषार्थ—व्यवहारनय पर्यायार्थिक है अतएव जीव के साथ पुद्गल का सयोग होने से जीव की औपाधिक अवस्था हो रही है उसका वर्णन करता है इसलिये वर्णादिक से गुणस्थान पर्यन्त भावो को जीव के कहता है किन्तु निश्चयनय तो मूल द्रव्य को लक्ष्य मे लेकर स्वभाव का ही कथन करने वाला है इसलिये निश्चयनय की दृष्टि मे जीव के नही हैं, क्योकि सिद्ध अवस्था मे ये नही होते। ये सब विवक्षाभेद हैं स्याद्वाद मे इसका कोई विरोध नही है।

निश्चय से वर्णादिक जीव के क्यो नही है ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वा।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिगो जम्हा ।।६२।।

एतैश्च संबंधो यथैव क्षीरोदकं मंतव्यः ।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ।।६२।।

अर्थ—इन वर्णादिक भावो के साथ ससारी जीव का एक क्षेत्रावगाही सयोग (सश्लेप) सवध है जैसा कि दूध का जल के साथ होता है। ऐसा होने पर भी वास्तविकता मे ये जीव के नही होजाते क्योकि जीव तो इनके साथ रहकर भी अपने उपयोग गुण के कारण इनसे भिन्न ही झलकता है ।।६२।।

तात्पर्यवृत्ति.—**एदेहिं य सवधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो** एतै वर्णादिगुणस्थानातै पूर्वोक्तपर्यायै सह सवधो यथैव क्षीरनीरसश्लेपस्तथा मतव्य । न चाग्न्युष्णत्वयोरिव तादात्म्यसवध । कुत इति चेत्, **ण य हुंति तस्स ताणि दु** न च भवति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानाता भावा पर्याया कस्मात् **उवओगगुणाधिगो जम्हा** यस्मादुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिक परिपूर्ण इति । नतु वर्णादयो वहिरगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्-सश्लेपसवधो भवतु नचाभ्यतराणां रागादीना तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति । नैव,द्रव्यकर्मबधापेक्षया योसौ असद्भूत-व्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थ रागदीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्च-योपि व्यवहार एवेति भावार्थ । अथ तर्हि कृष्णवर्णोय धवलवर्णोय पुरुप इति व्यवहारो विरोध प्राप्नोतीत्येव पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोध दर्शयतीत्येका पातनिका । द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोध लोकप्रसिद्धदृष्टातद्वारेण परिहरति ।

टीका—(एदेहि य सवधो जहेव खीरोदय मुणेदव्वो) इन पूर्वोक्त कथित पर्यायस्वरूप वर्णादि गुण-स्थान पर्यन्त भावो के साथ जीव का वैसा ही सयोगरूप (सश्लेषरूप) सवध है जैसा कि परस्पर मे दूध और जल का होता है, किन्तु अग्नि का उष्णता के साथ जैसा तादात्म्य सवध है वैसा सवध इनका जीव के साथ नही है। इसलिये (ण य हु ति तस्स ताणि दु) ये सव वर्णादि गुणस्थान पर्यन्त भाव जीव के नही हैं किन्तु (उवओग गुणाधिगो जम्हा) जैसे अग्नि उष्णता से परिपूर्ण है उसी प्रकार जीव तो केवल मात्र ज्ञान दर्शन गुण को लिये हुए है। यहा पर यह शका हो सकती है कि वर्णादिक जो वाहर दिखते हैं उनका तो जीव का क्षीर नीर के समान सयोग सवध है उसको व्यवहार से जीव का कहना ठीक है किन्तु अभ्यन्तर मे होने वाले रागादि भावो का ऐसा सयोग सवध नही हो सकता। इन रागादिको का सवध इस जीव के साथ अशुद्ध निश्चयनय से कहना योग्य है। आचार्य इसका समाधान करते है कि हे भाई! ठीक है, रागादिक का सवध जीव के साथ अशुद्ध निश्चयनय से है ऐसा जो कहा गया है वह तो आत्मा के साथ द्रव्यकर्म का सवध वतलाने वाले असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा तारतम्य भेद दिखलाने के लिए कहा गया है। वास्तव मे अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है ऐसा समझना चाहिए ।। ६२ ।।

अव प्रश्न हो सकता है कि यह पुरुप काले वर्णवाला है और यह धवल वर्णवाला है ऐसा जो व्यवहार है वह फिर व्यर्थ ठहरेगा इसका परिहार करते हुए आगे की गाथा मे व्यवहार की सार्थकता दिखलाते हैं अथवा दूसरे प्रकार मे यो कहो कि इस प्रकार आई हुई व्यवहारनय की निरर्थकता को लोक प्रसिद्ध दृष्टात द्वारा दूर करते हैं —

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ।।६३।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदु वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।।६४।।
एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुदिट्ठा ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।।६५।।

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एषः पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ।।६३।।
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णं ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ।।६४।।
एवं गंधरसस्पर्श संस्थानादयः ये समुद्दिष्टाः ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ।।६५।।

अर्थ– जैसे मार्ग मे चलते हुए को लुटता देखकर व्यवहारी जन कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है । वहा वास्तव मे देखा जाय तो कोई मार्ग नही लुटता किन्तु उस मार्ग मे पथिक ही लुटते हैं । उसी प्रकार जीव मे रहने वाले कर्मो के और नोकर्मों के वर्णो को देखकर यह वर्ण जीव का है ऐसा व्यवहार से जिनेन्द्रदेव कहते है। इसी प्रकार गध, रस, स्पर्शरूप शरीर के आकार इत्यादि सभी व्यवहार से हैं ऐसा निश्चयनय के जानने वाले लोग कहते हैं ।।६३ से ६५।।

तात्पर्यवृत्ति –**पथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी** पथि मार्गे मुष्यमाण सार्थं दृष्ट्वा व्यवहारिलोका भणति किं भणति **मुस्सदि एसो पंथो** मुष्यत एष प्रत्यक्षीभूत पथाश्चौरै कर्तृभूतै **ण य पंथो मुस्सदे कोई** न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षण पथा मुष्यते कश्चिदपि किंतु पथानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यत इति दृष्टातगाथा गता **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं** तथा तेन पथि सार्थदृष्टातेन जीवेधिकरणभूते कर्मनोकर्मणा शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा **जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो** जीवस्य एष वर्णो जिनैर्व्यवहारतो भणित इति दार्ष्टांतगाथा गता । **एवं रसगंधफासा सठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** एवमनेनैव दृष्टातदार्ष्टा तन्यायेन रसगधस्पर्श-सस्थानसहननरागद्वेपमोहादयो ये पूर्वगाथापट्केन समुद्दिष्टा **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसति** ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशति कथयतीति नास्ति व्यवहारविरोध । इति दृष्टातदार्ष्टांताभ्या व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रय गत । एव शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिर्द्वितीयातरा–धिकारो व्याख्यातः ।

अत पर जीवस्य निश्चयेन वर्णादितादात्म्यसवधो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थं गाथाष्टकपर्यत व्याख्यान करोति । तत्रादौ ससारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्य भवति मुक्तावस्थाया नास्तीति ज्ञापनार्थं **तत्थभवे** इत्यादिसूत्रमेक । तत पर जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूपण प्राप्नोतीति कथन-मुख्यत्वेन **जीवो चेवहि** इत्यादिगाथात्रय । तदनतरमेकेंद्रियादिचतुर्दशजीवसमासाना जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्य नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च **एक च दोण्णि** इत्यादिगाथात्रय । ततश्च मिथ्यादृ-ष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं तथैवाभ्यतरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं

च **मोहणकम्म** इत्यादिसूत्रमेक । एवमष्टगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा–अथ कथ जीवस्य वर्णादिभि सह तादात्म्यलक्षणसवधो नास्तीति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति ।

टीका :—(पथे मुस्सत पस्सिदूण लोगा भणति ववहारी) मार्ग मे चलते हुए को लुटा हुआ देखकर सर्व साधारण लोग ऐसा कह दिया करते हैं कि (मुस्सदि एसो पथो) यह सामने वाला मार्ग तो चोरो द्वारा लूट लिया जाता है, किन्तु (ण य पथो मुस्सदे कोई) मार्ग तो शुद्ध आकाश स्वरूप है उसे कोई भी लूट नही सकता किन्तु उस मार्ग को आधार लेकर चलने वाले पथिक लुटते हैं यह दृष्टात हुआ। (तह जीवे कम्माण णोकम्माण च पस्सिदु वण्ण) उसीप्रकार अधिकरणभूत जीव मे होने वाले कर्म नोकर्म के शुक्लादि वर्ण को देखकर (जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो) व्यवहार से जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा कहा है कि अमुक जीव का अमुक वर्ण है यह दार्ष्टात गाथा हुई । (एव रसगधफासा सठाणादीय जे समुदिट्ठा) इसी प्रकार उपर्युक्त दृष्टात दार्ष्टा त के न्याय से रस, गध, स्पर्श, सस्थान, सहनन और राग, द्वेप, मोहादिक जो पहले छह गाथा मे वता आये है (सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसति) उन सव को निश्चय के जानने वाले (महापुरुष) व्यवहार नय के द्वारा जीव के कहते है । इसमे किसी प्रकार का विरोध नही है । इस प्रकार दृष्टात और दार्ष्टा त के द्वारा व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथा पूर्ण हुई ॥ ६३-६४-६५ ॥

विशेषार्थः— वात यह है कि शुद्ध निश्चयनय तो शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप है जहा गुणस्थानादि न झलक कर वहा तो केवल मात्र ज्ञाता द्रष्टापन ही झलकता है और उसीका अनुमनन चितन होता है। किन्तु जहा ध्यानस्वरूप निश्चयनय का अवलवन छूटा कि साधक को कर्त्तव्यशीलता पर आकर कि मैं कौन हू और मुझे क्या करना चाहिए ? मैं मुनि हू और छट्ठे गुणस्थान की अवस्था मे हू अत मुझे स्तवन आदि पट् आवश्यक करना चाहिए इत्यादि विकल्पो को अपनाना होता है । किन्तु व्यवहार सम्पन्न कर फिर ध्यानस्वरूप निश्चय पर पहुँचता है । वहा थक जाने पर फिर व्यवहार मे आता है । इस प्रकार अभ्यास दशा मे साधक को निश्चय से व्यवहार और व्यवहार से निश्चय पर वार वार जाना आना होता है । इसी को लक्ष्य रखकर आचार्यदेव ने दोनो नयो का व्याख्यान किया है, और दोनो को अपने अपने स्थान पर उपयोगी दिखलाया है । इस प्रकार अभ्यास द्वारा अशुद्धता को दूर कर शुद्धता पर आना यह प्रत्येक साधक का मुख्य कर्तव्य है ।

शुद्ध जीव ही उपादेय है इस व्याख्यान को लेकर वारह गाथाओ द्वारा यह दूसरा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

इसके आगे निश्चय से जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य सवध नही है इसी बात को दृढ करने के लिए आठ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते है । वहा पहले व्यवहार नय से ससारी जीव के वर्णादिक के साथ एकमेकता है किन्तु मुक्त अवस्था मे नही, इस प्रकार वतलाने के लिये 'तत्थभवे' इत्यादि रूप से एक सूत्र है । फिर 'जीवोचेवहि' इत्यादि तीन गाथायें है जिनमे यह कहा गया है कि यदि जीव के साथ वर्णादिकका तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जायगा तो जीवद्रव्य का ही अभाव हो जायगा यह बडा भारी दूषण है । फिर 'एक्क च दोण्णि' इत्यादि तीन गाथाये ऐसी हैं जिनमे बतलाया गया है कि एकेन्द्रियादि चौदह जीव समासो का जीव के साथ शुद्ध निश्चय नय से तादात्म्य सबध नही है । और वर्णादिकका भी तादात्म्य सबध नही है । इसके आगे 'मोहण कम्म' इत्यादि एक गाथा सूत्र है जिसमे मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानो का भी जीवके साथ शुद्ध निश्चयनय से तादात्म्य सबध नही है । वैसे ही अ तरग मे होनेवाले रागादि भावोका भी तादात्म्य (अटल) सवध नही है । इस प्रकार आठ गाथाओ द्वारा पूरे होने वाले तीसरे स्थल की यह समुदाय पातनिका है ।

अब यहा कोई प्रश्न करता है कि जीवके साथ वर्णादिकका तादात्म्य सबध क्यो नही है इसका उत्तर देते हैं—

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६६॥
तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः ।
संसारप्रमुक्तानां न संति खलु वर्णादयः केऽपि ॥६६॥

अर्थ—ससारमे स्थित जीवोंके साथ वर्णादिकका सबध है परन्तु ससार से रहित मुक्त जीवोंके साथ वर्णादिक का कोई भी सबध नही है ॥६६॥

तात्पर्यवृत्ति—**तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी** तत्र विवक्षिताविवक्षितभवे ससारस्थाना जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवति **ससारपमुक्काणं** ससारप्रमुक्ताना **णत्थि दु वण्णादओ केई** पुद्‌गलस्य वर्णादि-तादात्म्यसबधाभावात् केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायै सह यथा तादात्म्यसबधोस्ति तथा वा तादात्म्यसबधाभावाद-शुद्धनयेनापि न भति पुनर्वर्णादय केऽपि । इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता । अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्य-दुराग्रहे सति दोप दर्शयति ।

टीका—(तत्थभवे जीवाण ससारत्थाण होंति वण्णादी) वहा विवक्षित (वर्तमान) और अविव-क्षित (भूत या भावी) भवमे जो ससारमे स्थित हैं उन्ही जीवोके अशुद्धनय से वर्णादिकका स बध है किन्तु (स सारपमुक्काण णत्थि दु वण्णादओ केई) स सार से रहित मुक्त जीवोंके, वर्णादिक जो पुद्‌गलके गुण हैं, उनका तादात्म्य स बंध नही है क्योकि जैसा तादात्म्य स बध जीवके साथ केवलज्ञानादि गुणोका और सिद्धत्वादि पर्यायोका है वैसा तादात्म्य स बध वर्णादिकके साथ अशुद्धनयसे भी जीव का नही है। इस प्रकार जीवका वर्णादिक के साथ तादात्म्य स बध का निषेध करनेवाली गाथा पूर्ण हुई ॥६६॥

इस पर भी यदि जीवके साथ वर्णादिकका दुराग्रह किया जाता है तो क्या दोष उत्पन्न होता है उसे दिखलाते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६७॥
जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कोऽपि ॥६७॥

अर्थ—(ससारी जीव को सबोधकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई!) यदि इन सबही भावोंमे जीवको माना जायगा तो कहनेमे जीव और अजीव (पुद्‌गल) मे परस्पर कोई भेद नही रहता ॥६७॥

तात्पर्यवृत्तिः—**जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि** यथानतज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति वर्णादिगुणाएव पुद्‌गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादय सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत् **जीवस्साजी-वस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई** तदा किं दूषण विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैवमते कोपि विशेपो भेदो नास्ति । ततश्च जीवाभावदूषण प्राप्नोतीति सूत्रार्थ । अथ ससारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्य मबधोस्तीति दुरभिनिवेशेपि जीवाभाव एव दोप इत्युपदिशति ।

टीका—(जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि) जैसे अनत ज्ञान और अव्याबाध सुख आदि जीव मे होते हैं वैसे ही वर्णादिगुण पुद्‌गलमे है ऐसा स्पष्ट है फिर भी यदि तू अपने मनमे ऐसा समझता है कि वर्णादिक भी जीवके गुण हैं तो (जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई) यह

बडा भारी दूषरा आता है कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाला जीव और जडत्वादि स्वभाववाला अजीव इस प्रकार का जो भेद है, वह तेरे मतमे सर्वथा नही रहता एव फिर शुद्ध जीवका अभाव ही होजाता है ऐसा इस सूत्र का अर्थ है ।।६७।।

अब यदि जीव के साथ मे सर्वथा वर्णादिक का तादात्म्य न मानकर केवल ससार अवस्था मे ही तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जाता है तो भी जीव का अभावरूप दूषण आता है ऐसा कहते हैं —

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ।।६८।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ।।६९।।(युगलम्)

यदि संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः ।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ।।६८।।
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथा लक्षणेन मूढ़मते ।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ।।६९।।

अर्थ—यदि ससार अवस्था मे जीव के साथ तादात्म्य मान लिया जाय तो तेरे कहने मे ससारी जीव रूपी ठहरे । अतः फिर हे भोलेभाई ! पुद्गल द्रव्य स्वरूप ही जीव ठहरा तब फिर निर्वाण भी पुद्गल का होगा, क्योकि दोनो के लक्षण मे कोई भेद नही रहा ।। ६८–६९ ।।

तात्पर्यवृत्ति —जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी यदि चेत्ससारस्थजीवाना पुद्गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकातेन भवतीति **तम्हा ससारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा** तत किं दूषण,ससारस्थ जीवा अमूर्त्तमनतज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षण त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षण रूपित्वमापन्ना भवति । अथ–**एव पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमई** एव पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीव नान्य कोपि विशुद्धचैतन्य-चमत्कारमात्रस्तवल्लक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते ! न केवल ससारावस्थाया पुद्गल एव जीवत्व प्राप्त **णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो** निर्वाणमुपगतोपि पुद्गल एव जीवत्व प्राप्त. नान्य कोपि चिद्रूप । कस्मादिति चेत्, वर्णादितादात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्येव निषेधयितुमशक्यत्वादिति भवत्येव जीवाभाव । किं च ससारावस्थायामेकातेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत् ? केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमय-सारस्यैव मोक्षसज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न सभवतीति भावार्थ । एव जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभाव-दूषणद्वारेण गाथात्रय गत । अ थैव स्थित वादरसूक्ष्मैकेंद्रियादिसज्ञिपचेंद्रियपर्यंतचतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीव-स्वरूप न भवति तथा देहगता वर्णादयोपीत्यावेदयति —

टीका—(जदि ससारत्थाण जीवाण तुज्झ होंति वण्णादी) यदि ससार मे स्थित जीवो के, तेरे कहने के अनुसार पुद्गल के समान, वर्णादिक गुण एकात से मान लिये जाय (तम्हा ससारत्था जीवा रुवित्तमावण्णा) तो ससार मे स्थित जो जो जीव हैं वे अमूर्तस्वरूप जो अनतज्ञानादि चतुष्टयमय लक्षण को छोडकर शुक्ल कृष्णादि लक्षण वाले रूपीपन को प्राप्त हो जायगे यह दूषण आयगा । (एव पुग्गलदव्व जीवो तह लक्खणेण मूढमई) हे भोले ! इस प्रकार जीव के रूपीपना आजाने पर जीव भी पुद्गल ही ठहरा, उससे भिन्न विशुद्ध चैतन्य चमत्कार वाला जीव तेरे अभिप्राय मे कोई नही रहा । इतना ही नही

कि ससार अवस्था मे ही जीव पुद्गल ठहरा, परन्तु (णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्त पुग्गलो पत्तो) निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हुए भी यह पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त होगा न कि उससे भिन्न चैतन्य स्वरूप जीव। कारण कि वहा पर भी पुद्गल द्रव्य के वर्णादिक गुणो का निषेध नही किया जा सकेगा इसलिये जीवका अभाव हो जायगा, और ससार अवस्था मे एकात से वर्णादि का तादात्म्य मान लेने पर मोक्ष कोई वस्तु ही नही ठहरेगी। क्योकि केवलज्ञानादि चतुष्टय की अभिव्यक्तिरूप कार्य समयसार का ही नाम मोक्ष है जो कि जीव को पुद्गलपना प्राप्त होजाने पर किसी भी प्रकार से सम्भव नही है ऐसा आचार्य का तात्पर्य है ।। ६८-६६ ।।

इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्वन्ध मान लेने पर (जीव और पुद्गल इन दोनो का एक ही लक्षण हो जाने से) जीव का अभाव होजायगा इस प्रकार का वर्णन करते हुए तीन गाथायें हुई ।

आगे कहते हैं कि वादर और सूक्ष्मके भेदसे एकेन्द्रिय जीव और द्विन्द्रिय आदि पचेन्द्रिय पर्यंत जो चौदह जीव समास हैं वे भी शुद्ध निश्चयनयसे जीव के स्वरूप नही हैं तो फिर वर्णादिक जो देहगत धर्म हैं वे जीवके कैसे हो सकते हैं —

एक्कं चं दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ।।७०।।
एदाहि य णिव्वता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ।।७१।।

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेंद्रियाणि जीवाः ।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ।।७०।।
एताभिश्च निवृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः ।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीव ।।७१।।

तात्पर्यवृत्तिः—एकद्वित्रिचतु पचेंद्रियसज्ञ्यसज्ञिवादरपर्याप्तेतराभिवाना प्रकृतयो भवति । कस्य सवधिन्यो नामकर्मण इति । अथ—एताभिरमूर्त्तातीद्रियनिरजनपरमात्मतत्त्वविलक्षणाभिर्नामकर्मप्रकृतिभि पुद्गलमयीभि पूर्वोक्ताभिर्निर्वर्त्तितानि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथ जीवा भवति ? न कथमपि । तथाहि—यथा रुक्मेण करणभूतेन निर्वृत्तमसिकोश तु रुक्मैव भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्यस्वरूपाण्येव भवनि न च जीवस्वरूपाणि। तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टातेन तदाश्रिता वर्णादयोपि पुद्गलस्वरूपा भवति न च जीव-स्वरूपा इत्यभिप्राय । अथ–अथातरे पर्याप्तापर्याप्तवादरसूक्ष्मजीवा कथ्यते तत्कथ घटत इति पूर्वपक्षे परिहार ददाति ।

अर्थ व टीका–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय असज्ञी सज्ञी वादर और सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त ये सव नामकर्म सवधी प्रकृतिया हैं जो कि अमूर्त्त, अतीन्द्रिय, और निरजन ऐसे परमात्मतत्व से विलक्षणता लिए हुए हैं। इन पूर्वोक्त पुदगलमयी नाम प्रकृतियो द्वारा निष्पन्न १४ जीव समास हैं। अत वे निश्चय नय से जीव कैसे कहे जा सकते हैं ? कभी नही कहे जा सकते। जैसे कर्ण-भूत सोने के द्वारा वनाया गया तलवार का म्यान स्वर्णरूप ही होता है वैसे ही पुदगलमय प्रकृतियो के द्वारा निष्पन्न हुए जीवसमास भी पुगद्ल द्रव्य स्वरूप ही हैं न कि जीव स्वरूप हैं । ऐसा कहने

से यह वात भी स्पष्ट हो जाती है कि जव जीवस्थान ही पुद्‌गल हैं तो वर्णादिक तो सर्वथा ही पुद्‌गलाश्रित है, अत फिर वे तो जीव के स्वरूप किसी भी प्रकार न होकर पुगद्‌ल स्वरूप ही हैं। ऐसा इन दोनो गाथाओ का अभिप्राय है।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि पर्याप्त, अपर्याप्त, वादर और सूक्ष्म जीव होते हैं ऐसा अन्य ग्रन्थो मे लिखा हुआ है वह क्यो ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं —

पज्जत्ता पज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥७२॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव।
देहस्य जीव संज्ञा सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥७२॥

अर्थ— पर्याप्त, अपर्याप्त, एव सूक्ष्म और वादर ये सव देह की सज्ञायें हैं। उन्ही को व्यवहार नय से परमागम मे (अभेद अपेक्षा से) जीव की वताई हैं ॥७२॥

तात्पर्यवृत्ति —**पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव** पर्याप्तापर्याप्ता ये जीवा कथिता सूक्ष्मवादराश्चैव ये कथिता **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** पर्याप्तापर्याप्तदेह दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तवादरसूक्ष्मविलक्षणपरमचिज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसज्ञा कथिता। क्व ? सूत्रे परमागमे। कस्मात् व्यवहारादिति नास्ति दोष। एव जीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूप न भवतीति कथनरूपेण गाथात्रय गत। अथ न केवल वहिरगवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूप न भवति अभ्यतरमिथ्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोपि न भवतीति स्थित।

टीका— (पज्जात्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव) जीवो को पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और वादर कहा गया है वह (देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता) वह पर्याप्त और अपर्याप्त शरीर को देखकर पर्याप्त, अपर्याप्त, वादर और सूक्ष्मपने से विलक्षण जो परम चैतन्य ज्योति लक्षण वाला शुद्धात्मा उससे पृथग्भूत जो यह देह है उसी की सज्ञा को परमागम मे व्यवहार से जीव सज्ञा कही गई है, इसमे कोई दोष नही है। इस प्रकार जीवस्थान और उसके आश्रित वर्णादिक ये सभी निश्चय से जीव का स्वरूप नही है। इस प्रकार के कथन को लेकर तीन गाथाये पूर्ण हुई ॥ ७२ ॥

अव वाहर मे जो वर्णादिक है वे शुद्ध निश्चयनय से जीव के स्वरूप नही हैं। इतना ही नही, किन्तु अंतरग मे होनेवाले मिथ्यात्वादि गुणस्थानरूप रागादिक भी शुद्ध निश्चयनय से जोव के स्वरूप नही है इसीको वतलाते हैं —

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ७३ ॥

मोहन कर्मण उदयात्तु वर्णितानी यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥७३॥

अर्थ— मोहनीय कर्म के उदय से जो यह गुणस्थान कहे गए है वे किस प्रकार से जीव हो सकते है क्योकि वे सदा ही अचेतन हैं (शुद्ध चेतना से भिन्न हैं) ॥७३॥

तात्पर्यवृत्ति — **मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा** निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतानाद्यविद्याकदलीकदायमानसतानागतमोहकर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि कथितानि गुण-

स्थानानि तथा चोक्त "गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा" **ते कह हवंति जीवा** तानि कथ भवति जीवा न कथमपि। कथभूतानि **ते णिच्चमचेदणा उत्ता** यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्य सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयन्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यतररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसज्ञा लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यान निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्य। एवमभ्यतरे यथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूप न भवति तथा रागादयोपि शुद्धजीवस्वरूप न भवतीति कथनरूपेणाष्टमगाथा गता। एवमष्टगाथाभिस्तृतीयातराधिकारो व्याख्यात। ननु रागादयो जीवस्वरूप न भवतीति जीवाधिकारे व्याख्यात अस्मिन्नजीवाधिकारेपि तदेवेति पुनरुक्तमिद। तन्न, विस्तररुचिशिष्य प्रति नवाधिकारै समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचन। तत्रापि समयसारव्याख्यानमत्रापि समयसारव्याख्यानमेव। यदि पुन समयसार त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभग इति नास्ति पुनरुक्त। अथवा भावनाग्रथे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रथवद्रागिणा श्रृ गारकथावत् वा पुनरुक्तदोषो नास्ति। अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता अत्राजीवस्य मुख्यता। विवक्षितो मुख्य इति वचनात्। अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण। अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूप न भवतीति निषेधमुख्यतया व्याख्यान। किंवत्, एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहारपचक ज्ञातव्य।

इति श्री जयसेनाचार्यकृताया समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेन त्रिंशद्गाथाभिरजीवाधिकारः समाप्त।

एव जीवाजीवाधिकाररगभूमौ श्रृ गारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु श्रृ गाररहितपात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रांताविति।

टीका:— (मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा) मोह रहित परम चैतन्य का प्रकाश वही है लक्षण जिसका ऐसे परमात्मतत्व से विपरीत स्वरूप वाले और अनादि अविद्या कदली के कदस्वरूप सतान से प्राप्त हुए मोह कर्म के उदय से होने वाले बताये गये हैं वे गुणस्थान हैं। जैसा कि गोमट्टसार मे कहा गया है— 'गुणसण्णा सा च मोह जोगभवा'। (ते कह हवति जीवा) वे जीव कैसे हो सकते हैं अर्थात् नही हो सकते। वे गुणस्थान कैसे हैं? (ते णिच्चमचेदणा उत्ता) यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से ये गुणस्थान चेतन हैं (क्योकि चेतना के विकार है) तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वे सब सदा अचेतन हैं। अशुद्ध निश्चयनय यद्यपि द्रव्य कर्म आदि की अपेक्षा से अंतरग में होने वाले रागादि भावो को चेतन मानकर निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है फिर भी वास्तव मे वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है। इस प्रकार का व्याख्यान निश्चयनय और व्यवहारनय के काल मे सर्वत्र लगा लेना॥ ७३ ॥

विशेषार्थ:— यहां पर रागादि भावकर्म को भी अचेतन बताया गया है सो अचेतन शब्द का अर्थ चेतना रहित भी होता है और किंचित् चेतन अर्थात् चेतनता के विकार रूप भी होता है। वहा ज्ञानावरणादिरूप द्रव्य कर्म तो उपादान रूप मे पुद्गलद्रव्य स्वरूप है अत स्पष्ट रूप से अचेतन है; किन्तु रागादिभावो का उपादान अशुद्ध जीव होता है, केवल उनके होने मे निमित्त रूप से द्रव्य कर्मरूप पुद्गल काम करता है, अत. रागादिभाव अशुद्ध निश्चयनय से विकारी चेतन के परिणाम हैं। इसलिए अशुद्ध निश्चयनय से चेतन के भाव हैं ऐसा टीकाकार का कहना है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय शुद्ध जीव के परिणामो को ही कहता है, अत इसके विचार मे तो वे सब पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल के निमित्त से होने वाले ही हैं ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार अभ्यंतर में जैसे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान जीव का स्वरूप नही है वैसे ही रागादिक भी शुद्ध जीव का स्वरूप नही है ऐसा कथन करते हुए आठ गाथाये पूर्ण हुई ।

इस प्रकार आठ गाथाओ मे तीसरे अन्तर अधिकार का व्याख्यान किया गया ।

यहा पर कोई शका करता है कि रागादि जीव के स्वरूप नही हैं ऐसा जीवाधिकार मे बता चुके है वही बात इस अजीवाधिकार मे क्यो कही गई है यह पुनरुक्त दोष है । इसका आचार्य समाधान करते हैं कि पहले हम यही प्रतिज्ञा कर आये है कि यहा तक जो बात कही है उसी को विस्तार रुचि वाले शिष्यो के लिए नव अधिकारो से उसी समयसार का व्याख्यान करके बतलायेंगे । इस प्रतिज्ञा के अनुसार वहा भी समयसार का व्याख्यान सक्षेप से किया था वही समयसार का व्याख्यान कुछ विस्तार से है । यदि उस समयसार के व्याख्यान को छोडकर दूसरा व्याख्यान करे तो की हुई प्रतिज्ञा का भग होता है इसलिए यहा पर पुनरुक्त दोप नही है, (अपितु गुण ही है) प्रत्युत यह तो भावनात्मक ग्र थ है इसलिए इसमे परमात्मप्रकाश, समाधिशतक आदि ग्र थो की भाति पुनरुक्त दोप नही है किन्तु जैसे रागी जीवो को शृ गार की कथा वार वार कही जाती है वैसे ही यहा पर भी एक ही वात वार वार शिष्य को कहा जाना ठीक है । अथवा यो समझो कि वहा पर तो जीवाधिकार मे जीवकी मुख्यता है और यहा अजीवाधिकार मे अजीव की मुख्यता है । जहा पर जिसकी विवक्षा होती है वह मुख्य समझा जाता है । अथवा वहा सामान्य कथन है और यहा पर उसीका विस्तार है । अथवा वहा रागादिक से जीव भिन्न होता है ऐसा निपेधात्मक व्याख्यान है । जैसे एकत्व भावना और अन्यत्व भावना मे विधि और निषेध रूप कथन है । इस प्रकार शका का पाच प्रकार से परिहार किया गया है ।

इस प्रकार जीव और अजीव जीवाजीवाधिकार रूप रगभूमि में शृ गार सहित पात्र के समान व्यवहार नय से एकरूपता को प्राप्त हुये प्रविष्ट हुए थे सो निश्चयनय से शृ गार रहित पात्र के समान पृथक् २ होकर निकल गये ।

इस प्रकार श्री **जयसेनाचार्य** के द्वारा वनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप लक्षण वाली तात्पर्य वृत्ति नामकी समयसार की व्याख्या मे तीन स्थलो के समुदाय से तीस गाथाओ द्वारा यह **अजीवाधिकार** समाप्त हुआ ।

अथ कर्त्तृकर्माधिकारः (तीसरा अधिकार)

तात्पर्यवृत्ति—अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररगभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन कर्तृकर्मभावरहितौ तथापि व्यवहारनयेन कर्तृकर्मवेषेण शृ गारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दडकान्विहायाष्टाधिकसप्ततिगाथापर्यंत नवभि स्थलैर्व्याख्यान करोतीति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपेण तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका । अथवा **जो खलु संसारत्थो जीवो** इत्यादिगाथात्रयेण पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसयोगपरिणामनिर्वृत्ता न च शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्वरूपमिति पचास्तिकायप्राभृते यत्पूर्वं सक्षेपेण व्याख्यात तस्यैवेदानी व्यक्तयर्थं पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकासमुदायकथन तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका । प्रथमतस्तावत् **जावणवेदि विसेसतर** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथापट्कपर्यंत व्याख्यान करोति । तत्र गाथाद्वयमज्ञानीजीवमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय सज्ञानीजीवमुख्यत्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ क्रोधाद्यास्रवशुद्धात्मनोर्यावतकाल भेदविज्ञान न जानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति ।

अब पूर्वोक्त जीवाधिकार की रगभूमि मे यद्यपि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से कर्ताकर्म भाव रहित जीव और अजीव है किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वही जीव और अजीव कर्ता और कर्म के भेष मे शृ गार सहित पात्र के समान प्रवेश करते है। इस प्रकार के दडको को छोडकर ७८ (अठत्तर) गाथा पर्यन्त नव स्थलो से व्याख्यान करते है। इस प्रकार पुण्य पापादि सप्त पदार्थो की पीठिका के रूप मे तीसरे अधिकार मे यह समुदाय पातनिका हुई। अथवा यो कहो कि 'जो खलु ससारत्थो जीवो' इत्यादि तीन गाथाओ के द्वारा पुण्यपापादि रूप सप्त पदार्थ जो कि जीव और पुद्गल के सयोगरूप परिणाम से उत्पन्न हुए हैं, वे शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव के स्वरूप नही हैं। इस प्रकार का व्याख्यान पचास्तिकाय प्राभृत ग्रन्थ मे जो पहले मक्षेप से कह आये हैं, उन्ही पुण्य पापादि सप्त पदार्थो को स्पष्ट वर्णन करने के लिए ये पीठिका के समुदायरूप कथन किया जाता है यह दूसरी पातनिका हुई। वहा सवसे पहले 'जाव ण वेदि विसेसतर' इत्यादि गाथा से प्रारभ करके पाठ के क्रम से छह गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वहा दो गाथा तो अज्ञानी जीवकी मुख्यता से और चार गाथा ज्ञानी जीव की मुख्यता से कही गई है। इस प्रकार पहले स्थल मे समुदाय पातनिका हुई।

वही आगे वतलाते है कि यह जीव क्रोधादि आस्रव भाव और शुद्धात्मा इन दोनो मे जो भेद है उसको जव तक भली प्रकार नही जान लेता है तव तक यह जीव अज्ञानी बहिरात्मा रहता है—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ।।७४।।
कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ।।७५।। (युग्मम्)

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्त्तते जीवः ।।७४।।
क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ।।७५।।

अर्थ—आत्मभाव और आस्रवभाव, दोनो मे परस्पर मे होने वाली विशेषता को जव तक यह जीव अपने उपयोग मे ठीक प्रकार नही जान लेता है तव तक अज्ञानी वना रहता हैं। और तभी तक क्रोधादिक करने मे प्रवृत्त होता है। अत (क्रोध आदि मे प्रवृत्त होने वाले) इसके नवीन कर्मो का भी वध होता रहता है। सर्वज्ञ भगवान ने नूतन कर्म वध होने का यही ढग वतलाया है।७४-७५।

तात्पर्यवृत्ति—**जाव ण वेदि विसेसतर तु आदासवाण दोण्हंपि** यावत्काल न वेत्ति न जानाति विशेषातर भेदज्ञान शुद्धात्मक्रोधाद्यास्रवस्वरूपयोर्द्वयो **अण्णाणी ताव दु सो** तावत्कालपर्यंतमज्ञानी वहिरात्मा भवति। स जीव अज्ञानी मन्कि करोति, **कोधादिसु वट्टदे जीवो** यथा ज्ञानमह इत्यभेदेन वर्त्तते तथा क्रोधाद्यास्रवरहितनिर्मलात्मानुभूतिलक्षणनिजशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेपु क्रोधादिष्वपि क्रोधोहमित्यभेदेन वर्त्तते परिणमतीति अथ—**कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स** उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमात्मविलक्षणेपु क्रोधाधिपु वर्त्तमानस्य तस्य जीवस्य किं फल भवति **कम्मस्स सचओ होदी** परमात्मप्रच्छादककर्मण सचय आस्रव आगमन भवति। **जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं** तैलम्रक्षिते धूलिममागमवदास्रवे मति ततो मलादितैलसवधेन मलवधवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षण स्वशुद्धात्मावाप्ति-

स्वरूपमोक्षविलक्षणो वंधो भवति । जीवस्यैव खलु स्फुट भणित सर्वदर्शिभि सर्वज्ञैः । किं च यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्न शुद्धात्मस्वरूप स्वसवेदनज्ञानवलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति । अज्ञानी सन् अज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्ति न मु चति तस्माद्बधो भवति । बधात्ससार परिभ्रमतीत्यभिप्राय । एवमज्ञानी जीवस्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वय गत । अथ कदा कालेऽस्या कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरित्येव पृष्ठे प्रत्युत्तर ददाति ।

टीका—(जाव ण वेदि विसेसतर तु आदासवाण दोण्हपि) शुद्धात्मा और क्रोधादि आस्रवोंके स्वरूप मे जो विशेषता है उसको यह जीव जवतक नही जानलेता—समझलेता (अण्णाणी तावदु सो) तबतक यह अज्ञानी और वहिरात्मा वना रहता है। अज्ञानी होकर वह क्या करता है कि (कोधादिसु वट्टदे जीवो) जैसे मैं ज्ञान हू (अर्थात् ज्ञान मेरा स्वभाव है) इस प्रकार ज्ञानके साथ एकता को लिये हुए है वैसे ही क्रोधादिक आस्रव भावो से रहित ऐसी निर्मल आत्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म स्वभावसे पृथक् भूत क्रोधादिक भाव हैं उनमे भी मैं क्रोध हूँ (क्रोध करना मेरा स्वभाव है) इस प्रकार एकता को लिये हुये रहता है, परिणमन करता है। (क्रोधादिसु वट्ट तस्स तस्स) उत्तम क्षमादि स्वरूप जो परमात्मा उससे विलक्षण जो क्रोधादि भाव उनमे प्रवर्तन करनेवाले इस जीव के (कम्मस्स सचओ होदि) परमात्म स्वरूप का तिरोहित करनेवाले कर्मका सचय, आस्रव, आगमन होता रहता है। (जीवस्सेव वधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं) जैसे तेल लगाये हुए जीवके शरीर मे धूलिका समागम हो जाता है, वैसे ही नूतन कर्मो का आस्रव होने पर फिर तेल के सवधसे मैलके चिपक जाने के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश लक्षण वाला जोकि अपने शुद्धात्माकी प्राप्ति स्वरूप मोक्ष से विलक्षण है ऐसा बध अवश्य ही होता है। सर्वज्ञ भगवानने नूतन वधका ऐसा वर्णन किया है। और जवतक अपने शुद्धात्मके स्वरूपको स्वसवेदन ज्ञानके वलसे क्रोधादिक से पृथक् करके नही जानता है (अपने अनुभवमे नही लाता है) तवतक अज्ञानी रहता है। जवतक अज्ञानी रहता है तवतक अज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेवाली कर्त्ताकर्मरूप प्रवृत्ति को भी नही छोडता है इसलिए बध होता रहता है। बधसे ससारका परिभ्रमण होता रहता है ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार अज्ञानी जीवके स्वरूप का कथन करनेवाली दो गाथा हुई ॥७४-७५॥

विशेषार्थ—आचार्य महाराज कहते है कि वीतरागता तो आत्माका स्वभाव है और क्रोधादिक भाव आत्माके कर्मजन्य विकारी भाव है जो कि अनादि से आत्मामे होते आ रहे हैं। एव यह आत्मा इन वाह्य दृश्यमान वस्तुओ पर क्रोधादिक करना मेरा काम है ऐसा समझते हुए क्रोधादिक रूप परिणमन करता रहता है तवतक यह वाह्यपदार्थ मे प्रवृत्ति करनेवाला वहिरात्मा एव अज्ञानी होता हुआ नवीन वध करता रहता है।

इस कर्त्ता कर्म रूप प्रवृत्ति की निवृत्ति किस प्रकार होती है उसे कहते हैं—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७६॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ॥७६॥

अर्थ—जिस समय यह जीव आत्मभाव और आस्रवभावो मे जो विलक्षणता है उसे अपने उपयोग मे भली प्रकार उतारता है (अर्थात् क्रोधादिक रूप परिणमन नही करता) उस समय नूतन वध नही होता है।

तात्पर्यवृत्ति—**जइया** यदा श्रीधर्मलब्धिकाले **इमेण जीवेण** अनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन **अप्पणो आसवाण य**

तहेव णादं होदि विसेसंतरं तु यथा शुद्धात्मनस्तथैव कामक्रोधाद्यास्रवाणा च ज्ञात भवति विशेषांतर भेदज्ञान **तइया** नदाकाले सम्यग्ज्ञानी भवति । सम्यग्ज्ञानी सन् किं करोति, अह कर्त्ता भावक्रोधादिरूपमतरग मम कर्मेत्यज्ञानजा कर्तृ कर्म-प्रवृत्ति मु चति । तत कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्या निर्विकल्पसमाधौ सति **ण बधो** न बधो भवति **से** तस्य जीवस्येति । अथ कथ ज्ञानमात्रादेव बधनिरोध इति पूर्वपक्षे कृते परिहार ददाति ।

टीका.—(जइया) जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्रात्मक रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति के कालमे (इमेण जीवेण) इस प्रत्यक्षीभूत जीवके द्वारा (अप्पणो आसवाण य तहेव णाद होदि विसेसतर तु) जैसे शुद्धात्मा का तथा काम क्रोधादि आस्रव भावो का जो भेद है—परस्परमे विलक्षणपन है—वैसा ही जब जान लेता है अर्थात् अपने उपयोगमे उतारलेता है (एव पर स्वरूप जो क्रोधादिक भाव हैं उनको करने से रह जाता है) (तइया) उस समय सम्यग्ज्ञानी होता है। सम्यग्ज्ञानी होकर क्या करता है कि मैं तो करनेवाला हूँ और भावक्रोधादिक जो अ तरगमे होते है वे मेरे कर्म हैं इस प्रकार जो अज्ञान जन्य कर्ता कर्म की प्रवृत्ति उसे छोड देता है, और उस कर्ता कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जानेपर निर्विकल्प समाधि होती है तब (ण बधो से) उस जीवके नूतन बध नही होता ।।७६।।

विशेषार्थ—यहा अज्ञानी से ज्ञानी कब होता है यह बतलाते हुए आचार्यदेव ने बतलाया है कि जब तक यह क्रोधादिक भाव किसी भी रूपमे करता रहता है तब तक अज्ञानी है किन्तु जब क्रोधादिरूप आर्त्त रौद्रभाव से रहित होकर निर्विकल्प समाधिमे लीन हो जाता है उस समय ज्ञानी बनता है तब उस समय उसके नूतन बध नही होता । साराश यह है कि जब यह अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होता है तब ही ज्ञानी होता है यही बात गोमट्टसार जीवकाण्ड मे बताई है—णट्ठा सेस पमादो वयगुणसीलोलिमडिओ णाणी, अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणोहु अपमत्तो ।।४६।। अर्थात् जिस सयत के सारे प्रमाद नष्ट होगये और जो समग्र ही महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण तथा शीलसे युक्त है, शरीर और आत्माके भेदज्ञानमे तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यानमे निरन्तर लीन रहता है, वह ज्ञानी है । और जबतक उपशमक या क्षपक श्रेणीका आरोहण नही करता तबतक स्वस्थान अप्रमत्त रहता है । यही बात परमात्म प्रकाशमे भी कही है-'देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ । परम समाहि परिट्ठियउ पडिउ सो जि हवेइ' ।।१४।। अर्थात् जो जीव परम समाधिमे स्थित होकर देहसे रहित केवलमात्र ज्ञानमय परमात्मा का ही अनुभव करता है अर्थात् तन्मय होकर रहता है वही पण्डित अर्थात् ज्ञानी होता है ।

ज्ञान प्राप्तकर ज्ञानी हो जाने से निर्बन्ध कैसे होता है अर्थात् बध का निरोध कैसे करता है इसका उत्तर देते हैं—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय भावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ।।७७।।

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ।। ७७ ।।

अर्थ—जब यह जीव आस्रवो के अशुचिपने को, जडतारूप विपरीतपने को और दु ख के कारणपने को जान लेता है तब अपने आप उनसे दूर रहता है ।।७७।।

तात्पर्यवृत्ति—क्रोधाद्यास्रवाणा मवधि कालुष्यरूपमशुचित्व जडत्वरूप विपरीतभाव व्याकुलत्वलक्षण दु ख-कारणत्व च ज्ञात्वा नथैव निजात्मन सवधि निर्मलात्मानुभूतिरूप शुचित्वं सहजशुद्धाखडकेवलज्ञानरूप ज्ञातृत्वमनाकुलत्व-लक्षणानतसुखत्व च ज्ञात्वा ततश्च स्व सवेदनज्ञानानतर सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामयिके स्थित्वा

क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीव । इति ज्ञानमात्रादेव बधनिरोधो भवति नास्ति साख्यादिमतप्रवेश । किं च यच्चात्मास्रवयो सबधि भेदज्ञान तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्त न वेति, निवृत्त चेर्त्तहि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्र वीतरागसम्यक्त्व च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बधनिरोधसिद्धि । यदि रागादिभ्यो निवृत्त न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थ । अथ केन भावनाप्रकारेणायमात्माक्रोधाद्यास्रवेभ्यो निवर्त्तते इति चेत्—

टीका— क्रोधादि आस्रवो के कलुषतारूप अशुचिपने को, जडतारूप विपरीतपने को, और व्याकुलता लक्षण दु ख के कारणपने को जानकर एव अपने आत्मा के निर्मल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अखण्ड केवलज्ञानरूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनत सुखरूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसवेदनज्ञान को प्राप्त होने के अनतर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे एकाग्रतारूप परम सामायिक मे स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवो की निवृत्ति करता है अर्थात् अपने आप दूर रहता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बध का निरोध सिद्ध हो जाता है। यहा साख्यमत सरीखा ज्ञानमात्र से बधका निरोध नही माना गया है। (किन्तु वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बधका निरोध होता है) कि च हम तुमसे पूछते हैं कि आत्मा और आस्रव सबधी जो भेद ज्ञान है वह रागादि आस्रवो से निवृत्त है या नही ? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भेदज्ञान मे पानक (पीने की वस्तु ठडाई इत्यादि) के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र भी और वीतराग सम्यक्त्व भी है ही, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बध का निरोध सिद्ध हो ही जाता है, और यदि वह भेदज्ञान रागादि से निवृत्त नही है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नही है ॥ ७७ ॥

विशेषार्थ— आचार्यदेवने यहा पर ज्ञान शब्द से उसी ज्ञान को लिया है जो कि वैराग्य पूर्ण हो, सासारिक विषय वासनादिरूप झझटो से सर्वथा दूर हो और शुद्धात्मस्वभाव मे तल्लीन रहने वाला हो अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो की एकता को ही सम्यग्ज्ञान शब्द से लिया है जो कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था मे होता है, एव इतर आचार्यो ने जो रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बताया है इससे पृथक् नही है।

अब वह ज्ञानी आत्मा किस भावना के बल से क्रोधादि आस्रव भावो से निवृत्त होता है सो बताते है—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७८॥

अहमेकः खलु शुद्धश्च निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥७८॥

अर्थ— ज्ञानी जीव (समाधिस्थ जीव) विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हू और ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ। अत उसी स्वभाव मे स्थित होता हुआ एव चैतन्य के अनुभव मे लीन होता हुआ मैं उन क्रोधादि सब आस्रव भावो का क्षय करता हू। (ऐसा सोच वह उन क्रोधादि विकार रूप आर्त्तरौद्रभावो से अपने आप दूर होकर समाधि मे लग जाता है) ॥७८॥

तात्पर्यवृत्ति—**अह** निश्चयनयेन स्वसवेदनज्ञानप्रत्यक्ष शुद्धचिन्मात्रज्योतिरह **इक्को** अनाद्यनतटकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेक **खलु** स्फुट **सुद्धो**—कर्तृकर्मकरणसप्रदानापादानाधिकरणषट्कारकीय विकल्पचक्ररहितत्वाच्छुद्धश्च **णिम्ममो** निर्मोहशुद्धात्मतत्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावात् ममत्वरहित । **णाणदसणसमग्गो** प्रत्यक्षप्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्या समग्र परिपूर्ण एव गुणविशिष्टपदार्थविशेषोस्मि भवामि। **तह्मि ठिदो** तस्मिन्नुक्तलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित । **तच्चित्तो** तच्चित्त सहजानदैकलक्षणसुखसमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा **सव्वे एदे खयं-**

णेमि सर्वानेतान्निरास्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतास्तान् कामक्रोधाद्यास्रवान् क्षय विनाश नयामि प्रापयामीत्यर्थ । अथ यस्मिन्नेव काले स्वसवेदनज्ञान तस्मिन्नेव काले रागाद्यास्रवनिवृत्तिरिति समानकालत्व दर्शयति ।

टीका—(अह) निश्चयनय से मैं स्वसवेदन ज्ञान के प्रत्यक्ष शुद्ध चिन्मात्र ज्योति स्वरुप हूँ, (इक्को) अनादि अनत टकोत्कीर्ण अर्थात् टाकी से उकेरे हुए के समान अटल एक ज्ञायक स्वभाव वाला होने से एक हू, (खलु सुद्धो) कर्त्ता, कर्म, करण, सप्रदान, अपादान और अधिकरण रूप षट्कारक के विकल्प समूह से रहित हू इसलिए शुद्ध हू, (णिम्ममओ) मोह रहित शुद्धात्मतत्व उससे विलक्षण मोह के उदय से होने वाले क्रोधादि कषायो का समूह उसका स्वामी (करने वाला) न होने से मैं ममत्व रहित हू। (णाणदसणसमग्गो) प्रत्यक्ष प्रतिभासमय विशुद्ध ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हू। इस प्रकार मैं तो इन गुणो से विशिष्ट हू इसलिए (तम्हि ठिदो) इन उपर्युक्त लक्षण वाले शुद्धात्म स्वरूप मे स्थित होता हुआ तथा (तच्चित्तो) सहजानद है एक लक्षण जिसका ऐसे सुखरूप समरसी भाव के साथ तन्मय होकर (सव्वे एदे खय णेमि) निरास्रव रूप जो परमात्मतत्व उससे पृथक्भूत जो काम क्रोधादि आस्रव भाव है उन सब भावो को नष्ट कर रहा हू— दूर हटा रहा हू। (मै इनको अब कभी नही होने दू गा) ।।७८।।

आगे दिखलाते हैं कि जिस समय स्वसवेदनज्ञान होता है उसी समय रागादि आस्रव भावो का अभाव हो जाता है एव इन दोनो का समकालपना है —

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफलाणि य णादूण णिवत्तए तेहिं ।।७९।।

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।
दुःखानि दुःखफलानि च ज्ञात्वा निवर्त्तते तेभ्यः ।।७९।।

अर्थ—जीव के साथ लगे हुए ये क्रोधादिक आस्रव भाव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं दु खरूप हैं और जिनका फल दु ख ही है ऐसा ज्ञानी जब जान लेता है तब उसी समय उनसे दूर हो जाता है ।। ७९ ।।

तात्पर्यवृत्ति—**एदे जीवणिबद्धा** एते क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा सबद्धा औपाधिका । न पुन निरुपाधिस्फटिकवच्छुद्धजीवस्वभावा । **अधुवा** विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीवक्षणिका । ध्रुव शुद्धजीव एव । **अणिच्चा** शीतोष्णज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्व न गच्छन्तीत्यनित्या विनश्वरा नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव । **तहा असरणा य** तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामोद्रेकवत् त्रातु धर्त्तु रक्षितु न शक्यत इत्यशरणा शरणो निर्विकारबोधस्वरूप शुद्धजीव एव । **दुक्खा** आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दु खानि भवति कामक्रोधाद्यास्रवा. अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखरूपशुद्धजीव एव । **दुक्खफलाणि य** आगामिनारकादिदु खफलकारणत्वाद् दु खफला खल्वास्रवा वास्तवसुखफलस्वरूपशुद्धजीव एव । **णादूण णिवत्तदे तेसु** इति भेदविज्ञानानतरमेव इत्थभूतान्मिथ्यात्वरागाद्यास्रवान् ज्ञात्वास्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे मेघपटलरहितादित्यवन्निवर्त्तते तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञानी भवतीति भेदज्ञानेन सहास्रवनिवृत्ते समानकालत्व सिद्धमिति । ननु पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकाव्याख्यान क्रियत इति पूर्वं प्रतिज्ञा कृता भवद्भि व्याख्यान पुन अज्ञानीसज्ञानीजीवस्वरूपमुख्यत्वेन कृत पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकाव्याख्यान कथ घटत इति । तन्न । जीवाजीवौ यदि नित्यमेकातेनापरिणामिनौ भवतस्तदा द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाविति । यदि च एकातेन परिणामिनौ भवतस्तदैक एव पदार्थ । किंतु कथचित्परिणामिनौ भवत । कथचित्कोर्थ ? यद्यपि जीव शुद्धनिश्चयेन स्वरूप न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणाम गृह्णाति । यद्यपि रागाद्युपाधि-

परिणाम गृह्णाति तथापि स्वरूप न त्यजति स्फटिकवत। तत्रैव कथचित्परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणाम करोति । कदाचित्पुनश्चिदानदैकस्वभाव शुद्धात्मान त्यक्त्वा भोगाकाक्षानिदानस्वरूप शुभोपयोगपरिणाम च करोति । तदा काले द्रव्यभावरूपाणा पुण्यपापास्रववधपदार्थाना कर्तृत्व घटते । तत्र ये भावरूपा पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामा द्रव्यरूपास्ते चाजीवपरिणामा इति । य पुन सम्यग्दृष्टि-रतरात्मा मज्ञानीजीव स मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टि-र्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणति करोति तदा तेन परिणामेन सवरनिर्जरामोक्षपदार्थाना द्रव्यभाव-रूपाणा कर्त्ता भवति । कदाचित्पुन निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवचनार्थं शुद्धात्मभावनासाध-नार्थं बहिर्बुद्धया ख्यातिपूजालाभभोगाकाक्षानिदानबधरहित सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्धशुद्धात्माराधकप्रतिपादकसाधका-चार्योपाध्यायमाधूना गुणस्मरणादिरूप शुभोपयोगपरिणाम च करोति । अस्मिन्नर्थे दृष्टातमाहु । यथा कश्चिद्देवदत्त स्वकीयदेशातरस्थितस्त्रीनिमित्त तत्समीपागतपुरुषाणा सन्मान करोति, वार्त्ता पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्त तेषा स्वीकार स्नेहदानादिक च करोति । तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्त शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्याय-माधूना गुणस्मरण दानादिक च स्वय शुद्धात्माराधनारहित सन् करोति । एवमज्ञानीसज्ञानीजीवस्वरूपव्याख्याने कृते मति पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसयोगपरिणामनिर्वृत्ता इति पीठिकाव्याख्यान घटते । नास्ति विरोध । एव मज्ञानीजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय गत इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकाधिकारे गाथाषट्केन प्रथमातरा-धिकारो व्याख्यातः ।

अत पर यथाक्रमेणैकादशगाथापर्यत पुनरपि सज्ञानीजीवस्य विशेषव्याख्यान करोति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीव कर्त्ता मृत्तिकाकलशमिवोपादानरूपेण निश्चयेन कर्म नोकर्म च न करोतीति जानन् सन् शुद्धात्मान स्व-सवेदनज्ञानेन जानाति य स ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण **'कम्मस्स य परिणाम'** इत्यादिप्रथमगाथा । तत पर पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेक । अथ कर्मत्व स्वपरिणामत्व सुखदु खादिकर्मफल चात्मा जानन्नप्युदयागतपरद्रव्य न करोतीति प्रतिपादनरूपेण **'णविपरिणमदि'** इत्यादिगाथात्रय तदनतर पुद्गलोपि वर्णादिस्वपरिणामस्यैव कर्त्ता न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण **'णविपरिणमदि'** इत्यादिसूत्रमेक । अत पर जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वेपि सति परस्परोपादानकर्तृत्व नास्तीति कथनमुख्यतया **'जीवपरिणाम'** इत्यादि गाथात्रय । तदनतर निश्चयेन जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्य-भावश्चेति प्रतिपादनरूपेण **'णिच्छयणयस्स'** इत्यादिसूत्रमेक । ततश्च व्यवहारेण जीव पुद्गलकर्मणा कर्त्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण **'ववहारस्स दु'** इत्यादिसूत्रमेक । एव ज्ञानी जीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिर्द्वितीय-स्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्य इति प्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति ।

टीका.—(एदे जीवणिबद्धा) ये क्रोधादिक आस्रवभाव जो जीवके साथ निबद्ध हैं औपाधिक रूप है (पर सयोग से उत्पन्न हुए हैं) किन्तु उपाधिरहित शुद्ध स्फटिक सरीखे शुद्ध जीव के स्वभाव नही हैं। (अधुव) बिजली के चमत्कारके सामान चचल है अत्यन्त क्षणिक है किन्तु शुद्ध जीव ही ध्रुव है—अटल है। (अणिच्चा) शीतोष्ण ज्वरके वेगके समान एकसे रहनेवाले नही हैं, कभी कम कभी अधिक होते हैं स्थिरता को प्राप्त नही होते है, विनश्वर हैं किन्तु चैतन्य चमत्कार मात्र एक शुद्ध जीव ही नित्य है। (तहा असरणा य) वैसे ही अशरण है क्योकि तीव्र कामवेग के समान इनको नियन्त्रित करके रखा नही जा सकता, किन्तु शुद्ध जीव ही निर्विकार बोध स्वरूप शरणभूत है। (दुक्खा) आकुलता के उत्पादक होने से काम क्रोधादिक आस्रवभाव स्वय दु ख स्वरूप हैं। किन्तु शुद्ध जीव ही अनाकुलत्व लक्षण वाला होने से वास्तविक सुख स्वरूप ही है (दु ख फलाणिय) भविष्य काल मे होनेवाले नारकादि दु खो के कारणभूत होनेसे क्रोधादिक आस्रवभाव दु ख फलरूप है किन्तु शुद्ध जीव ही वास्तवमे सुख फलस्वरूप है।

(णादूण णिवत्तए तेहिं) इस प्रकार के भेदज्ञान के अनतर समय मे ही जब कि मिथ्यात्व रागादि आस्रव भावो को उपर्युक्त प्रकार जानकर जिस समय मेघपटल रहित सूर्यके समान इन सबसे दूर हो जाता है उस ही क्षणमे यह जीव ज्ञानी होता है। इस प्रकार भेदज्ञान के सास्रव भावो की निवृत्तिका समान काल सिद्ध होता है ।।७६।।

विशेषार्थ —आचार्यदेव ने इस गाथामे यह स्पष्ट बतलाया है कि क्रोधादिक विकारी भावोका न होना कहो अथवा भेद विज्ञान का होना कहो यह दोनो एक है और इन दोनो का काल समान है। ऐसा नही हो सकता कि भेदज्ञान तो हो जाय और क्रोधादिक विकारी भाव फिर भी बने ही रहे। एव जिसकी आत्मा मे क्रोधादिक विकारी भाव नही है वही ज्ञानी है।

यहा शिष्य शका करता कि हे प्रभो ! इस प्रकरण के पूर्व मे आपने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि अब पुण्यपापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान किया जाता है और यहा व्याख्यान मे सम्यग्ज्ञानी और अज्ञानी जीव का स्वरूप मुख्यतासे कहा गया तब यहा पुण्यपापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान कैसे हुआ ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि यह कहना ठीक नही है, क्योकि यदि जीव और अजीव एकातरूप से अपरिणामी ही हो परिणमन शील नही हो तब तो दो ही पदार्थ ठहरे और यदि सर्वथा परिणमन शील ही हो-एक दूसरे के साथ सर्वथा तन्मय होकर रहनेवाले हो तो एक ही पदार्थ ठहरे। इसलिए ये दोनो ही कथचित् परिणमनशील हैं। कथचित् का क्या अर्थ है ? इसको स्पष्ट कर बतलाते है कि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से अपने स्वरूप को नही छोडता है तथापि व्यवहार से कर्मो के उदयके वश होकर रागद्वेषादि औपाधिक (विकारी) परिणामो को ग्रहण करता है। यद्यपि स्फटिकके समान यह जीव रागादि विकारी परिणामो को अ गीकार करता है फिर भी अपने स्वरूप को नही छोडता है जबकि इसमे कथचित् परिणामीपना सिद्ध है। इसलिये जबतक अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि की अवस्था मे रहता है तबतक प्रधानतासे विषय कपायरूप अशुभ परिणाम करता रहता है किन्तु कभी कभी चिदानद स्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त किये बिना उससे शून्य केवल भोग आकाक्षा के निदानबध स्वरूप शुभ परिणाम भी करता है। उस समय (इस अज्ञान दशामे) इसके द्रव्य और भावरूप पुण्य पापमय आस्रव पदार्थका और बध पदार्थका कर्तापना घटित होता है। वहा पर जो भावरूप पुण्यपापादि होते हैं वे जीव के परिणाम होते हैं और द्रव्य रूप पुण्यपापादि हैं वे अजीव के अर्थात् पुद्गलके परिणाम होते हैं। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि अर्थात् अन्तरात्मा या ज्ञानी होता है वह प्रधानता से निश्चय रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धोपयोगके बलसे निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शन वाला होता हुआ निर्विकल्प समाधिरूप परिणाममे परिणमन करता है तो उस परिणाम से द्रव्य भावरूप सवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थ का कर्ता होता है। किन्तु कभी कभी निर्विकल्प समाधिरूप परिणामो का अभाव होजाने पर विषय कपाय रूप परिणामो से बचने के लिये शुद्धात्मा की भावना को पुन प्राप्त करने के लिये बहिर्दृष्टि होते हुए भी ख्याति, लाभ, पूजा भोग आकाक्षा निदान बध से रहित होता हुआ वह शुद्धात्मा है लक्षण जिनका ऐसे अर्हत सिद्ध और शुद्धात्मा की आराधना करनेवाले और उसी का प्रतिपादन करनेवाले एव उसी शुद्धात्माके साधक ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुओका गुण स्मरणादि रूप शुभ उपयोगरूप परिणाम को भी करता है। इसी बात को दृष्टातसे समझाते है—जैसे कोई पुरुप जिसकी स्त्री देशातर मे है उस स्त्री का समाचार जानने के लिये उसके पाससे आये हुए लोगो का सन्मान करता है, उसकी बात पूछता है, और उनको अपनाकर व उनसे प्रेम दिखलाकर उनको दानादिक भी देता है यह उसका सारा बर्ताव केवल स्त्री का परिचय प्राप्त करने के निमित्त होता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) जीवभी जिस

कालमे स्वय शुद्धात्मा की आराधनासे रहित होता है उस समय शुद्धात्मा के स्वरूपकी उपलब्धिके लिये शुद्धात्माके आराधक व प्रतिपादक ऐसे आचार्य, उपाध्याय व साधु हैं उनका गुणस्मरण दान सन्मान आदि करता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीवके स्वरूपका व्याख्यान कर लेने पर पुण्यपापादि सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गलके सयोगरूप परिणामसे सपन्न हुए हैं ऐसा ज्ञान हो जानेसे उपर्युक्त पीठिका का व्याख्यान अपने आप आजाता है और इसमे कोई विरोध भी नही है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की मुख्यता से चार गाथाये पूर्ण हुई। इस प्रकार पुण्य पाप आदि सप्त पदार्थों के अधिकारमे छह गाथाओ से प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ ॥७९॥

इसके आगे ग्यारह गाथाओ तक क्रम से उसी ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हैं। वहा ग्यारह गाथाओ मे भी 'कम्मस्स य परिणाम' इत्यादि प्रथम गाथा मे यह वतलाया है कि जिस प्रकार कलश का उपादान रूप से कर्त्ता मिट्टी का लोदा है, उसी प्रकार निश्चय रूप से जीव कर्म और नोकर्मों का कर्त्ता नही है ऐसा समझकर जो पुरुप अपने स्वसवेदन (समाधिरूप) ज्ञान से जो अपने शुद्धात्मा को जानता है वही ज्ञानी होता है। इसके आगे प्रधानता से एक गाथा मे यह वतलाया है कि यह जीव व्यवहार से पुण्य पापादिपरिणामो काकर्त्ता है निश्चयसे नही। इसके आगे कर्मपने को अर्थात् अपने आपके परिणमन स्वरूपता को और सुख दुखादि रूप कर्म के फल को जानता हुआ भी यह आत्मा उदय मे आए हुए पर द्रव्य को नही करता है इस प्रकार का कथन करते हुए 'ण वि परिणमदि' इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं। इसके आगे 'ण वि परिणमदि' इत्यादि रूप से एक गाथा सूत्र है जिसमे वतलाया है कि पुद्गल भी वर्णादिरूप अपने परिणाम का ही कर्त्ता है, किन्तु ज्ञानादि रूप जीव के परिणाम का कर्त्ता नही है ऐसा कथन है। आगे 'जीव परिणाम' इत्यादि तीन गाथा है उसमे वतलाया है कि यद्यपि जीव और पुद्गल मे परस्पर निमित्त कर्त्तापना तो है किन्तु परस्पर मे उपादान कर्तापना तो किसी भी दशा मे नही है उसके आगे 'णिच्छय णयस्स' इस प्रकार जिसमे यह वतलाया है कि निश्चय से इस जीव का कर्त्ता कर्म भाव और भोक्ता भोग्य भाव भी अपने परिणामो के साथ ही है। इसके आगे 'ववहारस्स दु' इत्यादि एक सूत्र है जिसमे कहा गया है कि व्यवहार नय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता भी है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की विशेष व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाओ मे दूसरा स्थल पूर्ण होता है उसकी यह समुदाय पातनिका हुई।

अब यहा सबसे प्रथम यह वताते है कि यह आत्मा ज्ञानी है यह वात कैसे जानी जाती है —

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥८०॥

यह आत्मा उपदान रूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नही है इस प्रकार जो जानता है (अर्थात् समाधिस्थ होकर अनुभव करता है) वही ज्ञानी होता है ॥८०॥

तात्पर्यवृत्तिः—कम्मस्स य परिणाम णोकम्मस्स य तहेव परिणाम ण करेदि एदमादा जो जाणदि यथा मृत्तिकाकलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मण नोकर्मणश्च परिणाम पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाण न करोत्यात्मेति यो जानाति **सो हवदि णाणी** स निश्चयशुद्धात्मान परमसमाधिवलेन भावयन्सन् ज्ञानी भवति। इति ज्ञानीभूतजीवलक्षणकथनरूपेण गाथा गता। अथ पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोतीति प्ररूपयति।

टीका—(कम्मस्स य परिणाम णोकम्मस्स य तहेव परिणाम ण करेदि एदमादा) जिस प्रकार कलश का उपादान कर्ता मिट्टी है उसी प्रकार कर्म और नोकर्म के परिणाम कर्ता भी पुद्गल द्रव्य हैं, परन्तु आत्मा उनका उपादान कर्ता नही है इस प्रकार (जो जाणदि सो हवदि णाणी) जो जानता है वह निश्चय शुद्ध आत्मा का परम समाधि के द्वारा अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता है ।।८०।।

विशेषार्थ—यद्यपि उपर्युक्त गाथा मे 'जानाति' क्रिया पद आया है जिसका अर्थ केवल जानना मात्र होता है किन्तु आचार्य श्री ने उसे समाधि मे स्थित रहने वाले के लिए प्रयुक्त किया है, जैसा कि टीकाकार स्पष्ट कर वतला रहे हैं, क्योकि आर्त्त रौद्रभाव से रहित शुद्ध ज्ञान छद्मस्थ को उसी समय होता है । अन्य समय मे तो इष्ट अनिष्ट कल्पनापूर्वक वाह्य वातावरण मे लगकर वह रागद्वेष करता ही रहता है । इसी प्रकार 'जानाति' या 'वेत्ति' क्रियाये जहा आवे वहा सव ही स्थान पर आचार्य महाराज का यही अभिप्राय समझना चाहिये ।

आगे व्यवहार से यह आत्मा पुण्य पापादि परिणामो का कर्ता है (निश्चय से नही) ऐसा कहते हैं—

***कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।**
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।८१।।

कर्त्ता आत्मा भणितः न च कर्त्ता केन स उपायेन ।
धर्मादीन् परिणामान् यो जानाति स भवति ज्ञानी ।।८१।।

अर्थ—किसी एक नयसे (व्यवहार नयसे) आत्मा पुण्य पापादि परिणामोका कर्त्ता है और किसी एक नयसे (निश्चयनय से) आत्मा इन परिणामो का कर्ता नही है, इस प्रकार जो जानता है वह ज्ञानी होता है ।।८१।।

तात्पर्यवृत्तिः—**कत्ता आदा भणिदो** कर्त्तात्मा भणित **ण य कत्ता सो** न च कर्त्ता भवति स आत्मा **केण उवायेण** केनाप्युपायेन नयविभागेन । केन नयविभागेनेति चेत् निश्चयेन अकर्त्ता व्यवहारेण कर्त्तेति । कान् **धम्मादी परिणामे** पुण्यपापादिकर्मजनितोपाधिपरिणामान् **जो जाणदि सो हवदि णाणी** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तरागादि-विकल्पोपाधिरहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति । इति निश्चयनयव्यवहाराभ्यामकर्तृत्वकर्तृत्वकथनरूपेण गाथा गता । अथ पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसवधो नास्तीति निरूपयति ।

टीकाः—(कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता सो) आत्मा कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है, (केण उवाएण) किसी एक नय विभागसे अर्थात् निश्चयनयसे अकर्त्ता और व्यवहारनयसे कर्त्ता (धम्मादी परिणामे) पुण्य पापादि कर्म जनित विकारी भावो का है । इस प्रकार (जो जाणदि सो हवदि णाणी) ख्याति लाभ पूजादि समस्त रागादि विकल्पमय औपाधिक परिणामो से रहित समाधिमे स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है । इस प्रकार निश्चयनयसे अकर्त्तापन और व्यवहारनय से कर्त्तापन का व्याख्यान करनेवाली गाथा हुई ।।८१।।

आगे कहते हैं कि पुद्गल कर्मो को जानते हुए इस जीव का पुद्गल के साथ तादात्म्य सवध नही है—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।८२।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गल कर्मानेकविधं ।।८२।।

---

* यह गाथा आत्मख्याति मे नही है ।

अर्थ—ज्ञानी जीव अनेक प्रकार पुद्‌गल द्रव्य के पर्यायरूप कर्मों को जानता हुआ भी तन्मयता के साथ परद्रव्य की पर्यायो मे उन स्वरूप न तो परिणमता है, न ग्रहण ही करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है ॥८२॥

तात्पर्यवृत्ति—**पुग्गलकम्मं अणेयविह** कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाण पुद्गलकर्मनेकविध मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्न **जाणतो वि हु** विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुट स: क कर्त्ता **णाणी** सहजानदैकस्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी **णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** तत्पूर्वोक्त परद्रव्यपर्यायरूप कर्म निश्चयेन मृत्तिकाकलशरूपेणेव न परिणमति न तादात्म्यरूपतया गृण्हाति न च तदाकारेणोत्पद्यते। कस्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह तादात्म्यसबधाभावात्। तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति। अथ स्वपरिणाम सकल्पविकल्परूप जानतो जीवस्य तत्परिणामनिमित्तेनोदयागतकर्मणा सह तादात्म्यसबधो नास्तीति दर्शयति।

टीका:—(पुग्गलकश्म अणेयविह) उपादान कारणभूत कर्म वर्गणा योग्य पुद्‌गलद्रव्य द्वारा किया हुआ है ऐसे मूल और उत्तर प्रकृतिके भेदसे अनेक प्रकार होने वाले पुद्‌गल कर्मको (जाणतो विहु) विशिष्ट भेदज्ञान के द्वारा स्पष्टरूप से जानता हुआ भी (णाणी) सहजानद स्वरूप एक स्वभाववाला निज शुद्धात्मा और रागादि आस्रव इन दोनो के भेद का ज्ञान रखने वाला जीव (ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण पर द्रव्य पज्जाए) न तो परद्रव्य पर्याय स्वरूप पूर्वोक्त कर्म के रूपमे निश्चयसे परिणमन ही कर्त्ता है जैसे कि मिट्टी कलशरूप में परिणमन कर जाती है, और न तादात्म्य सबधसे ग्रहण ही करता है और न उसके आकार होकर उत्पन्न ही होता है, क्योकि जिस प्रकार मिट्टी और कलश में परस्पर तादात्म्य सबध है वैसा तादात्म्य सबध जीव का पुद्‌गल कर्म के साथ नही है। इसका अर्थ यह हुआ कि पुद्‌गल कर्म को जाननेवाले जीव का पुद्‌गल के साथ निश्चयसे कर्त्ता कर्म भाव नही है ॥८२॥

आगे कहते हैं कि अपने सकल्प विकल्प जालरूप परिणाम को जानते हुए इस जीव का उन परिणामो के निमित्त से उदय मे आए हुए कर्मों के साथ तादात्म्य सबध नही है —

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं॥ ८३॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधं॥८३॥

अर्थ—ज्ञानी जीव अपने अनेक प्रकार के होने वाले परिणामो को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की अवस्थारूप न परिणमन करता है, न उसको ग्रहण करता है न उस रूप उत्पन्न ही होता है (इसलिए निश्चय से उसके साथ कर्त्ता कर्म भाव नही है ॥ ८३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—**सगपरिणामं अणेयविह** क्षायोपशमिक सकल्पविकल्परूप स्वेनात्मनोपादानकारणभूतेन क्रियमाण स्वपरिणाममनेकविध **णाणी जाणतो वि हु** निर्विकारस्वसवेदनज्ञानीजीव स्वपरमात्मनोर्विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुट **णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** तस्य पूर्वोक्तस्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतमुदयागत पुद्गलकर्मपर्यायरूप मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनिश्चयनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मात् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह परस्परोपादानकारणाभावादिति। एतावता किमुक्त भवति स्वकीयक्षायोपशमिकपरिणामनिमित्तमुदयागत कर्म जानतोपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति। अथ पुद्गलकर्मफल जानतो जीवस्य पुद्गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्यकर्मणा सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति कथयति।

टीका— (सगपरिणामं अणेयविहं) क्षयोपशम भाव के कारण होने वाले संकल्प विकल्प रूप अपने परिणाम जिसको आत्मा ने स्वयं उपादानरूप होकर किया है और जो अनेक प्रकार है उनको (णाणी जाणतो विहु) अपने परमात्मस्वरूप विशेप भेदज्ञान के वल से स्पष्ट जानता हुआ भी वह निर्विकार स्वसवेदन ज्ञानी जीव (ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदव्व पज्जाये) उन पूर्वोक्त अपने परिणामो के निमित्त से उदय मे आये हुए पुद्गल कर्म की पर्याय रूप मे जैसे मिट्टी कलशरूप मे परिणमन करती है वैसे शुद्ध निश्चयनय से न तो परिणमन ही करता है और न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप से उत्पन्न ही होता है क्योकि मिट्टी और कलश मे परस्पर जिस प्रकार उपादान और उपादेय भाव है। उस प्रकार उस पुद्गल कर्म के साथ आत्मा का उपादान उपादेय भाव नही है। इसलिये अपने क्षायोपशमिक परिणाम के निमित्त से उदय मे आए हुए कर्म को जानते हुए जीवका भी उस कर्म के साथ निश्चय से कर्ता कर्म भाव नही हैं ।।८३।।

आगे पुद्गल कर्म के फल को जानते हुए ज्ञानी जीव के साथ पुद्गल कर्म के फल के कारण से फिर द्रव्य कर्म के साथ निश्चय मे कर्ता कर्म भाव नही है ऐसा वर्णन करते हैं—

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ।।८४।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतं ।।८४।।

अर्थ—ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मों के अनन्त सुख दु ख फलो को जानता हुआ भी निश्चय से पर द्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है और न उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप मे उत्पन्न ही होता है ।।८४।।

तात्पर्यवृत्ति—**पुग्गलकम्मफलमणंतं** उदयागतद्रव्यकर्मणोपादानकारणभूतेन क्रियमाण सुखदु खरूपशक्त्यपेक्षयानतकर्मफल **णाणी जाणंतो वि हु** वीतरागशुद्धात्मसवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसतृप्तो भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेदज्ञानेन जानन्नपि हि स्फुट **ण परिणमदि ण गिह्लदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** वर्तमानसुखदु खरूप शक्त्यपेक्षानिमित्तमुदयागत परपर्यायरूप पुद्गलकर्म मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षणसबंधाभावादिति । किं च विशेप यदि पुद्गलद्रव्यकर्मरूपेण न परिणमतिन गृह्णाति न तदाकारेणोत्पद्यते। तर्हि किं करोति ज्ञानी जीव मिथ्यात्वविपयकपायख्यातिपूजालाभभोगाकाक्षारूपनिदानबधशल्यादिविभावपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वविकल्पशून्य पूर्णकलशवच्चिदानदैकस्वभावेन भरितावस्थ शुद्धात्मान निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थ । एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिक परद्रव्य न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय गत। अथ जीवपरिणाम, स्वपरिणाम स्वपरिणामफल च जडस्वभावत्वादजानत पुद्गलस्य निश्चयेन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्तीति प्रतिपादयति ।

टीका—(पुग्गलकम्मफलमणत) पौद्गलिक कर्मो का फल जो कि उपादान कारण रूप से उदयागत द्रव्य कर्म के द्वारा किया जाता है तथा सुख दु ख रूप शक्ति की अपेक्षा से अनंत प्रकार का होता है उसको (णाणी जाणतो विहु) वीतरागरूप जो शुद्धात्मा उसके सवेदन से समुत्पन्न सुखामृत रस उससे तृप्त होता हुआ भेदज्ञानी जीव अपने निर्मल विवेकरूप भेदज्ञान से स्पष्ट रूप जानता हुआ भी (ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण पर दव्व पज्जाये) वर्तमान सुख दुख रूप शक्ति की अपेक्षा का निमित्त (उपादान रूप मे) उदय मे आया हुआ पुद्गल कर्म जो कि पर द्रव्य पर्याय स्वरूप है उसके रूप मे जैसे

मिट्टी कलश के रूप मे परिणमन करती है वैसे शुद्धनयकी अपेक्षा से न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उसकी पर्यायरूप से उत्पन्न ही होता है क्योकि मृत्तिका और कलशमे परस्पर जैसा तादात्म्य लक्षण सबध है वैसा सबध ज्ञानी जीव का द्रव्य कर्म के साथ नही है।

यहा कोई प्रश्न करता है कि ज्ञानी जीव जब पुद्गल द्रव्य कर्म के रूप मे न तो परिणमन ही करता है, न उसे ग्रहण ही करता है और न तदाकार रूप से उत्पन्न ही होता है तब वह ज्ञानी जीव क्या करता है ? इसका उत्तर आचार्य देते है कि वह तो मिथ्यात्व, विषय, कषाय, ख्याति, पूजा, लाभ और भोगो की आकाक्षारूप निदान बध, शल्य आदि विभाव परिणामो का कर्तापन और भोक्तापन के विकल्प से रहित अपनी शुद्धात्मा का स्वरूप जो कि जल के भरे हुए कलश के समान केवलमात्र एक चिदानद स्वभाव से परिपूर्ण है उसीका निर्विकल्प समाधि मे स्थित होकर ध्यान करता है ॥८४॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहा पर इन तीन गाथाओ मे यही बतलाया है कि ज्ञानी जीव जानने के स्वभाव वाला है। वह अपने परिणामो को ही जानता है और कर्म व कर्म के फल को भी जानता है, किन्तु अपने परिणामो को तो तन्मय होकर जानता है। पर कर्म व कर्मके फलको अपनेसे पृथक्रूप जानता है। अत. इनके रूप मे किसी भी दशा मे परिणमन नही करता, विकारी नही बनता, क्योकि वह तो वीतराग स्वरूप निर्विकल्प समाधि मे तल्लीन होकर रहता है इसीलिये वह ज्ञानी नाम पाता है।

इस प्रकार निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्मादि स्वरूप परद्रव्य के रूप में कभी नही परिणमता इस प्रकार की व्याख्यान करने वाली तीन गाथा हुई ॥८४॥

आगे जड स्वभाव होने से जो पुद्गलद्रव्य जीवके परिणाम को और अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फलको भी नही जानता उस पुद्गल का भी निश्चयनय से जीव के साथ कर्त्ता कर्म भाव नही है ऐसा बतलाते है —

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं ॥८५॥

नापि परिणमति न गृण्हात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥८५॥

अर्थ—उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी पर द्रव्य की पर्याय रूप मे न तो परिणमन ही करता है न कभी उसको ग्रहण ही करता है और न उस रूप मे कभी उत्पन्न ही होता है किन्तु अपने आपके परिणामो से ही परिणमन करता है ॥ ८५ ॥

तात्पर्यवृत्ति — **णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए** यथा जीवो निश्चयेनानत-सुखादिस्वरूप त्यक्त्वा पुद्गलद्रव्यरूपेण न परिणमति न च तन्मयत्वेन गृण्हाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते। **पुग्गलदव्व पि तहा** तथा पुद्गलद्रव्यमपि स्वयमतर्व्यापक भूत्वा मृत्तिकाद्रव्यकलशरूपेणेव चिदानदैकलक्षणजीवस्वरूपेण न परिणमति न च जीवस्वरूप तन्मयत्वेन गृण्हाति न च जीवपर्यायेणोत्पद्यते । तर्हि किं करोति **परिणमइ सएहिं भावेहिं** परिणमति स्वकीयैर्वर्णादिस्वभावै परिणामैर्गुणैर्धर्मैरिति । कस्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोरिव जीवेन सह तादात्म्य-लक्षणसबधाभावादिति । एव पुद्गलद्रव्यमपि जीवेन सह न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता। अथ यद्यपि जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तृकर्मभाव इत्यावेदयति।

टीका—(णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व पज्जाए) जैसे निश्चयनय से जीव

अपने अनत सुखादि स्वरूप को छोडकर पुद्गलद्रव्य के रूप मे न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता से ग्रहण ही करता है और न उसके आकाररूप उत्पन्न ही होता है (पुग्गलदव्व पि तहा) उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी स्वय तादात्म्य स्वरूप से जिस प्रकार मिट्टी कलश रूप मे परिणमन करती है उस प्रकार चिदानद है लक्षण जिसका ऐसे जीव स्वरूप मे न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता के साथ ग्रहण ही करता है और न जीव के आकार ही वनता है, किन्तु (परिणमदि सएहिं भावेहिं) वह भी सदा अपने वर्णादि स्वभावरूप गुण धर्मों के द्वारा ही परिणमन करता है क्योकि मृत्तिका और कलश मे जैसा तादात्म्य सवध है वैसा सवध पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ नही है ॥८५॥

विशेषार्थः—आचार्य महाराज कहते हैं कि जीव और पुद्गल ये दोनो ही द्रव्य परिणमन शील हैं, अत परस्पर सयोगात्मक परिणमन को भी प्राप्त होते हैं परन्तु फिर भी अपनेपन को नही छोडते। जैसे जीव कार्माण पुद्गलो के सयोग मे भी वर्णादिमान नही होता वैसे ही ससारी जीव के साथ सवधित होकर भी पुद्गलद्रव्य कभी भी ज्ञानादिमान नही होता परन्तु जीव रागादिमान होकर भी चेतनावाला ही रहता है तो पुद्गल भी कर्मरूप से परिणमन करके भी जड़ स्वरूप ही रहता है।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीव के साथ उस रूप होकर परिणमन नही करता है इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता करके गाथा पूर्ण हुई।

आगे जीव और पुद्गल के परस्पर मे निमित्त नैमित्तिक संवध होने पर भी निश्चयनयसे इनका आपस मे कर्त्ता कर्म भाव नही है ऐसा कहते हैं—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८६॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८७॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८८॥ (त्रिकलम्)

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८६॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥८७॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ॥८८॥

अर्थ—यद्यपि जीव के रागद्वेषी परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नही करता उसी भाति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणो को स्वीकार नही करता, किन्तु केवल-

मात्र इन दोनो का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है। इस कारण से वास्तव मे आत्मा अपने भावो से ही अपने भावो का कर्त्ता होता है किन्तु पुद्गल कर्मों के द्वारा किये गए सर्व भावो का कर्त्ता नही है।

तात्पर्यवृत्ति —**जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति** यथा कुंभकारनिमित्तेन मृत्तिकाघटरूपेण परिणमति तथा जीवसबधिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतु लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य कर्मत्वेन परिणमति **पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि** यथैव च घटनिमित्तेन एव घट करोमीति कुंभकार परिणमति तथैवोदयागतपुद्गलकर्महेतु लब्ध्वा जीवोपि निर्विकारचिच्चमत्कारपरिणतिमलभमान सन् मिथ्यात्वरागादिविभावेन परिणमतीति। अथ—**णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो** यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्णादिपुद्गलकर्मगुणान्न करोति। **कम्मं तहेव जीवगुणे** कर्म च तथैवानतज्ञानादिजीवगुणान्न करोति **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हंपि** यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुंभकारयोरिव परिणाम जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरिति। अथ—**एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण** एतेन कारणेन पूर्वसूत्रद्वयव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाव्याबाधानतसुखादिशुद्धभावाना कर्त्ता। तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावाना कर्त्ता भवत्यात्मा। कथ। यथा मृत्तिकाकलशस्येति **पुग्गलकम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाणं** पुद्गलद्रव्यकर्मकृताना न तु कर्ता सर्वभावाना ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मपर्यायाणामिति। एव जीवपुद्गलपरस्परनिमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय गत। अथ तत एतदायाति—जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च भवति।

टीका — (जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति) जैसे कुंभकारके निमित्त से मिट्टी घडे के रूप मे परिणमन करती है उसी प्रकार जीव सबधी मिथ्यात्व व रागादि परिणामो का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य भी कर्मरूप मे परिणमन करता है। (पुग्गलकम्म णिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ) जिस प्रकार घट का निमित्त पाकर कुम्हार 'मै घडे को बनाता हूँ' इस प्रकार भावरूप परिणमन करता है वैसे ही उदय मे आये हुए द्रव्य कर्मोका निमित्त पाकर अपने विकार रहित चेतनामात्र परिणति को प्राप्त नही होता हुआ जीव भी मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणाम रूप परिणमन करता है। (णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो) यद्यपि परस्पर एक दूसरे के निमित्त से इन दोनो का परिणमन होता है तो भी निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म के वर्णादि गुणो को पैदा नही करता है (कम्म तहेव जीवगुणे) वैसे कर्म भी जीव के अनत ज्ञानादि गुणो को उत्पन्न नही करता है। (अण्णोणणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हंपि) यद्यपि उपादान रूप से नही करता फिर भी घट और कुम्हार की भाति इन दोनो जीव और पुद्गलोका परस्पर मे एक दूसरे के निमित्त से परिणमन होता है (एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण) इस प्रकार पूर्वोक्त दो सूत्रो मे जैसा बतलाया गया है उस रूप जीव जव निर्मल आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा शुद्ध उपादान ही है कारण भूत जिसमे अथवा शुद्ध उपादान का कारणभूत जो परिणाम उससे यह जीव अव्याबाध और अनत सुखादिरूप शुद्धभावो का कर्त्ता होता है और इससे विलक्षण एव अशुद्ध उपादान ही है कारण जिसमे या अशुद्ध उपादान का कारणभूत ऐसे विकारी परिणमन के द्वारा रागादि अशुद्ध भावो का कर्त्ता होता है जैसे मिट्टी कलश का कर्त्ता होती है। (पुग्गल कम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाण) किन्तु पुद्गलकर्म के किये हुए जो ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म पर्यायरूप जो सब भाव है उन सबका कर्त्ता आत्मा नही है।

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर मे निमित्त कारणपना है इस व्याख्यान की मुख्यता से से तीन गाथाए पूर्ण हुई ॥ ८६-८७-८८ ॥

विशेषार्थ—यहा आचार्य देव ने स्पष्ट कर वतलाया है कि वस्तु परिणमन स्वभाववाला है, अत साधारण परिणमन तो इसका अपने आप समयानुसार सहजतया होता ही रहता है किन्तु परिणमन विशेष के लिए उपादान के साथ साथ निमित्त विशेष की भी आवश्कता होती है। जैसे कि पुद्गल का जो कर्मरूप मे परिणमन होता है वह जीव के रागादिक भावो के बिना नही होता। रागादि भावो से सब ही पुद्गलो का परिणमन न होकर कार्माण वर्गणाओ का ही कर्मरूप परिणमन होता है। इसी प्रकार जीव का भी जो रागादिरूप परिणमन होता है वह भी पूर्व कर्म के उदय से ही होता है। किन्तु कर्मोदय से भी रागादिरूप परिणमन उसी जीव का होता है जो शुद्धात्मा के अनुभव से अर्थात् समाधि से विमुखता रूप अज्ञानभाव को अपनाने वाला होता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव और पुद्गल का व्यजन पर्यायरूप विशेष परिणमन उपादान और निमित्त इन दोनो कारणो के सहयोग से सम्पन्न होता है किसी एक से नही।

इसलिये यह वात सिद्ध हुई कि निश्चयनय से जीव का कर्ता कर्म भाव और भोक्तृ भोग्य भाव अपने परिणामो के साथ ही हैं—सो ही कहते हैं —

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८९॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानं ॥८९॥

अर्थ — हे शिष्य, तू ऐसा समझ कि निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा अपने आपका ही कर्त्ता है और अपने आपका ही भोक्ता है (किन्तु दूसरे का नही)।

तात्पर्यवृत्ति —णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि यथा यद्यपि समीरो निमित्त भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च। एव यद्यपि द्रव्यकर्मोदयसद्भावासाद्भावात् शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्त भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसवेदनज्ञानपरिणतः केवलज्ञानादिशुद्धभावान् तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सासारिकसुखदु खाद्यशुद्धभावाश्रोपादानरूपेणात्मैव करोति। अत्र परिणामाना परिणमनमेव कर्तृत्व ज्ञातव्यमिति न केवल करोति **वेदयदि पुणो त चेव जाण अत्ता दु अत्ताण** वेदयत्यनुभवति भुक्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तदेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मान च। स क कर्ता ? आत्मेति जानीहि एव निश्चयकर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण गाथा गता। अथ लोकव्यवहार दर्शयति।

टीका — (णिच्छयणयस्स एव आदा अप्पाणमेव हि करेदि) जैसे समुद्र की तरगो के उत्पन्न होने मे पवन निमित्त कारण है फिर भी निश्चयनय से समुद्र ही तरगो को उत्पन्न करता है उसी प्रकार द्रव्य कर्मो के उदय का सद्भाव आत्मा के अशुद्धभावो मे निमित्त होता है और द्रव्यकर्म के उदय का न होना आत्मा के शुद्ध भावो मे निमित्त होता है। फिर भी निश्चयनय की अपेक्षा उपादानरूप से तो स्वय आत्मा ही जब निर्विकार परम स्वसवेदन ज्ञानरूप परिणत होता है तब केवलज्ञान आदि शुद्ध भावो को उत्पन्न करता है और अशुद्ध रूप मे परिणत हुआ आत्मा ही उपादान रूप से सासारिक सुख दुख आदि रूप अशुद्ध भावो को उत्पन्न करता है। यहा पर उन परिणामो के रूप मे परिणमन करना ही कर्त्तापन मे विवक्षित है। आत्मा केवल अपने भावो का कर्त्ता ही हो इतना ही नही है किन्तु (वेदयदि पुणो त

चेव जाण अत्ता दु अत्ताण) अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूप शुद्ध उपादान के द्वारा अनुभव भी आत्मा अपने शुद्धात्मा का ही करता है, उसीको भोगता है, और उसीका सवेदन करता है, और उसी रूप में परिणमन करता है, किन्तु अशुद्ध उपादान से अपनी अशुद्ध आत्मा का ही अनुभवन या सवेदन करता हुआ उसी रूप परिणमन करता है ऐसा हे शिष्य ! तुम समझो । इस प्रकार निश्चय कर्त्तृत्व भोक्तृत्व का व्याख्यान करने वाली गाथा हुई ।।८९।।

अब आगे लोक व्यवहार जैसा होता है वैसा बतलाते हैं —

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं ।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।। ९० ।।
व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधं ।। ९० ।।

अर्थ —व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा अनेक प्रकार के अपने पुद्गल कर्मों का करता है और उन्ही अनेक प्रकार के कर्मो को भोगता भी है ।

तात्पर्यवृत्ति — ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्म करेदि अणेयविहं यथा लोके यद्यपि मृत्पिड उपादान-कारण तथापि कु भकारो घट करोति तत्फल च जलधारणमूल्यादिक भुक्त इति लोकानामनादिरूढोस्ति व्यवहार । तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमुपादनकारणभूत तथापि व्यवहारनयस्याभिप्रायेणात्मा पुद्गलकर्मानेकविध मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्न करोति **तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्म अणेयविह** तथैव च तदेवोदयागत पुद्गलकर्मानेकविध इष्टानिष्टपंचेंद्रियविषयरूपेण वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिना निर्विषयशुद्धात्मोपलभसजातसुखामृतरसास्वादरहितानाम-नादिरूढोस्ति व्यवहार. । एव व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्वकथनमुख्यतया गाथा गता । इति ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानरूपेणैकादशगाथाभिर्द्वितीयातराधिकारो व्याख्यात ।

अत परं पचविंशतिगाथापर्यं त द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यान करोति । तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपा-दानकर्तृत्व द्विक्रियावादित्वमुच्यते तस्य सक्षेपव्याख्यानरूपेण **जदिपुग्गलकम्ममिणं** इत्यादि गाथाद्वय भवति । तद्वि-वरणद्वादशगाथासु मध्ये **पुग्गलकम्मणिमित्तं** इत्यादिगाथाक्रमेण प्रथमगाथाषट्क स्वतत्र । तदनतरमज्ञानिज्ञानिजीवक-र्तृत्वाकर्तृत्वमुख्यतया **परमप्पाणं कुव्वी** इत्यादिद्वितीयषट्क । अत पर तस्यैव द्विक्रियावादिन पुनरपि विशेष-व्याख्यानार्थमुपसहाररूपेणैकादशगाथा भवति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहारनयमुख्यत्वेन **ववहारस्स दु** इत्यादि गाथात्रय । तदनतर निश्चयनयमुख्यतया **जो पुग्गलदव्वाण** इत्यादिसूत्रचतुष्टय । ततश्च द्रव्यकर्मणामुपचारकर्तृत्व-मुख्यत्वेन **जीवं हि हेदुभूदे** इत्यादिसूत्रचतुष्टयमिति समुदायेन पचविंशतिगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथेद पूर्वोक्त कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यान कर्मतापन्नमनेकातेन सम्मतमप्येकातनयेन मन्यते । किं मन्यते भावकर्मवन्निश्चयेन द्रव्यकर्मापि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षण द्विक्रियावादित्व स्यात् तान् द्विक्रियावादिनो दूषयति ।

टीका:—(ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्म करेदि अणेयविह) जैसे देखने मे आता है कि घडे का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है उसीका घडा बनता है तथापि घडे को बनाने वाला कुम्हार है और जल धारण करना उसका मूल्य लेना आदि फल का भोक्ता भी वही कुम्हार है यह अनादिकाल से लोगो का व्यवहार चला आ रहा है । वैसे ही उपादान रूप से कर्मो का पैदा करने वाला भी कार्माण वर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य है, जो अनेक प्रकार के मूल उत्तर प्रकृति भेद लिए हुए नाना प्रकार

ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म हैं उसका करने वाला व्यवहार नय से आत्मा है (ऐसा समझा जाता है)। (त चेव य वेदयदे पुग्गलकम्म अरणेयविह) और उदय में आये हुए उसी अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मो को इष्ट व अनिष्ट जो पचेन्द्रिय के विषय उनके रूप मे आत्मा अनुभवन करने वाला होता है ऐसा अन्य विपय से रहित शुद्धात्मा के उपलभ से समुत्पन्न जो सुखामृत रस उसके आस्वाद से रहित रहने वाले अज्ञानी लोगो का अनादि काल का व्यवहार चला आता है ।।६०।।

इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से सुख दुख के कर्ता और भोक्तापन के कथन करने वाली गाथा पूर्ण हुई।

विशेषार्थ—निश्चयनय अभिन्न तादात्म्य सवध या उपादान उपेय भावको ही ग्रहण करता है। उसकी दृष्टि सयोग सवध पर नही होती किन्तु व्यवहारनय सयोग सवध, और निमित्त नैमित्तिक भावको वतलाने वाला है। इसलिये आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा निश्चयनयसे तो अपने भावोका ही कर्त्ता भोक्ता है किन्तु व्यवहारनयसे वह द्रव्य कर्मों का करनेवाला व भोगनेवाला भी है। यह व्यवहारनय समाधि अवस्थासे च्युत अज्ञान दशामे स्वीकार किया जाता है किन्तु समाधि दशामे निश्चयनय का अवलवन रहता है।

ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करनेके रूपमे ग्यारह गाथाओ द्वारा दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

इसके पश्चात २५ गाथा पर्यंत चेतन और अचेतन इन दोनो का एक ही उपादान कर्त्ता है ऐसा कहने वाले द्विक्रियावादियोका निराकरण करते हुए सक्षेप से व्याख्यान करनेरूप मे "जदि पुग्गल कम्ममिण" इत्यादि दो गाथाए हैं। फिर उसका विवरण करनेवाली १२ गाथाओ मे से "पोग्गल कम्म णिमित्त" इत्यादि कमसे प्रथम ६ स्वतत्र गाथाएं हैं। इसके आगे अज्ञानी जीव पर द्रव्यका कर्त्ता है किन्तु ज्ञानी जीव अकर्ता है इस प्रकार की मुख्यता से "परमप्पाण कुव्वदि" इत्यादि दूसरी ६ गाथाएं है। इसके आगे उसी द्विक्रियावादी का विशेप व्याख्यान करने के लिये उपसहार रूपसे ११ ग्यारह गाथाए हैं। उन ११ गाथाओ मे व्यवहारनय की मुख्यतासे "ववहारस्स दु" इत्यादि तीन गाथाए हैं। उसके आगे निश्चयनय की मुख्यतासे "जो पुग्गल दव्वाण" इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके आगे द्रव्य कर्मो का उपचार से जीव कर्ता है इस मुख्यतासे "जीवहि हेदुभूदे" इत्यादि चार गाथायें है। इस प्रकार समुदाय पातनिका रूपसे २५ गाथाओ द्वारा तीसरा स्थल है।

पहले जो कर्म का कर्त्तापन और भोक्तापन के वारे मे जो नय विभाग कहा गया है वह अनेकात सम्मत है। किन्तु एकान्त नयसे जो ऐसा मानता है कि यह जीव भावकर्म रागद्वेपादि को जैसे करता है वैसे ही निश्चयसे द्रव्यकर्मों को भी करता है। इस प्रकार चेतन और अचेतन कार्यों का एक ही उपादान कारण है ऐसी द्विक्रियावादियो की मान्यता को दूपित वतलाते है—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरियावादित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ।।६१।।

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रियावादित्वं प्रसजति सम्यक् जिनावमतं ।।६१।।

अर्थ—पुद्गल कर्मों का कर्ता भी उपादान रूप से आत्मा ही है और भोक्ता भी आत्मा ही है, इस प्रकार की मान्यता का नाम द्विक्रियावाद है जो कि किसी भी प्रकार से जिन भगवान के मत से सम्मत नहीं हैं ॥९१॥

तात्पर्यवृत्तिः— जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा यदि चेत्पुद्गलकर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदेव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा **दोकिरियावादित्त पसजदि** तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्व प्रसजति प्राप्नोति। अथवा **दो किरियाविदिरित्तो पसजदि सो** तत्र पाठातरे द्वाभ्या चेतनाचेतनक्रियाभ्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्न प्रसजति प्राप्नोति स पुरुष । **सम्मं जिणवामद** तच्च व्याख्यान जिनाना सम्यगसमत । यश्चेद व्याख्यान मन्यते स निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूप निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रलक्षण शुद्धोपादानकारणोत्पन्न निश्चयसम्यक्त्वमलभमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति । अथ कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तर प्रयच्छन्नन्नमेवार्थ प्रकारान्तरेण दृढयति ।

टीका—(जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि त चेव वेदयदि आदा) यदि पुद्गल कर्मो का भी उपादान रूप से करने वाला और भोगने वाला—अनुभव करने वाला भी आत्मा ही है तब (दो किरियावादित्त पसजदि) चेतन और अचेतन इन दोनो क्रियाओ का एक उपादान कर्ता रूप से द्विक्रियावादीपने का प्रसग आता है अथवा पाठातर से (दो किरियावदिरित्तो पसजदि सो) इसका अर्थ ऐसा होता है कि चेतन क्रिया और अचेतन क्रिया इन दोनो से आत्मा अभिन्न ठहरता है। (सम्म जिणावमद) यह व्याख्यान जिन भगवान के द्वारा सम्मत नही है (प्रत्युत जिन भगवान द्वारा इसका निराकरण किया गया है)। किन्तु जो उपर्युक्त द्विक्रियावादी के व्याख्यान को मानता है वह जीव निश्चय सम्यक्त्व जो कि निज शुद्धात्मा में ही उपादेय रूप से रुचि स्वरूप है और विकार रहित चित् चमत्कार लक्षणवाला है एव शुद्ध उपादान रूप कारण से उत्पन्न है ऐसे निश्चय सम्यक्त्व को नही प्राप्त होता हुआ मिथ्यादृष्टि होता है ॥९१॥

द्विक्रियावादी जीव मिथ्यादृष्टि क्यो होता है प्रकारान्तर से इसको स्पष्ट करते हैं—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होंति ॥९२॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ॥९२॥

अर्थ—क्योंकि द्विक्रियावादी जन आत्मा के परिणाम और पुद्गल के परिणाम इन दोनो को आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसलिये द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होते हैं ॥९२॥

तात्पर्यवृत्ति—जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वति यस्मादात्मभाव चिद्रूप पुद्गलभाव चाचेतन जडस्वरूप द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वंति **तेण दु मिच्छादिठ्ठी दोकिरियावादिणो हुंति** ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रियाद्वयवादिन पुरुषा मिथ्यादृष्टयो भवतीति । तथाहि—यथा कुम्भकार स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यद्युपादानरूपेण करोति तदा कुम्भकारस्याचेतनत्व घटरूपत्व प्राप्नोति । घटस्य वा चेतनकुम्भकाररूपत्व प्राप्नोतीति । तथा जीवोपि यद्युपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्यत्व प्राप्नोति । पुद्गलकर्मणो वा चिद्रूप जीवत्व प्राप्नोति । किं च शुभाशुभ कर्म कुर्वेहमिति महाहकाररूप तमो मिथ्याज्ञानिना न नश्यति तर्हि केषा नश्यतीति चेत् विषयसुखानुभवानदवर्जिते वीतरागस्वसवेदनवेद्ये भूतार्थनयेनैकत्वव्यवस्थापिते चिदानदैकस्वभावे शुद्धपरमात्मद्रव्ये स्थितनामेव समस्तशुभाशुभपरभावशून्येन निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनावलेन

मज्ञानिनामेव विलय विनाश गच्छति । तस्मिन्महाहकारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि वधो न भवतीति ज्ञात्वा वहिर्द्रव्य-विषये इद करोमि इद न करोमीति दुराग्रह त्यक्त्वा रागादिविकल्पजालशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानदैकस्वभावेन भरिता-वस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरतर भावना कर्त्तव्येति भावार्थ । इति द्विक्रियावादिसक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाद्वय गत । अथ तस्यैव विशेषव्याख्यान करोति ।

टीका—(जम्हा दु अत्तभाव पुग्गलभाव च दोवि कुव्वति) जवकि आत्मा के भाव चेतनपन को और पुद्गल के भाव अचेतनपन रूपादिस्वरूप जडभाव को इन दोनो को आत्मा ही उपादानरूप से करने वाला एक ही है (तेरा दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होंति) ऐसा मानता है वह चेतन और अचेतन क्रियाओ का एक आधार मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे कुम्हार अपने ही आत्मभाव को उपादान रूप से करता है वैसे ही उपादान रूप से घडे का भी करनेवाला मान लिया जाय तव कुम्हार को घटपना या अचेतनपना प्राप्त हो जायगा अथवा घडे को चेतनपना कुम्हारपना प्राप्त हो जायगा । इसी प्रकार जीव भी यदि उपादान रूप से कर्मो का कर्ता हो जाय तो जीव को अचेतन पुद्गलद्रव्यपना प्राप्त हो जायगा अथवा पुद्गल कर्म को जीवपना व चेतनपना मानना पडेगा । प्रयोजन यह है कि शुभ और अशुभ कर्मों का करने वाला मैं ही हूँ इस प्रकार का अहकार रूप अन्धकार अज्ञानियो का नष्ट नही होता । तव किनका नष्ट होता है ? सो सुनो, जो जीव पचेन्द्रिय विषयसुख के अनुभवरूप आनन्द से रहित किन्तु वीतराग स्वसवेदन के द्वारा अनुभव करने योग्य तथा निश्चयनय से अपने एक स्वरूप मे लवलीन चिदानदमई एक स्वभावमय शुद्ध परमात्म द्रव्य मे तिष्टे हुए है उन्ही सम्यग्ज्ञानियो का वह अज्ञान अन्धकार या अहकार रूप भाव दूर होता है जो कि समस्त प्रकार के शुभा-शुभभावो से शून्य और निर्विकल्प समाधि लक्षण वाले एव शुद्धोपयोग की भावना के वलवाले होते हैं उनके निर्मल भाव के द्वारा वह नष्ट होता है । उस अज्ञानरूप या अहकाररूप विकल्प जाल के नष्ट होजाने पर फिर कर्म का नया वध भी नही होता है । ऐसा जानकर इन दृश्यमान वाह्य द्रव्यो के सबंध मे मैं करता हू मैं नही करता हूँ इस प्रकार के दुराग्रह को छोडकर रागादि विकल्प जालो से सर्वथा रहित किन्तु पूर्ण कलश के समान चिदानदरूप शुद्धभाव से परिपूर्ण अपने परमात्म द्रव्य मे (ज्ञानियो को) निरन्तर भावना करनी चाहिये ॥९२॥

इस प्रकार द्विक्रियावादी का सक्षेप से व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाए पूर्ण हुई ।

अव उसी द्विक्रियावादि का विशेष व्याख्यान करते हैं—

पोग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥९३॥

पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावं ।
पुद्गलकर्म निमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं ॥९३॥

अर्थ—जैसे यह आत्मा पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मके उदयके निमित्त से होनेवाले अपने भावो को करता है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्मके निमित्त से होनेवाले अपने भावो को भोगता भी है ॥९३॥

तात्पर्यवृत्ति.—**पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं** उदयागत द्रव्यकर्मनिमित्त कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वसवित्तिपरिणामशून्य सन्करोत्यात्मन सवधिन सुखदु खदिभाव परिणाम **पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भाव** तथैवोदयागतद्रव्यकर्मनिमित्त लब्ध्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवास्तवसुखास्वादमवेदयन्सन् तमेव

कर्मोदयजनितस्वकीयरागादिभाव वेदयत्यनुभवति । न च द्रव्यकर्म रूपपरभावमित्यभिप्राय । अथ चिद्रूपानात्मभावनात्मा करोति तथैवाचिद्रपान् द्रव्यकर्मादिपरभावान् पर पुद्गल करोतीत्याख्याति ।

टीका —(पोग्गलकम्मणिमित्त जह आदा कुणदि अप्पणोभाव) उदयमे आये हुए द्रव्य कर्मोंका निमित्त पाकर निर्विकार स्वसवेदन परिणामसे रहित होता हुआ यह आत्मा सुख दु खादि रूप अपने भावोको करता है, (पोग्गलकम्मनिमित्त तह वेददि अप्पणो भाव) उसी प्रकार उदयमे आये हुए द्रव्यकर्म के निमित्त को पाकर अपने स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वास्तविक सुख उसका आस्वाद नही लेता हुआ उसी कर्म उदय जनित अपने रागादि भावो को सवेदन करनेवाला या अनुभवन करने वाला भी होता है । किन्तु द्रव्य कर्मरूप जो परभाव है उसका कर्त्ता आत्मा नही होता ऐसा समझना चाहिये ॥९३॥

अब यह बतलाते हैं कि चेतनरूप आत्मभावो का कर्त्ता आत्मा होता है उसी प्रकार अचेतन रूप द्रव्य कर्मादिमय पर भावो का कर्त्ता पुद्गल होता है —

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा ॥९४॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं ।
अविरतियोगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥ ९४ ॥

अर्थ — मिथ्यात्वभाव दो प्रकार का है । एक जीव मिथ्यात्व दूसरा अजीव मिथ्यात्व । उसी प्रकार अज्ञान, अविरति मोह और क्रोधादिक कपायभाव ये सब भी जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार होते हैं ॥ ९४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं मिथ्यात्व पुनर्द्विविध जीवस्वभावमजीवस्वभाव च **तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा** तथैव चाज्ञानमविरतिर्योगो मोह क्रोधादयोऽमीभावा पर्याया जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवति मयूरमुकुरदवत् । तद्यथा—यथा मय रेण भाव्यमाना अनुभूयमानानीलपीताद्या-कारविशेषा मयूरशरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव । तथा निर्मलात्मानुभूतिच्युतजीवेन भाव्यमाना अनुभूयमाना सुखदु खादिविकल्पा जीव एवाशुद्धनिश्चयेन चेतना एव । यथा च मुकुरदेन स्वच्छतारूपेण भाव्यमाना प्रकाशमानमुख-प्रतिबिंबादिविकारा मुकुरद एव अचेतना एव तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणा ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मपर्याया पुद्गल एव अचेतना एवेति । अथ कतिविधौ जीवाजीवाविति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह ।

टीका —(मिच्छत्त पुण दुविह जीवमजीव) जीव स्वभाव और अजीव स्वभाव के भेद से मिथ्यात्व दो प्रकार का है (तहेव अण्णाण अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा) उसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि ये सब ही भाव अर्थात् पर्याय मयूर और दर्पण के समान जीव स्वरूप और अजीवस्वरूप भी होते है । जैसे मयूर और दर्पण मे मयूर के द्वारा पैदा किये हुए अनुभव मे आने वाले नील पीतादि आकार विशेष जो कि मयूर के शरीर के आकार परिणत हो रहे है वे मयूर ही हैं चेतनमय हैं, वैसे ही निर्मल आत्मानुभूति से च्युत हुए जीव के द्वारा उत्पन्न किये हुए अनुभव मे आने वाले सुख दुखादि विकल्प रूप भाव है, वे अशुद्ध निश्चयनयसे जीवरूप ही है चेतनामय हैं । और जैसे स्वच्छतारूप दर्पण के द्वारा उत्पन्न किये हुए प्रकाशमान मुख का प्रतिबिम्ब आदि रूप विकार हैं वे सब दर्पणमयी हैं अतएव अचेतन ह उसी प्रकार उपादान भूत कर्म वर्गणारूप पुद्गल कर्म के द्वारा किये हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप पर्याय तो पुद्गलमय ही है अतएव अचेतन ही है ॥ ९४ ॥

विशेषार्थः— कर्म के उदय के निमित्त से जो विभाव भाव होते है वे चेतना के विकार होने से जीव रूप ही होते हैं किन्तु इन विकारी भावो के निमित्त से जो पुद्गल परमाणु मिथ्यात्व आदि कर्म रूप परिणमते हैं वे सव अजीव हैं ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार के होते हैं।

अव जीव और अजीव कितने प्रकार के हैं इसे वताते हैं —

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु ॥९५॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरति मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥९५॥

अर्थ —जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान कर्मवर्गणारूप हैं वे तो अजीव हैं किन्तु जो अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व उपयोगात्मक हैं वे जीव हैं ॥ ९५ ॥

तात्पर्यवृत्ति —**पुग्गलकम्म मिच्छ जोगो अविरदि अणाणमज्जीव** पुद्गलकर्मरूप मिथ्यात्व योगोऽविरतिरज्ञानमित्यजीव । **उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु** उपयोगरूपो भावरूप शुद्धात्मादितत्त्वभावविपये विपरीतपरिच्छत्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञान । निर्विकारस्वसवित्तिविपरीतात्रपरिणामविकारोऽविरति । विपरीतामिनिवेशोपयोगविकाररूप शुद्धजीवादिपदार्थविपये विपरीतश्रद्धान मिथ्यात्वमिति जीव जीव इति कोर्थ । जीवरूपा भावप्रत्यया इति । अथ शुद्धचैतन्यस्वभावजीवस्य कथ मिथ्यादर्शनादिविकारो जात इति चेत्।

टीका —(पोग्गलकम्म मिच्छ जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीव) पुद्गल कर्मरूप जो मिथ्यात्व योग, अविरति और अज्ञान है वह तो अजीव है किन्तु (उवओगो अण्णाण अविरदि मिच्छत्त जीवो दु) उपयोग रूप भाव जो कि शुद्धात्मादि तत्वो के विषयमे विपरीत जानकारीमय रूप विकार भाव है वह जीव का अज्ञान भाव है और निर्विकार स्वसवेदनसे विपरीतात्मकरूप अविरतिरूप विकारी परिणाम है वह जीवका अविरति भाव है, और शुद्ध जीवादि पदार्थके विषयमे विपरीत अभिप्राय लिये हुए उपयोगात्मक विकारमय विपरीत श्रद्धानरूप भाव है वह जीवका मिथ्यात्व भाव है। अर्थात् ये सव जीवके विकार रूप परिणाम हैं ॥९५॥

अव जो जीव शुद्ध चैतन्य स्वभाववाला है उसमे मिथ्यादर्शन आदि विकारी भाव कैसे उत्पन्न हुए सो वतलाते हैं —

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स
मिच्छंत अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो ॥९६॥

उपयोगस्थानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरति भावश्चेति ज्ञातव्य ॥९६॥

अर्थ—अनादिकाल मे ही मोह सहित उपयोगवान आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, और अविरति ये तीनो भाव भी अनादिसे ही चले आ रहे हैं ऐसा जानना चाहिये ॥९६॥

तात्पर्यवृत्तिः—**उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि** उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तस्य सवचित्वेनादिमनानापेक्षया त्रय परिणामा ज्ञातव्या । कथभूतस्य तस्य **मोहजुत्तस्स** मोहयुक्तस्य । के ते परिणामा । **मिच्छत्तं अण्णाण अविरदिभावो य णादव्वो** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति । तथाहि—यद्यपि शुद्धनिश्चय-

नयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्तथाप्यनादिमोहनीयादिकर्मबंधवशान्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रय परिणामविकारा संभवति। तत्र शुद्धजीवस्वरूपमुपादेय मिथ्यात्वादिविकारपरिणामा हेया इति भावार्थ । अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वमुपदिशति।

टीका —(उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स) उपयोग लक्षणवाला होनेसे यहा पर उपयोग शब्दसे आत्मा को लिया गया है। एव जो आत्मा मोह से युक्त है उसके सतान परम्परासे ये तीन परिणाम अनादिसे चले आ रहे हैं (मिच्छत्त अण्णाण अविरदि भावो य णादव्वो) वे परिणाम मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति भाव हैं ऐसा जानना चाहिये। इसीको स्पष्टतया समझाते है कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नयसे यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है तथापि अनादिकालीन मोहनीय आदि कर्मबध के वशसे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप तीन विकारी परिणाम जीव के हो रहे हैं, वहा पर शुद्ध जीव का स्वरूप तो उपादेय है अर्थात् प्राप्त करने योग्य है और मिथ्यात्वादि विकारी भाव छोडने योग्य है ऐसा तात्पर्य है।

अब आत्माके उपर्युक्त तीन विकारी परिणामो का कर्तापन है ऐसा वतलाते हैं—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९७॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्त्ता ॥९७॥

अर्थ.—यद्यपि शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा का उपयोग शुद्ध है, निर्विकार है तो भी अनादिकाल से इन उपर्युक्त तीन भावरूप परिणामो मे से आत्मा जिस भाव को करता है उसका उस समय कर्त्ता होता है ॥९७॥

तात्पर्यवृत्तिः—**एदेसु य** एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेषूदयागतेषु निमित्तभूतेषुसत्सु **उवओगो** ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा **तिविहो** कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवत्त्रिविधो भवति। परमार्थेन तु **सुद्धो** शुद्धो रागादिभावकर्मरहित **णिरंजणो** निरजनो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माजनरहित । पुनश्च कथभूत **भावो** भावपदार्थ । अखडैकप्रतिभासमयज्ञानस्वभावेनैकविधोपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा **ज सो करेदि भावं** परिणाम करोति स आत्मा **उवओगो** चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तल्लक्षणत्वादुपयोगरूप. । **तस्स सो कत्ता** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणामच्युत सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविधविकारपरिणामस्य कर्त्ता भवति। न च द्रव्यकर्मण इति भाव । अथात्मनो मिथ्यात्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य स्वत एवोपादानरूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयति।

टीका—(एदेसुय) उदयागत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के होने पर उनके निमित्त से (उवओगो) यहा उपयोग शब्द से आत्मा ही लिया है। क्योकि ज्ञान दर्शनमय जो उपयोग है वह आत्मा से अभिन्न होते हुए उसका लक्षण स्वरूप है। आत्मा (तिविहो) जिस प्रकार कृष्ण, नील, पीत उपाधि के द्वारा स्फटिक कृष्ण, नील, पीतरूप हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी तीन प्रकार का हो रहा है। किन्तु वस्तुत तो वह (सुद्धो) रागादि भाव कर्मों से रहित शुद्ध है, (णिरजणो) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूपी अ जन से रहित है। (भावो) वह आत्म पदार्थ एक अखड प्रतिभासरूप होने वाला ज्ञान स्वभावमय होने के कारण एक प्रकार का होने पर भी पूर्व कथित मिथ्यादर्शन, मिथ्या-

ज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम विकार से तीन प्रकार का होकर (जं सो करेदि भाव) उनमे से जिस किसी परिणाम को करताहै, वह (उवओगो) चैतन्य परिणमन रूप उपयोग का धारक आत्मा (तस्स सो कत्ता) निर्विकार स्वसवेदन ज्ञानरूप परिणाम से च्युत होता हुआ उसी मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के विकारी परिणाम का कर्त्ता होता है, किन्तु द्रव्यकर्म का कर्त्ता नही होता ।।९७।।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहा पर बतलाया है कि आत्मा जब परमार्थ रूप होता है अर्थात् समाधिस्थ होता है तव वह रागादि भावो से रहित व नवीन ज्ञानवरणादि कर्म के बध से भी रहित होता है। किन्तु समाधि से च्युत होने की दशा मे उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणामो मे से जिस किसी परिणाम को करता है उसी परिणाम का कर्ता रहता है। समाधि दशा में ज्ञान का कर्त्ता होकर ज्ञानी होता है पर समाधि से च्युत अवस्था मे इससे विपरीत हो जाता है।

अब आत्मा के मिथ्यादर्शनादि रूप तीन प्रकार विकारमय परिणाम का कर्तापना होने पर कर्म वर्गणा योग्य जो पुद्गल द्रव्य है वह अपने आप ही उपादान रूप से कर्म के रूप मे परिणत हो जाता है ऐसा कथन करते हैं:—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ।।९८।।

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ।।९८।।

अर्थ—(१) विपरीताभिनिवेश रूप मिथ्यात्व (२) कलुपतारूप अज्ञान (३) और पर पदार्थो मे प्रवृत्तिरूप अविरति इन तीन प्रकार के भावो मे से आत्मा जिस भाव को करता है तब उसी भाव का कर्त्ता होता है। किन्तु उसके इस प्रकार विकारी होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्म रूप मे परिणमन कर जाता है ।।९८।।

तात्पर्यवृत्ति— **ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स** य भाव मिथ्यात्वादिविकारपरिणाम शुद्धस्वभावच्युत. सन् आत्मा करोति तस्य भावस्य स कर्त्ता भवति **कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सय पुग्गलं दव्वं** तस्मिन्नेव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वयमेवोपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति। गारुडादिमत्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशातरे-स्वयमेव तत्पुरुषव्यापारमतरेणापि विषापहारवधविध्वसस्त्रीविडवनादि-परिणामवत्। तथैव च मिथ्यात्वरागादिविभावविनाशकाले निश्चयरत्नत्रयस्वरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमत्र-सामर्थ्येन निर्वीजविषवत्। स्वयमेव नीरसीभूय पूर्ववद्ध द्रव्यकर्म जीवात्पृथग्भूत्वा निर्जरा गच्छतीति भावार्थ । एव स्वतत्रव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्क गत। अथ निश्चयेन वीतरागस्वसवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञान भण्यते। तस्मादज्ञाना-देव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह।

टीका—(ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स) जब यह आत्मा शुद्ध स्वभाव से च्युत होता है उस समय मिथ्यात्व आदि तीन प्रकार के विकारी परिणामो मे से जिस विकाररूप परिणाम को करता है उस समय वह उसी विकारी भाव का कर्त्ता होजाता है। (कम्मत्त परिणमदे तम्हि सय पोग्गल दव्व) और जव यह आत्मा उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणाम का कर्त्ता होता है तव कर्म वर्गणा योग्य जो पुद्गलद्रव्य वह अपने आप उपादान रूप से द्रव्य कर्म रूप मे परिणमन कर जाता है। जैसे गारुड आदि मत्र को सिद्ध करने वाला पुरुष एकाग्रचित्त होकर उस मत्र को सिद्ध करता है तव उसके सिद्ध हो जाने पर विषापहार, वध विध्वस या स्त्री विडवना आदि जिस उद्देश्य को लेकर वह उस मत्र

को सिद्ध कर रहा था वह कार्य देशातर मे उस मत्र साधक के अन्य किसी प्रकार के व्यापार के बिना सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव के विनाश के काल मे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग परिणाम के होने पर पूर्ववद्ध द्रव्यकर्म नीरस होकर अपने आप जीव से पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जाते हैं। जैसे कि गारुडी मत्र के सामर्थ्य से विष निर्विषरूप मे परिणत हो जाता है। ऐसा इस गाथा का भावार्थ है ॥ ९८ ॥

विशेषार्थ.— उपर्युक्त गाथा मे जो 'स्वय' शब्द आया है, वह पुद्गल के कर्म रूप परिणमन करने के विपय मे जीव के विकारी परिणाम की साधकतमता वताने के लिए आया है। और इसीलिए टीकाकारने उसे मत्र साधक का दृष्टात देकर स्पष्ट वतलाया है कि कोई भी मत्र साधक जिस किसी उद्देश्य को लेकर मत्र जपता है तव उस मत्र के सिद्ध हो जाने मात्र से वह उसका अभीष्ट कार्य अनायास ही सम्पन्न हो जाता है वैसे ही जीव के रागीद्वेषी होने पर कर्मवर्गणाये अवश्यमेव कर्मरूप मे परिणत होकर उसके साथ वध जाती हैं। इस प्रकार कर्मवर्गणाओ के कर्मरूप परिणमन करने मे जीव का विकारी भाव साधकतम है। हा, जीव का विकारी भाव भी पूर्वकृत कर्म के उदय से होता है, कर्मों के उदय के विना जीव का भाव विकाररूप नही होता है। किन्तु कर्म का उदय होने पर भी समाधि मे परिणत जीव का भाव विकार रूप नही होता अपितु समाधि विपरिणत जीव का भाव कर्मोदय के निमित्त से विकार रुप होता है। इस प्रकार जीव को विकारी वनाने मे कर्म उदासीन निमित्त है किन्तु जीव का विकारी भाव पुद्गल को कर्म रूप करने मे असाधारण निमित्त है।

इस प्रकार स्वतत्र व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथायें पूर्ण हुई।

आगे आचार्यदेव यह वतलाते हैं कि वास्तव मे वीतराग स्वसवेदन ज्ञान का न होना ही अज्ञान नाम से कहा गया है और उस अज्ञान से ही नूतन कर्म वधते हैं—

परमप्पाणं कुव्वदि अप्पाणं पि य परं करंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९९॥

परमात्मानं करोति आत्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥९९॥

अर्थ—अज्ञानमय यह ससारी जीव पर को अपनाता है और अपने आपको परका वनाता है अत यह कर्मों का कर्ता होता है ॥९९॥

तात्पर्यवृत्ति —परं परद्रव्य भावकर्मद्रव्यकर्मरूप **अप्पाणं कुव्वदि** परद्रव्यात्मनोर्भेदज्ञानाभावादात्मान करोति **अप्पाण पि य पर करंतो** शुद्धात्मान च पर करोति य **सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि** स चाज्ञानमयो जीव कर्मणा कर्ता भवति। तद्यथा—यथा कोपि पुरुप शीतोष्णरूपाया पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथा-विधशीतोष्णानुभवस्य चैकत्वाभ्यासाद्भेदमजानन् शीतोहमुष्णोहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणते कर्ता भवति। तथा जीवोपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नाया उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदु खानुभवस्य चैकत्वाध्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनो समस्तरागादिविकल्परहितस्वसवेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नह सुखीदु खीति प्रकारेण परिणामत्कर्मणा कर्ता भवतीति भावार्थ। अथ वीतरागस्वसवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह।

टीका—(पर) भावकर्म रूप व द्रव्यकर्म रूप पर द्रव्य को (अप्पाण कुव्वदि) पर द्रव्य और आत्मा के परस्पर का भेदज्ञान न होने के कारण आपरूप किये हुए रहता है। (अप्पाण पि य पर करतो) तथा अपनी शुद्धात्मा को भी पररूप (विकारी) करता है (सो अण्णाणमओ जीवो कम्माण कारगो होदि) वह अज्ञानी जीव नूतन कर्मों का करने वाला अर्थात् बाधने वाला होता है। जैसे कोई पुरुष शीत या उष्ण पुद्गलो के परिणामो की अवस्था मे और उसी प्रकार शीतोष्ण रूप अनुभव मे जो भेद है उसको एकता के अभ्यास के कारण नही जानता हुआ "मैं शीतरूप हूँ या उष्णरूप हू (मुझे ठड लगती है या गर्मी लगती है) इस प्रकार शीतोष्ण रूप परिणति का कर्ता वन जाता है, वैसे ही यह ससारी जीव भी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न जो उदयागत पुद्गल कर्म की अवस्था और उसके निमित्त से होने वाले सुख दुख रूप अनुभव मे एकता का आरोप कर लेने से उसको समस्त प्रकार के रागादि विकल्प से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के न होने पर परद्रव्य मे और आत्मा मे जो भेद है उसे नही जानता है। इसलिये मैं सुखी हूँ, मैं दु.खी हू इस प्रकार से परिणमन करता हुआ कर्मो का कर्त्ता वनता है ॥९९॥

आगे कहते हैं कि वीतराग स्वसवेदनज्ञान के प्रभाव से कर्मों का वध नही होता.—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥१००॥

परमात्मनमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥१००॥

अर्थ—जो जीव किसी प्रकार भी परको अपने रूप और अपने आप को पररूप नही करता वह जीव ज्ञानी होता है वह नूतन कर्मो का करने वाला नही होता ॥१००॥

तात्पर्यवृत्ति—परं पर परद्रव्य वहिर्विपये देहादिकमभ्यतरे रागादिक भावकर्मद्रव्यकर्मरूप वा **अप्पाणमकुव्वी** भेदविज्ञानवलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसवधमकुर्वन् **अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो** शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभाव निजात्मान च परमकुर्वन् **सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि** स निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी जीव कर्मणामकर्ता भवतीति। तथाहि—यथा कश्चित् पुरुप शीतोष्णरूपाया पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चात्मन सकाशाद्भेदज्ञानात् शीतोहमुष्णोहमिति परिणते कर्ता न भवति। तथा जीवोपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नाया पुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदु खानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखानुभवभिन्नस्य भेदज्ञानाभ्यासात्परात्मनोर्भेदज्ञाने सति रागद्वेपमोहपरिणाममकुर्वाण कर्मणा कर्ता न भवति। तत स्थित ज्ञानात्कर्म न प्रभवतीत्यभिप्राय। अथ कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह।

टीका—(पर) वाह्य मे देहादिक और अभ्यन्तर में रागादिक रूप जो परद्रव्य हैं अथवा द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप जो पर द्रव्य हैं उनको (अप्पाणमकुव्वी) अपने भेद विज्ञान के वल से नही अपनाता है—उनसे किसी भी प्रकार का सवध नही रखता है (अप्पाण पि य पर अकुव्वतो) और शुद्ध द्रव्य, गुण, और पर्याय स्वरूप आत्मा को पर रूप (विकारी) नही करता है, (सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि) निर्मल आत्मा की अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे भेद विज्ञानवाला जीव कर्मों का उत्पन्न करने वाला नही होता। जैसे कोई पुरुप शीत उष्ण रूप पुद्गल परिणामकी अवस्था का तथा उससे होने वाले शीतोष्ण रूप अनुभव का और आत्मा का भेदज्ञान रखने के कारण से मैं शीतरूप हूँ या उष्णरूप हू इस

परिणति का कर्त्ता नही होता है। वैसे ही निज शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न स्वरूप जो पुद्गल परिणाम की अवस्था तथा उसके निमित्त से होने वाले सुख या दुःख के अनुभव का और अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख के अनुभव का भेद ज्ञान का अभ्यास रखने के कारण पर और आत्मा का भेद ज्ञान होने पर रागद्वेष मोहरूप परिणाम को नही करता है वह (नूतन) कर्मों का कर्त्ता नही होता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान से कर्मों का वध नही होता है।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने ९९ न की गाथा मे अज्ञानी जीव और इस गाथा मे ज्ञानी जीवका स्वरूप वताते हुए कहा है कि जो कोई आत्मा के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ से सबध रखते हुए सकल्प विकल्प रूप परिणाम का धारक होता है वह नूतन कर्म का वध करने वाला अज्ञानी जीव कहलाता है किन्तु जो बाह्य पदार्थ के विपय मे किसी भी प्रकार के सकल्प विकल्प से रहित होकर अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप समाधि मे लग जाता है वह ज्ञानी जीव कहलाता है जो कि नूतन कर्म वन्ध करने वाला नही होता है।

अव अज्ञान से ही नूतन कर्मों का वध क्यो होता है इसका उत्तर देते हैं।—

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि कोधोहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०१॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति क्रोधोहं।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥१०१॥

अर्थ—पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति रूप विकार भाव को धारण करने वाला आत्मा ऐसा असत्य विकल्प करता है कि मैं क्रोध स्वरूप हू इत्यादि, उस समय वह अपने उस भाव रूप उपयोग का करने वाला होता है। १०१॥

तात्पर्यवृत्तिः—तिविहो एसुवओगो त्रिविधस्त्रिप्रकार एप प्रत्यक्षीभूत उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा **अस्सवियप्पं करेदि** स्वस्थभावस्याभावादसद्विकल्प मिथ्याविकल्प करोति। केन रूपेण **कोधोहं** क्रोधोहमित्यादि **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो** स जीव तस्य क्रोधाद्युपयोगस्य विकल्पस्य कर्ता भवति। कथभूतस्य **अत्तभावस्स** आत्मभावस्याशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामस्येति। तथाहि—सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधो भूत्वा एप उपयोग आत्मा क्रोधाद्यात्मनोर्भाव्यभावकभावापन्नयो। भाव्यभावकभावापन्नयो कोर्थ ? भाव्य क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रजकश्चातरात्मभावनाविलक्षणो भावक्रोध इत्थभूतयोर्द्वयोर्भेदज्ञानाभावादभेद मजानन्निर्विकल्पस्वरूपाद् भ्रष्ट सन् क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवतीति भावार्थ। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्त्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि पोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणाविक्षिप्तचित्तस्वभावशुद्धात्मतत्वविलक्षणा असख्येयलोकमात्रप्रमिता विभावपरिणामा ज्ञातव्या इति। अथ —

टीका-(तिविहो एसुवओगो) उपर्युक्त मिथ्यादर्शन आदि रूप तीन प्रकार का उपयोग है लक्षण जिसका ऐसी आत्मा (अस्सवियप्प करेदि) स्वस्थभाव के न होने के कारण असत् मिथ्या विकल्प करता है कि (कोहोह) मैं क्रोध रूप हूँ इत्यादि (कत्ता तस्सुव ओगस्स होदि सो) तब उस समय वह जीव क्रोधादि विकल्प रूप उपयोग का कर्त्ता होता है। वह उपयोग कैसा है कि (अत्तभावस्स) अशुद्ध निश्चय नय से वह उस जीव का अपना ही परिणाम है। स्पष्ट यह है कि सामान्य रूप मे जिसे अज्ञान नाम से

कहा जाता है ऐसा एक प्रकार का उपयोग भी विशेष विवक्षा मे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्र रूप से तीन प्रकार का होता है वह अपने को और क्रोधादि भावो को भाव्य भावक भाव से प्राप्त करता है। भाव्य भावक को प्राप्त करता है इसका क्या अर्थ है? इन दोनो मे भाव्य शब्द से क्रोधादि परिणत आत्मा और भावक शब्द से अन्तरात्मपन से विलक्षण रूप जो भाव क्रोध है उसको लेना। इस प्रकार इन दोनो मे जो भेद है उस भेदज्ञान के न होने से अर्थात् उस भेदज्ञान को नही जानता हुआ निर्विकल्प स्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ (ससारी आत्मा) मैं क्रोध हूँ इत्यादि रूप से अपने आपमे विकल्प उत्पन्न करता है, उस समय वह अशुद्ध निश्चयनय से उसी क्रोधादि रूप अपने आत्म परिणाम का करने वाला होता है।

इस गाथा मे जो क्रोध शब्द आया है उसके स्थान मे मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कम, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इनको भी क्रम से लगाकर उसी प्रकार का व्याख्यान करना। इसी प्रकार से अविक्षिप्त (अशात) चित्त स्वभाव वाला जो शुद्ध आत्म तत्व से विलक्षण ऐसे असख्यात लोक प्रमाण विभाव भाव होते हैं उनको लगा लेना।

विशेषार्थ–यहा आचार्यदेव क्रोधादि सभी प्रकार के विकारी भावो को विकल्प कारक वताकर कर्म वध करने वाला वता रहे हैं। और जो कर्म वध करने से दूर रहना चाहता है उसे इन सभी विकल्पो से दूर रहने की शिक्षा दे रहे हैं। क्योकि इन सवसे दूर होने पर ही वह नूतन वंधकारकपने से रहित होकर ज्ञानी कहलाने का अधिकारी है।

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०२॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति धर्मादिकं।
कर्त्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥१०२॥

अर्थ—उपर्युक्त मिथ्यात्वादि रूप तीन प्रकार के विकारी परिणामवाला आत्मा, जिनके साथ मे केवल मात्र ज्ञेय ज्ञायक रूप सवव है ऐसे धर्मादिक द्रव्यो के विषयो मे भी, अपनेपन का (मिथ्या) विकल्प करता है, उस समय वह उस विकल्प रूप आत्मभाव का कर्त्ता होता है ॥१०२॥

तात्पर्यवृत्तिः–तिविहो एसुवओगो सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविध सन्नेष उपयोग आत्मा **अस्सवियप्प करेदि धम्मादी** परद्रव्यात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मनोऽसद्विकल्परूपमुत्पादयति **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स** निर्मलात्मानुभूतिरहितस्वस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीवपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवति। ननु धर्मास्तिकायोहमित्यादि कोपि न ब्रूते तत्कथ घटत इति? अत्र परिहारः। धर्मास्तिकायोयमिति योसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते। यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञान घट इति। तथा तद्धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्प यदा ज्ञेयतत्वविचारकाले करोति जीव तदा शुद्धात्मास्वरूप विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थं। तत स्थित शुद्धात्मसवित्तेरभावरूपमज्ञान कर्मकर्तृत्वस्य कारण भवति।

टीका— (तिविहो एसुवओगो) सामान्यतया अज्ञान नाम से कहा जाने वाला एक प्रकार का विकारी भाव भी विशेष अपेक्षा मे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्ररूप तीन प्रकार का हो जाता है,

ऐसे उस विकारी परिणाम वाला आत्मा (अप्प वियप्प करेदि धम्मादी) जिन धर्मादि पर द्रव्यो के साथ मे आत्मा का ज्ञेय ज्ञायक मात्र सबध है उनके भी विशेष को न जानने से, न देखने से और न विशेषरूप परिणमन करने से प्राप्त हुए भेद ज्ञान के अभाव के कारण भेद को नही जानता हुआ यह छद्मस्थ आत्मा 'मैं धर्मास्तिकाय हूं' इस प्रकार का व्यर्थ का विकल्प करता है (कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स) उस समय वह अशुद्ध निश्चयनय से उस निर्मल आत्मानुभूति से रहित होने वाले मिथ्या विकल्परूप अपने परिणाम का कर्ता होता है। यहा ऐसी शका हो सकती है कि 'मैं धर्मास्तिकाय हू' ऐसा कोई नही कहता तव ऐसा कहना कैसे घटित हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि यह धर्मास्तिकाय है, ऐसा ज्ञानरूप जो विकल्प मन मे उठता है उसको ही उपचार से यहा धर्मास्तिकाय कहा गया है। जैसे कि घटाकर परिणत ज्ञान को घट कहा जाता है एव जव ज्ञेय तत्व के विचार काल मे यह जीव 'यह धर्मास्तिकाय है' इस प्रकार का विकल्प करता है उस समय शुद्धात्म स्वरूप को विस्मरण कर देता है। इस प्रकार से इस विकल्प के उत्पन्न होने पर 'मै धर्मास्तिकाय हू' ऐसा विकल्प उपचार से घटित हो जाता है। सव वर्णन से यह वात सिद्ध हुई कि शुद्धात्मा के अनुभव का न होना ही अज्ञान है और वह अज्ञान ही कर्ता कर्म भाव का कारण होता है ।। १०२ ।।

विशेषार्थ—आचार्य महाराज का कहना है कि छद्मस्थ आत्मा जिस प्रकार इन दृश्यमान पदार्थों मे इष्ट अनिष्ट कल्पना करते हुए क्रोधादिरूप विकल्प उत्पन्न करता है उसी प्रकार धर्मादिरूप ज्ञेय पदार्थों मे भी 'यह धर्मास्तिकाय है' जो मेरे चलने मे सहायक होता है इस प्रकार का विकल्प लेकर उसको जानने के समय शुद्धात्मा के अनुभव से च्युत होता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि से च्युत होता है और विकल्प कारक वनकर नूतन कर्म का बंध करने वाला होता है।

एवं पराणिदव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ।। १०३ ।।

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ।। १०३ ।।

अर्थ — इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने अज्ञान भाव से पर पदार्थों को अपना करता है और इसी प्रकार अपने आप को पररूप कर लेता है ।। १०३ ।।

तात्पर्यवृत्ति—**एवं** एव पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण **पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि** क्रोधोहमित्यादिव-द्धर्मास्तिकायोहमित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादिज्ञेयरूपाणि च परद्रव्याणि आत्मान करोति । स क. कर्ता **मंदबुद्धीओ** मदबुद्धिर्निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहित **अप्पाणं अवि य परं करेदि** शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च पर स्वस्वरूपाद्भिन्न करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थ । केन **अण्णाणभावेण** अज्ञान-भावेनेति । तत. स्थित क्रोधादिविपये भूताविष्टदृष्टातेन धर्मादिज्ञेयविपये ध्यानाविष्टदृष्टातेनैव शुद्धात्मसवित्यभाव-रूपमज्ञान कर्मकर्तृत्वस्य कारण भवति । तद्यथा—यथा कोपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्भेदमजानन् सन्नमानु-षोचितशिलास्तभचालनादिकमद्भुतव्यापार कुर्वन्सन् तस्य व्यापारस्य कर्ता भवति । तथा जीवोपि वीतरागपरमसामा-यिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्कामक्रोधादिशुद्धात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन् क्रोधोह कामोहमित्यादिविकल्पं कुर्वन्सन् कर्मण. कर्ता भवति । एव क्रोधादिविपये भूताविष्टदृष्टातो गत । तथैव च यथा कश्चिद् महामहिषादि-

ध्यानाविष्टो महिषाद्यात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन्महामहिषोहं गरुडोहं कामदेवोहमग्निरहं दुग्धधारासमानामृतराशिरहमित्याद्यात्मविकल्पं कुर्वाण सन् तस्य विकल्पस्य कर्ता भवति। तथा च जीवोपि सुखदु खादिसमताभावनापरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मविकल्प करोति, तस्यैव विकल्पस्य कर्ता भवति। तस्मिन् विकल्पकर्तृत्वे सति द्रव्यकर्मबंधो भवतीति। एव धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये ध्यानदृष्टांतो गत । हे भगवन् ! धर्मास्तिकायोय जीवोयमित्यादिज्ञेयतत्त्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबंधो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्वविचारो वृथेति न कर्तव्य नैव वक्तव्य। त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा आगमभाषया तु मोक्षमुपादेय कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवचनार्थं कर्तव्य'। तेन तत्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबंधो भवति परपरया निर्वाण च भवतीति नास्ति दोप किंतु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसवेदनज्ञानपरिणत शुद्धात्मा साक्षादुपादेय कर्तव्य इति ज्ञातव्य। ननु वीतरागस्वसवेदनविचारकाले वीतरागविशेषण किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भि, किं सरागमपि स्वसवेदनज्ञानमस्तीति ? अत्रोत्तर। विपयसुखानुभवानदरूप स्वसवेदनज्ञान सर्वजनप्रसिद्ध सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखादिभूतिरूप स्वसवेदनज्ञान वीतरागमिति। इद व्याख्यान स्वसवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थ । तत स्थितमेतत् शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानान्नश्यति कर्मकर्तृत्व।

टीका:—(एव) जैसा कि पहले दो गाथाओ मे कहा जा चुका है उस प्रकार से (पराणि दव्वाणि अप्पय कुणदि) मैं क्रोध हूँ इत्यादि, अथवा मैं धर्मास्तिकाय हूँ इत्यादि, क्रोधादिक अपने परिणामरूप अथवा धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय रूप पर द्रव्य है उनको अपना लेता है। (मद बुद्धीओ) वह निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान से रहित मद बुद्धि जीव (अप्पाणं अवि य पर करेदि) शुद्ध बुद्ध स्वरूप एक स्वभाव वाले अपने आत्मा को भी पर बना देता है अर्थात् अपने स्वरूप से भ्रष्ट कर लेता है रागादिक सयुक्त कर लेता है (अण्णाणभावेण) अपने अज्ञान भाव से पराधीन होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भूताविष्ट दृष्टात के द्वारा जिस प्रकार क्रोधादिक के विषय मे उसी प्रकार ध्यानाविष्ट दृष्टात के द्वारा धर्मादि ज्ञेय पदार्थ के विषय मे जो इस जीव का अपने शुद्धात्मा के सवेदन से पृथक् भावरूप अज्ञान होता है वही कर्ता कर्म भाव का कारण होता है। जैसे किसी पुरुष के भूत आदि ग्रह लग गया हो तो वह भूत मे और अपने आप मे भेद को नही जानता हुआ मनुष्य से न करने योग्य ऐसी बडी भारी शिला उठाना आदि आश्चर्यजनक व्यापार को करता हुआ दीख पडता है उसी प्रकार यह जीव भी वीतरागमय परम सामायिक भाव में परिणत होने वाला शुद्धोपयोग है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के न होने से काम क्रोधादि भावो मे और शुद्धात्मा मे जो भेद है उसको न जानता हुआ "मैं क्रोध रूप हू, मैं काम रूप हू" इत्यादि विकल्पो को करता हुआ कर्मों का करने वाला बनता है। यह तो क्रोधादिक के विषय मे भूताविष्ट का दृष्टान्त हुआ। अथवा जैसे भैसा आदि का ध्यान करनेवाला जीव भैसा आदि मे और अपने आप मे भेद को नही जानता हुआ (उसे भुलाकर) मैं भैसा हू, मैं गारुड हूँ, मैं कामदेव हूँ, मैं अग्नि हूँ, या दूध की धारा के समान अमृत की राशि हूँ" इत्यादि आत्म विकल्पो को करता हुआ वह इन विकल्पो का करने वाला बनता है। वैसे ही छद्मस्थ जीव भी सुख दुखादि मे समता भावना को लिये हुए जो शुद्धोपयोग वही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के न होने से धर्मादिक ज्ञेय पदार्थो मे और अपने आप की शुद्धात्मा मे भेद है उसको नही जानता हुआ 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इत्यादि रूप आत्म विकल्प करता है तो वह उस विकल्प का कर्ता होता है, और उस विकल्प के करने पर उस जीव के नूतन द्रव्य कर्मों का बध भी अवश्य होता है। इस प्रकार धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थों में ध्यान का दृष्टान्त हुआ। इस पर यदि कोई ऐसा कहे कि 'हे भगवन् ! यह

धर्मास्तिकाय है, यह जीव है, इत्यादि ज्ञेय तत्व का विचार रूप विकल्प करने पर भी यदि कर्मो का वध होता है तो फिर ज्ञेय तत्वो का विचार करना वृथा है अत. वह नही करना चाहिये। इस पर आचार्य देव उत्तर देते हैं कि नही भाई! ऐसा नही है अपितु वात ऐसी है कि त्रिगुप्ति रूप निर्विकल्प समाधिकाल में तो ऐसा विकल्प नही करना चाहिये किन्तु उस त्रिगुप्ति रूप ध्यान के अभाव मे (अध्यात्म भाषा मे) शुद्धात्मा को ही उपादेय मान कर व आगम भाषा में मोक्ष को उपादेय मानकर सराग सम्यक्त्व के काल मे विषय कषायो से दूर होने के लिए ऐसा विकल्प करना ही चाहिये, क्योकि उस उपर्युक्त तत्व विचार के द्वारा मुख्यता से पुण्य वंध होता है और परपरा से निर्वाण लाभ होता है, इसलिये वैसा विचार करने मे कोई दोष नही है। हा, उस तत्व विचार के काल मे भी वीतराग स्वसवेदन ज्ञान परिणत साक्षात् शुद्धात्मा ही उपादेय होता है ऐसा समझना चाहिये। यहा कोई शका करे कि हे भगवन्! वीतराग स्व-सवेदन के विचार काल मे आपने जो वार २ वीतराग विशेषण दिया है वह क्यो देते आ रहे है, क्या कोई सराग स्वसवेदन ज्ञान भी होता है? इसके उत्तर मे आचार्य देव उत्तर देते हैं कि हा भाई! विषय सुखानुभव के आनन्द रूप स्वसवेदन ज्ञान होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है (अर्थात् यह सव लोगो के अनुभव मे आया करता है) वह सराग होता है किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रूप स्वसवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग होता है ऐसा स्वसवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल मे सव ही स्थान पर समझना चाहिये ॥१०३॥

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा सम्यग्ज्ञान हो जाने पर कर्ता कर्म भाव नष्ट हो जाता है यही आगे की गाथा मे वतलाते हैं:—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥१०४॥

एतेन तु स कर्त्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति स मुंचति सर्वकर्त्तृत्वं ॥१०४॥

अर्थ — निश्चयनय के जानने वालो ने उपर्युक्त प्रकार से आत्मा को कर्ता वतलाया है इस प्रकार जो दृढता से जान लेता है वह सव कर्तापन से दूर हो जाता है।

तात्पर्यवृत्ति — एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो एतेन पूर्वोक्तगाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स आत्मा कर्त्ता भणित। कैंर्निश्चयविद्भिर्निश्चयज्ञैः सर्वज्ञैः। तथाहि—वीतरागपरमसामायिकसयम-परिणताभेदरत्नत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथात्रयव्याख्यानप्रकारेणाज्ञानभावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्ता भवति। ततश्च द्रव्यकर्मवंधो भवति। यदा तु चिदानदैकस्वभावशुद्धात्मा-नुभूतिपरिणामेन परिणमति, तदा सम्यग्ज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता न भवति। तत्कर्तृत्वाभावेपि द्रव्यकर्मवंधोपि न भवति। **एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं** एव गाथापूर्वार्द्ध-व्याख्यानप्रकारेण मनसि योसौ वस्तुस्वरूप जानाति स सरागसम्यग्दृष्टि सन्नशुभकर्मकर्तृत्व मुचति। निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्व च मुचति। एवमज्ञानात्कर्म प्रभवति सज्ञानान्नश्यतीति स्थित। इत्यज्ञानिसज्ञानिजीवप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्क गतं। एव द्विक्रियावादिनिराकरणविशेष-व्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गता। अथ पुनरप्युपसहाररूपेणैकादशगाथापर्यंत द्विक्रियावादिनिराकरणविषये विशेष-व्याख्यान करोति। तद्यथा—परभावानात्मा करोतीति यद्व्यवहारिणो वदति स व्यामोह इत्युपदिशति।

टीका—(एदेरण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहि परिकहिदो) पूर्वोक्त तीन गाथाओ मे जैसा कहा है उस अज्ञान भाव से यह आत्मा कर्ता वनता है ऐसा निश्चय के जानने वाले सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। तात्पर्य यह है कि जव यह आत्मा वीतराग परम सामायिक स्वरूप सयम भावात्मक अभेद रत्न-त्रय का प्रतिपक्षीभूत जो अज्ञानभाव जिसका उपर्युक्त तीन गाथाओ मे व्याख्यान किया गया है उस रूप परिणत होता है तव उसी मिथ्यात्व और रागादि भाव का कर्ता होता है जिससे इसके द्रव्यकर्म का वध हुआ करता है। किन्तु जव यह आत्मा चिदानन्दमय एक स्वभाववाले शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप परिणाम से परिणत होता है उस समय यह सम्यग्ज्ञानी होकर मिथ्यात्व और रागाद्यात्मक भावकर्मरूप अज्ञान भाव का करने वाला नही होता है। तव इस कर्तापन के अभाव होने पर उसके द्रव्यकर्मो का भी बध नही होता है। (एव खलु जो जाणदि सो मु चदि सव्व कत्तित्त) गाथा के पूर्वार्द्ध मे कहे अनुसार मनमे जो वस्तु स्वरूप जानता हुँ वह सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभ कर्म के कर्तापन को छोडता है (उससे दूर हो जाता है) किन्तु जव वही निश्चय चारित्र के साथ मे अविनाभाव रखने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन का धारक होता है तव शुभ अशुभ सभी प्रकार के कर्म के कर्तापन को छोड़ देता है (और नूतन कर्म वध नही होता है)। इस प्रकार जीवके रागादि रूप अज्ञान भाव से तो कर्मबध होता है और वीतरागभाव रूप सम्यग्ज्ञान से कर्म वंध का अभाव होता है। यह वात निश्चित हुई ॥१०४॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव वताते हैं कि सव प्रकार के कर्तापन से दूर होने पर ही ज्ञानी होता है। वह कर्तापन मुख्यता से तीन प्रकार का है—(१) शरीरात्मक (२) अविरतात्मक (३) विरतात्मक। (१) शरीरात्मक—जीव यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ अत. मेरे जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओ को अपने परिश्रम से सपादन करके सुखी वनू ऐसा विचार कर मनमानी करते हुए पाप पाखण्ड मे लगा रहता है यह शरीरात्मक कर्तापन है। (२) अविरतात्मक—जव यह जान लेता है कि मुझे नाना प्रकार की कुयोनियो मे जन्म मरण करते हुए अनन्त काल वीत गया जिसमें यह मनुष्य जन्म कठिनता से प्राप्त हुआ है अत अव ऐसा करू कि कमसे कम कुयोनियो मे तो जन्म धारण न करना पडे। ऐसा सोच कर अन्याय अभक्ष्यसे वचकर न्यायोपार्जित कर्त्तव्य करने मे लग रहता है, दान पूजादिक षट् कर्म करने लग जाता है यह अविरतात्मक कर्तापन है। (३) विरतात्मक—जव यह जान लेता है कि यह ससार का दृश्यमान ठाठ क्षण भ गुर है और जो यह मानव पर्याय मिली है उसका भी कोई भरोसा नही है अत. अव शेप जीवन को भगवान भजन मे विताऊं ऐसा सोच कर गृहस्थाश्रम से विरक्त होकर साधु सेवा मे लगा रहता है तव वहा पर शुद्धोपयोग के साधन स्वरूप आवश्यक कर्म करने लगता है यह विरतात्मक कर्तापन है। इससे भी उऋण होकर जव अपनी शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप निर्विकल्प परम समाधि मे लगता है, तल्लीन हो जाता है उस समय तीनो प्रकार के कर्तापन से रहित होता हुआ ज्ञानीपन को प्राप्त होता है, तव उस अवस्था मे उसे नूतन कर्म वध भी नही होता है।

इस प्रकार अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव के स्वरूप का प्रतिपादन की मुख्यता से दूसरे स्थल मे छह गाथायें पूर्ण हुई। इस प्रकार द्विक्रियावादी का निराकरण करते हुए विशेष व्याख्यान के रूप मे कही हुई वारह गाथाये पूर्ण हुई। अव फिर भी ११ गाथाओ से उपसहार रूप मे आचार्यदेव इसी द्विक्रियावादी का निराकरण के विपय मे और भी विशेप व्याख्यान करते है ॥१०४॥

अव मवमे पहले यह वताते हैं कि पर भावो को भी आत्मा करता है ऐसा जो व्यवहारी लोग कहा करते हैं वह मव इनके माय लगे हुए मोह की महिमा ही है—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्मणीह विविहाणि ॥१०५॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथादि द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥१०५॥

अर्थ—यह आत्मा व्यवहारनय से घट पट और रथ आदि वस्तुओ को करता है और इन्द्रियादिक को करता है तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म एव शरीरादिक नोकर्म ~~व क्रोधादिक भावकर्मों~~ को भी करता है ॥१०५॥

तात्पर्यवृत्तिः—ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि यतो यथा अन्योन्यव्यवहारेणैव तु पुन घटपटरथादिवहिर्द्रव्याणीहापूर्वेण करोत्यात्मा **करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि** तथाभ्यतरेपि करणानीद्रियाणि च नोकर्माणि इह जगति विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेणविशेषेण करोतीति मन्यते, ततोस्ति व्यामोहो मूढत्व व्यवहारिणा । अथ स व्यामोह सत्यो न भवतीति कथयति ।

टीका—(ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणिदव्वाणि) यह आत्मा आपस के व्यवहार से घट पट रथादि वाह्य वस्तुओ को नाना प्रकार की इच्छा पूर्वक जैसे करता रहता है (करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि) उसी प्रकार भीतर मे नाना प्रकार की स्पर्शन आदि इन्द्रियो को और बाह्य मे नोकर्म शरीरादिक को ~~तथा क्रोधादिरूप भावकर्मों को~~ और नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को निरन्तर इच्छापूर्वक करता रहता है। ऐसा जो व्यवहारी लोग मानते हैं वह उन व्यवहारियो का व्यामोह अर्थात् मूढपना है।

यह मूढता क्यो हैं सो आचार्य आगे वताते है—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥१०६॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥१०६॥

अर्थ—यदि आत्मा पर द्रव्यो को भी करे तो वह उन पर द्रव्यो के साथ नियम से तन्मय हो जावे, परन्तु तन्मय तो होता नही है। इसलिये वह उनका कर्ता नही है ॥१०६॥

तात्पर्यवृत्तिः—जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज यदि स आत्मा परद्रव्याणि नियमेनैकातरूपेण करोति तदा तन्मय स्यात् **जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता** यस्मात्सहजशुद्धस्वाभाविकानतसुखादिस्वरूप त्यक्त्वा परद्रव्येण सह तन्मयो न भवति। तत स आत्मा तेषा परद्रव्याणामुपादानरूपेण कर्ता न भवतीत्यभिप्राय । अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्ता न भवति किंतु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति ।

टीका—(जदि सो पर दव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज) यदि आत्मा घट, पट आदि पर द्रव्यो को भी नियमपूर्वक अवश्य ही करने वाला हो तो वह उनसे तन्मय हो जाय (जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता) क्योकि यह आत्मा शुद्ध स्वाभाविक ऐसे अपने अनन्त सुख और

ध्यानादि को छोडकर पर द्रव्य के साथ तन्मय तो होता नही है । इसलिए आत्मा पर द्रव्यो का उपादान रूप से कर्त्ता नही होता है ।। १०६ ।।

विशेषार्थः—कर्त्ता दो प्रकार के हैं। (१) उपादान कर्त्ता (२) निमित्त कर्त्ता। जो उस पदार्थरूप परिणमन करे वह उपादान कर्त्ता है। किन्तु उस पदार्थरूप स्वय परिणमन तो न करे पर उसको तद्रूप परिणमा देवे वह निमित्त कर्त्ता कहलाता है। जिसका कथन करना व्यवहार है । आचार्य देव उपादान कर्ता को दृष्टि मे रखकर कहते हैं कि आत्मा घट, पटादि को भी बनाने वाला हो तो उसे रूप मे परिणमन करना चाहिए किन्तु वह उस रूप परिणमन नही करता है, अत वास्तव मे उपादान रूप से वह उनका कर्त्ता नही होता ।

आगे कहते हैं कि केवल उपादान रूप से कर्ता नही होता यह बात नही है किन्तु निमित्त रूप से भी आत्मा घटपटादि का कर्ता नही होता —

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ।।१०७।।

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्त्ता ।।१०७।।

अर्थ—जीव कभी भी घट को नही करता, न पटको ही करता और न शेष द्रव्यो को ही करता है। जीव के योग और उपयोग दोनो घटपटादि के उत्पत्ति करने मे निमित्त होते हैं। इन दोनो योग उपयोग का यह आत्मा करने वाला होता है ।।१०७।।

तात्पर्यवृत्तिः—**जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे** न केवलमुपादानरूपेण निमित्तरूपेणापि जीवो न करोति घट न पट नैव शेषद्रव्याणि । कुत इति चेत् ? नित्य सर्वकाल कर्मकर्तृत्वाननुषगात् । कस्तर्हि करोति **जोगुवओगा उप्पादगा य** आत्मनो विकल्पव्यापाररूपौ विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवत । **सो तेसिं हवदि कत्ता** सुखदु खजीवितमरणादिसमताभावनापरिणता भेदरत्नत्रयलक्षणभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो भवति तदा स जीवस्तयोर्योगोपयोगयो कदाचित्कर्ता भवति । न सर्वदा । अत्र योगशब्देन बहिरगहस्तादिव्यापार उपयोगशब्देन चातरगविकल्पो गृह्यते । इति परपरया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्व स्यात् यदि पुन. मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्व भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसगात् मोक्षाभाव । इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय गत । अथ वीतरागस्वसवेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता न च परभावस्येति कथयति ।

टीकाः—(जीवो ण करेदि घड णेव पड णेवसेसगे दव्वे) उपादन रूप से ही क्या किन्तु निमित्त रूप से भी जीव घट, पटादि शेप द्रव्यो का कर्त्ता नही होता। यदि वह उनका कर्त्ता हो तो हर समय अविच्छिन्न रूप से उन्हे करता ही रहे। तव उनका कर्त्ता कौन है कि (जोगुवओगा उप्पादगा) आत्मा का विकल्प और व्यापार रूप जो योग और उपयोग है जो कि स्वय विनश्वर है वे उनके उत्पादक होते है। (सो तेसिं हवदि कत्ता) सुख और दुख, जीवन और मरण इत्यादि परस्पर विरुद्ध बातो मे समभाव धारण रूप अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेद विज्ञान के न होने पर जिस काल मे यह आत्मा अपने

शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्म स्वरूप से भ्रष्ट होता है; उस समय यह जीव उपर्युक्त योग और उपयोग का किसी समय कर्ता होता है, सर्वदा नही। यहा पर योग शब्द से बाह्य अवयव हस्तादिक का हिलाना डुलाना और उपयोग शब्द से अन्तरग के विकल्प को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार घटादिक के विषय मे जीव का निमित्त रूप मे कर्तापना परपरा से है (साक्षात नही) क्योकि यदि मुख्यरूप से साक्षात निमित्त कर्तापना जीव के मान लिया जाय तब फिर जीव तो नित्य शाश्वत है, अतः वह कर्म करता ही रहेगा तब मोक्ष का अभाव हो जायगा। इस प्रकार व्यवहार के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाये समाप्त हुई ॥ १०७ ॥

विशेषार्थ—आत्मा के योग और उपयोग घटादिक के बनने मे निमित्त होते हैं। अत उन्हे निमित्त कर्त्ता कहा जा सकता है, परन्तु आत्मा को उनका निमित्त कर्त्ता नही कहा जा सकता। आत्मा जब समाधि दशा से च्युतरूप अज्ञान दशा मे होता है, तब किसी समय उनके करने रूप योग उपयोग का कर्त्ता होता है इसलिए व्यवहार से भी आत्मा को जो घटादिक का साक्षात कर्ता कहा जाता है वह भी सही नही है। ऐसा आचार्य देव के कहने का तात्पर्य है।

आगे आचार्यदेव बतलाते हैं कि वीतराग स्वसवेदन ज्ञानी जीव तो ज्ञान का ही कर्ता होता है परभाव का कर्ता कभी नहीं होता—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०८॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०८॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्यो का परिणमन जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप होता है उसका भी कर्त्ता वास्तवमे आत्मा नही है। इस प्रकार (स्वानुभव द्वारा) जो जानता है वह ज्ञानी होता है ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति—**जे पुग्गलदव्वाण परिणामा होंति णाणआवरणा** ये कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामा पर्याया ज्ञानावरणदिद्रव्यकर्मरूपा भवति **ण करेदि ताणि आदा** तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकाकलशमिवात्मा न करोति गोरसाध्यक्षवद् **जो जाणदि सो हवदि णाणी** इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्याग कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थित सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञानमात्रेण। इदमत्र तात्पर्यं। वीतरागस्वसवेदनज्ञानी जीव शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता। किंवदिति चेत्। पीतत्वादिगुणाना सुवर्णवत् उष्णादिगुणानामग्निवत् अनतज्ञानादिगुणाना सिद्धपरमेष्ठिवदिति। न च मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्तेति शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावनामशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावना च तद्रूपेण परिणमन्नेव कर्तृत्व ज्ञातव्य। भोक्तृत्व च। न च हस्तव्यापारवदीहापूर्वक घटकुभकारवदिति। एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रातरायसज्ञै सप्तभि कर्मभेदै सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायलोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेण शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणा असख्येयलोकमात्रप्रमिता अन्येपि विभावपरिणामा ज्ञातव्या। अथाज्ञानी चापि रागादिस्वरूपस्याज्ञानभावस्यैव कर्ता न च ज्ञानावरणादिपरद्रव्यस्येति निरूपयति।

टीका—(जे पुग्गलदव्वाण परिणामा होंति णाणआवरण) जो कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यो का परिणमन ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूप होता है, (ण करेदि ताणि आदा) उसको भी आत्मा व्याप्य-

व्यापक भाव से जैसे मिट्टी कलशको करती है, वैसे नही करता है। जिस प्रकार ग्वाले से गोरस भिन्न है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म आत्मा से भिन्न है। (जो जाणदि सो हवदि णाणी) इस प्रकार मिथ्यात्व और विषय कषायो का त्याग करके निर्विकल्प समाधिमे स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है। जानने मात्र से ही ज्ञानी नही हो जाता। तात्पर्य यह है कि वीतराग स्वसवेदन ज्ञानी जीव शुद्ध उपादान रूप शुद्धनय से शुद्ध ज्ञान का ही कर्ता होता है, जैसे कि स्वर्ण अपने पीतत्वादि गुणो का, अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणो का और सिद्ध परमेष्ठी अनन्त ज्ञानादि गुणो का कर्ता होता है किन्तु मिथ्यात्व और रागादिरूप अज्ञान भाव का कर्ता ज्ञानी नही होता। यहा पर कर्तापन और भोक्तापन जो वताया गया है वह शुद्ध उपादान रूपसे शुद्ध ज्ञानादि भावो का और अशुद्ध उपादानरूप से मिथ्यात्व तथा रागादिरूप विकारी भावो का उन उन रूप से परिणमन करना ही कर्तापन व भोक्तापन बताया गया है। किन्तु घट और कुभकार के समान इच्छा पूर्वक हस्तादिक का व्यापार करनेरूप कर्तापन या भोक्तापन को यहां नही लिया गया है ऐसा समझना चाहिये। गाथामे मूल ग्रन्थकारने जो ज्ञानावरण शब्द दिया है वह उपलक्षण रूप है, इसलिए उसके स्थान पर दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप सात कर्मो के साथ इन मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा नोकर्म और मन, वचन, काय तथा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह को भी लगाकर क्रम से व्याख्यान करना चाहिये। इसी प्रकार शुद्धात्मा की अनुभूति से विलक्षणरूप और भी असख्यात लोक प्रमाण विभाव भाव हैं ऐसा समझना चाहिए।

अज्ञानी जीव भी रागादि रूप अज्ञान भाव का ही कर्त्ता होता है किन्तु ज्ञानावरणादि पर द्रव्य का कर्त्ता नही होता ऐसा आगे वतलाते हैं —

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०९॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०९॥

अर्थ —वास्तवमे आत्मा अपना शुभ या अशुभ जैसा भी भाव करता है तो वह अपने भाव का करने वाला होता है और वह भाव ही उसका कर्म होता है और अपने भाव रूप कर्म का ही भोक्ता भी होता है ॥१०९॥

तात्पर्यवृत्तिः—जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता सातासातोदयावस्थाभ्या तीव्रमदस्वादाभ्या सुखदुःखरूपाभ्या वा चिदानदैकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधाभेद कुर्वाण सन् य भाव शुभमशुभ वा करोत्यात्मनः स्वतत्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य खलु स्फुट कर्त्ता भवति **तं तस्स होदि कम्मं** तदेव तस्य शुभाशुभरूप भावकर्म भवति। तेनात्मना क्रियमाणत्वात् **सो तस्स दु वेदगो अप्पा** स आत्मा तस्य तु शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति स्वतत्ररूपेण भोक्तृत्वात् न च द्रव्यकर्मण, किं च विशेष । अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मण । स चाशुद्धनिश्चय यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसज्ञा लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्व भणित तदुपादान शुद्धाशुद्धभेदेन कथ द्विधा भवतीति। तत्कथ्यते। औपाधिकमुपादानमशुद्ध तप्तायःपिंडवत्, निरुपाधिरूपमुपादान शुद्ध पीतत्वादिगुणाना सुवर्णवत्, अनतज्ञानादिगुणाना सिद्धजीववत्, उष्णत्वादिगुणानामग्निवत् । इद व्याख्यानमुपादानकारणव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थ । अथ न च परभाव केनाप्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते ।

टीका—(जं भाव सुहमसुह करेदि आदा स-तस्स खलु कत्ता) चिदानंद एकस्वभाव रूप से जो आत्मा एक है उसीके साता व असाता के रूप मे, तीव्र मद के रूप मे, अथवा सुख दुख के रूप मे दो भेद करता हुआ यह छद्मस्थ जीव जैसा शुभ व अशुभ भाव करता है, उसके प्रति स्वतत्रतया व्यापक होने से वह उसका कर्त्ता होता है, (त तस्स होदि कम्म) और वह भाव इस आत्मा का कर्म होता है, क्योकि वह भाव उसी के द्वारा किया गया है (सो तस्स दु वेदगो अप्पा) और इसलिए यह आत्मा उसी शुभ या अशुभ भाव का भोगने वाला होता है क्योकि स्वतंत्र रूप से उसे ही सवेदन करता है किन्तु द्रव्य कर्म का कर्त्ता और भोक्ता आत्मा नही होता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय से मिथ्यात्व अथवा रागादि भावो का ही कर्त्ता होता है ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का नही। आत्मा को द्रव्य कर्म का कर्त्ता असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा गया है। इस कारण इस अशुद्ध निश्चयनय को निश्चय की सज्ञा दी गई है। तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से वह व्यवहार ही है। यहा कोई शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! आपने अशुद्ध उपादान रूप से आत्मा को रागादिक का कर्ता बताया है तो क्या उपादान भी शुद्ध अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि अग्नि के द्वारा गर्म हुए लोहे के पिण्ड के समान आत्मा औपाधिक भावो को स्वीकार किये हुए है वह अशुद्ध उपादान होता है। किन्तु जो निरुपाधिक (सहज) भाव को स्वीकार किये हुए है वह शुद्ध उपादान कहलाता है। जैसे सोना अपने पीतत्वादि गुणो का सिद्ध जीव अपने अनत ज्ञानादि गुणो का और अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणो का उपादान है इस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध उपादान का स्वरूप व्याख्यान के समय सभी स्थान पर स्मरण रखना चाहिये ॥१०६॥

आगे आचार्य बताते हैं कोई भी किसी भी प्रकार के उपादान से पर भाव का कर्त्ता नही होता—

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥११०॥

यो यस्मिन् गुणो द्रव्ये सोन्यस्मिस्तु न संक्रामति द्रव्ये।
सोन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यं ॥११०॥

अर्थ—जो गुण जिस द्रव्य मे होता है वह उसको छोडकर अन्य द्रव्य मे कभी नही जाता और जब वह अन्य द्रव्य मे नही जाता तब वह अन्य को कैसे परिणमा सकता है—कभी नही परिणमा सकता ॥११०॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्ण दु ण सकमदि दव्वे यो गुणश्चेतनस्तथैवाचेतनो वा यस्मिश्चेतनाचेतने द्रव्ये अनादिसबधेन स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्त सोऽन्यद्रव्ये तु न सक्रमत्येव सोपि **सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं** स चेतनोऽचेतनो वा गुण कर्त्ता अन्यद्भिन्न द्रव्यातरमसक्रात सन् कथ द्रव्यातर परिणामयेत्तत्कथ कुर्यादुपादानरूपेण न कथमपि। तत स्थित आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तेति।

टीका—(जो जह्मि गुणो दव्वे अण्ण दु ण सकमदि दव्वे) चेतनरूप या अचेतनरूप गुण जिस चेतन या अचेतन द्रव्य मे अनादि सबध से स्वभावत प्रवर्तमान है, वह उसे छोडकर कभी भी किसी अन्य द्रव्य मे नही जाता, (सो अण्णमसकतो कह त परिणामए दव्व) जब वह चेतन या अचेतन गुण अन्य मे नही जाता, तब वह उस अन्य द्रव्य को उपादान रूप से कैसे परिणमा सकता है, कभी नही परिणमा सकता। इसलिए यह बात निश्चित हुई कि यह आत्मा पुद्गल द्रव्यो का कर्त्ता नही है ॥११०॥

यही बात आचार्य देव आगे की गाथा मे कहते हैं :—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि ।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ।।१११।।

द्रव्यगुणस्य च आत्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्त्ता ।।१११।।

अर्थ—आत्मा पुद्गलमय कर्म मे द्रव्य को अथवा गुण को नही करता है । जव वह उसमे उन दोनो को नही करता तव वह उसका कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है ।।१११।।

तात्पर्यवृत्ति —दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि यथा कुम्भकार: कर्ता मृन्मय-कलशकर्मविपये मृत्तिकाद्रव्यस्य सवधि जडस्वरूप वर्णादिमृत्तिका गुणस्य वा सवधिस्वरूपमृत्तिकाकलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविपये पुद्गलद्रव्यकर्मसवधिजडस्वरूप वर्णादिपुद्गलद्रव्यगुणसवधिस्वरूप वा तन्मयत्वेन न करोति **तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता** तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादितद्गुण वा तन्मयत्वेनाकुर्वाण सन् तत्र पुद्गलकर्मविपये स जीव कथ कर्ता भवति न कथमपि । चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थ । अनेन किमुक्त भवति यथा स्फटिको निर्मलोपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोपि सदा-शिवनामा सदामुक्तोप्यमूर्त्तोपि परोपाधिना परिणम्य जगत् करोति त निरस्त । कस्मादिति चेत् । मूर्त्तस्फटिकस्य मूर्त्तेन सहोपाधिसवधो घटते तस्य पुन सदामुक्तस्यामूर्त्तस्य कथ मूर्त्तोपाधि ? न कथमपि सिद्धजीववत् । अनादिवद्धजीवस्य पुन शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयेनामूर्त्तस्यापि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्त्तस्य मूर्त्तोपाधिदृष्टातो घटत इति भावार्थ. । एवं निश्चयनयमुख्यत्वेनगाथाचतुष्टय गत । अत कारणादात्मा द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचार ।

टीका—(दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि) जैसे मिट्टी का कलश करने के समय मिट्टी कलश को तन्मय होकर करती है, वैसे कुम्हार मृत्तिका द्रव्य सबधी जड स्वरूप वर्णादिक को तन्मय होकर नही करता उसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलमय द्रव्यकर्म के विषयमे पुद्गल द्रव्य सवधी स्वरूपवाले वर्णादि को तन्मय होकर नही करता (त उभयमकुव्वतो तह्मि कह तस्स सो कत्ता) और जब आत्मा पुद्गल द्रव्य कर्म सवधी स्वरूप को और उसके गुण वर्णादि को तन्मय होकर नही करता तब उस पुद्गल द्रव्य कर्म के विषय मे जीव कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है, कभी नही कहा जा सकता । क्योकि चेतन पर स्वरूप अर्थात् अचेतन स्वरूप से कभी भी परिणमन नही करता है । आचार्य के इस कथन का मूल आशय यह है कि जैसे स्फटिक स्वय निर्मल है वही जपा पुष्पादि किसी पर की उपाधि के निमित्त से अन्यथा परिण-मन कर जाता है, वैसे ही कोई सदाशिव नाम का व्यक्ति, जो कि सदा से मुक्त है, अमूर्त है, वह परकी उपाधि से अन्यथा रूप होकर जगत् को वनाता है ऐसी किन्ही की जो मान्यता है वह ठीक नही है । क्यो कि स्फटिक मूर्तिक है, अत उसका मूर्तिक पदार्थ के साथ सम्वन्ध घटित हो जाता है, किन्तु सदामुक्त और अमूर्त सदाशिव के साथ मूर्त उपाधि का सम्वन्ध कैसे घटित हो सकता है, कभी नही हो सकता, जैसे कि शुद्धजीव के साथ उपाधि का सम्वन्ध नही होता । किन्तु अनादि वधन वद्धजीव शुद्ध निश्चय नय से शक्ति रूप से अमूर्त है पर व्यक्ति रूप से व्यवहारनय से मूर्त है, उसके साथ मूर्त उपाधि का सम्वन्ध ठीक वन जाता है ऐसा आचार्य का अभिप्राय है । इस प्रकार चार गाथाओ से निश्चयनय की मुख्यता से व्याख्यान किया गया ।।१११।।

विशेषार्थ— आचार्य देव ने यहा यह स्पष्ट किया है कि कोई भी जीव प्रारम्भ मे शुद्ध से अशुद्ध हुआ हो, एकाकी होकर भी अन्य द्रव्य के साथ मिश्रित हुआ हो ऐसा नही है । किन्तु तिलका तैल के साथ मे जिस प्रकार सदा का सबध है उसी प्रकार ससारी जीव के साथ अनादि से ही प्रवाह रूप से द्रव्य कर्मो का सबध है, जिससे यह ससारी आत्मा कथचित् मूर्त बना हुआ है- पकड मे आनेवाला है और पर द्रव्यो के सबध से उत्पन्न हुए रागादि भावो से नये नये कर्म बाधता रहता है । किन्तु जब वह जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जान लेता है तब पर द्रव्यो मे रागद्वेष करना छोडकर अपने शुद्ध स्वरूप मे लीन हो जाता है तब इसे नूतन कर्मो का बध भी नही होता और पुरातन कर्म जो इस आत्मा के साथ लगे हुए हैं वे भी निर्जीर्ण होकर पृथक् हो जाते है । तब यह आत्मा सदा के लिए मुक्त हो जाता है, जन्म मरण के दु खो से दूर हो जाता है यह जैन दर्शन का सार है ।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा द्रव्य कर्मो का करता है ऐसा जो कहा जाता है सो केवल उपचार मात्र है ऐसा बतलाते हैं —

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥११२॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामं ।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥११२॥

अर्थ — जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबध की पर्याय होती है, ऐसा देखकर उपचार मात्र से यह कहा जाता है कि कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं ॥ ११२ ॥

तात्पर्यवृत्ति –**जीवह्मि हेदुभूदे बधस्स दु पस्सिदूण परिणाम** परमोपेक्षासयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरागादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते जीवे सति मेघाडबरचद्रार्कपरिवेपादियोग्यकाले निमित्तभूते सति मेघेंद्रचापादिपरिणतपुद्गलानामिव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलाना ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबधस्य परिणाम पर्याय दृष्ट्वा **जीवेण कद कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण** जीवेन कृत कर्मेति भण्यते उपचारमात्रेणेति । अथ तदेवोपचारकर्मकर्तृत्व दृष्टातदार्ष्टान्ताभ्या दृढयति ।

टीका.—(जीवह्मि हेदुभूदे बधस्स दु पस्सिदूण परिणाम) निमित्त रूप से बादलो की छाया अथवा चाद सूर्य का परिवेप आदि के योग्य काल होने पर पानी का बरसना और इन्द्र धनुष आदि मे परिणत पुद्गलो का परिणाम होता देखा जाता है, वैसे ही परमउपेक्षा सयम भाव से परिणत अभेद रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के न होने पर मिथ्यात्व तथा रागादिरूप मे परिणत जीव के होने पर कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलो का ज्ञानावरणादि रूप से द्रव्य कर्म बधमय परिणाम— पर्याय को देखकर (जीवेण कद कम्म भण्णदि उवयारमत्तेण) कर्म जीव के द्वारा किये गये हैं ऐसा उपचार मात्र से कहा जाता है ॥ ११२ ॥

विशेषार्थः— उप समीपे पृष्ठपोषकत्वेन प्रोत्साहकत्वेन वा चरण प्रवर्तन उपचार । इस निरुक्ति के अनुसार उपचार का अर्थ प्रेरणा होता है जैसे महाभारत मे कौरवो के साथ युद्ध तो अर्जुन ने किया किन्तु इसके समर्थक श्री कृष्ण नारायण रहे, उनकी प्रेरणा से ही उसने कौरवो से युद्ध किया । इसी प्रकार कर्म वर्गणाए जो कर्म रूप बनती हैं वे सब रागी द्वेषी ससारी आत्मा की प्रेरणा से बनती है न कि स्वय ।

इसी वात को आचार्य उदाहरण देकर समझाते है –

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥११३॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञाकृतमिति जल्पते लोकः ।
तथा व्यवहारेण कृत्तं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥११३॥

अर्थ – योद्धाओ के द्वारा किए हुए युद्ध को लोक जिस प्रकार व्यवहार से राजा का किया हुआ कहा करते हैं वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्म जीव के किये हुए हैं ऐसा कहना भी व्यवहार से है ।।११३।।

तात्पर्यवृत्तिः— **जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदनि जंपदे लोगो** यथा योधै युद्धे कृते मति राज्ञा युद्ध कृनमिति जल्पति लोक । **तह ववहारेण कद णाणावरणादि जीवेण** तथा व्यवहारनयेन कृत मण्यते ज्ञानावरणादि-कर्म जीवेनेति । तत स्थितमेनत् । यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धवुद्धैकस्वभावत्वान्नोत्पादयति न करोति न वध्नाति न परिणमयति न गृह्णाति च तथापि ।

टीका.– (जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदति जपदे लोगो) जैसे योद्धाओ के द्वारा किये हुए युद्ध को राजा के द्वारा किया हुआ कहा करते हैं, (तह ववहारेण कद णाणावरणादि जीवेण) वैसे ही ज्ञाना-वरणादि कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं यह व्यवहारनय से कहा जाता है। अत यह वात निश्चित हुई कि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुद्ध वुद्ध एक स्वभाव वाला है इस कारण यह न तो किसी को उप-जाता है, न करता है, न वाधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण ही करता है ॥ ११३ ॥

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिह्णदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ ११४ ॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यं ॥ ११४ ॥

अर्थ —व्यवहारनय का यह कहना है कि आत्मा पुद्गलद्रव्य रूप कर्म को उपजाता है, करता है, वाधता है, परिणमाता है और ग्रहण भी करता है ॥ ११४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अनादिवधपर्यायवशेन वीतरागस्वसवेदनलक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादिपरिणामस्निग्ध मन्नात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य कुभकारो घटमिव द्रव्यकर्मरूपेणोत्पादयति प्रकृतिवध करोति स्थितिवध वध्नात्यनुभागवध परिणमयति प्रदेशवध तताय पिडो जलवत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृह्णाति चेत्यभिप्राय । अथैतदेवव्याख्यान दृष्टातदार्ष्टांताभ्या समर्थयति ।

टीका —अनादिकालीन वध पर्याय के वशवर्तीपने से वीतराग स्वसवेदन लक्षण वाले भेद ज्ञान के न होने के कारण रागादि परिणाम से स्निग्ध होता हुआ आत्मा कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य को द्रव्य कर्म के रूप मे उत्पन्न करता है जैसे कि कुम्हार घडे को उत्पन्न करता है। द्रव्य कर्मो को करता है, वाधता है, परिणमन कराता है व ग्रहण करता हैं ऐसा व्यवहारनय का अभिप्राय है। अथवा प्रकृति वध को पैदा करता है स्थिति वध को करता है, अनुभाग वध को वाधता है व प्रदेश वध को परिणमाता है।

जैसे गर्म किया हुआ लोहे का गोला अपने सम्पूर्ण प्रदेशो से जल ग्रहण करता है वैसे ही रागी आत्मा अपने सम्पूर्ण आत्म प्रदेशो से प्रदेश बध को ग्रहण करता है ऐसा अभिप्राय है ।। ११४ ।।

अब इस ही व्याख्यान को दृष्टात से दृढ करते हैं —

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ।।११५।।

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।
तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भरिणतः ।।११५।।

अर्थ—व्यवहार मे कहा जाता है कि प्रजा मे दोप और गुणो को पैदा करने वाला राजा होता है वैसे ही यह कहना व्यवहार से है कि पुद्गलद्रव्य मे कर्मरूप गुण को उत्पन्न करने वाला जीव होता है ।। ११५ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो यथा राजा लोके व्यवहारेण सदोषिनिर्दोपिजनाना दोपगुणोत्पादको भणित **तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो** तथा जीवोपि व्यवहारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्यपापगुणयोरुत्पादको भरिणत । इति व्यवहारमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टय गत । एव द्विक्रियावादिनिराकरणोपसहारव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथा गता ।

ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यात तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरण सिद्ध पुनरपि किमर्थं पिष्टपेपणमिति । नैव हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोप । तथाहि—यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति ततएव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरण सिद्धचतीति हेतुमद्भावव्याख्यान ज्ञातव्य । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण **जदि सो पुग्गलदव्व करेज्ज** इत्यादिगाथाद्वयेन सक्षेपव्याख्यान । तत पर द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेपव्याख्यान ततोप्येकादशगाथाभिस्तस्यैवोपसहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरणमिति समुदायेन पचविंशतिगाथाभि द्विक्रियावादिनिपेधकनामा तृतीयोत्तराधिकार समाप्त ।

अथानतर **सामण्णपच्चया** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण सप्तगाथापर्यन्त मूलप्रत्ययचतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्वमुख्यत्वेन व्याख्यान करोति । तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीव कर्म न करोति प्रत्यया एव कुर्वन्तीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टय । अथवा शुद्धनिश्चयविवक्षा ये नेच्छत्येकातेन जीवो न करोतीति वदति साख्यमतानुसारिण तान्प्रति दूपण ददाति । कथमिति चेन् । यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्ति तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषा कर्मणामित्येक दूपण । अथवा तेपा मते जीव एकातेन कर्म न करोतीति द्वितीय दूषण । तदनतर शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्व जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रय । अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभाग नेच्छति तान्प्रति पुनरपि दूपण । कथमिति चेत् । जीवप्रत्यययोरेकातेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येक दूषण । एकातेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीय दूपणमिति चतुर्थांतराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—निश्चयेन मिथ्यात्वादि पौद्गलिकप्रत्यया एव कर्म कुर्वतीति प्रतिपादयति ।

टीका—(जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो) जैसे व्यवहार से प्रजा मे होने वाले सदोप और निर्दोप लोगो के दोष और गुणो का उत्पादक राजा को कहा जाता है (तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो) उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य मे पुण्य पाप रूप गुणो का उत्पादक जीव होता है यह भी व्यवहारनय से कहा गया है । इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से चार गाथाये कही गई ।।११५।।

इस प्रकार द्विक्रियावादी के निराकरणके उपसहार की मुख्यतासे ग्यारह गाथायें पूर्ण हुई ।

यहा पर कोई शका कर सकता है कि निश्चयनय से आत्मा द्रव्य को नही करता है, ऐसा व्याख्यान बहुत बार किया है उसी से द्विक्रियावादी का निराकरण अपने आप हो जाता है, फिर भी यह व्याख्यान करके पिष्टपेषण क्यो किया ? आचार्य समाधान करते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योकि निश्चयनय मे और द्विक्रियावादीपने मे हेतुभाव और हेतुमद्भाव को बतलाने के लिया ऐसा किया है। निश्चय से आत्मा द्रव्य कर्म का कर्ता नही है इसी हेतुसे द्विक्रियावादीपने का निराकरण भी सिद्ध है, इस प्रकार इनमे परस्पर हेतु हेतुमद्भाव है।

इस प्रकार पुण्य पापादि सात पदार्थों की पीठिकारूप महाधिकार मे पूर्वोक्त प्रकार से "जदि सो पुग्गल दव्व करिज्ज" इत्यादि दो गाथाओ से सक्षेप व्याख्यान किया है। इसके पश्चात् १२ गाथाओ से उसका विशेष व्याख्यान है। तत्पश्चात् ११ गाथाओ से उपसहार करते हुए उसी का विशेष विवरण है इस प्रकार समुदाय रूपसे २५ गाथाओ मे यह द्विक्रियावादी का निषेध रूप तीसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ।

अथानतर 'सामण्ण पच्चया' इत्यादि गाथाको आदि लेकर पाठ्यक्रम से सात गाथा पर्यन्त मूल प्रत्यय चतुष्टय को कर्म का कर्ता बनाने की मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं। इन सात गाथाओ मे से चार गाथाओ मे यह बताया है कि जैनमत मे शुद्धउपादान वाले शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्मो का कर्ता नही है, किन्तु मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय ही कर्म के कर्ता हैं। अथवा यो कहो कि जो लोग शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा न करके एकात से ऐसा कहते हैं कि जीव कर्मो का कर्ता नही है ऐसा कहने वाले उन साख्यमतानुयायिओ के प्रति दूषण दिया है कि यदि मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म के कर्ता है तो जीव उन कर्मो का वेदक भी नही होना चाहिए यह एक मोटा दूषण आयगा। अथवा इनके मत मे एकान्तसे जब जीव कर्म नही करता है तो कौन करता है ऐसा यह दूसरा दूषण है। इसके पश्चात् यह बतलाया है कि जैनमत मे शुद्ध उपादान रूप शुद्ध निश्चयनय से जब विचार करे तो जीव और मिथ्यात्वादि प्रत्यय इन दोनो मे एकता नही है परन्तु वे दोनो भिन्न भिन्न हैं ऐसा कथन करते हुए तीन गाथाए हैं। अथवा जो लोग पूर्वोक्त रीति से नय विभाग नही मानते हैं उनको दूषण दिया है कि जीव और प्रत्यय इन दोनो मे एकान्त से एकपना मानने पर जीव का अभाव हो जायगा यह एक दूषण हुआ और एकान्त से यदि भिन्नपना ही मानले तो ससार का अभाव हो जायगा वह भी ठीक नही है यह दूसरा दूषण है। यह चौथे अन्तर अधिकार की सामुदायिक पातनिका हुई।

यहा नवमे पहले यह बताया जाता है कि निश्चय नय मे मिथ्यात्वादि पौद्गलिक प्रत्यय ही कर्म को करते हैं।

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥११६॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११७॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥११८॥

8712

गुण सण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ।।११९।। (चतुष्कं)

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्त्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ।। ११६ ।।
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमांतम् ।।११७ ।।
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ।। ११८ ।।
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवोऽकर्त्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ।। ११९ ।।

अर्थ —वास्तव मे सामान्य मे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के भेद से चार प्रकार के प्रत्यय हैं वे बंध के करने वाले कहे गये हैं। उनके उत्तर भेद मिथ्यादृष्टि आदि सयोगी केवली पर्यंत गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार के हो जाते हैं। वे गुणस्थान या प्रत्यय निश्चय दृष्टि मे अचेतन हैं क्योकि वे सभी पौद्गलिक कर्म के उदय से होते हैं। और जब वे कर्म को करते है तो फिर उनका भोक्ता भी आत्मा नही होता है। और जब कि ये गुणस्थान संज्ञा वाले प्रत्यय ही कर्म को करते हैं तब फिर जीव कर्म का कर्त्ता नही है, ये गुणस्थान ही कर्म के करने वाले है।

तात्पर्यवृत्ति —सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो निश्चयनयेनाभेदविवक्षाया पुद्गल एक एव कर्ता भेदविवक्षाया तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्यया खलु स्फुट चत्वारो बंधस्य कर्तारो भण्यते सर्वज्ञैः उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहवो भवति। सामान्य कोर्थ । विवक्षाया अभाव सामान्यमिति सामान्यशब्दस्यार्थ सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति। **मिच्छत्त अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा** ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्या । अथ— **तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो** तेषा प्रत्ययाना गुणस्थानभेदेन पुनरसौ भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्प केन प्रकारेण **मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमत** मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिभट्टारकस्य चरमसमय यावदिति। अथ **एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा** एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्यया शुद्धनिश्चयेनाचेतना खलु स्फुट। कस्मात् पुद्गलकर्मोदयसभवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्या समुत्पन्न पुत्रोविवक्षावशेन देवदत्ताया पुत्रोय केचन वदति। देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदति दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसबद्धा शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतना पौद्गलिका परमार्थत । पुनरेकातेन न जीवरूपा न च पुद्गलरूपा सुधाहरिद्रयो सयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सत्येवाज्ञानोद्भवा कल्पिता इति। एतावता किमुक्त भवति। ये केचन वदत्येकातेन रागादयो जीवसबधिन पुद्गलसबधिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या। कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टातेन सयोगोद्भवत्वात्। अथ मत सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति प्रयच्छामो वय सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेनतेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणित तिष्ठति कथमुत्तर प्रयच्छाम इति। **ते जदि करति कम्म** ते प्रत्यया यदि चेत् कुर्वंति कर्म तदा कुर्यु रेव जीवस्य किमायात शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनात् । अथमत। जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्म भु क्ते यतस्तत कर्तापि भवतीति। नैव। **णवि तेसिं वेदगो आदा** यत शुद्धनिश्चयेन वेदकोपि न हि तेषा कर्मणा, यदा वेदको न भवति तदा कर्त्तापि कथ भविष्यति न कथमपि शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव ।

अथवा ये पुनरेकातेनाकर्त्तेति वदति तान्प्रति दूषण। कथमिति चेत्, यदैकातेनाकर्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्ता प्राप्नोति। ततश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति ससाराभाव इत्येक दूषण। तेषा मते वेदकोपि न भवतीति द्वितीय च दूषण। अथ च वेदकमात्मान मन्यते साख्यास्तेषा स्वमतव्याघातदूषण प्राप्नोतीति। अथ **गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा** तत स्थित गुणस्थानसज्ञिता प्रत्यया एते कर्म कुर्वंतीति यस्मादेव पूर्वसूत्रेण भणित। **तह्मा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि** तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषा कर्मणा जीव कर्ता न भवति गुणस्थानसज्ञिता प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति सम्मतमेव। एव शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति व्याख्यानरूपेण गाथाचतुष्टय गत। अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकातेनेति कथयति।

टीका—(सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णति बध कत्तारो) निश्चयनय से अभेद विवक्षा मे तो एक पुद्गल ही कर्मों का कर्त्ता है और भेद विवक्षा मे सामान्य मूल प्रत्यय चार हैं जो कि बध के करने वाले हैं ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। उत्तर प्रत्यय तो बहुत हैं। विवक्षा का न होना यहा पर सामान्य शब्द का अर्थ है—यह सामान्य के व्याख्यान के काल मे सब स्थान पर लगाया जा सकता है। (मिच्छत्त अविरमण कसायजोगा य वोद्धव्वा) सामान्य प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन नाम वाले हैं। (तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो) उन्ही प्रत्ययो के उत्तर भेद गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार का बताया गया है जो कि (मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमत) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को आदि ले अ तिम सयोगी गुणस्थान तक है। (एदे अचेदणा खलु पुग्गल कम्मुदयसभवा जम्हा) ये सभी मिथ्यात्वादि प्रत्यय द्रव्य रूप प्रत्यय तो अचेतन हैं किन्तु मिथ्यात्वादि भाव प्रत्यय भी शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा मे अचेतन ही है, क्योकि ये सभी पौद्गलिक कर्म के उदय से होने वाले हैं। जैसे पुत्र जो उत्पन्न होता है वह स्त्री और पुरुष दोनो के सयोग से होता है। अत विवक्षा वश से उसकी माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है ऐसा कोई कहते हैं, दूसरे पिता की अपेक्षा से यह देवदत्त का पुत्र है ऐसा कहते हैं। परन्तु इस कथन मे कोई दोष नही है क्योकि विवक्षा भेद से दोनो ही ठीक हैं। वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनो के सयोग से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व रागादिरूप जो भाव प्रत्यय हैं वे अशुद्ध उपादान रूप अशुद्ध निश्चयनय से चेतन हैं क्योकि जीव से सम्बद्ध हैं, किन्तु शुद्ध उपादान रूप शुद्ध निश्चयनय से ये सभी अचेतन हैं क्योकि पौद्गलिक कर्म के उदय से हुए है। किन्तु वस्तु स्थिति मे ये सभी न तो एकात से जीवरूप ही हैं और न पुद्गल ही हैं। किन्तु चूना और हल्दी के सयोग से उत्पन्न हुई कु कुम के समान ये प्रत्यय भी जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न होने वाले सयोगी भाव हैं। और जब गहराई से सोचे तो सूक्ष्मरूप शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि मे इनका अस्तित्व ही नही हैं क्योकि अज्ञान द्वारा उत्पन्न हैं अतएव कल्पित हैं, इस सब कथन का सार यह है कि जो एकात मे रागादिको को जीव सबधी कहते हैं अथवा जो इनको पद्गल सबधी कहते हैं उन दोनो का कहना ठीक नही है, क्योकि ये सभी जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न हुए हैं जैसे, पहले स्त्री और पुरुष के सयोग मे पैदा हुए दृष्टात द्वारा बताया जा चुका है। यदि यहा कोई प्रश्न करे कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से किसके हैं तो इसका उत्तर तो हम पहले ही दे चुके हैं कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय मे तो इन सबका अस्तित्व ही नही है। (ते जदि करति कम्म) ये मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म हैं तो करते रहे इसमे क्या हानि लाभ है, कुछ नही, ऐसा शुद्ध निश्चयनय के द्वारा सम्मत ही है क्योकि "सव्वे सुद्धाहु सुद्ध नया" क्योकि शुद्ध नय की दृष्टि मे सब शुद्ध हैं ऐसा आर्ष वचन है। यदि यहा कोई कहे कि मिथ्यात्व के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्यात्व और रागादिरूप भाव कर्म को भोगता रहता है, अत उनका कर्त्ता भी है ऐसा मानना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि (णवि तेसिं वेदगो आदा) शुद्ध निश्चयनय

की विवक्षा मे आत्मा कर्मों का वेदक भी नही है और जब वेदक भी नही तब कर्त्ता भी कैसे हो सकता है—कभी नही हो सकता, ऐसा शुद्ध निश्चयनय का मत है। इस उपर्युक्त बात को लेकर जो लोग आत्मा को सर्वथा अकर्ता ही कहते है उनके प्रति यह दोप अवश्य है कि यदि आत्मा सर्वथा अकर्ता ही है तब तो शुद्ध निश्चयनय से जैसे अकर्ता हुआ वैसे व्यवहार से भी अकर्ता हुआ और इस प्रकार सर्वथा अकर्ता पन होने पर ससार का अभाव हुवा जो कि एक वडा भारी दूषण है। तथा उनके मत मे आत्मा कर्ता नही है तो कर्मो का वेदक भी नही हो सकता यह दूसरा दूषण है। इस प्रकार आत्मा को केवल मात्र वेदक मानने वाले साख्य लोग हैं उनके लिए स्वमत व्याघात रूप दूषण होता है। (गुण सण्णिदा दु एदे कम्म कुव्वति पच्चया जह्मा) इसलिये गुणस्थान ही हैं सज्ञा जिनकी ऐसे प्रत्यय ही कर्म करते हैं जैसा कि पूर्व सूत्र मे वताया है। (तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वति कम्माणि) अत यह कहना ठीक ही है कि शुद्ध निश्चयनय से इन कर्मों का कर्त्ता जीव नही है अपितु गुणस्थान नाम वाले प्रत्यय ही कर्म करते है। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से कर्म करने वाले प्रत्यय ही हैं इसके व्याख्यान मे चार गाथाये हुई ।।११६, ११७, ११८, ११९ ।।

विशेषार्थ—अशुद्ध निश्चयनय आत्मा को विकारमय देखता है अत उसकी दृष्टि मे रागादिक भाव आत्मामे ही उत्पन्न होते हैं इसलिये चेतन ही हैं। किन्तु शुद्ध निश्चयनय आत्मा को शुद्ध देखता है तो वहा रागादिक भाव होते नही है अत उसकी दृष्टि मे रागादिक भाव कर्म के उदयसे होते है इसलिये वे पौद्गलिक हैं और अचेतन है। किन्तु सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयमे तो जिस प्रकार आत्मा शुद्ध है उसी प्रकार पुद्गल भी शुद्ध परमाणुरूप है अत वहा कर्म कोई भी वस्तु नही है फिर उनके उदयसे रागद्वेष कैसे हो सकते हैं इसलिये इसकी दृष्टि मे रागादिक भाव न तो जीवकृत चेतन हैं और न पौद्गलिक कर्म कृत अचेतन ही हैं किन्तु स्वप्न के समान काल्पनिक ही हैं जो कि जीव की अज्ञान दशामे होते हैं। यहा पर आचार्य देव के कहने का यह भाव है कि जीव को रागादि के वशमे न होकर इन्हे दूर करना चाहिये जो कि केवल मिथ्यात्वादि प्रत्ययो के वश से होने वाले हैं।

आगे कहते है कि एकातसे जीव और प्रत्ययो का एकपना नही है—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोधो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ।।१२०।।
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ।।१२१।।
अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।१२२।।

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ।।१२०।।
एवमिव यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथा जीवः।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणां ।।१२१।।

अथ पुनः अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ।।१२२।।

अर्थ —जिस प्रकार जीव के साथ ज्ञानदर्शनोपयोग की एकता है उसी प्रकार क्रोधादि भी जीव के साथ एकमेक हो तो जीव और अजीव में नियमसे एकपना हो जायगा, कोई भेद नहीं रहेगा। क्योंकि जैसा जीव वैसा ही अजीव दोनो सर्वथा एक हो रहेंगे तब यह दोष आयगा कि देहादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म तथा मिथ्यात्वादि भावकर्म के साथ इस जीव की एकता हो जायगी। इस दोष से बचने के लिये ऐसा मानना चाहिये कि क्रोध अन्य है तथा उपयोगवान आत्मा अन्य है। तो जैसे आत्मासे क्रोध अन्य है उसी प्रकार इतर सब प्रत्यय भी तथा कर्म और नोकर्म भी आत्मा के अन्य ही हैं ।।१२०-१२१-१२२।।

तात्पर्यवृत्तिः—**जह जीवस्स अणण्णुवओगो** यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोग । कस्मात् अनन्यवेद्यत्वात् अशक्यविवेचनत्वाच्चाग्नेरुष्णत्ववत् **कोहो वि तह जदि अणण्णो** तथा क्रोधोपि यद्यनन्यो भवत्येकान्तेन तदा किं दूषण **जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं** एवमभेदे सति सहजशुद्धाखंडैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्वमापन्नमिति । अथ—**एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो** एव पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यानक्रमेण य एव जीव स एव तथैवाजीव भवति नियमान्निश्चयात् । तथा सति जीवाभावाद् दूषण प्राप्नोति । **अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं** अयमेव च दोषो जीवाभावरूप । कस्मिन् सति । एकातेन निरजननिजानंदैकलक्षणजीवेन सहैकत्वे सति । केषा । मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति । अथ-प्राकृतलक्षणबलेन प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्वत्वमिति **अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा** अथ पुनरभिप्रायो भवता पूर्वोक्तजीवाभावदूषणभयात् अन्योभिन्नः क्रोधो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाशात् । **ज कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्म मवि अण्णं** यथा जड क्रोधो निर्मलचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नस्तथा प्रत्ययकर्म नोकर्माण्यपि भिन्नानि शुद्धनिश्चयेन सम्मतएव । किंच शुद्धनिश्चयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्व च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्व भोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्व च लभ्यते एव । कस्मात् । निश्चयव्यवहारयो परस्परसापेक्षत्वात् । कथमिति चेत् । यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्यय देवदत्त इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तमिद्धमिति । ये पुनरेव परस्परसापेक्षनयविभाग न मन्यते सांख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषा मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि । ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबंधाभाव । कर्मबंधाभावे ससाराभाव ससाराभावे सर्वदा मुक्तत्व प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोध ससारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति । एव प्रत्ययजीवयोरेकातेनैकत्वनिराकरणरूपेण गाथात्रय गत । अत्राह शिष्य । शुद्धनिश्चयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुवा व्याख्यात तत्रैव सति तथा द्रव्यकर्मणा व्यवहारेण कर्तृत्व तथा रागादिभावकर्मणा च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्व प्राप्नोतीति । नैव । रागादिभावकर्मणा योसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसज्ञा भवति द्रव्यकर्मणा भावकर्मभि सह तारतम्यज्ञापनार्थं । कथतारतम्यमिति चेत् । द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव । यत्त कारणादशुद्धनिश्चयोपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएव । अयमत्र भावार्थ—द्रव्यकर्मणा कर्तृत्व भोक्तृत्व चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणा चाशुद्धनिश्चयेन । सचाशुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएवेति । एव पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकारूपे महाधिकारे सप्तगाथाभि चतुर्थोन्तराधिकार समाप्त अत पर **जीवेण सयं बद्धं** इत्यादि गाथामादि कृत्वा गाथाष्टकपर्यंत सांख्यमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थ जीवपुद्गलयोरेकातेनापरिणामित्व निषेधयन् सन् कथचित् परिणामित्व स्थापयति । तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय । तदनतर जीवपरिणामित्वमुख्यत्वेन गाथापचकमिति पचमस्थले समुदायपातनिका । अथ सांख्यमतानुयायिशिष्य प्रति पुद्गलस्य कथचित्परिणामस्वभावत्व साधयति ।

टीका –(जह जीवस्स अवणण्णुव ओगो) जैसे ज्ञान दर्शनरूप उपयोग जीव से तन्मय है क्योकि अग्नि से उष्णता के समान वह आत्मा के साथ अनन्य ही देखने मे आता है, कभी किसी भी प्रकार उससे पृथक् देखने मे नही आता। (कोहो वि तह जदि अणण्णो) उसी प्रकार यदि एकान्त से क्रोध को भी जीव के साथ अनन्य ही मान लिया जायगा तो (जीवस्सजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णा) ऐसा मान लेने पर सहज शुद्ध अखण्ड ज्ञान दर्शन उपयोग वाला जीव और अजीव ये दोनो एक हो जायेंगे। (एवमिह जोदु जीवो सो चेव दु णियमदो तहा जीवो) इस प्रकार जो जीव है वही फिर नियम से अजीव समझा जायगा अर्थात् फिर जीव का अभाव ठहरेगा यह वडा दूषण आयगा। (अयमेयत्ते दोसो पच्चयणो कम्म कम्माण) और यही जीव अभाव रूप दोप एकात रूप से निरजन निजानन्द रूप लक्षण वाले जीव के साथ मिथ्यात्वादि प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म के एकमेक मानने मे आयगा। यहा प्राकृत भाषा के कारण प्रत्यय शब्द ह्रस्व आया है। (अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा) अव जव पूर्वोक्त दोप मे वचने के लिये क्रोध को जीव से भिन्न मानोगे और क्रोध से विशुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्मा को भिन्न मानोगे तो (जह कोहो तह पच्चय कम्म णोकम्ममवि अण्ण) जड रूप क्रोध जिस प्रकार निर्मल चैतन्य स्वभावमय जीव से भिन्न है उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी आत्मा से भिन्न हैं ऐसा शुद्ध निश्चयनय से मानना ही चाहिये। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव को अकर्ता और अभोक्ता तथा क्रोधादि से भिन्न वताने पर दूसरे पक्ष मे व्यवहारनय से जीवका कर्तापन, भोक्तापन और क्रोधादिक से अभिन्नपना भी अपने आप आ जाता है। क्योकि निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनो मे परस्पर सापेक्षपना है। जैसे किसी ने कहा कि देवदत्त अपनी दाहिनी आख से देखता है, तव इस कहने मे यह वात भी अपने आप आ जाती है कि वह वाई आख से नही देखता। हा, साख्य या सदाशिव मतानुयायी लोग इस प्रकार के परस्पर सापेक्ष नय विभाग को नही मानते हैं उनके मत मे जिस प्रकार शुद्ध निश्चयनय मे जीव कर्ता नही होता और क्रोधादि से भिन्न होता है वैसे ही व्यवहार से भी वह अकर्ता और क्रोधादिक से भिन्न ही ठहरता है, ऐसी दशा मे जीव का क्रोधादि रूप परिणमन न होने पर जिस प्रकार सिद्धो को कर्म वध नही होता, उसी प्रकार किसी भी जीव को कर्मवध नही होना चाहिये। कर्म वन्ध न होने से ससार का अभाव और उसके अभाव मे सदा ही मुक्तपने का प्रसग प्राप्त होता है जो कि प्रत्यक्ष मे विरुद्ध है क्योकि ससार तो प्रत्यक्ष देखने मे आ रहा है। इस प्रकार प्रत्यय और जीव दोनो मे एकान्त रूप से एकता मानने का निराकरण तीन गाथाओ मे किया।

यहा कोई शका करता है कि आपने ऐसा वहुत वार कहा है कि शुद्ध निश्चयनय से जीव अकर्ता है किन्तु व्यवहारनय से कर्ता भी है। तव आपके कहने से जीव व्यवहारनय से जिस प्रकार द्रव्य कर्मों का कर्ता है उसी प्रकार रागादि भाव कर्मों का कर्ता भी है। तव द्रव्य कर्म और भावकर्म दोनो एक हो जायेंगे। आचार्य कहते है कि ऐसी वात नही है अपितु दोनो एक न होकर भिन्न है। इस भेद को बताने के लिये ही रागादि भाव कर्मों का कर्तापना वताने वाली व्यवहारनय की अशुद्ध निश्चयनय सज्ञा है जो द्रव्य कर्म और भावकर्मो मे तारतम्य रूप मे भेद स्थापन करती है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य कर्म तो अचेतन जड हैं जव कि भावकर्म विकारमय चेतन रूप है तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से इनको (भावकर्मों को) अचेतन ही कहते हैं क्योकि यह अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार कोटि मे ही गिना जाता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य कर्मों का कर्तापन और भोक्तापन जीव मे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है किन्तु रागादि भावकर्मो का कर्तापन और भोक्तापन अशुद्ध निश्चयनय से है जो कि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मे व्यवहार ही है। इस प्रकार पुण्य पाप आदि

सात पदार्थों की पीठिका रूप महाधिकार मे सात गाथाओ से चोथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ । १२०- १२१- १२२ ॥

अब इसके आगे 'जीवेण सय वद्ध' इत्यादि गाथा को आदि लेकर आठ गाथा पर्यंत साख्य मतानुसारी शिष्य को समझाने के लिये जीव और पुद्गल के अपरिणामीपन का निषेध करते हुए इनमे किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते है । इन आठ गाथाओ मे पुद्गल के परिणामीपने की मुख्यता से तीन गाथाये है । तत्पश्चात् जीव के परिणामीपने की मुख्यता से पाच गाथाए है । इस प्रकार पाचवे स्थल मे समुदाय पातनिका है ।

अब यहा साख्यमतानुयायी शिष्य को लक्ष्य मे लेकर पुद्गल के कथचित परिणामी स्वभावपने को सिद्ध करते हैं —

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जदि पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥१२३॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२४॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंतं कह तु परिणामयदि णाणी ॥१२५॥ (त्रिकलम्)

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥ १२३ ॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ १२४ ॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं तु परिणामयति ज्ञानी ॥१२५॥

अर्थ —पुद्गलद्रव्य जीव मे न तो आप वधा ही है और न कर्म के रूप मे परिणमा ही है ऐसा यदि माना जाय तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ठहरेगा । कर्मवर्गणा स्वय कर्म रूप से नही परिणमती हैं यदि ऐसा मान लिया जायगा तो फिर समार का अभाव ठहरेगा और साख्यमत का प्रसग आयगा । यदि ऐसा माना जायगा कि पुद्गल द्रव्यों को जीव (हठपूर्वक) आप कर्मरूप मे परिणमाता है तो वहा यह प्रश्न खडा होता है कि जव पुद्गलद्रव्य स्वय अपरिणामी है तव जीव उमको कैमे परिणमा मकता है ॥ १२३, १२४, १२५ ॥

तात्पर्यवृत्ति —जीवे ण सय वद्ध जीवे अविकरणभूते स्वय स्वभावेन पुद्गलद्रव्यकर्मवद्ध नास्ति । कस्मात् मर्वदा जीवम्य शुद्धत्वात् **ण सय परिणमदि कम्मभावेण** न च स्वय स्वममेव कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति रम्मात् ? मर्वथा नित्यत्वात् । **जदि पुग्गलदव्वमिण** एवमित्थभूतमिद पुद्गलद्रव्य यदि चेद्भवता साख्यमतानुसारिणा **अप्परिणामी तदा होदि** तत कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति । ततश्चापरिणामित्वे सति किं दूषण भवति ।

अथ—कार्माणवर्गणानिरपरिणमतीभि कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा ससारस्याभाव प्रसजति प्राप्नोति हे शिष्य साख्यसमयवदिति । अथ मत । **जीवोपरिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण** जीव कर्त्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल-द्रव्याणि ज्ञानावरणादिकर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति तत कारणात्ससाराभावदूषण न भवतीति चेत् **ते सयमपरिणमंतं कह तु परिणामयदि णाणी** ज्ञानीजीव स्वयमपरिणममान सन् तत्पुद्गलद्रव्य किं स्वयमपरिणममान परिणममान वा परिणमयेत् । न तावदपरिणममान परिणमयति न च स्वतोसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्येत । तथा जपापुष्पादिक कर्तृ स्फटिके जनयत्युपाधि तथा काष्ठस्तभादौ किं न जनयतीति । अथैकातेन परिणममान परिणमयति । तदपि न घटते । नहि वस्तुशक्तय परमपेक्षते तर्हि जीवनिमित्तकर्त्तारमतरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु । तथा च मति किं दूषण । घटपटस्तभादिपुद्गलाना ज्ञानावरणादिकर्मपरिणति स्यात् । स च प्रत्यक्षविरोध । तत स्थिता पुद्गलाना स्वभावभूता कथचित्परिणामित्वशक्ति तस्या परिणामशक्तौ स्थिताया स पुद्गल कर्ता । य स्वस्य नवघित ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणाम पर्याय करोति तस्य सएवोपादानकारण कलशस्य मृत्पिडमिव । न च जीव स तु निमित्तकारणमेव हेयतत्त्वमिद । तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानदैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेय भेदरत्नत्रयस्वरूप तु उपादेयो भेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति । एव गाथात्रयशब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्य । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्य । साख्यप्रति मतार्थो ज्ञातव्य । आगमार्थस्तु प्रसिद्ध । हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोपि ज्ञातव्य । इति शब्दनयमतागमभावार्था व्याख्यानकाले यथासभव सर्वत्र ज्ञातव्या । एव पुद्गलपरिणामस्थापनामुख्यत्वेन गाथात्रय गत । साख्यमतानुसारिशिष्य प्रति जीवस्य कथचित्परिणामस्वभावत्व साधयति ।

टीका—(जीवे ण सय वद्ध) पुद्गल द्रव्यरूप कर्म अधिकरणभूत जीव मे न तो स्वय वद्ध है क्योकि जीव तो सदा शुद्ध है और (ण सय परिणमदि कम्मभावेण) अपने आप कर्म रूप से भी अर्थात् द्रव्यकर्म के पर्याय रूप से भी नही परिणमता है क्योकि वह पुद्गलद्रव्य भी सदा नित्य है । (जदि पुग्गल-दव्वमिणं) यदि इस प्रकार पुद्गलद्रव्य को माना जायगा (अप्परिणामी तदा होदि) तो आप साख्यमत-वालो के मत से यह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही हुआ । ऐसी दशा मे (कम्मइय वग्गणासु य अपरिणमती सु कम्मभावेण) कार्माण वर्गणाओ के ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप नही परिणमन करने पर (ससारस्स अभावो पसज्जदे सखसमओ वा) इस ससार का साख्यमत के समान अभाव प्राप्त हो जायगा । (जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण) यदि ऐसा कहा जाय कि जीव हठात् कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यो को ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणमा लेता है अत ससार का अभाव नही है (त सयमपरिणमत कह तु परिणामयदि णाणी) तो वहा यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी जीव जो स्वय अपरिणमन शील है वह उस पुद्गलद्रव्य को जो परिणमाता है वह नही परिणमन करते हुए को परिणमाता है या परिणमन करते हुए को ? यदि कहा जाय कि नही परिणमते हुए को परिणमाता है सो यह तो वन नही सकती क्योकि जहा जो शक्ति स्वय मे नही है वहा वह शक्ति दूसरे के द्वारा भी नही की जा सकती यह अटल नियम है । जैसे जपा पुष्पादिक स्फटिक मणि मे उपाधि को पैदा कर सकता है वैसे काठ के खभे आदि मे नही कर सकता क्योकि उसमे वैसी शक्ति नही है । यदि कहा जाय कि एकान्त रूप से परिणमन करते हुए को ही परिणमाता है तो यह कहना भी ठीक नही है क्योकि वस्तु मे जो शक्तिया होती हैं वे (अपने परिणमन मे) दूसरे की अपेक्षा नही रखती ऐसा नियम है । अत जवकि पुद्गल मे स्वय परिणमन शक्ति है तव तो वह निमित्तकर्त्ता जीव के विना ही अपने आप ही कर्म रूप मे परिणमन करते रहना चाहिए, ऐसी दशा मे फिर कार्माण वर्गणाये जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म के रूप मे परिणमन करती हैं वैसे ही घटपटादि रूप पुद्गल भी कर्मरूप मे परिणमन करे यह प्रत्यक्ष्य विरोधरूप दूषण आयगा । अत

यह बात स्वय सिद्ध हो जाती है कि पुद्गलो मे कथचित् परिणमने की शक्ति सहज स्वभाव से है। जब उनमे यह शक्ति है तो उसका कर्त्ता स्वय पुद्गल ही है। इस प्रकार अपने सबधी ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म जिस परिणाम को करता है उसका उपादान पुद्गल ही होता है, जैसे कि कलश का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है, किन्तु ज्ञानावरणादि कर्मो का उपादान जीव नही है। जीव तो उसका निमित्त कारण मात्र है जो कि हेय तत्व है (अर्थात् जीव का जो भाव, कर्मों का निमित्त कारण होता है, वह भी आस्रवरूप होने से हेय तत्व है)। उपादेय रूप तत्व तो शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से निज शुद्धात्मा ही हैं जो उस उपर्युक्त पुद्गल से भिन्न एव शुद्ध परमात्मभावना रूप मे परिणत ऐसा अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जानने योग्य है और चिदानद रूप एक स्वभाववाला है। हा, इस अभेद रत्नत्रय का साधक होने से व्यवहारनय से भेद रत्नत्रय भी उपादेय है। इस प्रकार तीन गाथाओ के शब्दार्थ के व्याख्यान से शब्दार्थ जानना चाहिए, व्यवहार निश्चयरूप से नयार्थ को भी जानना चाहिए। साख्य के लिए मतार्थ का व्याख्यान हुआ। आगम का अर्थ स्पष्ट ही है। हेय और उपादेय के रूप मे भावार्थ का भ. व्याख्यान हुआ। इस प्रकार शब्द, नय, मत, आगम और भावार्थ इन पाच अर्थों से कथन किया, यह व्याख्यान कालमे यथासभव सर्व ही ठिकाने जानते रहना चाहिए। इस प्रकार पुद्गल को परिणमन शील बताने के रूप मे तीन गाथाओ का व्याख्यान हुआ ॥१२३-१२४-१२५॥

अब साख्य मतानुसारी शिष्य को समझाते हुए जीव को भी कथचित परिणामी सिद्ध करने के लिए कहते हैं —

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२६॥
अपरिणमंते हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२७॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कह परिणमाएदि कोहत्तं ॥१२८॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धि ।
कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहमिदि मिच्छा ॥१२९॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१३०॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२६॥
अपरिणममाने हि स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥१२७॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं परिणामयति क्रोधत्वं ।।१२८ ।।

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा तव बुद्धिः ।
क्रोधः परिणामयति जीव क्रोधत्वमिति मिथ्या ।।१२९।।

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ।।१३०।।

अर्थ—उसी साख्यमतानुसारी शिष्य को लक्ष्य मे लेकर आचार्य देव कहते हैं कि हे भाई ! यदि तेरे विचार मे यह जीव कर्मो से स्वयं वद्ध नही है और क्रोधादि भावो से आप परिणमन भी नही करता है तो वह अपरिणामी हुआ । इस प्रकार जीव के अपरिणामी होने पर क्रोधादिक रूप से जीव के स्वय परिणमन न करने पर ससार के अभाव का प्रसग आवेगा तव साख्य मत का कहना हो जायगा । यदि ऐसा कहा जाय कि क्रोधरूप जो पुद्गल कर्म हैं वह जीव को क्रोधरूप मे परिणमा देता है तव यहा ऐसा विचार आता है कि वह पुद्गल कर्म स्वय न परिणमन करते हुए जीव को क्रोधरूप मे कैसे परिणमा सकता है कभी नही परिणमा सकता । यदि ऐसा कहो कि आत्मा स्वय ही क्रोध रूप मे परिणमन करता है तव पहले वाला कहना कि क्रोधकर्म जीव को क्रोधरूप मे परिणमाता है यह असत्य ठहरेगा इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि जव आत्मा क्रोध से उपयुक्त होता है अर्थात् इस आत्मा का उपयोग क्रोधरूप मे परिणमन करता है तव आत्मा ही क्रोधरूप होता है, मानसे उपयुक्त होता हुआ मानरूप, माया मे उपयुक्त होता हुआ माया रूप और लोभ से उपयुक्त होता हुआ स्वय लोभरूप होता है ।

तात्पर्यवृत्ति—**ण सयं वद्धो कम्मे** स्वय स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकातेन वद्धो नास्ति सदा मुक्तत्वात् । **ण सयं परिणमदिकोहमादीहिं** न च स्वय स्वयमेव द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभि परिणमति । कस्मादेकातेनापरिणामित्वात् । **जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि** यदि चेदेष जीव प्रत्यक्षीभूत तव मताभिप्रायेणेत्थभूत स्यात्तत कारणादपरिणाम्येव भवति । अपरिणामित्वे सति किं दूषण ? अथ—अपरिणममाने सति तस्मिन् जीवे स्वय स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामे तदा ससारस्याभाव प्राप्नोति हे शिष्य, साख्यसमयवत् । अथ मत **पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं** पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोधउदयागत कर्ता जीव कर्मतापन्न हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत् **त सयमपरिणमत कह परिणामएदि कोहत्त** अथ किं स्वयमपरिणममान परिणममान वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममान परिणामयेत् । कस्मात् । नहि स्वतोऽसती शक्ति कर्तुमन्येन पार्यते । नहि जपापुष्पादय कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयत्युपाधिं तथा काष्ठस्तंभादिष्वपि । अथैकातेन परिणममान वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमतरेणापि भावक्रोधादिभि परिणमतु । कस्मादिति चेत् । नहि वस्तुशक्तय परमपेक्षते । तथा च सति मुक्तात्मनामपिद्रव्यकर्मोदयनिमित्ताभावेपि भावक्रोधादय प्राप्नुवति । न च तदिष्टमागमविरोधात् । अथ मत **अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी** अथ पूर्वदूषणभयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमत्येषा तव बुद्धि हे शिष्य ! **कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहत्तमिदि मिच्छा** तर्हि द्रव्यक्रोध कर्ता जीवस्य भावक्रोधत्व परिणामयति करोति यदुक्तं पूर्वगाथाया तद्वचन मिथ्या प्राप्नोति । तत स्थित—घटाकारपरिणता मृत्पिडपुद्गला घट इव अग्निपरिणताय पिंडोऽग्निवत् तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणत क्रोधो भवति मानोपयोगपरिणतो मानो भवति मायोपयोगपरिणतो माया भवति । लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्ति । तस्या परिणामशक्तौ स्थिताया स जीव कर्ता य परिणाममात्मन करोति तस्य स एवोपादानकर्ता द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव । तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिच्चमत्कारशुद्धभावेन परिणत सन् सिद्धात्मापि भवति ।

किं च विशेष —**'जाव ण वेदिविसेसतर'** इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयो सक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथाष्टक यदुक्त पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्‍गलमयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्‍गलयो कथचित्परिणामित्वे सति घटते। तस्यैव कथचित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिद। अथवा **सामण्णपच्चयाखलु चउरो'** इत्यादि गाथासप्तके यदुक्त पूर्वं सामान्यप्रत्यया एवम्शुद्धनिश्चयेन कर्म कुर्वतीति न जीव इति जैनमत। एकातेनाकर्तृत्वे सति साख्याना ससाराभाव-दूषण तस्यैव ससाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिद। कथमिति चेत्। तत्रैकातेन कर्तृत्वाभावे सति ससारभावदूषण अत्र पुनरेकातेन परिणामित्वाभावे सति ससाराभावदूषण। यत कारणाद्भावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्व भोक्तृत्व च भण्यते। इति जीवपरिणामित्वे व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापचक गत। एव पुण्यपापादि सप्तपदार्थाना पीठिकारूपे महाधिकारे जीवपुद्‍गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टगाथाभि पचमातराधिकार समाप्त।

तथा हि—

अथ—**जाव ण वेदि विसेसंतर तु आदासवाण दोण्हपि। अण्णाणी तावदु** इत्यादि गाथाद्वये तावद-ज्ञानी जीवस्वरूप पूर्वं भणित स चाज्ञानी जीवो यदा **विसयकसायग्गाढ** इत्याद्यशुभोपयोगेन परिणमति तदा पापा-स्रवबधपदार्थाना त्रयाणा कर्त्ता भवति। यदा तु मिथ्यात्वकषायाणा मदोदये सति भोगाकाक्षारूपनिदानबधादिरूपेण दानपूजादिनिदान परिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीति पूर्वं सक्षेपेण सूचित **जइया इमेण जीवेण आदा सवाण दोण्हपि। णादं होदि विसेसतर तु** इत्यादिगाथाचतुष्टये ज्ञानीजीवस्वरूप च सक्षेपेण सूचित। स च ज्ञानी जीव शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेनभेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनाभाविवीतराग-सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा सवरनिर्जरामोक्षपदार्थाना त्रयाणा कर्ता भवतीत्यपि सक्षेपेण निरूपित पूर्वं, निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा परपरया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादिपुण्यपदा-र्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपित, तत्सर्वं जीवपुद्‍गलयो कथचित्परिणामित्वे सति भवतीति तत्कथचित्परिणामि-त्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना सक्षेपसूचनार्थं पूर्वमेव सक्षेपेण निरूपित। पुनश्च जीवपुद्‍गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथित। तत्रैव कथचित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयो गुणिनो पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना सक्षेप-सूचनार्थं सक्षेपव्याख्यान कृत। इदानी पुनरज्ञानमयगुणज्ञानमयगुणयो मुख्यत्वेन व्याख्यान क्रियते। न च जीवाजीव-गुणिमुख्यत्वेनेति। किमर्थमिति चेत्? तेषामेव पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना सक्षेपसूचनार्थमिति। तत्र **जो संगं तु मुइत्ता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथानवकपर्यं त व्याख्यान करोति। तत्रादौ गाथात्रय ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनतर गाथाषट्क ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यत इति षष्ठातरा-धिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा—कथचित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवीतीत्य-भिप्राय मनसि सप्रधार्येद सूत्रत्रय प्रतिपादयति।

टीका —(ण सय वद्धो कम्मे) जीव स्वय अपने भाव से अधिकरण भूत कर्मों से बधा हुआ नही है क्योकि वह एकात से सदा मुक्त है। (ण सय परिणमदि कोहमादोहिं) और वह जीव द्रव्यकर्म के उदय के विना स्वय भाव क्रोधादि रूप से भी परिणमन नही करता है क्योकि वह एकात से अपरिणामी है। (जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि) इस प्रकार यह प्रत्यक्षरूप ससारी जीव भी तेरे अभिप्राय से अपरिणामी ही हुआ (सदा एकसा रहने वाला हुआ)। और सदा एकसा मान लेने पर (अपरिणमते हि सय जीवे कोहादिएहि भावेहि) उसका स्वय क्रोधादिक भावरूप से परिणमन न होने पर (ससारस्स अभावो पसज्जदे सखसमओ वा) साख्यमत के अनुसार ससार का अभाव ठहरेगा। यदि कहे कि (पुग्गलकम्म कोहो जीव परिणामएदि कोहत्त) उदय मे आया हुआ पुद्‍गलमई द्रव्य क्रोध हठात् इस जीव को भाव क्रोध रूप मे परिणमा देता है—क्रोधी वना देता है। यदि ऐसा माना जायगा तो द्रव्य क्रोध (त सयमपरिणमत कह परिणामएदि कोहत्त) इस जीव को क्रोध रूप मे न परिणमन करते

हुए को क्रोधरूप से परिणमाता है या क्रोधरूप मे परिणमन करते हुए को ? यदि कहो कि स्वय क्रोध रूप मे न परिणमन करते हुए को क्रोधरूप परिणमाता है तो यह वन नही सकता । क्योकि जिसमे जो शक्ति नही है वह दूसरे के द्वारा कभी उत्पन्न नही की जा सकती। देखो, जैसे जपा पुष्पादिक का डाक स्फटिक आदि मे विकार पैदा करता है वैसे काठ के खभे आदिक मे नही कर सकता। यदि एकान्त से यह कहा जाय कि क्रोधादिक से परिणत होते हुए जीव को ही पौद्गलिक कर्म क्रोधादि रूप से परिणमाने वाला होता है तब तो उदयागत द्रव्य क्रोधादिक के निमित्त विना ही भाव क्रोधादि रूप से जीव को परिणमन कर जाना चाहिए, क्योकि वस्तु की शक्तिया दूसरे की अपेक्षा नही किया करती ऐसा अटल नियम है। ऐसा होने पर कर्मोदय के विना होने वाले भाव क्रोधादिक विकार मुक्तात्मा मे भी होने का प्रसग आवेगा। जो ठीक नही है, क्योकि ऐसा आगम नही कहता। (अह सयमप्पा परिणमदि कोह-भावेण एस दे वुद्धी) और यदि पूर्वोक्त दूषण के भय से हे भाई! अगर तुम ऐसा कहो कि द्रव्यकर्मोदय अपेक्षा के विना ही जीव अपने आप भाव क्रोधादिरूप से परिणमन करता है तो (कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहमिदिमिच्छा) द्रव्य क्रोध जीव को भाव क्रोध रूप से परिणमाता है, ऐसा जो तुमने ऊपर कहा है वह मिथ्या ठहरेगा। इससे यह वात आई कि घटाकार रूप से परिणत मिट्टी के परमाणु ही जैसे घट हैं अथवा अग्निरूप मे परिणत लोह पिण्ड ही स्वय अग्नि हो जाता है वैसे ही (कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो) क्रोध उपयोग से परिणत आत्मा स्वय क्रोध होता है, मान उपयोग से परिणत आत्मा मान होता है, माया उपयोग से परिणत आत्मा माया होता है और लोभ उपयोग से परिणत आत्मा लोभ होता है। इस प्रकार से यह वात सिद्ध हो जाती है कि जीव की परिणमन शक्ति स्वभाव भूत है। इस परिणमन शक्ति के रहते हुए यह जीव अपने जिस परिणाम को करता है उस भाव का वही उपादान कर्त्ता वह स्वय होता है और द्रव्य कर्म का उदय उसमे निमित्तमात्र ही है और जब यह जीव निर्विकार चिद् चमत्कार रूप शुद्ध भाव से परिणत होता है उस समय यह सिद्ध वन जाता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि 'जावण वेदि विसेसतर' इत्यादि रूप से अज्ञानी और ज्ञानी जीव का सक्षेप मे व्याख्यान करते हुए पूर्व मे जो छ गाथाये कही थी, वहा वताया था कि पुण्यपापादि जो सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गल के परस्पर सयोग रूप परिणाम से सम्पन्न होते है। इस प्रकार का कहना जव ही वन सकता है जव जीव और पुद्गल मे कथचित् परिणामीपना माना जावे सो यहा उसी ही कथचित् परिणामीपने का ही यह विशेष व्याख्यान है। अथवा "सामण्णपच्चया खलु चउरो" इत्यादि सात गाथाओ मे जो पहले बताया था कि शुद्ध निश्चय से मिथ्यात्व आदि सामान्य प्रत्यय ही नूतन कर्म उत्पन्न करते हैं, जीव नही करता। ऐसा जैन मत है। इसको लेकर जीव को सर्वथा एकान्त रूप से अकर्ता ही मान लिया जाय तो साख्यो की भाति ससार के अभाव होने का प्रसग आवेगा। उसी ससार अभाव रूप दूषण का यह विशेष विवरण है। क्योकि वहा एकान्त रूप से अकर्ता मानने पर ससार अभाव का प्रसग आया था और यहा एकान्त रूप से अपरिणामीपना मानने पर वही ससार अभाव रूप दूपण है। क्योकि भावकर्म रूप से परिणमन करना ही कर्तापना है और उसी का नाम भोक्तापना है।

विशेषार्थ—इस भूतल पर जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ ऐसे हैं जो न तो सर्वथा नित्य अर्थात् जैसे हैं वैसे ही रहने वाले हैं और न सर्वथा अनित्य अर्थात् और के और हो जाने वाले हैं। कथचित् परिणमनशील है, एक दूसरे के निमित्त से परिवर्तन करने वाले हैं। जेसे अग्नि का निमित्त पाकर घी पिघल जाता है, घी का निमित्त पाकर अग्नि की लो भभक उठती है। उसी प्रकार पूर्व कर्म के उदय

का निमित्त पाकर जीव रागद्वेषमय विकार भाव को प्राप्त होता है, तो उसके विकार भाव का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु कर्म रूप मे परिणत होकर उसके साथ चिपकते रहते हैं जिससे कि यह जीव नर नारकादि रूप अवस्थाओ को प्राप्त होता रहता है। हा, जव यह जीव उपर्युक्त निमित्त नैमित्तिक भाव को छोड कर राग द्वेष रहित होता हुआ स्वस्थ हो जाता है तो उपर्युक्त जन्म मरण के चक्कर से रहित होकर सदा के लिये सिद्ध या शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार जीव का परिणामीपना सिद्ध करने के लिये व्याख्यान की मुख्यता से ये पाच गाथाये पूरी हुई ॥ १२६-१२७-१२८-१२९-१३० ॥

इस प्रकार पुण्य पापादि रूप जो सात पदार्थ हैं उनकी पीठिका रूप इस महाधिकार मे जीव और पुद्गल के परिणामीपने की मुख्यता से कथन करते हुए आठ गाथाओ से यह पाचवा अतर अधिकार समाप्त हुआ।

अव "जाव ण वेदि विसेसतर तु आदासवाण दोण्हपि अण्णाणी तावदु" इत्यादि दो गाथाओ से जो पहले अज्ञानी का स्वरूप बता चुके हैं, वही अज्ञानी जीव जव "विसय कसाओ गाढ" इत्यादि विषय कपायमय अशुभोपयोग मे परिणत होता है तव तक पाप, आस्रव और वध इन तीन पदार्थो का कर्त्ता होता है, और जव वही अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और कपायो का मन्द उदय होने पर भोगो की इच्छारूप निदान वध आदि रूप से दान, पूजादिमय परिणमन करता है उस समय पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है। यह कथन सक्षेप से पहले सूचित किया है। इसके आगे "जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हपि णाद होदि विसेसतरतु" इत्यादि चार गाथाओ मे ज्ञानी जीवका स्वरूप भी पहले वता चुके है। वही ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप से परिणत होने वाला अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका ऐसे भेद-ज्ञान के रूप मे जव परिणत होता है, तव निश्चय चारित्र के साथ मे अविनाभाव रखने वाला जो वीतराग सम्यग्दर्शन उस रूप होकर सवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है। ऐसा सक्षेप से पहले वता चुके है। किन्तु निश्चय सम्यक्त्व के अभाव मे जव वह सराग सम्यक्त्व के रूप मे परिणत रहता है उस समय शुद्ध आत्मा को उपादेय मानकर परपरा निर्वाण के लिए कारण ऐसे तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य पदार्थ का कर्त्ता भी होता है यह भी पहले कह चुके है। यह सव वाते जीव और पुद्गल इन दोनो मे कथञ्चित् परिणामीपना होने पर ही हो सकती हैं। यह कथञ्चित् परिणामीपना भी पुण्य पापादि सात पदार्थो के सक्षेप वर्णन की सूचना के लिये पहले सक्षेप मे कह चुके है। जिसका विशेष व्याख्यान फिर जीव और पुद्गल के परिणामीपने के व्याख्यान के काल मे किया है। वहा इस प्रकार कथञ्चित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही अज्ञानी और ज्ञानी जीव जो कि गुण के धारक हैं इन दोनो जीवो के पुण्य पापादि सात पदार्थों के होने की सक्षेप रूप से सूचना देने के लिये ही सक्षेप व्याख्यान किया है। अव यहा ज्ञानमय और अज्ञानमय गुणो की मुख्यता से व्याख्यान किया जाता है किन्तु जीव और और अजीव के गुण की मुख्यता से नही, यह कथन भी उन्ही पुण्य पापादि सात पदार्थो की सक्षेप सूचना करने के लिये यह मत्र प्रयास है।

यहा "जो सग तु मुइत्ता" इत्यादि गाथा को लेकर पाठ क्रम से ९ गाथा पर्यत वर्णन करते हैं। उसमे सवसे पहले तीन गाथा मे ज्ञान भाव की मुख्यता से वर्णन है उसके पश्चात छह (६) गाथा मे ज्ञानी जीव का ज्ञानमय भाव ही होता है और अज्ञानी जीव का अज्ञानमय भाव होता है ऐसा वर्णन है, इस प्रकार छठे अन्तर अधिकार मे समुदाय पातनिका हुई।

वहा कथचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ही ज्ञानी जीव ज्ञानभाव का कर्ता होता है ऐसा अभिप्राय मन मे रख कर आगे तीन सूत्र कहते हैं —

***जो संग तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।**
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ।।१३१।।

यः संगं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमात्मकं शुद्धं ।
तं निस्संगं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ।।१३१।।

अर्थ—जो साधु बाह्य और अभ्यन्तर दोनो प्रकार के सम्पूर्ण परिग्रह को छोडकर अपने आपकी आत्मा को दर्शन ज्ञानोपयोग स्वरूप शुद्ध अनुभव करता है उसको परमार्थ स्वरूप के जानने वाले गणधरादिक देव निर्ग्रन्थ साधु कहते है ।।१३१।।

तात्पर्यवृत्ति —जो संग तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पग सुद्धं य परमसाधुर्बाह्याभ्यतरपरिग्रह मुक्त्वा वीतरागचरित्राविनाभूतभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । क कर्मतापन्न आत्मान । कथ भूत विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगस्तमुपयोग ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण । पुनरपि कथ भूत । शुद्ध भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहित । **त णिस्सगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** त साधुं निस्सग सगरहित विदति जानति ब्रुवति कथयति वा । के ते परमार्थविज्ञायका गणधरदेवादय इति ।

टीका—(जो सग तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पग सुद्ध) जो परम साधु बाह्य और अभ्यन्तर दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग कर वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाला ऐसे भेदज्ञान से जो अपनी आत्मा को जानता है—अनुभव करता है । कैसा अनुभव करता है कि आत्मा विशुद्ध ज्ञान दर्शनोपयोग स्वभाव वाला होने से उपयोगमय है, ज्ञानदर्शन उपयोग को लिए हुए है । फिर कैसा है कि शुद्ध है, भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित है इस प्रकार (समाधि मे स्थित होकर) अनुभव करता है, (त णिस्सग साहु परमट्ठवियाणया विंति) उस साधु को परमार्थ के जाननेवाले गणधर देवादिक सग अर्थात् परिग्रह रहित अत एव निसग साधु कहते है ।।१३१।।

***जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।**
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ।।१३२।।

यो मोहं तु मुक्त्वा ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानम् ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ।।१३२।।

अर्थ—जो पर पदार्थो मे होने वाले मोह को छोडकर अपने आप को केवलमात्र निर्विकल्प ज्ञानस्वभावमय अनुभव करता है । परमार्थ के जानने वाले तीर्थंकरादिक परमेष्ठी उसी साधु को मोह रहित कहने हैं ।।१३२।।

तात्पर्यवृत्ति —जो मोह तु मुइत्ता णाणसहावाधिय मुणदि आद य परमसाधु कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुभपरद्रव्येषु मोह मुक्त्वात्मशुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन मनुते जानाति क कर्मतापन्न आत्मान, किं विशिष्ट ? निर्विकारस्वसवेदनज्ञानेनाधिक परिणत परिपूर्णं । **त जिदमोह साहुं परमट्ठवियाणया विंति** त साधु कर्मतापन्न जितमोह निर्मोह विदति जानति । के ते ? परमार्थविज्ञायका

---

* यह आत्मख्याति मे नही है ।

तीर्थंकरपरमदेवादय इति। एवं मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायबुद्ध्युदयशुभाशुभपरिणामश्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वास्पर्शनसंज्ञानि विंशति सूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमचिज्ज्योतिः परिणतेर्विलक्षणासंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामा ज्ञातव्या। अथ–

टीका—(जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं) जो परम ऋषि समस्त प्रकार के चेतन या अचेतन, शुभ व अशुभ पर द्रव्यो मे मोह को छोडकर शुभ व अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार रूप तीनो योगो के परिहार (न होने देना) करने रूप अभेद रत्नत्रय के लक्षण के धरने वाले भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करता है। किस प्रकार करता है कि आत्मा विकार रहित शुद्ध स्वसंवेदन ज्ञान से सहित है, परिपूर्ण है, तद्रूप परिणत है इस प्रकार का अनुभव करता है (तं जिदमोहं साहु परमट्ठवियाणया विंति) परमार्थ के जाननेवाले तीर्थंकर परमदेवादिक उस साधु को ही मोह से रहित हुआ मानते हैं ॥१३२॥

यहा पर जिस प्रकार मोह पद दिया है उसी प्रकार यहा पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, उदय, शुभ परिणाम, अशुभ परिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन, इस प्रकार २० पद क्रमसे रखकर २० सूत्रो का व्याख्यान कर लेना चाहिये। इस प्रकार निर्मल परम ज्योति की परिणतिसे विलक्षण (विरुद्ध) असख्यात लोकमात्र विभाव भाव है ऐसा समझ लेना चाहिए।

***जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।**
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥१३३॥
यः धर्मं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगात्मकं शुद्धं।
तं धर्मसंगमुक्तं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥१३३॥

अर्थ—जो कोई साधु व्यवहारिक धर्म को छोडकर शुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगरूप आत्मा को जानता है उसको परमार्थ के ज्ञाता धर्म के परिग्रहसे रहित जानते हैं

तात्पर्यवृत्ति.—**जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं** यः परमयोगीद्रः स्वसंवेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोगपरिणामरूपं धर्मं पुण्यसगं त्यक्त्वा निजशुद्धात्मपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति। कं कर्मतापन्नं आत्मानं। कथंभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगपरिणतं। पुनरपि कथंभूतं। शुद्धं शुभाशुभसकल्पविकल्परहितं। **तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति**। तं परमतपोधनं निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मोपलंभरूपनिश्चयधर्मविलक्षणभोगाकांक्षास्वरूपनिदानबंधादिपुण्यपरिग्रहरूपव्यवहारधर्मरहितं विदंति जानंति। के ते? परमार्थविज्ञायका प्रत्यक्षज्ञानिन इति। किं च कथंचित्परिणामित्वे सति जीवः शुद्धोपयोगेन परिणमति पश्चान्मोक्षं साधयति परिणामित्वाभावे बद्धो बद्ध एव शुद्धोपयोगरूपं परिणामांतरस्वरूपं न घटते ततश्च मोक्षाभाव इत्यभिप्रायः। एवं शुद्धोपयोगरूपज्ञानमयपरिणामगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं। तदनंतरं यथा ज्ञानमयाज्ञानमयभावद्वयस्य कर्ता भवति तथा कथयति।

टीका:—(जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं) जो योगीन्द्र शुभ उपयोगरूप धर्म परिणामको भी जीतकर अपने शुद्धात्मा के रूपमे परिणत ऐसे अभेद रत्नत्रय लक्षण वाले भेदज्ञान के द्वारा अपने आपको अनुभव करता है कि मैं विशुद्ध ज्ञान दर्शनोपयोगमय हू, तथा शुभ अशुभरूप जो सकल्प विकल्प हैं उनसे रहित शुद्ध हूं। (तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति) उसी परम साधु को परमार्थ

---

*यह गाथा आत्मख्याति मे नही है।

के जाननेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानी लोग विकार रहित अपनी शुद्धात्मा के उपलभरूप जो निश्चयधर्म उससे विलक्षणता को लिए हुए ऐसे भोग, आकाक्षा स्वरूप निदान बध आदिमय पुण्य के परिग्रहवाले व्यवहार धर्म से दूर होने वाला मानते है।

जीव के कथचित् परिणामीपना सिद्ध होनेपर ही उपर्युक्त प्रकार उसका शुद्धोपयोग मे परिणमन सिद्ध हो सकता है। परिणामीपना न माननेपर जीव बधा हुआ है वह बधा ही रहना चाहिये। वहा पर फिर उसका शुद्धोपयोगरूप से परिणमन विशेष होता है वह कभी बन नही सकता। अत ऐसी दशामे मोक्ष का अभाव हो जाता है। इस प्रकार शुद्धोपयोगरूप ज्ञानमय परिणाम गुण के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाए पूर्ण हुई ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि यह जीव ज्ञानमई तथा अज्ञानमई दोनो प्रकार के भावो का कर्त्ता कैसे होता हैं —

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१३४॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥ १३४ ॥

अर्थ —यह आत्मा जिस समय जैसा भाव करता है उस समय उसी भाव का कर्ता वह आत्मा होता है तो ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी (ससारी) के अज्ञानमय भाव होता है ॥ १३४ ॥

तात्पर्यवृत्ति —ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स य भाव परिणाम करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्ता भवति **णाणिस्स दु णाणमओ** स च भावोऽनतज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारभापरिणतत्वाज्ज्ञानिनोजीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिसवित्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति **अण्णाणमओ अणाणिस्स** अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थ। अथ ज्ञानमयभावात्फल भवति किमज्ञानमयाद्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह।

टीका —(ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स) यह आत्मा जैसे अपने भाव करता है उस समय वह अपने भाव रूप कर्म का कर्त्ता होता है। सो (णाणिस्स णाणमओ) अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय है लक्षण जिसका ऐसे कार्य समयसार का उत्पादक होने से निर्विकल्प समाधि रूप परिणाम से परिणत रहने वाला जो कारण समयसार है लक्षण जिसका उस भेदज्ञान के द्वारा सब प्रकार के आरभ से रहित होने के कारण ज्ञानी जीव का वह भाव शुद्धात्मा की ख्याति, प्रतीति, सवित्ति उपलब्धि या अनुभूति रूप से ज्ञानमय ही होता है। (अण्णाणमओ अणाणिस्स) किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान न होने से शुद्धात्मा की अनूभूति स्वरूप का अभाव होने से उसका वह भाव अज्ञानमय ही होता है ॥ १३४ ॥

विशेषार्थ —जो आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप चतुष्टय को प्राप्त है वह कार्य समयसार कहलाता है। किन्तु जो अनन्त चतुष्टय को प्राप्त न होकर उसकी प्राप्ति के लिए निर्विल्कप समाधि मे लगता है वह उपर्युक्त कार्य समयसार का सम्पादक होने से कारण समयसार कहलाता है। जो सब प्रकार के आरम्भ परिग्रह आदि से रहित होकर अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति को

लिये हुए होता है अत उसके रागद्वेष आदि रहित शुद्ध ज्ञानमय भाव ही होता है किन्तु जो समाधि से च्युत होकर रागद्वेषादि मे परिणत रहता है उसके ज्ञान शुद्ध न होकर अशुद्ध होता है अत उसका भाव उस समय अज्ञानमय होता है ऐसा आचार्य का कहना है।

आगे ज्ञानमय भाव मे क्या फल होता है और अज्ञानमय भाव मे क्या होता है सो कहते हैं—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ।। १३५ ।।

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ।। १३५ ।।

अर्थ—अज्ञानी रागीद्वेषी जीव के (आर्तरौद्ररूप) अज्ञानमय भाव ही होता है जिससे वह कर्मों को करता रहता है, किन्तु ज्ञानी विरागी या समाधिस्थ जीव के ज्ञानमय भाव ही होते हैं (आर्तरौद्र परिणाम से रहित शुद्ध ज्ञानरूप परिणमन ही होता है) अत वह ज्ञानी किसी भी प्रकार का कर्म नही करता है ।। १३५ ।।

तात्पर्यवृत्ति—अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि स्वोपलब्धिभावनाविलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावो भण्यते। कस्मात्। यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि करोत्यज्ञानी जीव। **णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि** ज्ञानिनस्तु निर्विकारचिच्चमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी जीव कर्माणि न करोतीति। किं च यथा स्तोकोऽप्यग्नि तृणकाष्ठराशिं महान्तमपि क्षणमात्रेण दहति। तथा त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणो भेदज्ञानाग्निरतर्मुहूर्तेनापि बहुभवसंचित कर्मराशिं दहतीति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण तत्रैव परमसमाधौ भावना कर्तव्येति भावार्थ।

अथ ज्ञानमय एव भावो भवति ज्ञानिनो जीवस्य न पुनरज्ञानमयस्तथैवाज्ञानमय एव भवत्यज्ञानिजीवस्य न पुनर्ज्ञानमय किमर्थमिति चेत्।

टीका:—(अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि) अज्ञानी जीव के आत्मा की उपलब्धिरूप भावना से विलक्षणपना होने के कारण अज्ञानमय भाव ही होता है जिससे कि वह उस अज्ञानभाव से कर्मों को करता है। (णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि) किन्तु ज्ञानी जीव तो विकार रहित चेतना के चमत्कार रूप भावनामय होकर रहता है अत उसके ज्ञानमई भाव होता है। उस ज्ञानमई भाव से ज्ञानी जीव कर्मों को नही करता है (अर्थात् स्वस्थ होकर रहता है)। भावार्थ यह है कि जैसे थोडी भी अग्नि बडे भारी तृण काठ के ढेर को क्षणमात्र मे भस्म कर देती है उसी प्रकार तीन गुप्तिरूप समाधि के लक्षण को रखने वाली भेदज्ञानरूपी अग्नि एक अतर्मुहुर्त मात्र मे अनेक भवो मे संचित किये हुए कर्म समूह को नष्ट कर देती है। यह जानकर होसके जिस प्रकार मुमुक्ष साधु को उस परम समाधि मे भावना करनी योग्य है ।। १३५ ।।

ज्ञानी जीव के ज्ञानमई ही भाव होता है अज्ञानमई भाव नही, वैसे ही अज्ञानी जीव के अज्ञानमई ही भाव होता है ज्ञानमई नही ऐसा आगे कहते है—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया ।।१३६।।

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१३७॥

ज्ञानमयाद्भावाद्ज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१३६॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।
तस्मात्सर्वेभावा अज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१३७॥

अर्थ —ज्ञानी जीव के सब ही भाव ज्ञानमय ही होते हैं क्योंकि ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है, अत. अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं ॥ १३६-१३७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**णाणमयाभावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो जह्मा** ज्ञानमयात् भावात् निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थज्ञानमय एव जायते भाव स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो मोक्षपर्यायो यस्मात्कारणात् **तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया** तस्मात्कारणात्स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावा परिणाम ज्ञानमया ज्ञानेन निर्वृत्ता भवन्ति तदपि कस्मात् उपादानकारणसदृश कार्यं भवतीति वचनात् नहि यवनालबीजे वपिते राजान्नशालिफल भवतीति तथैव च—**अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो** अज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थात् अज्ञानमय एव जायते भाव पर्यायो यस्मात्कारणात् **तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स** यत एव तस्मात्कारणात्सर्वे भावा परिणामा अज्ञानमया मिथ्यात्वरागादिरूपा भवन्ति । कस्य अज्ञानिन शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्येति । अथ तदेव व्याख्यान दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्या समर्थयन्ति ।

टीका—(णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो जम्हा) क्योंकि निश्चय रत्नत्रयात्मक जीव पदार्थ रूप ज्ञानमय भाव से स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसा मोक्ष पर्यायरूप ज्ञानमय भाव उत्पन्न होता है (तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया) इसलिये स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान वाले जीव के सभी भाव उस ज्ञान के द्वारा सम्पन्न हुए ज्ञानमय ही होते हैं। क्योंकि उपादान कारण के सदृश कार्य होता है यह महापुरुषों की मानी हुई बात है। देखो कि यव (जौ) के बोने पर बासमती चावल पैदा नहीं हो सकता (अपितु जौ के बोने से जौ ही पैदा होता है)। इसी प्रकार (अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो) अज्ञानमय (रागद्वेष विशिष्ट) जीव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। इसलिए (तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स) शुद्धात्मा की उपलब्धि से रहित ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव के सभी भाव मिथ्यात्व या रागादिरूप अज्ञानमय परिणाम ही होते हैं ॥१३६-१३७॥

इस कथन को दृष्टान्त दार्ष्टान्त द्वारा समझाते हैं –

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमययाभावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३९॥ (युग्मम्)

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः ।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः ॥१३८॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते ।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवंति ॥१३९॥

अर्थ—जैसे सोने की सिल्ली से कुण्डलादिक आभूषण बनते हैं, और लोहे के टुकडे से कडाही आदि बनती हैं। उसी प्रकार अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावसे अनेक प्रकार के अज्ञान भाव होते है। किन्तु ज्ञानी जीवके सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं ॥१३८-१३९॥

तात्पर्यवृत्तिः—कनकमयाद्भावात्पदार्थात् "उपादानकारणसदृश कार्यं भवतीति" कृत्वा कुंडलादयो भावा पर्याया कनकमया एव भवति। अयोमयाल्लोहमयाद्भावात्पदार्थात् अयोमया एव भावा पर्यायाः कटकादयो भवति यथा येन प्रकारेणेति दृष्टांतगाथा गता। अथ दार्ष्टांतमाह। **अण्णाणेति** तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टांतेनाज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थादज्ञानिनो भावा पर्याया बहुविधा मिथ्यात्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायते। तथैव च पूर्वोक्तजाबूनददृष्टांतेन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमया सर्वे भावा पर्याया भवति। किं च विस्तर वीतरागस्वसंवेदनभेदज्ञानी जीव य शुद्धात्मभावनारूप परिणाम करोति स परिणाम सर्वोपि ज्ञानमयो भवति। ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन ससारस्थिति हित्वा देवेंद्रलौकांतिकादिमहर्द्धिकदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन मतिश्रुतावधिरूप ज्ञानमयभाव पर्याय लभते। ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन्पचमहाविदेहे गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत्, तदिद समवसरण त एते वीतरागसर्वज्ञास्त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयते परमागमे ते दृष्टा प्रत्यक्षेणेति मत्वा, विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा तु चतुर्थगुणस्थानयोग्यशुद्धभावनामपरित्यजन्निरन्तर धर्मध्यानेन देवलोके काल गमयित्वा, पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराजमहाराजार्द्धमडलीकमहामडलीकबलदेवकामदेवचक्रवर्तितीर्थंकरपरमदेवादिपदे लब्धेपि पूर्वभववासनावासितशुद्धात्मस्वरूप भेदभावनाबलेन मोह न गच्छति रामपाडवादिवत्। ततश्च जिनदीक्षा गृहीत्वा सर्द्धिचतुर्ज्ञानमयभाव पर्याय लभते। तदनतर समस्तपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थसुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्य परमाचिंत्यविभूतिविशेष केवलज्ञानरूप भाव पर्याय लभत इत्यभिप्राय। अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादिमयमज्ञानभाव कृत्वा नरनारकादिरूप भाव पर्याय लभत इति भावार्थ। एव ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुख्यत्वेन गाथाष्टक गत। इति पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकारूपेण महाधिकारे कथंचित्परिणामित्वे सति ज्ञानिजीवो ज्ञानमयभावस्य कर्ता तथैव चाज्ञानिजीवोऽज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति व्याख्यानमुख्यतया गाथानवकेन षष्ठोतराधिकार समाप्त।

अथ पूर्वोक्त एवाज्ञानमयभावो द्रव्यभावरूपपचप्रत्ययरूपेण पचविधो भवति सचाज्ञानिजीवस्य शुद्धात्मैवोपादेय इत्यरोचमानस्य तमेव शुद्धात्मान स्वसंवेदनज्ञानेनाजानतस्तमेव परमसमाधिरूपेणाभावयतश्च बधकारण भवतीति समसामान्याधिकारे समुदायपातनिका —

टीका.—उपादान कारण के समान ही कार्य होता है इस सिद्धान्त को लेकर स्वर्णमय पदार्थ से स्वर्णमय ही कुंडलादिक पर्याये उत्पन्न होती हैं परन्तु लोहे के टुकडे से लोहमय कडाही आदि ही बनते हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त लोहे के दृष्टान्त को लेकर अज्ञानमय जीव से अनेक प्रकार की मिथ्यात्व या रागादिक रूप अज्ञानमय अवस्थायें होती हैं, और स्वर्ण के दृष्टात से विकार रहित ज्ञानीजीव के सभी परिणमन ज्ञानमय होते हैं। इस कथन का विस्तार यह है कि वीतराग स्वसवेदनरूप भेद ज्ञानी जीव

जिस शुद्धात्मा के भावनारूप परिणाम को करता है वह परिणाम सर्व ही ज्ञानमय होता है, जिससे कि वह ससार की स्थिति को कम करके देवेन्द्र या लौकातिक आदि सरीखा महर्द्धिक देव उत्पन्न होता है, वहा दो घडी मे ही मुमति, सुश्रुत और अवधिज्ञान रूप ज्ञानमय अवस्था को प्राप्त होता है। तव वह उस प्राप्त हुई विमान और परिवार आदि की विभूति को जीर्ण तृण के समान मानता हुआ पच महा विदेह क्षेत्र मे जाता है, वहा वह देखता है कि यह समवशरण है, ये वीतराग सर्वज्ञ देव हैं, तथा ये सव भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना करने वाले गणधरादिक देव हैं, जिनका वर्णन पहले परमागम मे सुना था वे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हू। ऐसा जानकर वह धर्म मे धर्ममय दृढ विचार वाला हो जाता है। इस प्रकार चौथे गुण-स्थान के योग्य शुद्ध भावना को नही छोडता हुआ वह उस देवलोक मे (यथोचित) धर्मध्यान से समय व्यतीत करता है। उसके वाद मनुष्य होता है तव राजाधिराज, महाराज, अर्द्धमडलीक, महामडलीक, वलदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, और तीर्थंकर, परमदेव आदि पद के प्राप्त होने पर भी पूर्व भव की वासना को लिये हुये शुद्धात्मस्वरूप भेदभावना के वल से मोह को प्राप्त नही होता। जैसे राम और पाडव आदि। फलत वह अन्ततक जिन दीक्षा को ग्रहण करके सप्तर्द्धि (सात प्रकार की ऋद्धि) सहित चार ज्ञान रूप अवस्था को प्राप्त कर लेता है। फिर समस्त प्रकार के पुण्य और पाप रूप परिणामो के त्याग स्वरूप अभेदरत्न-त्रयात्मक द्वितीय शुक्लध्यानमय विशिष्ट भेदभावना के वल से अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुखामृत रस मे तृप्त होकर सव तरह के अतिशयो से परिपूर्ण तथा तीन लोक के स्वामियो द्वारा भी आराधना करने योग्य एव परम अचिन्त्य विभूति विशेष मे युक्त केवलज्ञानात्मक पर्याय को प्राप्त कर लेता है। किन्तु अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और रागादिमय अज्ञान भाव को प्राप्त करके नर नारकादि रूप अवस्था को ही प्राप्त होता रहता हैं ॥ १३८-१३९ ॥

विशेषार्थ —आचार्य देव ने यहा यह वतलाया है कि अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त ज्ञानी जीव अपने समीचीन समाधिरूप ज्ञानभाव के द्वारा प्रथम तो उसी क्षण परमात्म दशा को प्राप्त कर लेता है, यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह स्वर्ग मे जाकर लौकान्तिक देवादि विशेष पदो को प्राप्त करता है। तदनतर तीर्थ-करादि रूप नरोत्तम पद को प्राप्त होकर उसी भव से परम समाधि द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है किन्तु वह जीव अज्ञानी दुराचारी व्यक्ति के समान नरक निगोदादि दुर्गतियो को कभी प्राप्त नही करता। किच यहा टीका मे आये हुये शुद्धात्मा की भावना का अर्थ कुछ महानुभाव शुद्ध उपयोग करते हैं वह ठीक नही है, क्योकि शुद्धात्मा की भावना व शुद्धोपयोगी मे इतना ही अन्तर है जितना कि विद्यार्थी और अध्यापक मे है। शुद्धात्मा की भावना अलब्धोप्लिप्सा (नही प्राप्त हुई वस्तु के प्राप्त करने की उत्सुकता) रूप होने से अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के भी होती है। किन्तु शुद्धोपयोग तो शुद्धात्मा से तन्मयता रूप होता है अत वह अप्रमत्त दशा मे ही हो सकता है उससे पहले नही, जैसा कि प्रवचनसार मे कहा है —

"सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो सम सुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति॥

इस प्रकार ज्ञानमय भाव और अज्ञानमय भाव के कथन की मुख्यता से छह गाथा पूर्ण हुई। इसके साथ ही साथ उक्त प्रकार से पुण्य पापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप जो महाधिकार शुरू किया गया था उसमे यह वताते हुये कि कथचित् परिणामित्व होने पर ही ज्ञानी जीव अपने ज्ञानभाव का और अज्ञानी जीव अपने अज्ञान भाव का कर्त्ता हो सकता है। इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से नौ गाथाओ के द्वारा छठा अन्तराधिकार भी समाप्त हो गया।

अब आगे यह बताते हैं कि वह पूर्वोक्त अज्ञान भाव ही द्रव्य और भावरूपात्मक मिथ्यात्वादि प्रत्ययो के द्वारा पाच प्रकार का होता है। वह अज्ञानभाव-'शुद्ध आत्मा ही उपादेय हैं' इस प्रकार की रुचि को नही रखने वाले तथा उसी अपनी शुद्धात्मा को स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा नही जानने वाले एवम् उसी अपनी शुद्धात्मा को परम समाधि रूप (निर्विकल्प भाव) से नही अनुभव करने वाले अज्ञानी जीव के—कर्मबध का कारण होता है, यह सप्तम महाधिकार मे बताया जायगा उसकी यह उत्थानिका है।

मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं।
असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं ॥१४०॥

अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ ॥१४१॥

त जाण जोग उदअं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाओ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१४२॥

एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१४३॥

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१४४॥ (पंचकम्)

मिथ्यात्वस्य तूदयो यज्जीवानामतत्वश्रद्धानम्।
असंयमस्यतूदयो यज्जीवानामविरतत्वम् ॥ १४० ॥

अज्ञानस्यतूदयो या जीवानामतत्वोपलब्धिः।
यस्तु कषायोपयोग. स जीवानां कषायोदयः ॥१४१॥

तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तुचेष्टोत्साहः।
शोभनोऽशोभनो वा कर्त्तव्यो विरतिभावो वा ॥१४२॥

एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१४३॥

तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानां ॥१४४॥ (कुलकम्)

अर्थ—जीवो के जो अतत्त्वरूप श्रद्धान होता है, वह मिथ्यात्व का उदय है, उनके (जीवो के) जो त्याग भाव का अभाव है वह असयम का उदय है, इसी प्रकार उनका जो स्वरूप का अन्यथा जानना है वह अज्ञान का उदय है

तथा जो जीवो के उपयोग का मैलापन है वह कपाय का उदय है और जो जीवो के शुभाशुभ रूप मन वचन काय की उत्साहात्मक चेष्टाविशेष होती है वह योग का उदय है । उपर्युक्त पाचो मे से किसी के भी होने पर जो कर्मवर्गणाओ का समूह आता है वह ज्ञानावरणादि के रूप मे आठ प्रकार का होकर अवश्य ही जीव के साथ सम्बद्ध होता है उस समय उन मिथ्यात्वादि भावो का यह जीव कारण होता है ।।१४०-१४४।।

तात्पर्यवृत्ति --मिच्छत्तस्सदु उदय ज जीवाणं अतच्चसद्दहण मिथ्यात्वस्योदयो भवति जीवानामनत-ज्ञानादिचतुष्टयरूप शुद्धात्मतत्त्वमुपादेय विहायान्यत्र यच्छ्रद्धान रुचिरुपादेयबुद्धि **असजमस्सदुउदओ ज जीवाण अविरदत्तं** असयमस्य च स उदयो भवति जीवानामात्मसुखसवित्त्यभावे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्त्तनमिति । अथ--**अण्णाणस्स दु उदओ ज जीवाणं अतच्चउवलद्धी** अज्ञानस्योदयो भवति यत्कि भेदज्ञान विहाय जीवाना विपरीत रूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धि प्रतीति' **जो दु कसाउवओगो सो जीवाण कसाउदओ** स जीवाना कषायोदयो भवति य शातात्मोपलब्धिलक्षण शुद्धोपयोग विहाय क्रोधादिकपायरूप उपयोग परिणाम इति । अथ--**त जाण जोग उदय जं जीवाण तु चिट्ठउच्छाहो** त योगोदय जानीहि त्व हे शिष्य जीवाना मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यांतरायक्षयो-पशमजनित कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पदलक्षण प्रयत्नरूपेण यस्तु चेष्टोत्साहो व्यापारोत्साह **सोहणमसोहण वा कायव्वो विरदिभावो वा** स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति तत्र व्रतादिकर्तव्यरूप शोभन पश्चादव्रतादिरूपो वर्जनीय म चाशोभन इति । अथ--**एदेसु हेदुभूदेसुकम्मइयवग्गणागय ज तु** एतेषु पूर्वोक्तेषु उदयागतेषु हेतुभूतेषु यत् मिथ्यात्वादिपचप्रत्ययेषु कार्मणवर्गणागत परिणत यदभिमत नवतर पुद्गलद्रव्य **परिणमदे अट्ठविह णाणावरण'-दिभावेहिं** जीवस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकपरिणतिरूपपरमसामयिकाभावे मति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेणाष्टविध परिणमतीति । अथ--**त खलु जीवणिवद्ध कम्मइयवग्गणागय जइया** तत्पूर्वोक्तसूत्रोदित कर्मवर्गणायोग्यमभिनव पुद्गलद्रव्य जीवनिबद्ध जीवसबद्ध योगवशेनागत यदा भवति खलु स्फुट **तइया दु होदि हेदु जीवोपरिणामभावाण** तदा काले पुर्वोक्तेपूदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु मत्सु स्वकीयगुणस्थानानुसारेण जीवो हेतु कारण भवति केपा परिणाम-रूपाणा भावाना प्रत्ययानामिति । किंच उदयागतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्वरागादि भावप्रत्ययरूपेण परिणम्य जीवो नवतरकर्मबधस्य कारण भवतीति तात्पर्यं । अयमत्र भावार्थ -उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीव स्वस्वभाव मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बधो भवतीति नैवोदयमात्रेण घोरोपसर्गेपि पाडवादिवत्, यदि पुनरुदय-मात्रेण बधो भवति तदा सर्वदैव ससार एव । कस्मादिति चेत् ससारिणा सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकारूपे महाधिकारेऽज्ञानिभाव पचप्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युताना जीवाना बधकारण भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पचगाथाभि सप्तमोन्तराधिकार समाप्त ।

अत पर जीवपुद्गलयो परस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयमित्यष्टमातराधिकारे समुदाय पातनिका । अथ निश्चयेन कर्मपुद्गलात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम इति प्रतिपादयति ।

टीका--(मिच्छत्तस्स दु उदय ज जीवाण अतच्चसद्दहण) अनन्तज्ञानादिचतुष्टय रूप शुद्धात्म-तत्त्व उपादेय है उसे छोडकर जीवो की जो और ठौर रुचि हो जाती है (उपादेय बुद्धि वन जाती है) वह मिथ्यात्व का उदय है (असजमस्स दु उदओ ज जीवाण अविरदत्त) आत्मोत्थ सुख के सम्वेदन के अभाव होने पर जो विषय कषायो से दूर नही होना है वह ससारी जीवो के असयम का उदय है । (अण्णाणस्स दु उदओ ज जीवाण अतच्चउवलद्धी) भेदज्ञान को छोडकर जीवो के विपरीतरूप से जो परद्रव्यो के साथ एकत्व की उपलब्धि है (प्रतीति हो रही है) वह अज्ञान का उदय है । (जो दु कसाउवओगो सो जीवाण कसाउदओ) आत्मा की शात अवस्था रूप शुद्धोपयोग को छोडकर जो जीवो का क्रोधादि कषायरूप मलिन परिणाम होता है वह कषाय का उदय है । और (त जाण जोग उदय ज जीवाण दु चिट्ठउच्छाहो) जीवो के मन, वचन, कायकी वर्गणा के आधार से वीर्यान्तराय के क्षयोपशम को लिये हुये प्रयत्नरूप (आत्मा

के प्रदेशो का परिस्पद रूप) जोकि कर्मग्रहरण करने का हेतु होता है हे शिष्य ! उस व्यापार रूप उत्साह को तुम योग का उदय समझो। वह (सोहणमसोहरण वा कायव्वो विरदिभावो वा) योग शुभ और अशुभ रूप मे दो प्रकार का है। जो व्रतादिक का कर्त्तव्य मानकर उनके करने मे उत्साह होता है उसे शुभ योग कहते है तथा जो नही करने के योग्य अव्रतादि रूप मे उत्साह है उसे अशुभ योग कहते हैं। (एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गरणा गय ज तु) इन निमित्तभूत मिथ्यात्वादि पाच प्रत्ययो के होने पर कर्मवर्गणा रूप नूतन पुद्गलद्रव्य (परिणमदे अट्ठविह णाणावरणादिभावेहिं) जीव के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप परिणति को लिये हुये जो परम सामायिक भाव है उसके न होने पर ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के रूप मे आठ प्रकार का परिणमन करता है। (त खलु जीव-णिबद्ध कम्मइयवग्गणागय जइया) वह पूर्व सूत्रकथित कर्मवर्गणायोग्य नूतन पुद्गलद्रव्य योग के द्वारा आकर अवश्य ही जीव के साथ मे जब सम्बद्ध होता है (तइया दु होदि हेदु जीवो परिणाम भावाण) उस समय पूर्वकथित उन उदय मे आये हुये पाच प्रत्ययो के निमित्त रूप होने पर अपने अपने गुरण स्थान के अनुसार होने वाले अपने परिणाम रूप भाव प्रत्ययो का यह जीव कारण बनता है अर्थात् उदय मे आये हुये द्रव्यप्रत्ययो के निमित्त से जब यह जीव मिथ्यात्व या रागादिरूप भाव प्रत्ययो के रूप मे परिणमन करता है तब नूतन कर्मबध का कारण होता है। इस कथन का साराश यह है कि द्रव्यप्रत्ययो के उदय होने पर यदि यह जीव अपने सहज स्वभाव को छोडकर रागादिरूप भाव प्रत्ययो के रूप मे परिण-मन करता है, तभी नूतन बध होता है, केवल द्रव्य प्रत्ययो के उदय मात्र से किसी भी सकट के समय मे भी नूतन बध नही होता। जैसे कि पाडवो के नही हुआ। यदि उदय मात्र से ही बध मान लिया जाय तब तो इस जीव के ससार सदा ही बना रहेगा, क्योंकि ससारी जीव के कर्म का उदय तो सदा बना ही रहता है ॥१४०-१४१-१४२-१४३-१४४॥

विशेषार्थ—मूल ग्रथकार श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने सामान्य रूप से अज्ञान भाव को बध का कारण बताया है, और उसके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार उत्तरभेद किये हैं। जैसा कि आत्मख्यातिकार ने अपनी लेखनी से लिखा है और मूल ग्रन्थकार भी पहले बता आये है किंतु तात्पर्य-वृतिकार ने अज्ञान भाव सामान्य को भी मिथ्यात्वादि चार विशेषो के साथ मिला कर पाच प्रत्यय बध के कारण होते हैं ऐसा बताया हैं।

इस प्रकार पुण्यपापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप इस महाधिकार मे पाच प्रत्ययो के रूपो से जो शुद्धात्मा के स्वरूप से च्युत होने वाले जीवो के अज्ञान भाव होता है, वहा बध का कारण होता है, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से पाच गाथाओ द्वारा सातवा अ तराधिकार समाप्त हुआ।

अब इसके आगे आठवा अधिकार है उसमे जीव और पुद्गल ये दोनो परस्पर मे उपादान कारण नही होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता मे तीन गाथायें हैं। उसमे आचार्य देव प्रथम यह बताते हैं कि निश्चयनय से देखा जाय तो जीव का जो परिणाम है वह कर्मपुद्गलो मे पृथकभूत ही है।

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१४५॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदय हेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१४६॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवति रागादयः ।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥१४५॥
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
तत्कर्मोदयहेतुभि र्विना जीवस्य परिणामः ॥ १४६ ॥

अर्थ—जीव के जो रागदि विकार भाव होते हैं वे वैसे ही यदि वास्तव मे कर्म के भी होते हो तो जीव और कर्म ये दोनो ही रागादिमान् होने चाहिए किन्तु ऐसा होता नही । यदि अकेले जीव के ही रागादि परिणाम मान लिये जावें नो कर्मोदय के विना भी हो जाने चाहिए ।

तात्पर्यवृत्ति —जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी यदि जीवस्योपादानकरणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवति । **एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा** एव द्वयोर्जीवपुद्गलयो रागादिपरिणामानामुपादानकारणत्वे सति सुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरागित्व प्राप्नोति । तथा मति पुद्गलस्य चेतनत्व प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोध इति । अथ—**एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं** अथाभिप्रायो भवता पूर्वदूषणभयादेकस्य जीवस्यैकातेनोपादानकारणस्य रागादिपरिणामो जायते **ता कम्मोदयहेदू हि विणा जीवस्स परिणामो** तस्मादिद दूषण कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अथवा द्वितीयव्याख्यान एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुर्भिविना रागादिपरिणामो यदि भवति तदा सम्मतमेव । किं च द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्त्ता जीव रागादिभावकर्मणामशुद्ध निश्चयेन सचाशुद्धनिश्चय यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविपभूतस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसज्ञा लभते । तथापि शुद्धात्मद्रव्यविपयभूतस्य शुद्धनिश्चयस्यापेक्षया वस्तुवृत्त्या व्यवहार एवेति भावार्थ । अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मण परिणाम इति निरूपयति ।

टीका—(जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी) रागादि भाव जो होते हैं उनका उपादान कारण जीव होता है, कर्म उदय नही (किन्तु कर्मोदय तो निमित्तरूप से उसके साथ रहता है) । यदि कर्मोदय को भी रागादि का उपादान कारण मान लिया जाय तव तो (एव जीवो कम्म च दोवि रागादिमावण्णा) जीव और पुद्गल इन दोनो मे ही रागादिक होते हुए प्रतीत होने चाहिये जैसे कि चूना और हल्दी इन दोनो के मेल से पैदा हुई लालिमा दोनो की होती है । वैसे ही कर्म और जीव दोनो ही रागादि के उपादान कारण हो तो दोनो मे राग भाव आना चाहिये । ऐसा होने पर फिर पुद्गल को भी चेतनपना प्राप्त हो जाता है, जो कि प्रत्यक्ष मे विरुद्धहै । (एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं) और उपर्युक्त दोष से वचने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि रागादिक परिणाम उपादानभूत एक जीव का ही परिणाम है (उसमे कर्मोदय का कुछ भी हाथ नही है) (ता कम्मोदय हेदूहि विणा जीवस्स परिणामो) तव तो फिर कर्मोदय के न होने पर शुद्ध जीव मे भी वह रागादि रूप परिणाम पाया जाना चाहिये, जो कि प्रत्यक्ष व आगम इन दोनो से विरुद्ध है । अथवा दूसरी प्रकार से ऐसा भी कहा जा सकता है कि उपादान रूप मे तो रागादि भावो का कारण जीव ही होता है, कर्मोदय रागादिक मे उपादान कारण नही होता, यह ठीक ही है । साराश यह है कि द्रव्य कर्मो का कर्ता तो यह जीव अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नय से होता है और रागादि भाव कर्मो का कर्त्ता अशुद्ध निश्चयनय से होता है । अशुद्ध निश्चयनय जीव को द्रव्य कर्मों का कर्त्तापना वताने वाले अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से यद्यपि निश्चय नाम को पाता है, फिर भी शुद्धात्म द्रव्य को विषय करने वाले शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा से वह वास्तव मे व्यवहार नय ही माना गया है ॥ १४५, १४६ ॥

आगे बताते हैं कि पुद्गल कर्म का जो परिणाम है वह वास्तव मे जीव से पृथक् ही है।

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ।।१४७।।
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कमस्स परिणामो ।।१४८।। (युग्मम्)

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ।। १४७ ।।
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन।
तज्जीवभाव हेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ।।१४८।।

अर्थ—इसी प्रकार यदि जीव सहित पुद्गल द्रव्य का परिणमन कर्म रूप हो तो पुद्गल और जीव ये दोनो कर्मरूप मे एकपने को प्राप्त हो जाना चाहिये, और यदि अकेले पुद्गल द्रव्य का ही परिणाम कर्म रूप मे हो तो जीव के रागादि भावो के विना ही हो जाना जाहिये, सो भी नही होता है ।।१४७-१४८।।

तात्पर्यवृत्ति—**एकस्स परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण** एकस्योपादानभूतस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणाम यत एव **ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो** तस्मात्कारणाज्जीवगतमिथ्यात्वरागादिपरिणामोपादानहेतुभिर्विनापि द्रव्यकर्मण परिणाम स्यात्।

इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकारूपे महाधिकारे जीवकर्मपुद्गलपरस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यतया गाथात्रयेणाष्टमोतराधिकार समाप्त ।

अथानतर व्यवहारेण वद्धो निश्चयेनावद्धो जीव इत्यादिविकल्परूपेण नयपक्षपातेन स्वीकारेण रहित शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन पुण्यपापादिपदार्थेभ्यो भिन्न शुद्धसमयसार गाथाचतुष्टयेन कथयतीति नवमेतराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा अथ किमात्मनि वद्धस्पृष्ट किमवद्धस्पृष्ट कर्मेति प्रश्ने सति नयविभागेन परिहारमाह।

टीका—(एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण) उपादान भूत कर्म वर्गणा योग्य अकेले पुद्गल द्रव्य का ही परिणमन कर्म रूप मे होता हो तो (ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो) फिर जीव मे होने वाली मिथ्यात्व और रागादिरूप परिणामो के उपादान हेतुभूत जीव के विकारी भाव उनके विना भी पुद्गलो का द्रव्यकर्मरूप परिणाम हो जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नही है। (इसलिये वहा पर निमित्त रूप से जीव के विकारी भावो को मानना ही पडता है, फिर भी कर्मरूप परिणमन तो कार्माण द्रव्यरूप पुद्गलो का ही होता है। जो कि वास्तव मे जीव के रागादि भावो से भिन्न होता है। ।।१४७-१४८।।

विशेषार्थ—यदि पुद्गल कर्म के उदय के साथ ही जीव का परिणाम माना जाय तो जीव और कर्म इन दोनो के रागादिक की प्राप्ति होनी चाहिये, परन्तु ऐसा है नही। अत पुद्गलद्रव्य का उदय जीव के अज्ञानरूप रागादि भावो का निमित्त कारण होता है उस निमित्त से जुदा ही जीव का रागादिरूप

परिणाम होता है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम भी जीव के साथ ही माना जाय तो दोनो के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो जाय। अत जीव का अज्ञान रूप रागादिमय परिणाम पुद्गल द्रव्य के कर्मरूप बनने मे निमित्त कारण होता है। किन्तु पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम तो उससे वास्तव मे पृथक् ही होता है।

इस प्रकार पुण्य पापादि सप्त पदार्थो की पीठिका रूप इस महाधिकार मे जीव और पुद्गल को परस्पर मे उपादान उपादेय भाव नही है, इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गाथाओ के द्वारा आठवा अ तराधिकार समाप्त हुआ।

(इति अष्टमोऽधिकार समाप्त)

अव इसके आगे नवमे अधिकार मे आचार्यदेव चार गाथाओ से शुद्ध समयसार का कथन करते है कि यह जीव शुद्ध पारिणामिक रूप परमभाव का ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय से पुण्य पापादि पदार्थों से भिन्न ही है जो कि व्यवहार नय से कर्मों मे वधा हुआ है किन्तु निश्चयनय से वधा हुआ नही है, इत्यादि विकल्प रूप नय पक्षपात मे भी रहित है। आगे जव शिष्य ने प्रश्न किया कि आत्मा कर्मो से वद्ध है या नही है, और वद्ध है तो कौन से नय से है तथा अवद्ध है तो कौन से नय मे है उसका उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४६॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितं ।
शुद्धनयस्य तु जीवे अवद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥ १४६ ॥

अर्थ—कर्म जीव से सम्वद्ध हैं, आत्म प्रदेशो मे मिले हुये हैं यह व्यवहारनय का पक्ष है और कर्म जीव मे अबद्ध स्पृष्ट हैं अर्थात् वधे हुये नही हैं ऐमा शुद्ध नय का कथन है ॥ १४६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवे कम्मं बद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद जीवेऽधिकरणभूते वद्ध सश्लेपरूपेण क्षीरनीरवत्सवद्ध स्पृष्ट योगमात्रेण लग्न च कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहारनयाभिप्राय । **सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्म** शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेविकरणभूते अवद्ध स्पृष्ट कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्वयविकल्परूप शुद्धात्म स्वरूप न भवतीति भावार्थ । अथ यस्माद्वद्धावद्धादिविकल्परूप नयस्वरूपमुक्त तस्माच्छुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन वद्धावद्धादिनयविकल्परूपो जीवा न भवतीति प्रतिपादयति ।

टीका—(जीवे कम्म वद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद) कर्म, अधिकरण भूत जीव मे नीर और क्षीर की तरह एकमेक होकर सम्वद्ध है परस्पर मिले हुये हैं तथा योग मात्र के द्वारा आत्मा मे लगे है। यह व्यवहारनय का अभिप्राय है (सुद्धणयस्स दु जीवे अवद्धपुट्ठ हवइ कम्म) शुद्धनय के अभिप्राय से अधिकरण रूप जीव मे कर्म न तो वद्ध ही हैं और न स्पृष्ट ही हैं। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनो नयो से उत्पन्न होने वाला विकल्प वास्तव मे शुद्धात्मा का स्वरूप नही है।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल कर्म को एक वध पर्याय रूप मे देखा जाय तव तो भिन्नता का अभाव है वहा जीव मे कर्म वधते भी हैं और उसे छुये हुये भी है यह व्यवहारनय का कथन है, किन्तु जीव और पुद्गल कर्म को भिन्न द्रव्यरूप मे देखा जाय तो वे दोनो अत्यन्त पृथक् पृथक् ही हैं। इसलिये जीव

मे कर्म वद्ध भी नही है और उसे छुये हुये भो नही हैं, यह निश्चयनय का पक्ष है किन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो इन दोनो वद्धावद्ध से भिन्न प्रकार का केवल चेतनत्व को लिये अमूर्त्त स्वरूप है ।। १४९ ।।

जव कि वद्धादि विकल्प रूप व्यवहार नय का पक्ष है और अवद्धादि विकल्प रूप निश्चयनय का पक्ष हैं, किन्तु पारिणामिक परमभाव का ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के द्वारा देखने पर जीव वद्धावद्धादि रूप विकल्प से सर्वथा दूर है ऐसा कथन करते हैं —

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।१५०।।

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं ।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ।।१५०।।

अर्थ —जीव मे कर्म वद्ध है (लगे हुये हैं) यह भी और जीव मे कर्म चिपके हुए नहीं हैं ऐसा भी एक नय का पक्ष है किन्तु समयसार रूप जो आत्मा है वह इन दोनो पक्षो से दूरवर्त्ती है ।।१५०।।

तात्पर्यवृत्तिः— कम्म वद्धमवद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्ख जीवेधिकरणभूते कर्म वद्धमवद्ध चेति योऽसौ विकल्प स उभयोपि नयपक्षपात स्वीकार इत्यर्थ **पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो** नयपक्षातिक्रातो भण्यते य स समयसार शुद्धात्मा । तद्यथा—व्यवहारेण वद्धो जीव इति नयविकल्प शुद्धजीवस्वरूप न भवति निश्चयेनावद्धो जीव इति च नयविकल्प शुद्धजीवस्वरूप न भवति निश्चयव्यवहाराभ्या वद्धावद्धजीव इति वचनविकल्प शुद्धजीवस्वरूप न भवति । कस्मादिति चेत् ? श्रुतविकल्पा नया इति वचनात् । श्रुतज्ञान च क्षायोपशमिक क्षयोपशमस्तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात् । यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूप भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धजीवस्वरूप न भवति । तर्हि कथ भूत जीवस्वरूपमिति चेत् ? योसौ नयपक्षपातरहितस्वसवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण वद्धावद्धमूढादिनयविकल्परहित चिदानदैकस्वभाव जीवस्वरूप भवतीति । तथा चोक्त —

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशातचित्तास्तएव साक्षादमृत पिवति ।। ६८ ।।

एकस्य वद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ।। ६९ ।।

समयाख्यानकाले या वुद्धिर्नयद्वयात्मिका । वर्तते वुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते ।।
हेयोपादेयतत्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात् । त्यक्त्वा हेयमुपादेयेवस्थान साधुसम्मत ।।

अथ नयपक्षातिक्रातस्य शुद्धजीवस्य किं स्वरूपमिति पृष्टे सति पुर्नविशेषेण कथयति ।।

टीका —(कम्म वद्धमवद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख) अधिकरण भूत जीव मे कर्म सम्वद्ध हैं, और सम्वद्ध नही है, ऐसा कथन तो एक २ नय का पक्ष है (पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समय सारो) किन्तु शुद्धात्मतत्व का वास्तविक स्वरूप जो कि समयसार नाम से कहा जाता है वह तो इन दोनो पक्षो से भिन्न प्रकार का ही है, क्योकि व्यवहारनय के कहने के अनुसार जीव कर्मों से वधा हुआ है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नही है और निश्चयनय से जीव कर्मो से अवद्ध है यह भी नय का विकल्प है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नही है इसलिये निश्चय और व्यवहार के द्वारा जीव को वद्ध या अवद्ध

कहना यह जीवमात्र का स्वरूप नही है (किन्तु यह नय का विकल्प है) । नय जितने भी होते है वे सब श्रुतज्ञान के विकल्प रूप होते हैं, यह सिद्धात की बात है, और श्रुतज्ञान है सो क्षायोपशमिक है, क्षयोपशम है वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम मे प्रकट होने के कारण यद्यपि व्यवहारनय के द्वारा छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से जीव का स्वरूप होता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से वह शुद्ध जीव का स्वरूप नही है तब फिर जीव का स्वरूप क्या है इस प्रश्न के होने पर आचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं — नय के पक्षपात से रहित जो स्वसवेदन ज्ञानी जीव है उसके विचारानुसार जीव का स्वरूप बद्धाबद्ध या मूढामूढ आदि नय के विकल्पो से रहित चिदानद स्वरूप होता है जैसा कि आत्मख्यातिकार ने कहा है —जो लोग नय के पक्षपात को छोडकर सदा अपने आपके स्वरूप मे तल्लीन रहते है एव सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित शात चित्त वाले होते हैं, वे लोग ही साक्षात् अमृत का (समयसार का) पान करते है ।।६९।। जीव व्यवहार नय की अपेक्षा से बद्ध होता है और निश्चयनय की अपेक्षा से वह बद्ध नही होता अत यह इन दोनो नयो के विचार मे अपना २ पक्षपात है । इसलिए पक्षपात रहित तत्ववेदी पुरुष के ज्ञानमे तो चेतन, चेतन ही है । बात यहा ऐसी है कि आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनो नय को लेकर चलती है, किन्तु तत्व को जान लेने के बाद स्वस्थ हो जानेपर ऊहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है । निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयो के द्वारा हेय और उपादेय तत्व का निर्णय कर लेने पर हेय का त्याग करके उपादेय तत्व मे लगे रहना साधु सतो को अभीष्ट है ।।१५०।।

विशेषार्थः—जीव को बद्ध बताने पर ससारी मात्र का ग्रहण हो सकता है किन्तु सिद्ध जीव का नही और अबद्ध कहने से जो सिद्ध जीव हैं उन्ही का ग्रहण हो सकता है उसमे ससारी जीव शेष रह जाते हैं जो कि आत्मत्व से रहित नही है अत तत्वज्ञानी जीवो की दृष्टि मे नय प्ररूपणा से परे जीव सदा चेतन स्वरूप ही हैं ।

अब आचार्य देव नय पक्ष से दूरवर्ती शुद्ध जीव के स्वरूप को कहते हैं —

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ।।१५१।।

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ।।१५१।।

अर्थ —जो पुरुष सहज परमानद स्वरूप समयसार का अनुभव करने वाला है वह दोनो नयो के कथन को जानता अवश्य है किन्तु वह किसी भी एक नय के पक्ष को स्वीकार नही करता, दोनो नयो के पक्षपात से दूर होकर रहता है ।

तात्पर्यवृत्ति —योसौ नयपक्षपातरहित स्वसवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धावद्धमूढामूढादिनयविकल्परहित चिदानदैकस्वभाव । **दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ** यथा भगवान् केवली निश्चयव्यवहाराभ्या द्वाभ्या भणितमर्थं द्रव्यपर्यायरूप जानाति । **णवरि तु समयपडिबद्धो** तथापि नवरि केवल सहजपरमानदैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीन सन् **णयपक्खपरिहीणो** सततसमुल्लसन् केवलज्ञानरूपतया श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपा-न्नयद्वयपक्षपाताद्दूरीभूतत्वात् **ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि** न तु नयपक्ष विकल्प किमप्यात्मरूपतया गृह्णाति तथाय गणधरदेवादिछद्मस्थजनोपि नयद्वयोक्त वस्तुस्वरूप जानाति तथापि नवरि केवल चिदानदैकस्वभावस्य समयस्य

प्रतिवद्ध ग्राधीन सन् श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरीभूतत्वान्नय-पक्षपातरूप स्वीकार विकल्प निर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न गृह्णाति । अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्रद्रव्यार्थिकनयेन नयविकल्पस्वरूपसमस्तपक्षपातेनातिक्रात एव समयसारे इत्येव तिष्ठति ।

टीका—(दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ) जो कोई नयो के पक्षपात से दूर स्वसवेदनज्ञानी है वह वद्ध ग्रवद्ध मूढ अमूढ आदि नय के विकल्पो से रहित चिदानदमयी एक स्वभाव को उसी प्रकार जानता है जैसा भगवान् केवलो, निश्चयनय तथा व्यवहानय के विषय द्रव्य पर्याय रूप अर्थ को जानते है (णवरि तु समयपडिवद्धो) किन्तु सहज परमानद स्वभाव जो शुद्धात्मा उसके अधीन होते हुए केवली भगवान् (णयपक्खपरिहीणो) निरन्तर केवल ज्ञान के रूप मे वर्तमान होने से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले विकल्प जाल रूप जो निश्चयनय और व्यवहारनय उन दोनो नयो के पक्षपात से रहित होने के कारण (ण दु णयपक्ख गिण्हदि किंचिवि) किसी भी नय के पक्ष रूप विकल्प को कभी स्वीकार नही करते अर्थात् उसे छूते भी नही हैं । वैसे ही गणधरदेव आदि छद्मस्थ महर्षि लोग भी दोनो नयो के द्वारा वताये हुए वस्तु के स्वरूप को जानते अवश्य हैं फिर भी चिदानन्दैक स्वभावरूप शुद्धात्मा के अधीन होते हुये अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने मे लीन होते हुए श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विकल्पो का जालरूप जो दोनो नयो का पक्षपात उससे शुद्ध निश्चय के द्वारा दूर होकर नय के पक्षपात रूप विकल्प को निर्विकल्प समाधिकाल मे अपने आत्मरूप से ग्रहण नही करते हैं ।।१५१।।

विशेषार्थः—तात्पर्य यह है कि समाधिस्थ पुरुष किसी भी अन्य पदार्थ के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी लगाव न रखकर केवलमात्र सच्चिदानदात्मक अपने आत्म स्वरूप मे लीन रहता है जैसे कि केवलज्ञानी । केवल ज्ञानी मे और उसमे उस समय यदि कोई अन्तर रहता है तो वह उतना ही कि केवल ज्ञानी का ज्ञान क्षायिक एव शास्वत होता है जव कि उस समाधिस्थ पुरुष का ज्ञान तात्कालिक एव क्षायो पशमिक । जैसे किसी वस्तु को निर्दोष तेज आख वाला आदमी आखो से ही दृढता के साथ देखता रहता है, उसे ही दुर्वल आखोवाला ऐनक लगाकर कुछ देर तक देख सकता है । उसी प्रकार केवलज्ञानी तो सहज रूप मे अपने आपका निरीक्षण करते रहते हैं, परन्तु छद्मस्थ समाधिनिरत जीव वहा पर मन को लगाकर, जव तक मन लगा रहता है तव तक आत्म निरीक्षण करते हैं । हा, केवलज्ञानी का उपयोग क्षायिक होता है, अत उनके उपयोग मे स्वरूप से आत्मा का ज्ञान होता रहता है, उसी समय पर रूप मे अन्य समस्त पदार्थो का ज्ञान भी होता है । किन्तु छद्मस्थ का उपयोग तो एकागी होता है अत वह जिस समय आत्मोन्मुखी होता है उस समय अन्य पदार्थों के स्मरण से रहित होता है और जिस समय अन्य किसी भी पदार्थ का स्मरण हुआ कि शुद्धात्मानुभव नही रह पाता ।

यदि शुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सोचा जाय तो नय के विकल्प स्वरूप जो समस्त प्रकार के पक्षपात उनमे रहित ही समयसार होता है ऐसा नीचे की गाथा मे कहते हैं—

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।।१५२।।

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशं ।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ।।१५२।।

अर्थ—जो समयसार है वह तो सभी प्रकार के नयो के पक्षपात से रहित होता है, उस समयसार को यदि किसी दूसरे शब्द से कहा जा सकता है तो वास्तव मे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान शब्द द्वारा कहा जा सकता है ।।१५२।।

तात्पर्यवृत्तिः—सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो इ द्रियानिंद्रियजनितबहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहित सन् वद्धावद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहित समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थै पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा तत कारणात् **सम्मद्दंसणणाण एदं लहदित्ति णवरि ववदेस** नवरि केवल सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेश सज्ञा लभते । न च वद्धावद्धादिव्यपदेशाविति । एव निश्चयव्यवहारनयद्वयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारव्याख्यानमुख्यतया गाथा चतुष्टयेन नवमोंतराधिकार समाप्त ।

इत्यनेन प्रकारेण **जाव ण वेदि विसेसं** इत्यादिगाथामादि कृत्वा पाठक्रमेणाज्ञानिसज्ञानिजीवयो सक्षेपसूचनार्थं गाथाषट्क । तदनतरमज्ञानिसज्ञानिजीवयोर्विशेषव्याख्यानरूपेणैकादश गाथा । ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणद्विक्रियावादिनिराकरणमुख्यत्वेन गाथापचविशति । तदनतर प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति समर्थनद्वारेण सूत्रसप्तक ततश्च जीवपुद्गलकथचित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टक । तत पर ज्ञानमयाज्ञानमयपरिणामकथनमुख्यतया गाथानवक । तदनतरमज्ञानमयभावस्य मिथ्यात्वादिपचप्रत्ययभेदप्रतिपादनरूपेण गाथापचक । ततश्च जीवपुद्गलयो परस्परोपादानकर्तृत्वनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रय । तत पर नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारकथनरूपेणा गाथाचतुष्टय चेति समुदायेनाष्टाधिकसप्ततिगाथाभिर्नवभिरतराधिकारै कर्ताकर्म महाधिकार समाप्त ।

तत्रैव मति जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ नृत्यानतर शृंगारपात्रयो परस्परपृथग्भाववत् शुद्धनिश्चयेन जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्ताविति ।

इति श्री जयसेनाचार्य कृताया समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना सवधी पीठिकारूपस्तृतीयो महाधिकार समाप्त ।

टीका—(सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो) जव कि आत्मा, निर्विकल्प समाधिस्थपुरुषो के द्वारा इ द्रियानिंद्रियजनित वाह्य विषयक समस्त मतिज्ञान के विकल्पो से रहित ही देखा और जाना जाता है । तथा वही आत्मा वद्धावद्धादिक विकल्परूप नय के पक्षपात से रहित ऐसे समयसार का अनुभव करता हुआ देखा और जाना जाता है। इसलिए (सम्मद्दसण णाण ऐद लहदित्ति णवरि ववदेस) केवल मात्र सकल विमल केवलज्ञान और केवल दर्शन रूप व्यपदेश को वह स्वीकार करता है न कि वद्धवद्धादिरूप व्यपदेशो को ।

विशेषार्थ—आत्मा को पहले आगम ज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चयकर पीछे इन्द्रियरूप मतिज्ञान को भी ज्ञान मात्र मे ही मिलाकर श्रुतज्ञान स्वरूप नयो के विकल्पो को दूर कर एव श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प वनाकर एक ज्ञान मात्र अखड प्रतिभास का अनुभवन करना ही सययसार है और वही योगियो के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। यहा पर समीची श्रद्धान मात्र को ही सम्यग्दर्शन न वताकर सत्य श्रद्धानी जीव की आत्मानुभवरूप अवस्था विशेष जो परमसमाधिकाल मे होती है उसी को सम्यग्दर्शन स्वीकार किया गया है । और उसी को सम्यग्ज्ञान नाम दिया है ।

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनो नयो के पक्षपात से रहित शुद्ध समयसार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाओ द्वारा यह नवमा अ तराधिकार समाप्त हुआ । इस प्रकरण के

द्वारा (जावण वेदि विसेस) इत्यादि गाथा से शुरू करके पाठ के क्रम से अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव की सक्षेप सूचना देते हुए छ गाथा कही हैं और इसके वाद अज्ञानी और सम्यज्ञानी जीव का विशेप व्याख्यान करते हुए ग्यारह गाथा कही हैं फिर चेतन और अचेतन सव कार्यो का एक ही उपादान कर्त्ता होता है ऐसे अभिप्राय वाले द्विक्रियावादी के निराकरण की मुख्यता से २५ गाथाये कही हैं इसके अनतर मिथ्यात्वादि पाच प्रत्यय ही कर्म करते हैं, आत्मा नही, इस प्रकार का समर्थन करते हुए ७ गाथाये कही है, इसके आगे जीव और पुद्गल का कथचिद् परिणामित्त्व स्थापन करने की मुख्यता को लेकर आठ गाथाये कही हैं इसके अनतर ज्ञानमय और अज्ञानमय परिणाम के कथन की मुख्यता से ६ गाथाये है इसके आगे अज्ञानमय भाव को मिथ्यात्वादि पाच प्रत्यय के भेद रूप से प्रतिपादन करने वाली ५ गाथाये हैं। तदनतर जोव और पुद्गल ये दोनो परस्पर एक दूसरे के उपादान कर्त्ता नही हैं इस प्रकार के कथन की मुख्यता से ३ गाथाये कही हैं। इसके पीछे यह वतलाते हुए कि शुद्ध समयसार तो नय के पक्षपात से सर्वथा रहित है, ऐसा कथन करने मे ४ गाथाये आई हैं। इस प्रकार समस्त ७८ गाथाओ के द्वारा और ६ अन्तराधिकारो के द्वारा यह कर्त्ता कर्म नाम का महाधिकार समाप्त हुआ।

वहा जीव और अजीव के अधिकार रूप इस ग्रन्थ की रगभूमि मे भेषधारी दो पात्र नृत्य करते हैं, और वाद मे वे पृथक् २ हो जाते हैं। वैसे ही यहा शुद्ध निश्चयनय के द्वारा जीव और अजीव ये दोनो अपने अपने कर्त्ता और कर्म भेष को छोड कर निकल गये है।

इति श्री **जयसेनाचार्यकृत** समयसार की तात्पर्यवृत्ति नाम की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद मे यह पुण्यपापादि सप्त पदार्थो से सम्बध रखने वाला यह पीठिका रूप तीसरा महाधिकार समाप्त हुआ।

(इति तृतीयो महाधिकार समाप्त.)

---

४ पुण्यपापाधिकारः (चतुर्थ महाधिकार)

तात्पर्यवृत्ति —अथानतर निश्चयेनैकमपि पुद्गलकर्म व्यवहारेण द्विपदीभूतपुण्यपापरूपेण प्रविशति **कम्ममसुह कुसील** इत्यादि गाथामादि कृत्वा क्रमेणैकोर्नविशतिसूत्रपर्यंत पुण्यपापव्याख्यान करोति। तत्र यद्यपि पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चियेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपट्क तदनंतरमध्यात्मभापया शुद्धात्मभावना विना आगमभापया तु वीतरागसम्यक्त्व विना व्रतदानादिक पुण्यवधकारणमेव न च मुक्तिकारण सम्यक्त्वसहित पुन. परपरया मुक्तिकारण च भवति इति मुख्यतया **परमट्ठो खलु,** इत्यादिसूत्रचतुष्टय। तत पर निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **जीवादीसद्दहण** इत्यादिगाथानवक कथयतीति पुण्यपापदार्थाधिकारसमुदायपातनिका। तद्यथा—ब्राह्मण्या पुत्रद्वय जात तत्रैक उपनयनवशाद्ब्राह्मणो जात द्वितीय' पुनरुपनयनाभावाच्छूद्र इति। तथैकमपि निश्चयनयेन पुद्गलकर्म शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तेन व्यवहारेण द्विधा भवतीति कथयति।

तदनंतर निश्चयनय से जो पुद्गल कर्म एक रूप है वही व्यवहार नय के द्वारा पुण्य और पाप के भेद से दो रूप होकर इस रगभूमि मे प्रवेश करता है।

"कम्ममसुह कुसील" इत्यादि गाथा से शुरू करके क्रम से १९ गाथा तक पुण्य पाप का व्याख्यान करते हैं, वहा यद्यपि व्यवहार नय से पुण्य और पाप मे भेद है, तथापि निश्चय से इनमे भेद नही है। इस प्रकार के व्याख्यान की ६ गाथाये आई हैं। उसके बाद यह बतलाते हुये कि अध्यात्म भाषा मे जिसको शुद्धात्म भावना कहते है और आगम भाषा मे जिसे वीतराग सम्यक्त्व कहते है, उसके बिना जो व्रत दानादिक किये जाते है वे सब मुक्ति के कारण नही होकर केवल मात्र पुण्यबध के कारण होते हैं, किन्तु वे ही व्रत, दानादिक यदि सम्यक्त्व सहित हो तो परम्परा से मुक्ति के कारण भी होते है। इस प्रकार का कथन करते हुए (परमट्ठो खलु) इत्यादि ४ गाथाये आती है उसके आगे निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष मार्ग का कथन करने की मुख्यता से (जीवादी सद्दहण) इत्यादि ९ गाथा कही गई है। यह पुण्य पाप रूप पदार्थ के अधिकार की समुदाय पातनिका हुई।

यहा अब आचार्यदेव बतलाते हैं कि किसी एक ब्राह्मणी के दो पुत्र हुए, उसमे से एक का उपनयन सस्कार हो जाने से वह ब्राह्मण हो गया किन्तु दूसरे का उपनयन सस्कार नही हुआ, अत वह शूद्र हो गया। इसी प्रकार जो पुद्गल कर्म निश्चय मे एकरूप है वही जीव के शुभाशुभ परिणामो के निमित्त से व्यवहार मे दो प्रकार का हो जाता है।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१५३॥

कर्माशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीत सुशीलं।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१५३॥

अर्थ—अशुभ कर्म तो पाप रूप है, बुरा है और शुभ कर्म पुण्य रूप है, अच्छा है। ऐसा सर्वसाधारण कहते हैं परन्तु परमार्थ दृष्टि से देखें तो जो कर्म इस जीव को कारागारात्मक शरीर रूप ससार मे ही बनाये रखता है वह कर्म अच्छा कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नही हो सकता है।

तात्पर्यवृत्ति—कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्म चावि जाणह सुसील कर्माशुभ कुत्सित कुशील हेयमिति। शुभकर्म सुशील शोभनमुपादेयमिति केषाचिद्व्यवहारिणा पक्ष सन् निश्चयरूपेण पक्षातरेण बाध्यते। **किह त होदि सुसील ज ससारं पवेसेदि** निश्चयवादी ब्रूते कथ तत्पुण्यकर्म सुशील शोभन भवति? यज्जीव ससारे प्रवेशयति। हेतुस्वभावानुभवबधरूपाश्रयाणा निश्चयेनाभेदात् कर्मभेदो नास्तीति। तथाहि हेतुस्तावत्कथ्यते शुभाशुभपरिणामो हेतु। स च शुद्धनिश्चयेनाशुभत्व प्रति, एक एव द्रव्य पुण्यपापरूप पुद्गलद्रव्यस्वभाव। सोऽपि निश्चयेन पुद्गलद्रव्य प्रति, एक एव तत्फल सुखदु खरूप स च फलरूपानुभव। सोप्यात्मोत्थनिर्विकारसुखानदापेक्षया दु खरूपेणैक एव आश्रयस्तु शुभाशुभबधरूप। सोऽपि बध प्रत्येक एव इति हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणा सदाप्यभेदात्। यद्यपि व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति इति व्यवहारवादिना पक्षो बाध्यत एव।

टीका—(कम्ममसुह कुसील सुहकम्म चावि जाणह सुसील) जो अशुभकर्म है वह तो निन्दनीय है, बुरा है अत नही करने योग्य है किन्तु शुभकर्म सुहावना है, सुखदायक है, इसलिये उपादेय है (करने

योग्य है) ऐसा कुछ व्यवहारी लोगो का कहना है, जो कि निश्चयरूप दूसरे पक्ष के द्वारा निषेध किया जाता है। (किह त होदि सुसील ज ससार पवेसेदि) निश्चयवादी बोलता है कि जीव को ससार मे ही बनाये रखता है वह पुण्यकर्म सुहावना और सुख देने वाला कैसे हो सकता है, (क्योकि ससार तो सारा ही दुखरूप है)। कर्म के हेतु, स्वभाव अनुभव और बध रूप आश्रय का जब विचार किया जाय तो उसमे कोई भेद प्रतीत नही होता इसलिए वास्तव मे कर्म मे कोई पुण्य पाप रूप भेद नही है वही स्पष्ट कर बताते हैं-कर्म का हेतु जीव का शुभाशुभरूप परिणाम है जो कि शुद्ध निश्चय से देखने पर एक अशुभ रूप ही प्रतीत होता है। द्रव्य भी पुण्य पाप रूप पुद्गल द्रव्य है जो कि निश्चयनय के द्वारा देखने पर जड़-स्वभाव रूप एक ही है और उसका फल जो सुख दुखरूप अनुभव मे आता है वह भी आत्मा से उत्पन्न हुये निर्विकार सुख की अपेक्षा से दुख रूप ही प्रतीत होता है और शुभाशुभ बध रूप जो आश्रय है वह भी बध-पने की अपेक्षा से एक रूप ही है। इस प्रकार पुण्यकर्म और पाप कर्म के हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय मे कही कोई भेद नही है, किन्तु सदा अभेद ही है। यद्यपि व्यवहार से देखें तो उसमे भेद होता है फिर भी निश्चयनय से वहा शुभ और अशुभ कर्म रूप कोई भेद नही है। इसलिऐ व्यवहारी लोगो का जो पक्ष है वह बाधित हो जाता है ॥१५३॥

शुभ और अशुभ रूप दोनो ही कर्म सामान्यतया बधरूप है ऐसा बताते हैं—

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१५४॥

सौर्वाणकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥१५४॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा सवर्णनिगल लोहनिगल च अविशेषेण पुरुप वध्नाति तथा शुभमशुभ वा कृत कर्म अविशेपेण जीव वध्नातीति। किंच। भोगाकाक्षानिदानरूपेण रूपलावण्यसौभाग्यकामदेवेन्द्राहमिद्रख्यातिपूजालाभादि-निमित्त यो व्रतपश्चरणदानपूजादिक करोति, स पुरुप तक्रनिमित्त रत्नविक्रयवत्, भस्मनिमित्त रत्नराशिदहनवत्, सूत्रनिमित्त हारचूर्णवत्, कोद्रवक्षेत्रवृत्तिनिमित्तमगुरुवनच्छेदनवत्। वृथैव व्रतादिक नाशयति। यस्तु शुद्धात्मभावना-साधनार्थं वहिरगव्रततपश्चरणदानपूजादिक करोति स परपरया मोक्षं लभते इति भावार्थं।

अथोभयकर्मा निशेपण मोक्षमार्गविपये निषेधयति—

टीका व अर्थ—जैसे सोने की बनी बेडी हो चाहे लोहे की बनी हुई हो दोनो ही तरह की बेडिया पुरुप को साधारण रूप मे जकड कर रखती है। इसी प्रकार चाहे शुभ या अशुभ कर्म हो वह साधारण रूप मे जीव को ससार मे रखता है। भावार्थ—शुभ और अशुभ इन दोनो कर्मों मे बध या ससार भाव की अपेक्षा कोई भी अंतर नही है। दोनो कर्म ससार रूप ही हैं। अत जो कोई पुरुष भागो की अकाक्षा रूप निदान करते हुए सौन्दर्य, सौभाग्य, कामदेव पद, देवेन्द्र पद, अहमिंद्र पद, ख्याति, पूजा, लाभ आदि मुझे प्राप्त हो, इस निमित्त मे व्रत, तपश्चरण या दान पूजादि करता है वह पुरुप अपने उस व्रत, तपश्चरण आदि रूप आचरण को व्यर्थ ही खोता है। जैसे कि कोई सूत के धागे के लिए मोतियो के हार को तोडता है अथवा कोदो धान्य को वोने के लिए चन्दन के वन को काटता है। छाछ के लिए रत्न बेचता है या

भस्म के लिये रत्न राशि जलाता है। यह ठीक है कि जो शुद्धात्मा की भावना को बनाये रखने के लिए वहिरगव्रत तत्पश्चात् या दानपूजादि करता है, वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होता है ।। १५४ ।।

शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्म मोक्षमार्ग मे रोडा अटकाने वाले हैं, अत दोनो ही निषिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

तह्मा दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ।।१५५।।

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां रागं मा कुरुत मा वा संसर्गं ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ।। १५५ ।।

अर्थ —शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्म कुशील है, हीन स्वभाव वाले हैं, इसलिए इन दोनो के साथ ही तुम लोग प्रीति मत करो, और इनके साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध भी मत रक्खो। क्योकि कुशीलो के ससर्ग से और उनके साथ प्रेम करने से अपनी स्वाधीनता का विनाश होता है।

तात्पर्यवृत्तिः—तम्हादु कुसीलेहिय रायं मा काहि मा व संसग्गं तस्मात् कारणात् कुशीलै कुत्सितै शुभाशुभकर्मभि सह चित्तगतराग मा कुरु। वहिरगवचनकायगतससर्ग च मा कुरु कस्मात् ? इति चेत्। **साधीणो हि विणासो कुसीलससग्गरायेण** कुशीलससर्गरागाभ्या स्वाधीनो नियमेन विनाश निर्विकल्पसमाधिविघातरूप स्वार्थभ्रंशो हि स्फूट भवति अथवा स्वाधीनस्यात्मसुखस्य विनाश इति।

अथोभयकर्म प्रति निषेध स्वयमेव श्रीकुन्दाचार्यदेवा दृष्टातदार्ष्टांताभ्या समर्थयति।

टीका—(तम्हा दु कुसीलेहिय राय मा काहि मा व ससग्ग) इसलिए खोटे स्वभाव वाले शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार के कर्मो के साथ मानसिक प्रेम मत करो और वाह्य वचन एव काय गत ससर्ग भी मत करो। क्योकि (साधीणो हि विणासो कुसीलससग्गरायेण) कुशीलो के साथ प्रेम करने से स्वाधीनता का अवश्य ही नाश होता है। निर्विकल्द समाधि का विघात होता है अत अपना अहित होता है अर्थात् स्वाधीन जो आत्मसुख है उसका नाश होता है ।। १५५ ।।

अव आचार्यदेव दृष्टात देकर इसी वात को और स्पष्ट करते हैं कि दोनो ही कर्म निषिद्ध हैं।

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ।। १५६ ।।
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा ।।१५७।।

यथा नाम कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ।।१५६।।

एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं हि कुत्सितं ज्ञात्वा ।
वर्जयन्ति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥१५७॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष किसी को खराव स्वभाव वाला जान लेता है तो फिर उसके साथ न तो प्रेम करता है और न किसी प्रकार का सम्बन्ध ही रखता है। वैसे ही सहज स्वभाव का धारक ज्ञानी जीव भी सभी कर्म प्रकृतियो के शील स्वभाव को वुरा जानकर उनके साथ राग करना और सम्बन्ध रखना छोड देते हैं एव निज स्वभाव मे लीन रहते हैं।

तात्पर्यवृत्ति —**जहणाम कोवि पुरिसो कुच्छिय सीलं जणं वियाणित्ता** यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुष कुत्सितशील जन ज्ञात्वा **वज्जेदि तेण समय ससग्ग रायकरणं च** तेन समक सह बहिरगवचन कार्यगत ससर्ग मनोगत राग च वर्जयतीति दृष्टात **एमेव कम्मपयडी सीलसहाव हि कुच्छिदं णादु** ऐवमेव पूर्वोक्तदृष्टान्तन्यायेन कर्मणः प्रकृतिशील स्वभाव कुत्सित हेयं ज्ञात्वा **वज्जति परिहरति य तं संसग्गं सहावरदा** इह जगति वर्जयन्ति तत्ससर्ग वचनकायाभ्या परिहरन्ति मनसा राग च तस्य कर्मण के ते ? समस्तद्रव्यभावगतपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्वभावरता साधव इति दार्ष्टांत ।

अथोभयकर्म शुद्धनिश्चयेन केवल वधहेतु न केवल वधहेतु प्रतिषेध्य चागमेन साधयति—

टीका—(जह णाम कोवि पुरुसो कुच्छिय सील जण वियाणित्ता) जवकि कोई पुरुष किसी को वुरे स्वभाव वाला अच्छी तरह समझ लेता है तो (वज्जेदि तेण समय ससग्ग रायकरण च) उसके साथ शरीर से ससर्ग छोड देता है साथ ही वोलना भी छोड देता है तथा उसके साथ किसी भी प्रकार का मानसिक प्रेम भी नही रखता। (एवमेव कम्मपयडी सील सहाव हि कुच्छिद णादु) उसी प्रकार कर्मप्रकृतियो के शील स्वभाव को निन्दनीय जानकर (वज्जति परिहरति य त ससग्ग सहावरदा) उनके साथ वचन और काय से भी ससर्ग छोड देते हैं और मन से भी राग करना छोड देते है। कौन छोड देते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते है कि समस्त प्रकार के द्रव्य और भावगत पुण्य पाप के परिणाम का परिहार करने मे परिणत ऐसे अभेद रत्नत्रय लक्षण वाले निर्विकल्प समाधि मे जो लोग तत्पर रहते हैं वे साधु छोड देते हैं।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यह ग्रन्थ ऋषि, मुनि, योगी लोग जो कि एकान्त से निराकुलता के ग्राहक होते हैं उन्ही को लक्ष्य मे लेकर लिखा है। इसलिए लिखते हैं कि हे साधो ! तुम लोगो के लिए जिस प्रकार चोरी करना और झूठ वोलना आदि कर्म हेय है, उसी प्रकार दान पूजा आदि कर्म भी तुम्हारे लिए कर्त्तव्य नही है। क्योकि उनको करते रहने पर भी निराकुलता प्राप्त नही हो सकती हैं। निराकुलता के लिए तो केवल आत्मनिर्भर होना पडेगा। इससे यदि कोई गृहस्थ भी अपने लिये ऐसा ही समझले तो, या तो उसे गृहस्थाश्रम को छोड देना होगा नही तो वह मनमानी करके कुगति का पात्र वनेगा, अत उसे तो चोरी जारी आदि कुकर्म से दूर रहकर परिश्रमशीलता, परोपकार, दान पूजा आदि सत्कर्म करते हुए अपने गृहस्थ जीवन को निभाना चाहिए।

अब दोनो ही कर्म शुद्ध निश्चय नय से न केवल वध के ही कारण हैं अपितु निषेध करने योग्य भी है ऐसा आगम से सिद्ध करते है —

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज ॥१५८॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्पन्नः ।
एष जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मारज्यस्व ॥१५८॥

अर्थ—रागी जीव तो कर्मो का वध करता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्मो से मुक्त होता है । ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है इसलिये शुभाशुभ कर्मो मे रजायमान मत होओ ।

तात्पर्यवृत्ति—(**रत्तो बधदि कम्म मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो** यस्मात् कारणात् रक्त स कर्माणि वध्नाति । मुच्यते जीव कर्मजनितभावेपु विरागसपन्न **एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज** एप प्रत्यक्षीभूतो जिनोपदेश कर्त्ता किं करोति ? उभय कर्म वधहेतु न केवल वधहेतु प्रतिपेध्य हेयं च कथयति तस्मात्कारणात् शुभाशुभ सकल्परहितत्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसस्वादेन तृप्तोभूत्वा शुभाशुभ कर्मणि मा रज्यस्व राग मा कुर्विति । एव यद्यप्यनुपचरितामद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्भेदोऽस्ति अशुद्ध निश्चयेन पुनस्तद्द्वयजनितेंद्रिय-सुखदु खयोर्भेदोऽस्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्क गत ।

अथ विशुद्धज्ञानशब्दवाच्य परमात्मान मोक्षकारण कथयति ।

टीका:—(रत्तो वधदि कम्म मु चदि जीवो विराग सपत्तो) क्योकि जो रागी जीव होता है वह निरतर कर्मवध करता रहता है और कर्मजनित भावो मे जो विराग सम्पन्न होता है वह मुक्त हो जाता है (एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज) यह स्पष्ट रूप से जिन भगवान् का उपदेश है कि शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार का कर्म, वध का हेतु है । और इसलिए वह हेय भी है, फलत शुभ और अशुभ दोनो ही तरह के सकल्प विकल्प से रहित होते हुये अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो निर्विकार सुखामृत रूप रस उसका स्वाद लेने से तृप्त होकर तुम शुभ और अशुभ दोनो ही तरह के कर्म मे रुचि मत करो अर्थात् राग करना छोड दो । इस प्रकार यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय के द्वारा द्रव्य रूप पुण्य और पाप मे भेद है तथा अशुद्ध निश्चयनय से उन दोनो के द्वारा उत्पन्न हुए इन्द्रिय जन्य सुख और दुख मे भी भेद है, फिर भी शुद्ध निश्चनय से देखा जाय तो कोई भेद नही है । इस प्रकार के व्यास्यान की मुख्यता से छ गाथाये हुई ॥ १५८ ॥

विशेषार्थ.—यहा टीकाकार स्पष्ट कर वता रहे हैं कि जो त्यागी होकर परम समाधि मे लगा रहना चाहता है, उसके लिए क्या शुभ और क्या अशुभ सभी कर्म उपेक्षणीय होते है, किन्तु जहा समाधि से हटकर कर्तव्य शीलता पर मन आया कि वहा पापाचार से वचे रहने के लिए परिश्रमशीलता और विश्वासपात्रता जैसे सत्कर्मो मे प्रयत्नपूर्वक लग जाना आवश्यक है ।

अव आगे विशुद्ध ज्ञाननाम वाला परमात्मतत्व ही मोक्ष का कारण है, ऐसा वताते हैं —

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५९॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी ।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम् ॥१५६॥

अर्थ —निश्चय कर परमार्थ रूप जीवात्मा का स्वरूप ऐसा है कि जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है अर्थात् ससार की बातो से मौन रखने वाला है और ज्ञानी है । इस प्रकार ये जिसके नाम हैं उस स्वभाव मे स्थित होकर, तन्मय होकर ही मुनिलोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्यवृत्तिः—**परमट्ठो खलु समओ** उत्कृष्टार्थ परमार्थः स क ? परमात्मा अथवा धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परम उत्कृष्टो मोक्षलक्षणार्थ परमार्थ सोऽपि स एव । अथवा मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैक परमार्थ सोऽपि परमात्मैव खलु स्फुट **समओ** सम्यगयति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समय । अथवा सम्यगय सशयादिरहितो बोधो ज्ञान यस्य भवति स समय । अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयन गमन परिणमन समय सोऽपि स एव शुद्धो रागादिभाव कर्मरहितो य । सोऽपि स एव **केवली** परद्रव्यरहितत्वेनासहाय केवली सोऽपि स एव **मुणी** मुनि । स एव **णाणी** विशुद्धज्ञानमस्यास्तीतिज्ञानी सोऽपि प्रत्यक्षज्ञानी । सोऽपि परमात्मैव । **तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं** । तस्मिन् परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वसवेदनज्ञानरता मुनयस्तपोधना निर्वाण प्राप्नुवति लभत इत्यर्थ ।

अथ तस्मिन्नेव परमात्मनि स्वसवेदनज्ञानरहिताना व्रततपश्चरणादिक पुण्यबधकारणमेवेति प्रतिपादयति—

टीका:—(परमट्ठो खलु समओ) वास्तव मे शुद्धात्मा ही परमार्थ है, सर्वोत्कृष्ट अर्थ है, क्योकि धर्म अर्थ काम और मोक्ष स्वरूप है वह परमात्मरूप ही है अथवा मति, श्रुत अवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञान इन भेदो से रहित होते हुये ज्ञान स्वरूप है, वही निश्चय से परमार्थ है । वह भी परमात्मस्वरूप ही है । (समओ) क्योकि समय शब्द की व्युत्पत्ति ही ऐसी है कि 'सम्यक् अयति शुद्ध गुण पर्यायान् परिणमति स समय' अर्थात् जो भले प्रकार से अपने गुण और पर्यायो मे रहता है वह समय कहलाता है अथवा 'सम्यक् अय' सशयादि से रहित ज्ञान जिसको होता है वह समय है अथवा 'सम्' यह एकता का नाम हैं अत एक रूप से परम समरसीभाव से जो अपने शुद्ध स्वरूप मे 'अयन' अर्थात् गमन—परिणमन करना वह समय कहलाता है, अथवा जो शुद्ध रागादि भाव कर्म से रहित है वह समय कहलाता है, (इस प्रकार समय नाम परमात्मा का ठहरता है) (केवली) शब्द का अर्थ होता है सहाय रहित अत पर द्रव्य की सहायता से रहित होने के कारण वही केवली भी है । (मुणी) (लौकिक बातो से दूर होने के कारण) वह परमात्मा ही मुनि भी है । (णाणी) विशुद्ध ज्ञान जिसको हो वह ज्ञानी होता है अत वह भी प्रत्यक्षज्ञानी परमात्मा ही है । (तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावति णिव्वाण) उसी परमात्म स्वभाव मे स्थित रहने वाले (तन्मयता रखने वाले) वीतराग स्वसवेदन ज्ञान मे लीन मुनि एव तपस्वी जन ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥१५६॥

परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१६०॥

परमार्थे चास्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं विदंति सर्वज्ञाः ॥१६०॥

अर्थ—जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा मे स्थित नही हो रहा है और तप करता है तथा व्रतो को धारण करता है तो उसके व्रत और तप को सर्वज्ञदेव 'अज्ञानतप' और 'अज्ञानव्रत' कहते हैं ।।१६०।।

तात्पर्यवृत्ति—**परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि** तस्मिन्नेव पूर्वसूत्रोक्तपरमार्थलक्षणे परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरण करोति व्रतादिक च धारयति **तं सव्व बालतव बालवद विंति सव्वण्हू**—तत्सर्व बालतपश्चरण बालव्रत ब्रुवति कथयति के ते ? सर्वज्ञा । कस्मात् ? इति चेत् पुण्यपापोदयजनितसमस्तेंद्रियसुखदु खाधिकारपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वाद् इति ।

अथ स्वसवेदनज्ञान तथैवाज्ञान चेति यथाक्रमेण मोक्षबधहेतू दर्शयति—

टीका—(परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तव वद च धारयदि) उपर्युक्त परमार्थ लक्षणवाले परमात्म स्वरूप मे जो स्थित नही हैं, अर्थात् उससे दूर हो रहा है फिर भी जो तपश्चरण करता है और व्रतादि को धारण करता है। (त सव्व बालतव बालवद विंति सव्वण्हू) उस तप को बालतप (अज्ञानतप) और उसके व्रत को बालव्रत (अज्ञानव्रत) नाम से सर्वज्ञ भगवान् कहते है। क्योकि उसका वह तप और व्रत, पुण्यपाप के उदय से होने वाले, समस्त इद्रिय जनित सुख दुख के अधिकार से रहित जो अभेद रत्नत्रय सो ही है लक्षण जिसका एसे विशिष्ट ज्ञान के आनद से रहित है।

विशेषार्थ—यहा पर 'ज्ञान' शव्द से सामान्य ज्ञान न लेकर शुद्धआत्मज्ञान, वीतराग निर्विकल्प ज्ञान को ही ज्ञान शव्द से लिया गया है। अत उससे रहित जो कोई भी आचरण या अनुष्ठान है वह ज्ञान रहित कहा गया है।

आगे स्वसवेदन ज्ञान को मोक्ष का कारण और अज्ञान को वध का कारण क्रमश बतलाते हैं—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ।।१६१।।
व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वाणाः ।
परमार्थबाह्या येन तेन ते भवन्त्यज्ञानिनः ।। १६१ ।।

अर्थ—यद्यपि जो व्रत और नियमो को धारण करते हैं, शील पालते है, तथा तप भी करते हैं परन्तु परमात्म स्वरूप के ज्ञान से रहित हैं इसलिये वे सब अज्ञानी हैं।

तात्पर्यवृत्तिः—**वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तव च कुव्वता** त्रिगुप्तसमाधिलक्षणाभेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रतनियमान् धारयत , शीलानि तपश्चरण च कुर्वाणा अपि मोक्ष न लभते कस्मादितिचेत् **परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवत्यज्ञानिन । अज्ञानिना तु कथ मोक्ष ? ये तु परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितास्ते तु व्रतनियमानधारयन्तोऽपि शीलानि तपश्चरण बाह्यद्रव्यरूपमकुर्वाणा अपि मोक्ष लभते । तदपि कस्मात् ? येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् परमार्थादबाह्यास्तेन कारणेन ते च ज्ञानिनो भवति । ज्ञानिना तु मोक्षो भवेत्येवेति ।

किंच विस्तर—व्रतनियमशीलवहिरगतपश्चरणादिक विनापि यदि मोक्षो भवति इति तर्हि सकल्पविकल्परहिताना विषयव्यापारेऽपि पाप नास्ति तपश्चरणाभावेऽपि मोक्षो भवति इति साख्यशैवमतानुसारिणो वदन्तीति तेषामेव मत

सिद्धिमिति । नैव, निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहिताना मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणित तिष्ठति। एवभूतभेदज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापारा परपरया मुक्ति कारणभूतास्तेऽपि न सति । ये पुनरशुभविषय कपायव्यापाररूपास्ते विशेषेण न सति । न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरगविषयव्यापारो दृश्यते । तदुलस्याभ्यतरे तुपे गते सति बहिरगतुप इव । तदपि कस्मात् ? इति चेत् निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषाययोर्द्वयो परस्पर विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति ।।

अथ वीतरागसम्यक्त्वरूपा शुद्धात्मभावना विहाय तेन पुण्यमेवैकातेन मुक्तिकारण ये वदति तेपा प्रतिबोधनार्थं पुनरपि दूपण ददाति

टीका —(वदणियमाणि धरता सीलाणि तहा तव च कुव्वता) जिसमे तीन गुप्तियो का पालन हुआ करता है ऐसा परम समाधि ही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान से जो दूरवर्त्ती हैं, वे व्रत और नियमो को धारण करते हुये और तपश्चरण करते हुये भी मुक्ति को प्राप्त नही होते है । क्योकि (परमट्ठ बाहिरा जेण, तेण ये होंति अण्णाणी) पूर्वोक्त भेद ज्ञान के न होने से वे परमार्थ से दूर रहने वाले होते हैं, इसलिये अज्ञानी होते है, फलत अज्ञानियो को मोक्ष कैसे हो सकता है ? हा, जो परमसमाधि स्वरूप भेदज्ञान से युक्त हैं, वे व्रत, नियम और शीलो को बिना धारण किये भी और बाह्य द्रव्य रूप तपश्चरण को न करते हुये भी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, क्योकि वे पूर्वोक्त भेद ज्ञान रूप परमार्थ से युक्त होते है, इसलिये वे ही ज्ञानी भी होते है । और जब ज्ञानी होते है तो ज्ञानियो को मोक्ष होना ही चाहिये । यहा पर कोई शका कर सकता है कि व्रत, नियम, शील और बहिरग तपश्चरण न करते हुये भी मोक्ष होती है तो सकल्प विकल्प रहित जीवो के विषयो के व्यापार होते हुये भी पाप नही है तथा तपश्चरण के विना ही मोक्ष हो जाता है । तब तो फिर साख्य और शैव मतानुसार लोगो का कहना ही ठीक हो गया । परन्तु ऐसी बात नही है, क्योकि अनेक बार ऐसा बताया जा चुका है कि निर्विकल्प रूप तीन गुप्तियो से युक्त ऐसी जो परम समाधि वही है लक्षण जिसका इस प्रकार के भेद ज्ञान से जो युक्त हैं उनको मोक्ष होता है । और इस प्रकार के भेद ज्ञान के काल मे जो शुभ रूप मन, वचन, काय के व्यापार है जो कि परम्परा से मुक्ति के कारण होते हैं, वे भी नही रहते तो फिर अशुभ विषय कषाय के व्यापार रूप जो मन, वचन, काय की चेष्टा है वह तो वहा रहेगी ही कैसे ? क्योकि चित्त मे होने वाले रागभाव के नष्ट हो जाने पर वहा बहिरग विषयो मे होने वाला व्यापार नही देखा जाता जैसे कि तुष के भीतर और तदुल के ऊपर की ललाई जहा दूर हो गई वहा फिर तुष का सद्भाव कैसा ? इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि के समय बाह्य विषय सम्बन्धी व्यापार कभी नही रह सकता । क्योकि जैसे शीत और उष्ण के परस्पर विरोध है वैसे ही निर्विकल्प समाधि लक्षण भेदज्ञान और विषय कषाय रूप व्यापार इन दोनो के परस्पर विरोध है, दोनो एक जगह एक काल मे नही रह सकते ।। १६१ ।।

अब जो वीतराग सम्यक्त्व स्वरूप शुद्धात्मभावना को छोडकर एकात रूप से पुण्यरूप शुभ चेष्टा को ही मुक्ति का कारण बताते हैं, उनके निराकरण करने के लिये आगे स्पष्ट करते है —

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ।।१६२।।

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति ।
संसारगमनहेतुं अपि मोक्षहेतुमजानन्तः ।। १६२ ।।

अर्थ—जो लोग उपर्युक्त परमार्थ से बाह्य हैं, परमार्थभूत आत्मा का जो अनुभव नही करते हैं वे लोग अपने अज्ञान भाव के द्वारा पुण्य को ही अच्छा मान कर करते रहते हैं जो कि ससार को बनाये रखने का हेतु है क्योकि वे लोग मोक्ष का कारण ज्ञान स्वरूप जो आत्मा उसका अनुभव नही कर पाते हैं।

तात्पर्यवृत्ति—इह हि केचन सकलकर्मक्षयमोक्षमिच्छतोऽपि निजपरमात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षण परमसामायिक पूर्वं दीक्षाकाले प्रतिज्ञायापि चिदानदैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानसामर्थ्याभावात्पूर्वोक्त-परमसामायिकमलभमाना परमार्थबाह्या सतः ससारगमनहेतुत्वेन बधकारणमप्यज्ञानभावेन कृत्वा पुण्यमिच्छति। किं कुर्वन्त ? अभेदरत्नत्रयात्मक मोक्षकारणमजानत । अथवा द्वितीयव्याख्यान बघहेतुमपि पुण्य मोक्षहेतुमिच्छति। किं कुर्वन्त ? पूर्वोक्तमभेदरत्नत्रयात्मकपरमसामायिक मोक्षकारणमजानत सत इति। किं च निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति। अथवा निश्चयव्रत तदेवेत्यभिप्राय ।

इति वीतरागसम्यक्त्वरूपा शुद्धात्मोपादेयभावना विना व्रततपश्चरणादिक पुण्यकारणमेव भवति तद्भावना-सहित पुनर्बहिरगसाधकत्वेन परपरया मुक्तिकारण चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय गत ।

एव गाथादशकेन पुण्याधिकार समाप्त ॥

अथ सविकल्पत्वात्पराश्रितत्वाच्च निश्चयेन पापव्याख्यानमुख्यत्वेन, अथवा निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **जीवादीसद्दहण**मित्यादिसूत्रद्वय। तदनतर मोक्षहेतुभूतो योऽसौ सम्यक्त्वादिजीवगुणस्तत्प्रच्छादनमुख्यत्वेन। **वत्थस्स-सेदभावो** इत्यादि गाथात्रय। तत पर पाप पुण्य च बधकारणमेवेतिमुख्यतया **सोसव्वणाण** इत्यादि सूत्रमेक। ततश्च मोक्षहेतुभूतो योसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनमुख्यतया **सम्मत्त** इत्यादि गाथात्रयमिति समुदायेन सूत्रनवकपर्यंत तृतीयस्थले व्याख्यान करोति। तद्यथा।

अथ तेपामज्ञानिना निश्चयमोक्षहेतु दर्शयति—

टीका—यहा कितने ही ऐसे जीव हैं जो सकल कर्म के क्षय रूप मोक्ष को चाहते हुये भी और आरभ मे दीक्षा के समय निज परमात्म भावना मे परिणत ऐसा जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उस परम सामायिक को प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करके भी चिदानन्दैक स्वभाव वाले शुद्धात्मा के सही श्रद्धान को और उसकी ठीक जानकारी को तथा तदनुरूप अनुष्ठान की सामर्थ्य को नही प्राप्त होने से उस पूर्वोक्त परम सामायिक को प्राप्त नही हो सकते है। अत परमार्थ से वचित रहते हुये ससार को ही बनाये रखने का हेतु ऐसे पुण्य को ही अपने अज्ञान भाव के द्वारा करते रहते है, क्योकि वे लोग अभेद रत्नत्रयात्मक जो मोक्ष का कारण है उसे प्राप्त नही कर पाते हैं। अथवा दूसरी तरह से यो कहो कि जो पुण्य, कर्मबध का हेतु है उसको मोक्ष का हेतु मानते हैं, क्योकि वे पूर्वोक्त अभेद रत्नत्रयात्मक परम सामायिक रूप जो मोक्ष का कारण है उसे नही प्राप्त कर पाते हैं। दूसरी बात यह है कि निर्विकल्प समाधि के काल मे व्रत या अव्रत का कोई भी प्रकार के सकल्प विकल्प का अवसर ही नही रहता, इसी का नाम वास्तविक व्रत या निश्चयव्रत है। इसका अभिप्राय यह है कि वीतराग सम्यक्त्व रूप जो शुद्धात्मा की उपादेय भावना है उसके बिना किया हुआ व्रत, तपश्चरणादिक रूप अनुष्ठान केवल पुण्य का कारण होता है किंतु उस शुद्धात्मा की भावना सहित जो अनुष्ठान है वह मुक्ति का बाहरी साधन है इसलिये वह भी परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है। इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें समाप्त हुई ॥ १६२ ॥

इस प्रकार दश गाथाओ द्वारा पुण्याधिकार समाप्त हो गया। अब इसके आगे विकल्प सहित-पना होने के कारण से तथा पर का आश्रय रखने के हेतु से, निश्चय से पाप अधिकार के कहने की मुख्यता

से अथवा निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्ग की मुख्यता से 'जीवादी सद्दहरण' इत्यादि दो सूत्र कहेगे। इसके वाद (वत्थस्स सेद भावो) इत्यादि तीन गाथाये हैं जो कि सम्यक्त्वादि जीव के गुण हैं उनके आवरण के कहने की मुख्यता से हैं। इसके वाद (सो सव्वणाए) इत्यादि एक गाथा ऐसी आती है जिसमे पाप और पुण्य दोनो ही वध के कारण हैं ऐसा कथन है। उसके वाद मोक्ष का कारणभूत जो जीव द्रव्य उसका आवरण का कथन करने वाली अर्थात् उसकी पराधीनता का वर्णन करने वाली (सम्मत्त) इत्यादि तीन गाथाये हैं। इस तरह से इस आगे आने वाले तीसरे स्थल के गाथाओ की यह समुदाय पातनिका है।

अव पूर्वोक्त अज्ञानी जीवो के लिए जो वास्तव मे मोक्ष का हेतु है उसे स्पष्ट कर वताते हैं।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१६३॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम्।
रागादी परिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ॥१६३॥

अर्थ—जीवादिक पदार्थो का यथार्थ श्रद्धान होना सो तो सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) है, और उन्ही जीवादि पदार्थो की यथार्थ जानकारी का नाम सम्यक् ज्ञान है तथा रागादि विभाव भावो को दूर कर देना ही सम्यक् चारित्र हैं। इस प्रकार ये तीनो का एक साथ सम्मिलन मोक्ष का मार्ग है ॥१६३॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवादीसद्दहरण सम्मत्तं जीवादिनवपदार्थाना विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धान सम्यग्दर्शन **तेसिमधिगमो णाण** तेषामेव सशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चय परिज्ञान सम्यग्ज्ञान **रागादी परिहरणं चरण** तेषामेव सवधित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्र **एसोदु मोक्खपहो** इत्येव व्यवहारमोक्षमार्ग। अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधिगताना पदार्थाना शुद्धात्मन सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकन निश्चयसम्यक्त्व। तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चय सम्यग्ज्ञान। तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चय कृत्वा रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थान निश्चयचारित्रमिति निश्चयमोक्षमार्ग। अथ निश्चयमोक्षमार्गहेतो शुद्धात्मस्वरूपात् यदन्यच्छुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूप कर्म तन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति—

टीका—(जीवादिसद्दहण सम्मत्त) जीवादि नव पदार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित जो सही श्रद्धान है वही सम्यक् दर्शन है। (तेसिमधिगमो णाण) उन्ही जीव आदि पदार्थो का सशय (उभय कोटि ज्ञान) विमोह (विपरीत एक कोटि ज्ञान) विभ्रम (अनिश्चित ज्ञान) इन तीनो से रहित जो यथार्थ अधिगम होता है, निर्णय कर लिया जाता है, जान लिया जाता है वह सम्यग्यज्ञान कहलाता है। (रागादि परिहरण चरण) और उन्ही के सम्वध से होने वाले जो रागादिक विभाव होते है उनको दूर हटा देना सो सम्यक् चारित्र कहलाता है। (एसो दु मोक्खपहो) यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है। हा, भूतार्थ नय के द्वारा जाने हुए उन्ही जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप मे ठीक २ अवलोकन करना, निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है। और उन्ही जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप मे जानना सो निश्चय सम्यज्ञान है। और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादिरूप विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा मे अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार यह निश्चय मोक्ष मार्ग हुआ ॥१६३॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का नाम रत्नत्रय है जो कि मोक्ष का मार्ग है, आत्मा के लिये निराकुलता का उपाय है। यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो भागो मे विभक्त है। अनादिकाल का भूला यह भव्यात्मा जिन भगवान से जीवादि सप्त तत्वो का या नव पदार्थों का स्वरूप सुनता है और उनके बतलाने के अनुसार उनके स्वरूप को स्वीकार करता है। इसी प्रकार उन्हे अपनी प्रतीति मे लाता है, और उनके आश्रय से अपने मन मे उपजने वाले रागद्वेष को दूर करने का प्रक्रम रचता है। यह व्यवहार रत्नत्रय हुआ। और निर्विकल्प अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे उन सप्त तत्वो या नव पदार्थों के स्वरूप को भिन्न प्रकार का अर्थात् निर्विकल्पात्मक जानते हुए उससे ऊपर उठकर केवल अपनी शुद्धात्मा के स्वरूप मे ही रुचि, प्रतीति तथा तल्लीनता प्राप्त करता है। इसको निश्चय रत्नत्रय कहते हैं। व्यवहार रत्नत्रय कारणरूप होता है और निश्चय रत्नत्रय उसका कार्य है। अथवा यो कहो कि प्रमादात्मक गृहस्थपन से निकलकर जब यह जीव अप्रमत्तरूप सयम को स्वीकार करता है उस समय उसकी दो धाराये होती है। प्रथम तो यह कि आत्मा के अतिरिक्त समस्त बाह्य पदार्थों का परित्याग कर देना और दूसरी यह कि आत्मतल्लीन हो रहना। वहा समस्त बाह्य पदार्थों का त्याग करने रूप अवस्था विकल्पात्मक होती है, अत वह व्यवहार मोक्ष मार्ग है जो कि प्रथम होती है। उसके अनन्तर यह भव्य जीव आत्मा मे निर्विकल्प रूप से तल्लीन हो जाता है यह निश्चय मोक्ष मार्ग है जो कि दूसरी अवस्था है। इस प्रकार इन दोनो अवस्थाओ को सम्पन्न कर लेने पर आत्मा पूर्ण निराकुल होता है।

अब निश्चय मोक्षमार्ग का कारण ऐसा जो शुद्धात्मा का स्वरूप उससे भिन्न जो शुभाशुभ मन वचन, काय के व्यापार रूप कर्म है वह वास्तव मे मोक्ष मार्ग नही हो सकता है ऐसा आगे बतलाते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठ ववहारे ण विदुसा पवट्ठंति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१६४॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे, न विद्वांसः प्रवर्तंते।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवति ॥१६४॥

अर्थ—निश्चयनय के विषय को छोडकर व्यवहार मे वे ही लोग प्रवृत्ति करते है जो आत्मस्वरूप के यथार्थ वेत्ता नही है—प्रमादी हैं। क्योकि कर्म का क्षय तो इन्ही यतीश्वरो के होता है जो परमार्थभूत आत्मस्वरूप मे तल्लीन होते हैं॥ १६४॥

तात्पर्यवृत्ति—**मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे** निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये **ण विदुसा पवट्टंति** विद्वासो ज्ञानिनो न प्रवर्तंते। कस्मात्? । **परमट्ठमासिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्रपरिणतिलक्षण निजशुद्धात्मभावनारूप परमार्थमाश्रिताना तु यतीना कर्मक्षयो भवतीति यत कारणादिति। एव मोक्षमार्गकथनरूपेण गाथाद्वय गत।

अथ मोक्षहेतुभूताना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा जीवगुणाना वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्षभूतेन प्रच्छादन दर्शयति—

टीका—(मोत्तूण णिच्छयट्ठ ववहारे ण विदुसा पवट्ट ति) निश्चय के विषय को छोडकर व्यवहार के विषय मे विद्वान, ज्ञानी जीव प्रवृत्त नही होते हैं, क्योकि (परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ

होदि) सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकाग्रतारूप परिणति है लक्षण जिसका ऐसा अपने शुद्धात्मा की भावनारूप परमार्थ को आश्रय करने वाले यतियो के ही कर्मो का क्षय होता है ।। १६४ ।।

विशेषार्थ —"मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे न विद्वास· प्रवर्तन्ते"–निश्चय को छोडकर वुद्धिमान लोग व्यवहार मे प्रवर्तन नही करते अपितु अपनी आत्मा मे ही रमण करते रहते हैं क्योकि कर्मो का क्षय इसी से होता है, यह अध्यात्म शैली का कथन है। किंतु आगम शैली कहती है कि व्यवहार मे प्रवृत किए विना निश्चय को प्राप्त नही किया जा सकता अत "विद्वास व्यवहारेण प्रवर्तन्ते"–विद्वान लोग व्यवहार मोक्षमार्ग को (त्याग भाव को) स्वीकार करके उससे निश्चय मोक्षमार्ग (परम समाधि) को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मन की चचलता से यदि वह प्राप्त की हुई समाधि छूट भी जाय तो भी व्यवहार मोक्षमार्ग जो त्याग भाव है उसे नही छोडते, उसमे लगे रहते हैं ताकि उस त्याग भाव के वल से पुन समाधि प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर सके। हा, "निश्चयार्थ मुक्त्वा व्यवहारे प्रवर्तन्ते ते न विद्वास जो लोग निश्चय मोक्षमार्ग को न प्राप्त करके केवल व्यवहार मोक्षमार्ग मे ही मगन रहते हैं वे विद्वान कहलाने के योग्य नही हैं।

इस प्रकार मोक्षमार्ग का वर्णन करनेवाली दो गाथाये हुई ।

अव मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो जीव के गुण हैं उनका मिथ्यात्व आदि विपरीत कर्मो द्वारा वस्त्र के मैल के समान आच्छादन होता है इसे वतलाते हैं —

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ।।१६५।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ।।१६६।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
तह दु कसायाच्छण्णं चारित्तं होदि णादव्वं ।।१६७।। (त्रिकलम्)

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः ।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा च सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं ।।१६५।।
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः ।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं ।। १६६ ।।
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः ।
तथा तु कषायोच्छन्नं चारित्रं भवति ज्ञातव्यं ।। १६७ ।।

अर्थ —जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के सबब से मिट जाता है वैसे ही ससारी आत्मा का सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वरूपी मल से, तथा ज्ञान गुण अज्ञानरूप मल से और चारित्र गुण कषायरूपी मल से अवश्य ही नष्ट हो जाता है।

तात्पर्यवृत्ति —वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सवधस्तेनाच्छन्न । तथव मिथ्यात्वमलेनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य सम्यक्त्वगुणो नश्यतीति ज्ञातव्य । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मल

विमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सबधस्तेनच्छन्न । तथैवाज्ञानमलेनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य ज्ञानगुणो नश्यतीति ज्ञातव्य । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सबधस्तेनच्छन्न । तथा कषायकर्म-मलेनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य चारित्रगुणो नश्यतीति ज्ञातव्य । इति मोक्षहेतुभूताना सम्यक्त्वादिगुणाना मिथ्या-त्वाज्ञानकषायप्रतिपक्षै प्रच्छादनकथनरूपेण गाथात्रय गत ।

अथ कर्म स्वयमेव बधहेतु कथ मोक्षकारण भवतीति कथयति—

टीका —जैसे मैल के विशेष सबध से उच्छिन्न होकर अर्थात् दब कर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व मल के विशेष सबध मे दब कर जीव के मोक्ष का हेतुभूत सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है । जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से दबकर नष्ट हो जाता है । तथा जैसे मैल के विशेष सबध से वस्तु का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कषायरूप मल से दब कर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्रगुण भी नष्ट हो जाता है ।

विशेषार्थ —जो लोग निमित्त कुछ भी नही करता ऐसा एकान्त हठ करते हैं उनको लक्ष्य मे लेकर आचार्य महाराज कह रहे हैं कि सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये तीनो आत्मा के सहज भाव मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय रूप कर्म मलो से क्रम से दबे हुए हैं । दबे हुए का अर्थ जैसा हम लोग कपडे आदि को पत्थर आदि के नीचे दवा देते हैं वैसा नही है, किन्तु वर्तमान मे ससारी आत्मा मे सम्य-क्त्वादि गुण हैं ही नही अपितु मिथ्यात्वादिक ही हैं । हा, उन मिथ्यात्वादिको को आत्मा से दूर कर देने पर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट हो जाते हैं जिस प्रकार कपडे की स्वच्छता कपडे मे आये हुए मैल से नष्ट हो जाती है किन्तु उस मैल के हटा देने पर स्वच्छता आ जाती है । (साराश यह है कि निमित्त जन्य विशेषता को लक्ष्य मे रखना ही चाहिए किन्तु उसी के भरोसे रहकर हतोत्साह नही होना चाहिए ।

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं उनके प्रतिविरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव है जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणो को रोके हुए है, होने नही देते । इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गाथाये हुई ॥१६५-१६६-१६७ ॥

जबकि कर्म स्वय बध का हेतु है तो फिर वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ऐसा आगे बताते हैं —

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६८॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।
संसारसमापन्नो नापि जानाति सर्वतः सर्वं ॥१६८॥

अर्थ—आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जानने वाला देखने वाला है, फिर भी वह अपने कर्म रूपी रज से आच्छादित है । अत ससार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओ को जान नही रहा है ।

तात्पर्यवृत्ति —**सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो**—स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्ण-ज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसावच्छन्नो झपित सन् । **संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्व ।** ससारसमापन्न ससारे पतित सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वत सर्वप्रकारेण । ततो ज्ञायते कर्म कर्तृ जीवस्य स्वयमेव बधरूप कथ मोक्षकारणमवतीति । एव पापवत्पुण्य बधकारणमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ।

अथ पूर्वं मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छादनं भवतीति कथितं इदानीं तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छाद्यते-इति प्रकटीकरोति—

टीका—(सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो) वह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से समस्त पदार्थोंके देखने जानने रूप दर्शन और ज्ञान स्वभाव वाला है फिर भी अपने किये हुए कर्म रूपी मैल से ढका हुआ है। (ससार समावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्व) ससार समापन्न है (रागद्वेषी हो रहा है) अत एव ससार मे उलझा हुआ है इसलिए सर्व वस्तुओ को सब प्रकार से नही जान रहा है। इसलिए यह मानना पडता है कि कर्म स्वय ही जीव के लिए बध स्वरूप है इससे यह कर्म मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है। और जब मोक्ष का कारण नही हो सकता तो फिर वह कर्म चाहे पाप रूप हो या पुण्यरूप सारा का सारा बध का ही कारण समझना चाहिए। इस प्रकार जैसे पाप बध का कारण है वैसे पुण्य भी बध का कारण है इस प्रकार का कथन इस गाथा मे हुआ ॥१६८॥

अभी तक यह बतलाया गया है कि मोक्ष हेतुभूत जो जीव के सम्यक्त्वादि गुण हैं, वे मिथ्यात्वादि कर्म के द्वारा ढके हुए हैं, किन्तु अब आगे यह बतलाते हैं कि उन सम्यक्त्वादि गुणो का आधार भूत जो गुणी जीव है, वह भी मिथ्यात्वादि कर्मो मे अच्छादित हो रहा हैं—

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठीत्ति णायव्वो॥ १६९॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो॥ १७०॥
चारित्त पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो॥ १७१॥

सम्यक्त्व प्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितं।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः॥ १६९॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः॥ १७०॥
चारित्र प्रतिनिबद्धं कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः॥ १७१॥

अर्थ—आत्मा के सम्यक्त्व गुण का रोकनेवाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है। तथा चारित्र गुण को रोकने वाला कषायभाव है जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है॥ १६९-१७०-१७१॥

तात्पर्यवृत्ति—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्ध प्रतिकूल मिथ्यात्व भवतीति जिनवरै परिकथितं तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ज्ञातव्य। ज्ञानस्य प्रतिनिबद्ध प्रतिकूलमज्ञान भवतीति जिनवरै परिकथित तस्योदयेन जीवश्चाज्ञानी

भवतीति ज्ञातव्य । चारित्रस्य प्रतिनिबद्ध प्रतिकूल क्रोधादिकपायो भवतीति जिनवरै परिकथित तस्योदयेन जीवोऽचरित्रो भवतीति ज्ञातव्य । एव मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनकथनमुख्यत्वेन गाथात्रय गत । इति सम्यक्त्वादिजीवगुणा मुक्तिकारण तद्गुणपरिणतो वा जीवो मुक्तिकारण भवति तस्माच्छुद्धजीवादिभिन्न शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूप, तद्व्यापारेणोपार्जित वा शुभाशुभकर्म मोक्षकारण न भवतीति मत्वा हेय त्याज्यमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवक गत । द्वितीयपातनिकाभिप्रायेण पापाधिकारव्याख्यानमुख्यत्वेन गत । अत्राह शिष्य । **जीवादी सद्दहण**मित्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृत तिष्ठति कथ पापाधिकार इति । तत्र परिहार —यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेय परम्परया जीवस्य पवित्रताकरणात् पवित्रस्तथापि वहिर्द्रव्यालवनत्वेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येक कारण निर्विकल्पसमाधिरताना व्यवहारविकल्पालवनेन स्वरूपात्पतित भवनीति द्वितीय कारण । इति निश्चयनयापेक्षया पाप । अथवा सम्यक्त्वादिविपक्षभूताना मिथ्यात्वादीना व्याख्यान कृतमिति वा पापाधिकार ।

तत्रैव सति व्यवहारनयेन पुण्यपापरूपेण द्विभेदमपि कर्म निश्चयेन शृंगाररहितपात्रवत्पुद्गलरूपेणैकीभूय निष्क्रात ॥

इति **श्री जयसेनाचार्य कृतायां** समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेनैकोनविंशतिगाथाभिश्चतुर्थ पुण्यपापाधिकार समाप्त ।

टीका:—जिन भगवान ने वतलाया है कि सम्यक्त्व को रोकने वाला उसका प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व नाम का कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि बन रहा है ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान को रोकने वाला उसका प्रतिपक्षभूत अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। उसके उदय से जीव अज्ञानी है ऐसा जानना चाहिये। इसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान ने वतलाया है कि चारित्र को रोकनेवाला उसका प्रतिपक्ष भूत क्रोधादि कपाय है जिसके उदय से यह जीव चारित्र से रहित अचारित्री हो रहा है ऐसा जानना चाहिये इस प्रकार मोक्ष का कारणभूत जो यह जीव गुणी है उसके आवरण के कथन की मुख्यता से तीन गाथाये पूर्ण हुई ॥१६९-१७०-१७१ ॥

साराश यह है कि सम्यक्त्वादि जीव के गुण हैं सो ह मुक्ति के कारण हैं अथवा उन गुणो मे परिणमन करनेवाला जीव स्वय मोक्ष का कारण है। किन्तु उस शुद्ध जीव से पृथग्भूत शुभ व अशुभ मन वचन काय के व्यापार रूप कर्म है अथवा उस व्यापार से उपार्जित किये हुए अदृष्ट रूप शुभाशुभ कर्म हैं वे मोक्ष के कारण नही हैं। अत वे हेय हैं त्याज्य हैं (यतियो के लिये समादरणीय नही हैं)। इस प्रकार के व्याख्यान से नव गाथाये पूर्ण हुई। दूसरी पातनिका के अभिप्राय से पापाधिकार के व्याख्यान की मुख्यता से कथन पूर्ण हुआ।

यहा शिष्य प्रश्न करता है कि इस अधिकार मे आचार्य ने "जीवादी सद्दहण" इत्यादि रूप से व्यवहार रत्नत्रय का कथन किया है फिर यह पापाधिकार कैसे हो सकता है। इस शका का उत्तर यह है कि यद्यपि व्यवहार मोक्ष मार्ग, निश्चय रत्नत्रय जो उपादेय भूत है, उसका कारण होने से उपादेय है (ग्रहण करने योग्य है) तथा परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण है, इससे पवित्र भी है तथापि बाह्य द्रव्यो के आलम्बन को लिए हुए होता है इसलिए पराधीन होने से वह (मोक्ष होने से पहले ही) नाश को प्राप्त होता है यह एक कारण है। दूसरा कारण यह है कि निर्विकल्प समाधि मे तत्पर होने वाले योगियो का अपने शुद्धात्मस्वरूप से पतन व्यवहार विकल्पो के आलवन से हो जाता है। इसलिए व्यवहार मोक्ष मार्ग पाप रूप है अथवा इस अधिकार से सम्यक्त्व आदि जीव के गुणो से प्रतिपक्षी मिथ्यात्व आदि भावो का व्याख्यान किया गया है इससे भी यह पापाधिकार है।

इस प्रकार व्यवहारनय से कर्म यद्यपि पुण्य पापरूप दो प्रकार का है तथापि निश्चयनय की अपेक्षा तो शृ गार रहित पात्र के समान पुद्गलरूप से एक रूप होकर रग भूमि से निकल गया।

इस प्रकार श्री **जयसेनाचार्य कृत** शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण को रखने वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार के व्याख्यान में तीन स्थल के समुदाय रूप से १६ गाथाओ से यह पुण्यपापाधिकार नाम का चौथा प्रकरण समाप्त हुआ।

इति चतुर्थ महाधिकार समाप्त ।

पांचवा महाधिकार (आस्रव तत्व)

तात्पर्यवृत्ति —अथ प्रविशत्यास्रवः । यत्र सम्यग्भेदभावना परिणत कारणसमयसाररूप सवरो नास्ति तत्रास्रवो भवतीति सवरो विपक्षद्वारेण, सप्तदशगाथापर्यंत आस्रवव्याख्यान करोति। तत्र प्रथमतस्तावत्, वीतराग-सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहरूपा आस्रवा न सतीति सक्षेपेण सवरव्याख्यानरूपेण **'मिच्छत्तं अविरमणं'** इत्यादि गाथात्रय। तदनतर रागद्वेषमोहास्रवाणा पुनरपि विशेषविवरणमुख्यत्वेन **'भावो रागादिजुदो'** इत्यादि स्वतत्रगाथा त्रय। तत पर केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपकार्यसमयसारकारणभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतस्य ज्ञानिजीवस्य रागादिभाव प्रत्ययनिषेधमुख्यत्वेन **चउविह** इत्यादि गाथात्रय। अत पर तस्यैव ज्ञानिनो जीवस्य मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययास्तित्वेऽपि वीतरागचारित्रभावनाबलेन रागादिभावप्रत्यय निषेध मुख्यता **सव्वे पुव्वणिवद्धा** इत्यादि सूत्र चतुष्टय। तदनतर नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्यया कारण भवति तेषा च द्रव्यप्रत्ययाना जीवगतरागादि-भावप्रत्यया कारणमिति कारण व्याख्यान मुख्यत्वेन **रागो दोसो** इत्यादिसूत्रचतुष्टय कथयति, इति समुदायेन सप्त-दशगाथाभि पचस्थलै आस्रवाधिकारसमुदायपातनिका।

अथ द्रव्यभावास्रवस्वरूप कथयति।

जहा पर सम्यक्रूप से भेदभावना मे परिणत जो कारण समयसार रूप सवर नही होता,वहा आस्रव होता है जो कि सवर का प्रतिपक्षी है उसी आस्रव का व्याख्यान आचार्य देव १७ गाथाओ मे करते है। उसमे पहले 'मिच्छत्त अविरमण आदि तीन गाथाए हैं उसमे सक्षेप से यह बतलाया है कि वीतराग सम्य-ग्दृष्टि जीव के रागद्वेष और मोहरूप आस्रव भाव नही होते उसके बाद 'भावो रागादीजुदो' इत्यादि तीन गाथाये स्वतन्त्र रूप से कही गई हैं जिनमे राग द्वेष और मोहरूप आस्रवो का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। उसके बाद 'चहु विह' इत्यादि तीन गाथायें हैं जिसमे बताया है कि केवलज्ञानादि की अभिव्यक्ति रूप जो कार्य समयसार है उसका कारणभूत जो निश्चय रत्नत्रय उसमे परिणत होने वाला जो ज्ञानी जीव है उसके रागादिरूप भाव प्रत्यय नही होते। इसके पश्चात 'सव्वे पुव्वणिवद्धा' इत्यादि चार गाथाये हैं जिनमे मुख्यता से यह बतलाया है कि उस ज्ञानी जीव के यद्यपि मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययो का अस्तित्व पाया जाता है फिर भी वीतराग चारित्र की भावना के बल से उसके रागादिरूप भाव प्रत्यय नही होते। उसके बाद 'रागो दोसो' इत्यादि चार गाथायें हैं जिनमे मुख्यता से यह बतलाया है कि नवीन द्रव्य कर्म के आने मे (आस्रव) कारण भूत जो द्रव्य प्रत्यय हैं उनके भी कारण जीवगत

*यह प्रकरण आत्मख्याति टीकाकार की अपेक्षा से लिया गया है। इस आस्रव तत्व की १७ गाथायें श्री जय-सेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति के सवर प्रकरण मे मुद्रित हैं और सवर प्रकरण की १४ गाथायें आस्रव तत्व मे मुद्रित है।

रागादि भाव प्रत्यय हैं। इस प्रकार सब मिल कर पाच स्थलो की १७ गाथाओ से आनेवाला आस्रव अधिकार की समुदाय पातनिका हुई।

आगे द्रव्य और भाव आस्रव का स्वरूप कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कषाय जोगा य सण्णसण्णादु।
बहुविहभेदा जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१७२॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेंसिपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१७३॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १७२ ॥

ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति।
तेषामपि भवति जीवः च रागद्वेषादिभावकरः ॥ १७३ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग ये चार वध के कारणरूप आस्रव हैं। जो कि चेतना के और जड पुद्गल के विकार रूप से दो दो प्रकार के हैं। उनमे से चेतन के विकार हैं वे जीव मे बहुत भेद लिए हुए हैं। वे उस जीव के ही अभेद रूप परिणाम हैं। और जो मिथ्यात्व आदि पुद्गल के विकार हैं वे ज्ञानावरणादि रूप कर्मों के वध के कारण हैं। और उन मिथ्यात्व आदि भावो को भी रागद्वेष आदि भावो का करने वाला जीव कारण होता है।

तात्पर्यवृत्ति—**मिच्छत्त अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु** सण्णसण्णा इत्यत्र प्राकृतलक्षणबलात् अकारलोपो द्रष्टव्य। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपाययोगा, कथभूता, भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण सज्ञाऽसज्ञाश्चेतनाचेतना अथवा सज्ञा, आहारभयमैथुनपरिग्रहरूपा। असज्ञा, ईपत्सज्ञा, इहलोकाकाक्षापरलोकाकाक्षाकुधर्माकाक्षारूपास्तिस्र कथभूता, एवं **बहुविह भेदा जीवे**। उत्तरप्रत्ययभेदेन बहुधा विविधा, क्व ? जीवे अधिकरणभूते। पुनरपि कथभूता **तस्सेव अणण्णपरिणामा** अनन्यपरिणामा, अभिन्नपरिणामा, तस्यैव जीवस्याशुद्धनिश्चयनयेनेति।

णाणावरणादीयस्स ते दु कमस्स कारण होंति ते च पूर्वोक्तद्रव्यप्रत्यया, उदयागता सत, निश्चयचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपच्युताना जीवाना ज्ञानावरणाद्यष्टविधस्य द्रव्यकर्मास्रवस्य कारणभूता भवति। **तेंसिपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो** तेपा च द्रव्यप्रत्ययाना जीव कारण भवति। कथभूत ? रागद्वेपादिभावकर रागद्वेपादिभावपरिणत। अयमत्रभावार्थ—द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावना त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा वधो भवति नैवोदयमात्रेण, यदि उदयमात्रेण वधोभवति ? तदा सर्वदा ससार एव। कस्मात् ? इति चेत् ससारिणा सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदय वधकारण न भवति ? इति चेत् तन्न निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टाना मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्त भवति। निश्चयेन पुन अशुद्धोपादानकारण स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति।

अथ वीतरागस्वसवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्वेपमोहरूपभावास्रवाणामभाव दर्शयति—

टीका —(मिच्छत्त अविरमण कसाय जोगा य सण्णसण्णादु (यहा 'सण्णसण्णा' इसमे प्राकृत व्याकरण के अनुसार अकार का लोप हो गया है। मिथ्यात्व अविरति कषाय और योगरूप वध केकारण वे भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमे से भाव प्रत्यय चेतन स्वरूप व द्रव्य प्रत्यय जड स्वरूप है। अथवा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार सज्ञाये हैं और इस लोक की आकाक्षा, पर लोक की आकाक्षा तथा कुधर्म की आकाक्षा रूप तीन असज्ञाये हैं अर्थात् ईषत सज्ञाये हैं। ये कैसी हैं कि (वहुविह भेदा जीवे)' आधारभूत जीवमे वे सज्ञायें उत्तर भेद से अनेक प्रकार की होती है। (तस्सेव अणण्णपरिणामो) जो कि अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से उस जीव के परिणाम स्वरूप उससे अभिन्न होते हैं। (णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारण होति) उदय मे आए हुए जो पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय हैं वे निश्चय चारित्र के साथ मे अविनाभाव रखने वाले अर्थात् उसके विना नही होने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन के अभाव मे शुद्धात्मीक स्वरूप से च्युत होने वाले जीवो के ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार द्रव्य कर्मास्रव के कारण होते हैं। (तेसिंपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो) और इन द्रव्य प्रत्ययो का भी कारण राग द्वेषादि भावो का करने वाला (तद्रूप परिणत रहने वाला) ससारी जीव होता है। भावार्थ यह है कि (पूर्व मे वाधे हुए) द्रव्य कर्मो का उदय होने पर जब यह जीव अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना को छोडकर रागादिरूप मे परिणमन करता है तव इसके नवीन द्रव्य कर्मो का वध होता है। किन्तु केवल द्रव्य प्रत्ययो के उदयमात्र से वध नही होता। क्योकि यदि उदयमात्र से ही वध होने लगे तो ससार वना ही रहेगा—कभी उसका अन्त नही हो सकता क्योकि ससारी जीवो के कर्मों का उदय सदा ही वना रहता है। इस पर शिष्य शका करता है कि कर्मोदय तो वध का कारण नही ठहरा? आचार्य समाधान करते है कि यह वात नही है क्योकि निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट होने वाले जीवो के कर्म का उदय मोह सहित ही होता है जो कि व्यवहार से कर्म बध का निमित्त होता है, किन्तु निश्चयनय से तो अशुद्ध उपादान है कारण जिसका ऐसा जीव का अपना रागादि अज्ञान भाव ही कर्म बध का कारण है ।। १७२-१७३ ।।

विशेषार्थ —साराश यह है कि कर्मोदय के विना नवीन बध नही होता किन्तु कर्मोदय के साथ साथ जो जीव के रागादि रूप विकार भाव होते हैं तव ही नवीन बध होता है। वध के कारण मूल में जीव के रागद्वेषादि विकार भाव ही हैं। जहा वे रागद्वेषादि विकार भाव नष्ट हुए वहा वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीव के वध नही होता केवल योगजन्य आस्रवभाव होता है।

अव आगे वतलाते हैं कि वीतराग स्वसवेदन ज्ञान के धारक जीव के रागद्वेष मोहरूप भावास्रवो का अभाव है —

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ।।१७४।।

नास्ति त्वास्रवबंधः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः।
संति पूर्वनिवद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ।।१७४।।

अर्थ —सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव मूलक नवीन कर्मोका वध नही होता किन्तु उसके आस्रवका निरोध ही होता है और पूवमे बाधे हुये सत्ता मे विद्यमान कर्मो को जानता ही है परन्तु नवीन कर्म वध नही करता है ।।१७४।।

तात्पर्यवृत्ति—**णत्थि** इत्यादि पदखडनारूपेण व्याख्यान क्रियते **णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो** न भवत , न विद्येते । कौ ? तौ आस्रवबधौ । गाथाया पुन समाहारद्वन्द्वसमासापेक्षया द्विवचनमप्येकवचनं कृत । कस्यास्रवबधौ न स्त ? सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । तर्हि किमस्ति ? आस्रवनिरोधलक्षणसवरोऽस्ति **सो** स सम्यग्दृष्टि **संते** सति विद्यमानानि **ते** तानि **पुव्वणिवद्धे** पूर्वनिवद्धानि ज्ञानावरणादि कर्माणि । अथवा प्रत्ययापेक्षया पूर्वनिवद्धान् मिथ्यात्वादिप्रत्ययान् **जाणदि** जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति किं कुर्वन् सन् ? **अबधंतो** विशिष्टभेदज्ञानवलान्नवतराण्यभिनवान्यवध्नन्—अनुपार्जयन्, इति । अयमत्र भावार्थ । सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति तत्र योऽसौ सरागसम्यग्दृष्टि ।

सोलसपणवीसणभ दसचउछक्केक्क वधवो छिण्णा
दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलसजोगिणो इक्को

इत्यादि वधत्रिभगकथितवधविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवधक । सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणा वधकोऽपि सन् संसारस्थितिच्छेदको भवति । तेन कारणेनाबधक इति तथैवाविरतिसम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासभव सरागसम्यक्त्वपर्यंत, अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबधक । उपरिमगुणस्थानापेक्षया पुनर्वंधक । ततश्च वीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादवधको भवति, इति मत्वा वय सम्यग्दृष्टय सर्वथा बधो नास्तीति न वक्तव्य । इति आस्रवविपक्षद्वारेण सवरस्य सक्षेपसूचनव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय गत ।

अथ रागद्वेषमोहरूपभावानामास्रवत्व निश्चिनोति—

टीका—णत्थि आदि पदोका पृथक् पृथक् अर्थ वतलाते है कि (णत्थि दु आसव बधो सम्मादिट्ठिस्स आसव णिरोहो) यहा गाथा मे आस्रव और वध इन दोनो को समाहार द्वन्द्व समास रूप से लिया है, अत द्विवचन के स्थान पर एक वचन है । कर्मो का आस्रव और बध सम्यग्यदृष्टि जीव के नही होता उसके तो आस्रव का निरोध ही है लक्षण जिसका ऐसा सवर ही होता है । (सो) वह सम्यग्दृष्टि जीव (सते ते पुव्वणिवद्धे) सत्ता मे विद्यमान पूर्व निवद्ध ज्ञानावरणादि कर्म उनको अथवा प्रत्ययो की अपेक्षा से कहे तो पूर्व निवद्ध मिथ्यात्वादि प्रत्ययो को (जाणदि) जैसा उनका स्वरूप है वैसा ही जानता रहता है । क्या करता हुआ जानता है कि ? (अवधतो) विशिष्ट (समाधि स्वरूप) भेदज्ञान के बल से वह नवीन कर्मों को नही वाधता हुआ जानता है । भावार्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार का है । उसमे से वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव तो नवीन कर्म बध को सर्वथा नही करता जिसको कि लक्ष्य मे लेकर यहा कथन किया गया है किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि जीव अपने अपने गुणस्थान के क्रम से वध व्युच्छित्ती करने वाला होता है जैसा कि "सोलसपणवीसणभ दसचउछक्केक वधवोछिन्ना । दुगतीसचदुरपुव्वेपणसोलसजोगिणो इक्को ।" इत्यादि बध त्रिभगीमे वताये हुये बध विच्छेद के क्रम से विचार कर देखें तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व आदि गुणस्थानो मे विछिन्न हुई ४३ प्रकृतियो का वध करने वाला नही होता किन्तु ७७ प्रकृतियो का अल्प स्थिती अनुभाग के रूपमे बधक भी होता है किन्तु वह ससार की स्थिती का छेदक होता है (परीत ससारी वन कर रहता है) इस कारण से वह अवधक (ईषत् वधकार) होता है । इस प्रकार अविरत चतुर्थगुणस्थान के ऊपर के गुणस्थानो मे भी जहा तक सराग सम्यग्दर्शन रहता है वहा तक जहा जैसा सभव है वहा तारतम्यरूप से नीचले गुणस्थानो की अपेक्षा से अबधक होता जाता है । किन्तु उपरिम गुणस्थानो की अपेक्षा मे देखने पर वह बधक भी है । हा, जहा सराग सम्यक्त्व के आगे वीतराग सम्यक्त्व होता है वह साक्षात् स्पष्ट रूप से अवधक होता है । इसमे यह निष्कर्ष निकला कि हम भी सम्यग्दृष्टि है और

सम्यग्दृष्टि के वध नही होता इसलिये हमे भी बंध नही होता ऐसा नही समझना चाहिये । (क्योकि यहा पर जितना भी कथन है वह वीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य मे लेकर किया गया है जैसा कि आचार्य ने स्थान स्थान पर वर्णन किया है) ।।१७४।।

इस प्रकार आस्रव का विपक्षी जो सवर उसकी सक्षेप से सूचना के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाये पूर्ण हुई ।

इससे आगे यह निर्णय करते है कि रागद्वेष और मोह ये ही आस्रव हैं ।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ।।१७५।।

भावो रागादियुतः जीवेन कृतस्तु बंधको भवति ।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायको नवरि ।।१७५।।

अर्थ —जीव से किया हुआ रागादियुक्त अज्ञानभाव ही नवीन कर्म के वन्ध होने मे कारण होता है। किन्तु रागादि से रहित आत्मा का भाव नूतन वन्ध का कारण नही होता। वह तो केवल मात्र जानने वाला ही होना है ।। १७५ ।।

तात्पर्यवृत्ति.—भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बधगो होदि यथा अयस्कांतोपल सपर्कजो भाव परिणतिविशेप, कालायससूचि प्रेरयति । तथा जीवेन कृतो रागाद्यज्ञानजो भाव परिणतिविशेप कर्ता, शुद्धस्वभावेन मानदमव्ययमनादिमनतशक्तिमुद्योतिन निरुपलेपगुणमपि जीव शुद्धस्वभावात्प्रच्युत कृत्वा कर्मवधं कर्तुं प्रेरयति **रागादिविप्पमुक्को अबधगो जाणगो णवरि** यथा चायस्कातोपल सपर्करहितो भाव परिणतिविशेप कालायस सूचि न प्रेरयति तथा रागादिज्ञानविप्रमुक्तो भावस्त्ववधक सन् नवरि किंतु जीव कर्मवध कर्तुं न प्रेरयति । तर्हि किं करोति ? पूर्वोक्तशुद्धस्वभावेनैव स्थापयति । ततो ज्ञायते निरूपरागचैतन्यचिच्चमत्कारमात्रपरमात्मपदार्थाद्भिन्ना रागद्वेपमोहा एव वधकारणमिति ।

अथ रागादिरहितशुद्धभावस्य सभव दर्शयति—

टीका—(भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु वन्धगो होदि) जैसे कि चुम्वक पाषाण के ससर्ग से उत्पन्न हुआ परिणाम विशेष वह लोहे की सूची को हिलाने डुलाने वाला होता है, वैसे ही जीव के द्वारा किया हुआ रागादिरूप अज्ञान भाव ही—जीव का वह परिणाम विशेप ही—जो यह जीव अपने सहज शुद्ध भाव के द्वारा सदानन्दमय, कभी भी नष्ट नही होने वाला, सदा से वना रहने वाला, अनन्त शक्ति का धारक एव किसी भी प्रकार के दु ससर्ग से रहित स्वय उद्योतमान होने वाला है उस जीव को उसके उस शुद्ध रूप से चिगाकर कर्मवन्ध करने के लिए प्रेरित करता है । (रागादि विप्पमुक्को अवधगो जाणगो णवरि) किन्तु जिस प्रकार चुम्वक पत्थर के ससर्ग से रहित भाव लोहे की सुई को नही हिलाता है उसी प्रकार रागादि से रहित जो भाव है वह अवन्ध होता है वह इस जीव को कर्मवन्ध करने के लिए प्रेरित नहीं करता, वह तो इसे पूर्वोक्त शुद्ध स्वभाव मे ही स्थित कर रखता है (अर्थात् ज्ञाता दृष्टा रखता है) । इस कथन से यह जाना जाता है कि, किसी भी प्रकार के ससर्ग से रहित चिच्चमत्कार मात्र जो परमात्म पदार्थ है उससे भिन्न स्वरूप जो रागद्वेप मोह रूप भाव वे वन्ध के कारण है ।।१७५।।

विशेषार्थ—रागद्वेप मोह इन तीनो मे मे किसी से भी युक्त जीव का भाव वन्ध का कारण होता है। किन्तु उपर्युक्त तीनो विभावो मे रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय भाव कभी वन्ध करने वाला नही

होता। हा, राग भाव से जो बन्ध होता है वह मन्द होता है, द्वेषभाव (अदेखसकापन) से तीव्र बन्ध होता है किन्तु मोह भाव (मिथ्यात्व) से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है। किन्तु निर्बन्ध दशा तो इन तीनो से रहित शुद्ध भाव होने पर ही होती है।

यह रागादि से रहित शुद्ध भाव कैसे होता है यह आगे बतलाते हैं—

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पड़िदे ण पुणोदयमुवेहि ॥१७६॥

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्ते।
जीवस्य कर्म भावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥१७६॥

अर्थ—जैसे वृक्ष या वेल का फल पककर गिर जाने पर वह फिर गुच्छ या वेल से संबध को प्राप्त नही होता, उसी प्रकार ज्ञानी जीव मे होने वाला कर्म भाव पककर झड जाने पर फिर उदय को प्राप्त नही होता है ॥१७६॥

तात्पर्यवृत्तिः—पक्के फलम्मि पड़िदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विंटे यथा पक्वे फले पतिते सति पुनरपि तदेव फल वृन्ते न बध्यते। **जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि** तथा तत्त्वज्ञानिनो जीवस्य सातासातोदयजनितसुखदुःखरूपकर्मभावे, कर्मपर्याये पतिते गलिते निर्जीर्णे सति रागद्वेषमोहाभावात् पुनरपि तत्कर्म बध नायाति। नैवोदय-च। ततो रागाद्यभावात्, शुद्धभाव सभवति। तत एव च सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य निर्विकारस्वसवित्तिबलेन सवरपूर्विका निजरा भवतीत्यर्थ।

अथ ज्ञानिनो नवतरद्रव्यास्रवाभाव दर्शयति—

टीका:-(पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फल वज्झदे पुणो विंटे) जैसे पक्के फल के गिर जाने पर फिर वह टहनी मे वापिस नही लगता। (जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि) उसी प्रकार तत्वज्ञानी जीव के साता वेदनीय व असाता वेदनीय के उदय जनित सुख दुख रूप कर्मो की अवस्था फल देकर झडजाने पर फिर वह कर्म बध को प्राप्त नही होता और न फिर उदय मे ही आता है। क्योकि ज्ञानी जीव के रागद्वेष और मोहभाव नही होता है इसलिए रागादि भावो के नही होने से उसके शुद्धभाव हो जाता है अत उस सम्यग्दृष्टि जीव के विकार रहित स्वसवेदन ज्ञान के वल से सवर पूर्वक निर्जरा ही होती है ऐसा समझना चाहिए।

विशेषार्थ—रागी जीव के जो कर्म उदय होता है वह भोगभूमिया के समान आप जाते समय वह अपनी सन्तान को उत्पन्न कर जाता है, किन्तु राग रहित विरागी जीव का कर्म नपुसक के समान अपना खेल दिखाकर नि सन्तान नष्ट हो जाता है।

आगे ज्ञानी (विरागी जीव के नवीन द्रव्यास्रव भी नही होता है ऐमा दिखलाते हैं—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स ॥१७७॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥१७७॥

अर्थ —उस पूर्वोक्त विरागी जीव के पहले अज्ञान अवस्थामे बंधे हुए सबही कर्म पृथ्वी पिंड के समान होते हैं जो कि उसके कार्माणशरीर के साथ बंधे हुए होते हैं ।। १७७ ।।

तात्पर्यवृत्ति —पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स पृथ्वीपिंडसमाना, अकिंचित्करा भवंति के ते? पूर्वनिबद्धा मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्यया कस्य? तस्य वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य। यतो रागाद्यजनकत्वादकिंचित्करास्तत कारणात्, नवतरद्रव्यकर्मबंधो न भवति। तर्हि पृथ्वीपिंडसमाना सत केन रूपेण तिष्ठति? **कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स** कार्मणशरीररूपेणैव ते सर्वे बद्धास्तिष्ठंति, न च रागादिभावपरिणतजीवरूपेण। कस्य? निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदविज्ञानिनो जीवस्येति। किंच यद्यपि द्रव्यप्रत्यया कार्माणशरीररूपेण मुष्टिबद्धविषवत्तिष्ठंति तथापि उदयाभावे सुखदुःख विकृतिरूपा बाधा न कुर्वंति। तेन कारणेन ज्ञानिनो जीवस्य, नवतरकर्मास्रवाभाव इति भावार्थ। एव रागद्वेषमोहरूपास्रवाणा विशेषविवरणरूपेण स्वतंत्रगाथात्रय गत।

अथ कथ ज्ञानी निरास्रव ? इति पृच्छति।

टीका —(पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स) उस वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्वकालमे निबद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय रागादिभावो के जनक न होने से पृथ्वी पिंड के समान अकार्यकारी होते है क्योकि वे उसके नवीन द्रव्य कर्म का बंध नही करते। अब जबकि वे नवीन द्रव्य कर्म का बंध नही करते तो पृथ्वीपिंड के समान कैसे रहते हैं ? (कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स) निर्मल आत्मानुभूति (शुद्धात्मा के साथ तन्मयता) ही है लक्षण जिसका ऐसा भेदज्ञान जिसके है उस ज्ञानीके सब ही कर्म कार्माण शरीर रूप से ही रहते हैं। रागद्वेषादि भावो मे जीव को परिणमन नही कराते हैं। यद्यपि उस ज्ञानी जीव के द्रव्य प्रत्यय मुट्ठी मे रखे हुए विष समान कार्माण शरीर से सम्बद्ध रहते हैं तो भी उदय का अभाव होने से फलदान शक्ति के नही होने पर वे सब उसको सुख या दुखरूपी विकारमई बाधा को नही कर पाते है। इसी कारण से ज्ञानी जीव के नवीन कर्मों का आस्रव नही होता ।।१७७।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव आस्रव रहित किस प्रकार होता है —

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जह्मा तेण अबंधुत्ति णाणी दु ।।१७८।।

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां ।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ।।१७८।।

अर्थ —मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप चार कर्म बंध के कारण हैं वे आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा समय समय पर अनेक प्रकार के नवीन कर्मों को बांधते रहते हैं इसलिए ज्ञानी तो स्वय अबंधक ही हैं ।। १७८ ।।

तात्पर्यवृत्ति —चहुविह अणेयभेयं बंधते णाणदंसणगुणेहिं चहुविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्व। चतुर्विधा मूलप्रत्यया कर्तार। ज्ञानावरणादिभेदभिन्नमनेकविध कर्म कुर्वंति। काभ्या कृत्वा? ज्ञानदर्शनगुणाभ्या। दर्शनज्ञानगुणौ कथ बंधकारणभूतौ भवत, इति चेत्—अयमत्र भाव, द्रव्यप्रत्यया उदयमागता सत जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वय रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयन्ति, तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणत ज्ञानदर्शनगुणद्वय बंधकारण भवति। वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावपरिणत ज्ञानदर्शनगुणद्वय, अज्ञानमेव भण्यते तत्। **'अणाणदसणगुणेहि'** इति

पाठांतर केचन पठति। **समए समए जह्मा तेण अवंधुत्ति णाणी दु** समये समये यस्मात् प्रत्यया कर्तार । ज्ञान-दर्शनगुण रागाद्यज्ञानपरिणत कृत्वा नवतर कर्म कुर्वंति । तेन कारणेन भेदज्ञानी वधको न भवति । किं तु ज्ञानदर्शन-रजकत्वेन प्रत्यया एव वधका, इति ज्ञानिनो निरास्रवत्व सिद्ध ।

अथ कथ ज्ञानगुणपरिणामो वधहेतुरिति पुनरपि पृच्छति—

टीका—(चहुविह अणेयभेय वधते णाणदसणगुणेहिं) यहा पर 'चहुविह' यह शब्द वहुवचन है फिर ह्रस्वान्त पाठ है क्योकि प्राकृत के व्याकरण के अनुसार ऐसा होता है। मिथ्यात्वादिरूप चार प्रकार के मूल प्रत्यय हैं, वे ज्ञानावरणादि के भेद से अनेक प्रकार के ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा वध को करने वाले है। यहा यदि कोई शका करे कि ज्ञान गुण और दर्शन गुण तो आत्मा के गुण हैं अत वे वन्ध के कारण कैसे हो सकते है ? उसका समाधान करते है कि उदय मे आये हुए मिथ्यात्वदि द्रव्य प्रत्यय आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञानभाव के रूप मे परिणमा देते है। उस समय वह अज्ञानभाव मे परिणत हुआ ज्ञान और दर्शन वध का कारण होता है। वास्तव मे वह रागादिरूप अज्ञानभाव मे परिणत हुआ ज्ञान और दर्शन अज्ञान ही कहलाता है। इसलिए कुछ लोग 'अण्णाणदसण गुणेहिं' ऐसा पाठान्तर करके पढते हैं। (समये समये जम्हा तेण अवधुत्ति णाणी दु) जवकि ज्ञान और दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञान मे परिणत करके मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही नूतन कर्म वन्ध करते है। इसलिए भेद ज्ञानी जीव वन्धक नही होता किन्तु ज्ञान और दर्शन को रजक (रागरूपकारक) होने से उपर्युक्त प्रत्यय ही वधक होते हैं। इस प्रकार से ज्ञानी जीव का निरास्रवत्व सिद्ध हो जाता है ॥१७८॥

अब ज्ञानगुण का परिणमन भी वन्धका कारण कैसे होता है सो वताते हैं—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७९॥

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात्, पुनरपि परिणमते ।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥१७९॥

अर्थ—आत्मा का ज्ञान गुण जव तक जघन्य अवस्था मे रहता है अर्थात् स्पष्टतया यथाख्यात दशा को प्राप्त नही होता तव तक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अन्यपने को (निर्विकल्पता से सविकल्पता को) प्राप्त होता रहता है, इसलिए उस समय मे वह नवीन वन्ध करने वाला भी होता है ॥१७९॥

तात्पर्यवृत्ति—**जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्त णाणगुणो**- यस्मात् यथाख्यातचारित्रात्पूर्वं जघन्यो हीन सकषायो ज्ञानगुणो भवति । तस्मात्—जघन्यत्वादे ज्ञानगुणात् सकाशात्, अ त-र्मुहूर्तानतर निर्विकल्पसमाधौ स्थातु न शक्नोति जीव । तत कारणात्, अन्यत्व सविकल्पकपर्यायातर परिणमति स क ? कर्ता ज्ञानगुण । **तेण दु सो वधगो भणिदो** तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो वधको भणित. । अथवा द्वितीय व्याख्यान । जघन्यात् कोऽर्थ जघन्यात्, मिथ्यादृष्टिज्ञानगुणात् काललब्धिवशेन सम्यक्त्वे प्राप्ते सति ज्ञानगुण कर्त्ता मिथ्यापर्याय त्यक्त्वा अन्यत्व सम्यग्ज्ञानित्व परिणमति । **तेण दु सो वधगो भणिदो** तेन कारणेन स ज्ञानगुणो ज्ञानगुणपरिणतजीवो वा अवधको भणित इत्यभिप्राय ।

अथ यथाख्यातचारित्राधस्तादतर्मुहूर्तानतर निर्विकल्पसमाधौ स्थातु न शक्यत इति भणित पूर्वं । एव सति कथ ज्ञान निरास्रव इति चेत् —

टीका.–(जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्त णाणगुणो) क्योकि स्पष्टतया यथाख्यात चारित्र से पूर्व अवस्था का ज्ञान जघन्य अर्थात् हीन दशावाला कषाय सहित वृत्तिवाला होता है इसलिए ज्ञानगुण की जघन्यता के कारण से यह जीव अन्तर्मुहुर्त के पीछे निर्विकल्प समाधि मे ठहर नही सकता है, इसलिए वह इस जीवका ज्ञानगुण अन्यरूपता को सविकल्प रूप पर्यायान्तर को स्वीकार करता है (तेण दु सो बधगो भणिदो) उस विकल्प सहित कषाय भाव के कारण वह गुण नूतन वन्ध करने वाला होता है। अथवा इस गाथा का इस प्रकार भी अर्थ लिया जा सकता है कि जघन्य से अर्थात् मिथ्यादृष्टि के ज्ञान गुण से काललब्धि के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह ज्ञान मिथ्यापने को त्यागकर अन्यपने को अर्थात् सम्यग्ज्ञानपने को प्राप्त कर लेता है (तेण दु सोऽवधगो भणिदो) इसलिए वह ज्ञान गुण अथवा ज्ञानगुण के स्वरूप मे परिणत जीव अवन्धक कहा जाता है ।।१७९।।

विशेषार्थ —ज्ञान शव्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है । एक तो यथावस्थित अर्थं जानातीति ज्ञान, दूसरा आत्मान जानाति अनुभवतीति ज्ञान । दूसरे अर्थ के अनुसार तो समाधिकाल मे ज्ञान जव तक अनुभव करता रहता है तव तक वह ज्ञान कहा जा सकता है। ध्यान समाधि से जहा च्युत हुआ कि वह अज्ञान कोटि मे आ जाता है और बध भी करने लग जाता है जैसा कि पहले वाले तात्पर्यवृत्ति के व्याख्यान से स्पष्ट होता है और जिसका समर्थन अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति टीका मे होता है । किन्तु पहले वाले अर्थ के अनुसार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव का ज्ञान भी इस ज्ञान शव्द से लिया जा सकता है क्योकि वह भी जीवादि नव पदार्थो का यथार्थ ज्ञान रखता है। किन्तु इस अर्थ के अनुसार गाथा का जो अर्थ यहाँ लिया गया है वह कुछ थोडा खैंच कर लिया हुआ सा प्रतीत होता है जिसका समर्थन अमृतचन्द्र स्वामी की आत्मख्याति टीका से भी नही होता है। तथा स्वय श्री जयसेनाचार्य ने भी स्थान स्थान पर यही लिख वताया है कि इस ग्रन्थ मे जो वर्णन है वह गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को लेकर नही किन्तु वीतराग (त्यागी) सम्यग्दृष्टि को लेकर किया है।

जव कि यथाख्यात चारित्र होने मे पहले यदि ज्ञानी के वन्ध होता ही रहता है ऐसी दशा मे ज्ञानी आस्रव रहित कैसे होता है, सो वताते हैं —

दंसणणाणचरित्तं, जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ।।१८०।।

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन ।
ज्ञानी तेन तु वध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ।।१८०।।

अर्थ —दर्शन, ज्ञान, और चारित्र ये तीनो जव तक जघन्य अवस्था मे रहते हैं (यथाख्यात अवस्था को नही प्राप्त होते) तव तक ज्ञानी जीव भी नाना प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से वन्धता ही रहता है ।।१८०।।

तात्पर्यवृत्ति.—**दंसणणाणचरित्त जं परिणमदे जहण्णभावेण** ज्ञानी तावदीहापूर्वरागादिविकल्पकारणाभावान्निरास्रव एव । किंतु सोऽपि यावत्काल परमसमाधेरनुष्ठानाभावे सति शुद्धात्मस्वरूप द्रष्टु ज्ञातुमनुचरितु वा समर्थ तावत्काल तस्यापि सवधि यद्दर्शन ज्ञान चारित्र तज्जघन्यभावेन सकपायभावेन, अनीहितवृत्या परिणमति ।

णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण तेन कारणेन सन् भेद ज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परपरया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थंकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा वध्यते । इति ज्ञात्वा ख्यातिपूजालाभभोगाकाक्षारूपनिदानवधादिभावपरिणामपरिहारेण निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा तावत्पर्यंत शुद्धात्मरूप द्रष्टव्य ज्ञातव्यमनुचरितव्य च यावत्तस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य परिपूर्ण केवलज्ञानरूपो भावो दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च भवतीति भावार्थ । एव ज्ञानिनो भावास्रवस्वरूपनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रय गत ।

अथ द्रव्यप्रत्ययेपु विद्यमानेपु कथ ज्ञानी निरास्रव ? इति चेत्—

टीका —(दसणणाणचरित्त ज परिणमदे जहण्णभावेण) ज्ञानी (विरागी) जीव इच्छापूर्वक—चलाकर किसी भी वस्तु के प्रति रागादिरूप विकल्प को (अमुक वस्तु मेरी है इत्यादि रूप विचार को) कभी नही करता, इसलिए वुद्धिपूर्वक रागादि नही होने से वह निरास्रव ही होता है, किन्तु जव तक उस ज्ञानी जीव को भी परम समाधि का अनुष्ठान नही हो पाता तब तक वह भी शुद्धात्मा के स्वरूप को देखने मे, जानने मे और वहा स्थिर रहने मे असमर्थ होता है, अत तब तक उसका दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी जघन्य भाव को—अबुद्धि पूर्वक कषायभाव को (अव्यक्त राग भाव को) लिए हुए होता है—परिणमन करता हुआ रहता है, (णाणी तेण दु वज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण) इस कारण से वह भेद ज्ञानी जीव भी परम्परा से मुक्ति मे कारण रूप होने वाले ऐसे तीर्थंकर नाम कर्मादिरूप पुद्गल प्रकृतिमय नाना प्रकार के पुण्यकर्म से अपने २ गुणस्थान के अनुसार बन्धता ही रहता है । ऐसा समझकर प्रत्येक मुमुक्ष को चाहिए कि वह किसी भी प्रकार की बडाई, पूजा, प्रतिष्ठा का लाभ तथा भोगो की आकाक्षारूप निदान वध आदि विभाव परिणामो को त्याग कर साथ २ निर्विकल्प समाधि मे स्थित होकर तव तक शुद्धात्मा के स्वरूप को देखता, मानता रहे, जानता रहे एव उसमे लगा रहे जहा तक शुद्धात्मा के परिपूर्ण केवलज्ञानरूप भाव का दर्शन ज्ञान और आचरण प्राप्त न करले अर्थात् स्वय केवलज्ञान रूप अवस्था को न पा लेवे । वस यही इस कथन का तात्पर्य है ॥१८०॥

विशेषार्थ —इसका स्पष्ट साराश यह है कि ज्ञानी विरागी जीव तो यथाशक्य आत्म समाधि मे तल्लीन रहता है, अत चलाकर तो किसी भी वस्तु से राग द्वेष और मोह भाव नही करता है, अत. वुद्धिपूर्वक की अपेक्षा तो वह निरास्रव होता ही है । रही बात अबुद्धिपूर्वक होने वाले अव्यक्त रागादि भाव रूप आस्रव की सो उसे मिटा डालने के लिए ही वह बार २ दृढता के साथ आत्मतल्लीनतारूप समाधि को प्राप्त करता है जिससे कि वह अन्त मे केवलज्ञान को प्राप्त होकर पूर्ण निरास्रव हो जाता है । वस इसीलिए वह निरास्रव कहा जाता है ।

इस प्रकार ज्ञानी जीव के भावास्रव के निषेध की मुख्यता से तीन गाथाये हुई ।

अव प्रश्न होता है कि ज्ञानी जीव द्रव्य प्रत्यय रूप बन्ध के कारण विद्यमान रहने पर भी वह निरास्रव कैसे होता है सो वताते हैं —

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १८१ ॥
संती दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१८२॥

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १८३ ॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१८४॥ (चतुष्कं)

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः ।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नंति कर्मभावेन ॥ १८१॥
संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥१८२॥
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि ।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥१८३॥
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भवति ।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥१८४॥ (चतुष्कं)

अर्थ—वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के भी पूर्व की सराग दशा मे बाधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म सत्ता मे विद्यमान रहते हैं जो कि उपयोग मे लाने पर नवीन कर्म बंध करने वाले होते हैं, जो कि आयु के विना ज्ञानावरणादि सात कर्मो का तथा आयु सहित आठ प्रकार के कर्मों का बंध करने वाले होते हैं। किन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि के तो वे सब प्रत्यय निरुपभोग्य रूप मे सत्ता मे होते हैं (उपयोग मे आकर रागकारक नही होते) अत नवीन बंध कारक भी नहीं होते। जैसे कि किसी के स्त्री बालक अवस्था मे है तो वह राग पैदा करके उसको विवश करने वाले नहीं होती, अपितु वही स्त्री युवावस्था को प्राप्त होने पर रागोत्पादक होकर विवश करने वाली होती है। इसी प्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टि के सत्ता मे प्रत्यय विद्यमान होने पर भी बाल स्त्री के समान होने से रागकारक नहीं होते अत. नवीन कर्म बंध करने वाले भी नही होते ॥१८१-१८२-१८३-१८४॥

तात्पर्यवृत्ति—**सव्वे पुव्वणिवद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स** सर्वे पूर्वनिबद्धा द्रव्यप्रत्यया संति तावत्सम्यग्दृष्टे । **उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण** यद्यपि विद्यते तथाप्युपयोगेन प्रायोग्य तत्कालोदयप्रायोग्य-कर्मतापन्न कर्म बध्नति । केन कृत्वा ? भावेन रागादिपरिणामेन नचास्तित्वमात्रेण बंधकारण भवतीति । **संतावि णिरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरुसस्ससंत्यपि** विद्यमानान्यपि कर्माणि क्वचित्प्राकृते लिंगव्यभिचारोऽपि, इति वचनान्नपुंसकलिंगे पुल्लिंगनिर्देश । पुल्लिंगेऽपि नपुंसक लिंग निर्देश. । कारके कारकांतर निर्देशो भवति, इति । तानि कर्माणि उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भवति । केन दृष्टातेन ? बाला स्त्री यथा पुरुषस्य । **बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स** तानि कर्माणि उदयकाले उपभोग्यानि भवति । रागादिभावेन नवतराणि च बध्नति । कथ ? यथा तरुणी स्त्री वरस्येति। अथ तमेवार्थं दृढयति । उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा कर्माणि स्वकीयस्वकीयगुणस्थानानुसारेण, उदयकाल प्राप्य यथायथाभोग्यानि भवति, तथातथा रागादिभावेन परिणामेन आयुष्कबंधकाले अष्ट विधभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावेन पर्यायेण नवतराणि बध्नति नचास्तित्वमात्रेणेति । रागादिभावास्रवस्याभावे द्रव्यप्रत्यया अस्तित्वमात्रेण बंधकारण न भवति । एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबंधको भणित इति । किं च विस्तार

मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टि, त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवधक। सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाना वधकोऽपि ससारस्थितिच्छेद करोति। तथा चोक्त "सिद्धाते द्वादशागवमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणाम केवलीसमुद्धातश्चेति ससारस्थितिघातकारणानि भवति" तद्यथा तत्र द्वादशागश्रुतविपये, अवगमो ज्ञान व्यवहारेण वहिर्विपय। निश्चयेन तु वीतरागस्वसवेदनलक्षण चेति। भक्ति पुन सम्यक्त्व भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीना पचपरमेष्ठयाराधानारूपा। निश्चयेन वीतराग सम्यग्दृष्टीना शुद्धात्मतत्वभावनारूपा चेति। न निवृत्तिरनिवृत्ति शुद्धात्मस्वरूपादचलन, एकाग्रपरिणतिरिति। तत्रैव सति द्वादशागावगमो निश्चयव्यवहारज्ञान जात। भक्तिस्तु निश्चयव्यवहारसम्यक्त्व जात। अनिवृत्तिपरिणामस्तु सरागचारित्रानतर वीतरागचारित्र जातमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भेदाभेदरत्नत्रयरूपेण ससारविच्छित्तिकारणानि भवति। केषा ? छद्मस्थानामिति। केवलिना तु भगवता दडकपटप्रतरलोकपूर्णरूपकेवलिसमुद्धात ससारविच्छित्तिकारणमिति भावार्थ। एव द्रव्यप्रत्यया विद्यमाना अपि रागादिभावाभावे सति वधकारण न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा चतुष्टय गत।

अथ यत एव कर्मवधहेतुभूतारागद्वेषमोहाः, ज्ञानिनो न मति। तत एव तस्य कर्म वधो नास्तिति कथयति--

टीका--(सव्वे पुव्वणिवद्धा दु पच्चया सति सम्मदिट्ठिस्स) (उपशम श्रेणी मे प्राप्त हुए वीतराग) सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व मे बधे हुए सव ही मिथ्यात्वादि कर्म सत्ता मे विद्यमान होते है (उवओगपाओग वधते कम्मभावेण) वे सव उपयोग मे आने पर तत्काल उदय को प्राप्त होने पर आत्मा मे रागद्वेपादि पैदा करने से नूतन कर्म बन्ध के करने वाले होते हैं। किन्तु पूर्व द्रव्य कर्मों की सत्ता मात्र से वध करने वाले नही होते। (सन्ता वि णिरुवभोज्जा वाला इच्छी जहेव पुरिसस्स) (कही प्राकृत मे लिग व्यभिचार भी होता है नपु सक लिंग के स्थान मे पुल्लिग का और पुल्लिग के स्थान मे नपु सक लिंग का और कारक मे कारकान्तर का निर्देश भी हो जाया करता है) जैसे मनुष्य के लिए वाल स्त्री उपभोग योग्य नही होती वैसे ही उदय से पहले अनुदय दशा मे रहनेवाले पूर्व बद्ध कर्म फलकारक नही होते (वधदि तेउ वभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स) किन्तु उदय काल मे ही वे सव कर्म उपभोग के योग्य होते है-फलकारक होते हैं, रागादिरूप विकार भाव पैदा करने से नूतन कर्म का बध करने वाले होते हैं, जैसे स्त्री तरुण होने पर मनुष्य को रागी बनाकर विवश करने वाली होती है। (होदूण णिरुवभोज्जा तह वधदि जह हवति उवभोज्जा) उदय होने से पूर्व काल मे अपने अपने गुणस्थान के अनुसार निरूपभोग्य होकर अर्थात फलकारक न होकर जव उदय काल को प्राप्त होते है तव उपभोग्य होते हुए फलदायक हुआ करते हैं तव (सत्तठ्ठविहा भूदा णाणावरणादि भावेहिं) यह जीव अपने रागादि भावो के अनुसार आयु वन्ध के काल मे तो ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मो को और शेप काल मे आयुष्य के विना सात प्रकार के कर्मों को नूतन कर्म के रूप मे वाधता रहता है। किन्तु अस्तित्व मात्र से ही पुरातन कर्म नूतन कर्म वन्ध करने मे कारण नही हुआ करते अर्थात् विना रागादिक भाव के द्रव्य कर्म (प्रत्यय) विद्यमान होते हुए भी कर्म वन्ध के कारण नही होते इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अवन्धक होता है ऐसा कहा है। खुलासा इसका यह है कि यह ससारी जीव जव अनन्त ससारात्मक मिथ्यादृष्टिपन को पारकर चतुर्थ गुणस्थान मे पहुँचता है अव्रत (सराग) सम्यग्दृष्टि वनता है तव इसके मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियो का नूतन वन्ध होने से रह जाता है शेष ७७ प्रकृतियो का वन्ध भी करता रहता है किन्तु पूर्व की अपेक्षा स्वल्प स्थिति और अनुभाग को लिए हुए वाधता है, एव ससार की स्थिति को छेदकर उमे परीत समार वना लेता है। जैसा कि सिद्धान्त मे कहा है "द्वादशागावगमस्त तीव्र भक्तिरनिवृत्ति परिणाम केवलिसमुद्धातश्चेति ससार स्थिती घातकारणानि भवति" (१) परिपूर्ण द्वादशाग का ज्ञान प्राप्त होना (२) अरहन्त

भगवान के प्रति भक्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन का लाभ होना (३) शुद्धात्म स्वरूप से एकाग्रतारूप अविचलित परिणाम होना (४) और केवली समुद्घात का होना ये चार कारण ससार की स्थिति को छेदने के लिए होते हैं। वहा द्वादशाग के विषय जो ज्ञान है वह व्यवहार नय से इतर जीवादि बाह्य समस्त पदार्थों का श्रुत के द्वारा ज्ञान हो जाना है और निश्चयनय से वीतराग रूप स्वसवेदनात्मक ज्ञान का हो जाना सो द्वादशागावगम कहलाता है। भक्ति नाम सम्यक्त्व का है जो कि व्यवहार से तो पचपरमेष्ठी की समाराधना रूप होती है जो कि सराग सम्यग्दृष्टि जीवो के हुआ करती है, किन्तु निश्चय से तो वह भक्ति वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवो के शुद्धात्म तत्व की भावना के रूप मे हुआ करती है। निवृत्ति-वापिस लौटना - न होना सो अनिवृत्ति कहलाता है अर्थात् शुद्धात्म के स्वरूप से च्युत न होना, एकाग्रता रूप परिणमन हो सो अनिवृत्ति है। इस प्रकार द्वादशाग का निश्चय और व्यवहार रूप दोनो प्रकार का ज्ञान हो जाना सो द्वादशागावगम कहलाता है। निश्चय और व्यवहार दोनो प्रकार के सम्यक्त्व का होना सो भक्ति कहलाती है। सराग चारित्र हो जाने पर वीतराग चारित्र का भी होना सो अनिवृत्ति परिणाम है। इस प्रकार भेद रत्नत्रय और अभेद रत्नत्रय के रूप मे जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं वह ससार की स्थिती के छेदने के कारण होते हैं जो कि छद्मस्थ जीवो के हुआ करते हैं किन्तु केवली भगवान के दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप जो केवली समुद्घात होता है वह संसार की स्थिती छेदने मे मे कारण होता है यह तात्पर्य है।

इस प्रकार द्रव्य प्रत्यय होकर भी रागादिरूप भाव आस्रव के न होने पर नूतन बन्ध करनेवाले नही होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता से चार गाथाये पूर्ण हुई ॥१८१-१८२-१८३-१८४॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा के कर्म बध के कारण राग द्वेष, मोह, नही होते इसीसे उसके नवीन कर्मों का बध नही होता —

रागो दोसो मोहो य आसवा णात्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तह्मा आसवाभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१८५॥
हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि।
तेसिं पिय रागादी तेसिमभावेण वज्झंति ॥१८६॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः।
तस्माद स्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति ॥१८५॥
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भवति।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यंते ॥१८६॥

अर्थ —मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्म बध के कारण होते हैं। उनकी कारणता को प्रस्फुट कर बताने वाले जीव के राग, द्वेष और मोह भाव हैं जिनके न होने पर मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय होकर भी अपना कार्य नही कर पाते। एव रागद्वेष और मोहरूप आस्रव भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नही होते हैं, अत आस्रव भाव के न होने से (सम्यग्दृष्टि जीवके) नूतन कर्मबध नहीं होता है ॥१८५-१८६॥

तात्पर्यवृत्ति—रागो दोसो मोहो य आस्रवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स रागद्वेषमोहा सम्यग्दृष्टेर्न भवति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतु । तथा हि, अनन्तानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदय जनिता रागद्वेषमोहा सम्यग्दृष्टेर्न सतीति पक्ष । कस्मात ? इतिचेत् केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितपरमात्मो उपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपद्द्रव्यपचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपचविशतिदोषरहितस्य—

संवेग्रो णिव्वेग्रो णिदा गरुह य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्ल अणुकंपा गुणट्ठसम्मत्तजुत्तस्स ॥

इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यक्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतु । अथवा, अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञा क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागद्वेषमोहा सम्यग्दृष्टेर्न सतीति पक्ष । कस्मात्? इति चेत् निर्विकारपरमानंदैकसुखलक्षणपरमात्मोपादेयत्वे सति पद्द्रव्यपचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि प्रशमसंवेगानुकम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पचमगुणस्थानयोग्यदेशचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतु । अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभोदयजनितरागद्वेषमोहा सम्यग्दृष्टेर्नसतीति पक्ष । कस्मादिति चेत चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मोपादेयत्वे सति पद्द्रव्यपचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसवेगानुकपादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य षष्ठगुणस्थानसभवसरागचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतु । अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधमानमायालोभतीव्रोदयजनिता प्रमादोत्पादका, रागद्वेषमोहा सम्यग्दृष्टेर्न सतीति पक्ष । कस्मात्? इति चेत् शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वेसति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधिसंजातसहजानंदैकस्वलक्षणसुखानुदभूतिमात्रस्वरूपाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति ।

तथाचोक्त—

आद्या सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया घ्नन्त्यणुव्रत तृतीया सयम तुर्या यथाख्यात क्रुधादय

इति गाथापूर्वार्द्धे व्याख्यान गत । **तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति**—यस्मात् गाथाया पूर्वार्धकथितक्रमेण रागद्वेषमोहा न सति तस्मात्कारणात् रागादिरूपभावास्रवेण विना अस्तित्वद्रव्यमात्रेण, उदयमात्रेण वा, भावप्रत्यया सम्यग्दृष्टेर्न भवतीति ।

हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपचतुर्विधो हेतु, ज्ञानावरणादिरूपस्याष्टविधस्य नवतरद्रव्यकर्मण कारण भवति । **तेसिपिय रागादी** तेषामपि मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाना उदयागतानां जीवगतरागादि भावप्रत्यया कारण भवति । कस्मात् ? इतिचेत् **तेसिमभावे ण वज्झंति** तेषा जीवगतरागादिभावप्रत्ययानामभावे सति द्रव्यप्रत्ययेष्वुदयागतेष्वपि वीतरागपरमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न बध्यते यत कारणादिति । तत स्थित नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागत द्रव्यप्रत्यया कारण, तेषा च जीवगता रागादिभावप्रत्यया कारणमिति कारणकारणव्याख्यान ज्ञातव्य ।

अथ यदुक्त पूर्व रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमचैतन्यचमत्कारलक्षणनिजपरमात्मपदार्थभावनारहिताना बहिर्मुखजीवाना पूर्वबद्धप्रत्यया नवतरकर्म बध्नति तमेवार्थ दृष्टातस्या दृढयति—

टीका—(रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स) सम्यग्दृष्टि जीव के राग, द्वेष और मोहभाव नही होते हैं क्योकि इन भावो के होने पर सम्यग्दृष्टिपन वन ही नही सकता । इसे स्पष्ट कर बतला रहे हैं । सम्यग्दृष्टि जीव के अनतानुबधी क्रोध मान माया और लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले रागद्वेष और मोह भाव नही होते (यह पक्ष है) क्योकि नही तो केवलज्ञानादि अनत गुणो

वाले परमात्मामे उपादेयता स्वीकार होकर वीतराग और सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए छ द्रव्य, पचास्तिकाय,सप्त तत्व और नव पदार्थो मे रुचि होने रूप तीन मूढता, आदि पच्चीस दोप रहित तथा "सवेग्रो णिव्वेओ णिदा गरुहा य उवसमो भत्ती, वच्छल्ल अणुकम्पा गुणट्ठ सम्मत्त जुत्तस्स" इस गाथा मे वताये हुए (१) सवेग (धर्म के प्रति अनुराग) (२) निर्वेद (भोगो मे अनासक्ति), (३) निंदा (अपने आप को भूल करने वाला मानना), (४) गर्हा (गुरुओ के आगे अपनी भूल स्वीकार करना), (५) उपशम (हर्ष और विषाद मे उद्विग्न न होना) (६) भक्ति (पच परमेष्ठियो मे अनुराग), (७) वात्सल्य (साधर्मियो के प्रति प्रीति भाव) और (८) अनुकम्पा (किसी को भी दुखी देखकर द्रवित हो जाना) इन आठ गुणोवाला चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धी सम्यक्त्व नही हो सकता (यह हेतु हुआ) । अथवा अनततानुवधी और अप्रत्याख्यानावरण नामवाले क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नही होते (यह पक्ष हुआ) क्योकि नही तो निर्विकार परमानदरूप सुख ही है लक्षण जिसका ऐसे परमात्मा मे उपादेयपना होकर षट द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्त तत्व, नव पदार्थों मे रुचि रूप तथा तीन मूढतादि पच्चीस दोप रहित भाव तथा उसीके साथ होने वाले प्रशम सवेग, अनुकम्पा तथा देव धर्मादिक के विषय मे आस्तिक्य भाव की अभिव्यक्ति है लक्षण जिसका ऐसे पचम गुणस्थान के योग्य देश चारित्र के साथ मे होने वाला सराग सम्यक्त्व नही हो सकता (यह हेतु हुआ) । अथवा अनतानुवधी अप्रत्याख्यानावरण, और प्रत्याख्यानावरण रूप क्रोध, मान, माया और लोभ के उदयसे होनेवाले राग, द्वेप, और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नही होते (यह पक्ष हुआ) क्योकि नही तो फिर चिदानद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा मे उपादेय बुद्धि होकर षट द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्त तत्व, नवपदार्थो मे रुचि रूप तथा तीन मूढतादि पच्चीस दोप रहित रूप एव उसीके साथ होने वाले प्रशम, सवेग, अनुकम्पा तथा देव धर्मादि के विपय मे आस्तिक्य भाव का होना रूप लक्षणवाले छठे गुणस्थान के योग्य सराग चारित्र के साथ मे होने वाला सराग सम्यक्त्व नही हो सकता (यह हेतु हुआ) । अथवा अनतानुवधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और तीव्र सज्वलन रूप क्रोध, मान, माया और लोभके उदय से होने वाले प्रमाद कारक राग, द्वेष और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नही होते (यह पक्ष हुआ) क्योकि फिर तो शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मा मे उपादेय बुद्धि होकर उसके ही योग्य शुद्धात्मा की समाधि से सज्ञात (अनुभूत) जो सहजानन्द स्वलक्षण वाले सुख की अनुभूति होना ही है स्वरूप जिसका ऐसे अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाले अर्थात् वीतराग चारित्र के विना न होने वाले वीतराग सम्यक्त्व की उत्पत्ति नही हो सकती है जैसा कि "आद्य सम्यक्त्व चारित्र, द्वितीयाघ्नत्यणुव्रत तृतीया सयम तुर्या यथाख्यात क्रुधादय" इसमे वताया है कि अनतानुवधी क्रोध, मान, माया और लोभ तो सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनो को ही नही होने देते । दूसरे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया और लोभ सम्यक्त्व को नही रोकते पर चारित्र के एक देश (अ शरूप) अणुव्रतात्मक चारित्र को भी नही होने देते । तीसरे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ सकल सयम (महाव्रतरूप चारित्र) को नही होने देते एव चौथे सज्वलनात्मक क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय यथाख्यात चारित्र को नही होने देते इस प्रकार यह मूलग्रन्थ की पूर्वार्द्ध गाथा का व्याख्यान हुआ । (तम्हा आसव भावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति) जैसा की पूर्वार्द्ध गाथा मे वताया है उसी क्रम से सम्यग्दृष्टि जीवके राग द्वेष मोह रूप भाव नही होते । एव उनके न होने से सत्ता मे होने वाले या उदय मे होने वाले मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय कर्म वध के कारण नही होते हैं । (हेदू चदुवियप्पो अट्ठ वियप्पस्स कारण होदि) क्यो कि मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के नवीन कर्म

बंध के कारण हैं। (तेंसिपिय रागादी) उन उदय मे आए हुए मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्ययो के भी कारण जीवगत रागादिभावरूप प्रत्यय होते हैं। (तेसिमभावेण वज्झति) उन जीवगत रागादि भाव प्रत्ययो के न होने पर पूर्वोक्त द्रव्य प्रत्यय भले ही उदय में आये हुए क्यो न हो तो भी वीतराग रूप परम सामायिक भावना मे परिणत रहने वाले अभेद रत्नत्रय हैं लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के होने पर यह जीव नवीन कर्मो से नही बधता है। इसलिए यह बात माननी पडती है कि यद्यपि उदय मे आए हुए मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय नवीन कर्मों के आस्रव के कारण होते हैं, किन्तु उनके भी कारण जीवगत रागादिभाव प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार कारण के कारण का व्याख्यान जानना योग्य है ॥१८५-१८६॥

विशेषार्थ —आत्मा से अतिरिक्त किसी भी पर पदार्थ मे यह अच्छी है इस प्रकार का विचार रागभाव है और यह बुरी है यह द्वेषभाव है और इस प्रकार की उलझन मे अपने आपको अटकाये रखना यह मोह भाव है एव यह राग द्वेष और मोह भाव जहा पर सर्वथा नही है उसी जीव को यहा इस अध्यात्मशास्त्र मे सम्यग्दृष्टि माना है। यह सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त दशा मे समीचीन ध्यान की एकता होने पर सप्तमादि गुणस्थान अवस्थामे हुआ करता है। उससे नीचे तो कुछ न कुछ हीनाधिक रूप मे मोह बना ही रहता है उस समय वह कर्म के कर्तृत्वपने से दूर नही रह सकता। छद्मस्थ के अप्रमत्तपन तो अधिक से अधिक एक साथ अन्तर्मुहुर्त काल तक ही रह सकता है। यदि इस समय मे इसने अपने मोह-नीय कर्म को सत्ता मे से उखाड फेंका तब तो सदा के लिए सच्चिदानन्द बन जाता है, नही तो फिर इसका उपयोग आत्मा से हटकर इतर वस्तुओ पर चला जाया करता है ताकि रागभाव करके यह फिरसे पूर्व की भाति नूतन कर्म बाधने लग जाता है जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है —

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनस सतत भवत, पश्यति बधविधुर समयस्य सार॥१२०॥

प्रच्युत्य शुद्धनयत पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयाति विमुक्तबोधा।
ते कर्मबधमिह बिभ्रति पूर्ववद्ध, द्रव्यास्रवै कृतविचित्रविकल्पजाल॥१२१॥

अर्थात् जो लोग निर्विकार ज्ञान ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धनय को अर्थात् शुद्धात्मा की भावना को प्राप्त होकर वही निरन्तर रूप से एकाग्र रहते है वे सदा के लिए रागादि विकार भावो से रहित होकर समय के साररूप अपनी आत्मा को बन्ध से रहित अवलोकन करते हैं। किन्तु शुद्धात्मा की भावना रूप उस शुद्धनय को प्राप्त होकर भी उससे चिगकर अज्ञानी बनते हुए जो लोग फिर से रागादि विकार भाव को प्राप्त हो जाते है तब वे लोग उदीयमान पूर्व बद्ध अपने मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्ययो से नाना प्रकार के विकल्प जाल को उत्पन्न करने वाले नूतन कर्म बन्ध को फिर से करने लग जाते हैं।

अब आचार्य देव ऊपर जो यह कह आये हैं कि रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित परम चैतन्य चमत्कार ही है लक्षण जिसका ऐसा जो निज परमात्म तत्व उसकी भावना से रहित ऐसे बहिर्मुख वाले ससारी जीवो के पूर्व बद्ध द्रव्य प्रत्यय होते हैं वे सब नवीन कर्म बन्ध किया करते हैं उसीका समर्थन दो दृष्टात के द्वारा कर रहे हैं —

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो॥ १८७ ॥

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥ १८८ ॥

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदाराग्निसंयुक्त ॥१८७॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥ १८८ ॥

अर्थ—जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उसकी जठराग्नि का सयोग पाकर उसके बलाबल के अनुमार माम, चरबी, रुधिर आदि के रूप मे अनेक रूप परिणमन करता है वैसे ही ससारी जीव के पूर्व बद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय भी जो कि इस जीव के साथ एक क्षेत्र अवगाह रूप हो रहे हैं वे सब इस जीव के रागादिभाव का निमित्त पाकर नाना प्रकार के नूतन कर्म का बन्ध करते हैं ॥१८७-१८८॥

तात्पर्यवृत्ति—जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविह यथा पुरुषेण गृहीताहार स परिणमति, अनेकविध बहुप्रकार किं ? **मसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो** मासवसारुधिरादीन् पर्यायान् कर्मतापन्नान् परिणमति। कथभूत सन् ? उदाराग्निसयुक्त इति दृष्टातो गत।

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्प बज्झंते कम्म ते—तथैव च पूर्वोक्तोदराग्निसयुक्ताहारदृष्टातेन अज्ञानिनश्चैतन्यलक्षणजीवस्य, न च विवेकिन। पूर्वं ये बद्धा, मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय, जीवगतरागादिपरिणाममुदराग्निस्थानीय लब्ध्वा ते बहुविकल्प कर्मं बध्नति। **णयपरिहीणा दु ते जीवा** येपा जीवाना सबधिन प्रत्यया कर्म बध्नति ते जीवा। कथ भूता ? परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानरूपात् शुद्धनयाद्भ्रष्टा, च्युता। अथवा द्वितीयव्याख्यान। ते प्रत्यया अशुद्धनयेन जीवात् सकाशात् परिहीणा भिन्ना न च भवति। इदमत्र तात्पर्यं, निजशुद्धात्मध्येयरूपसर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थशुद्धनयो विवेकिभिर्न त्याज्य इति। एव कारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय गत।

इति **श्री जयसेनाचार्य कृताया** समयसार व्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ सप्तदशगाथाभि पचस्थलै सवरविपक्षद्वारेण पचम आस्रवाधिकार समाप्त।

टीकाः—(जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमइ सो अणेयविह) जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ भोजन अनेक प्रकार की अवस्थाओंमे परिणमन करता है जो कि (मसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसजुत्तो) उदर की अग्नि का सयोग पाकर मास, चरबी, लोही आदि के रूप मे परिणमन करता है यह दृष्टात हुआ। (तह णाणिस्स दु पुव्व जे बद्धा पच्चया बहुवियप्प) उसी प्रकार इस चेतना लक्षण वाले ससारी अविवेकी जीव के पूर्व बद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय (न कि विवेकी वैरागी के) उदराग्नि स्थानीय रागादि परिणाम को पाकर बहुत भेदवाले कर्म का बन्ध किया करते है। (णयपरिहीणा दु ते जीवा) जिन जीवो के द्रव्य प्रत्यय नवीन बन्ध करनेवाले होते हैं वे जीव कैसे होते है ? इस का आचार्य समाधान करते हैं कि वे लोग परमसमाधि ही हैं लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान स्वरूप शुद्ध नय से दूर रहने वाले हैं। अथवा इस वाक्य का दूसरा व्याख्यान इस प्रकार भी होता है कि "न च परिहीणास्तु ते (प्रत्यया) जीवात्" अर्थात् वे द्रव्य प्रत्यय अशुद्ध नय की अपेक्षा से उस जीव से परिहीन नहीं हैं, भिन्न

नही हैं किन्तु उस जीवके साथ एक क्षेत्रावगाह होकर रहनेवाले हैं। तात्पर्य यह है कि जिसमे अपना शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य ध्येय होता है तथा जो सम्पूर्ण कर्मो को नष्ट कर डालने मे समर्थ होता है ऐसा शुद्धनय विवेकियो द्वारा त्यागने योग्य नही है ॥१८७-१८८॥

इस प्रकार कारण के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाये पूर्ण हुई

विशेषार्थ--जहा पर सब पर पदार्थों को स्मरण मे न लाकर केवल मात्र अपनी शुद्धात्मा का ही ध्यान किया जाता है उस परम समाधि अवस्था का नाम ही शुद्ध नय है, जिसके द्वारा चिरसचित दुष्कर्मो का भी क्षणमात्र मे नाश किया जा सकता है, अत विवेकी मुमुक्षु महर्षियो को उसे प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिए और प्राप्त हो जाने पर फिर वह छूटने न पावे ऐसा प्रयास बनाये रखना चाहिये। क्योकि उसके छूटने पर ही नवीन कर्म बन्ध होता है परन्तु रहने पर बन्ध नही होता जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य लिख गये हैं कि —

इदमेवात्र तात्पर्यं हेय· शुद्धनयो नहि ।
नास्ति बधस्तदत्यागात् तत्यागाद् बध एव हि ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्री **जयसेनाचार्य** की समयसार की व्याख्या जिसमे शुद्धात्मा की अनूभूति का लक्षण बतलाया गया है जिसका नाम तात्पर्यवृत्ति है उसकी हिन्दी टीका मे १७ गाथाओ द्वारा सवर के विरोध मे यह पांचवा आस्रव अधिकार पाच स्थलो से पूर्ण हुआ ।

छठा महाधिकार (संवर तत्व)*

तात्पर्यवृत्ति—**अथ प्रविशति सवर** । सवराधिकारेऽपि यत्र मिथ्यात्वरागादिपरिणतबहिरात्मभावनारूप आस्रवो नास्ति तत्र सवरो भवतीति आस्रवविपक्षद्वारेण चतुर्दशगाथापर्यंतवीतरागसम्यक्त्वरूपसवर व्याख्यान करोति । तत्रादौ भेदज्ञानात्-शुद्धात्मोपलाभो भवति इति सक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन **उवओगे**-इत्यादि गाथात्रय । तदनतर भेदज्ञानात्कथ शुद्धोत्मोपलाभो भवतीति प्रश्ने परिहाररूपेण **जहकणयमग्गि** इत्यादि गाथाद्वय । तत पर शुद्धभावनया पुन शुद्धो भवतीति मुख्यत्वेन **सुद्ध तु वियाणंतो** इत्यादि गाथैक । तत पर केन प्रकारेण सवरो भवतीति पूर्वपक्षे कृते सति परिहारमुख्यतया **अप्पाणमप्पणा** इत्यादि गाथात्रय । अथात्मा परोक्षस्तस्य ध्यान कथ क्रियेतेति पृष्टे सति देवतारूपदृष्टातेन परोक्षेऽपि ज्ञायत इति परिहाररूपेण **उवदेसेण** इत्यादि गाथाद्वय । तदनतर, अथोदयप्राप्तप्रत्यागताना रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगताना रागादिभावास्रवाणामभावो भवतीत्यादि सवरक्रमाख्यानमुख्यत्वेन **तेसिं हेदु** इत्यादि गाथात्रय । एव आस्रवविपक्षद्वारेणसवरव्याख्याने समुदायपातनिका । तद्यथा प्रथमतस्तावच्छुभाशुभकर्मसवरस्य परमोपायभूत निर्विकारस्वसवेदनज्ञानलक्षण भेदज्ञान निरूपयति ।

---

* श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति के अनुसार यह प्रकरण आस्रव तत्व मे लिया गया है । आत्मख्याति टीका के अनुसार यह सवर तत्व है उसी क्रम को यहा रखा है ।

टीका —अब सवर प्रवेश करता है। इस सवर के अधिकारमे जहा पर मिथ्यादर्शन और रागादि मे परिणमन होता हुआ बहिरात्मा की भावना रूप जो आस्रव भाव नही है वहा सवर होता है। इस प्रकार आस्रव के विक्षेप रूप वीतराग सम्यक्त्व रूप सवर का व्याख्यान चौदह (१४) गाथाओ मे करते हैं। वहा सवसे पहले सक्षेप मे मुख्य रूप से यह व्याख्यान करते हुए कि भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है 'उवओग' इत्यादि तीन गाथाये हैं। इसके पश्चात् भेदज्ञानसे शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ऐसा प्रश्न होने पर उसका परिहार करते हुए "जहकणयमग्गि" इत्यादि दो गाथाये हैं। उसके आगे यह आत्मा शुद्ध भावना से ही शुद्ध होता है इस कथन की मुख्यता से "सुद्ध तु वियाणतो" इत्यादि एक गाथा है। उसके आगे-सवर किस प्रकार होता है ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर देते हुए "अप्पाणमप्पणो" इत्यादि तीन गाथाये है। उसके आगे आत्मा तो छद्मस्थ के परोक्ष है उसके ज्ञान गम्य नही है फिर उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है ऐसा पूछने पर देवता रूप दृष्टान्त के द्वारा परोक्ष आत्मा भी जाना जा सकता है ऐसा बताते हुए "उवदेसेण" इत्यादि दो गाथायें हैं। उसके आगे उदय को प्राप्त हुए रागादि विकार भावो का अभाव हो जाने पर जीव के रागादि भावो का भी अभासूव हो जाता है इस प्रकार सवर के क्रम की मुख्यता से "तेसिं हेदु" इत्यादि तीन गाथाये हैं। इस प्रकार आसूव के प्रतिपक्ष रूप मे सवर का व्याख्यान हुआ है उसकी यह समुदाय पातनिका है।

अब यहा पर सबसे पहले निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान है लक्षण जिसका ऐसे भेदविज्ञान का निरूपण करते हैं। वह भेदज्ञान शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्मों के सवर का परमोत्तम कारण है —

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।
कोहे कोहो चेवहि उवओगे णात्थि खलु कोहो ।।१८९।।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ।।१९०।।

एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ।।१९१।। (त्रिकलम्)

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोप्युपयोगः ।
क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ।। १८९ ।।

अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः ।
उपयोगेऽपि च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ।।१९०।।

एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ।।१९१।।

अर्थ—ज्ञान और दर्शन रूप चेतना के परिणमन का नाम उपयोग है जिसका आत्मा के साथ तादात्म्य सबंध है। अतः एक उपयोग शब्द से अभेद विवक्षा करके आत्मा का ग्रहण करना और दूसरे से चैतन्य परिणाम रूप ज्ञान दर्शनमय उपयोग लेना। उपयोग मे क्रोधादि कषाय भाव नही होता और क्रोधादि कषाय भाव हो जाने पर कोई भी शुद्धात्मा नही रहता, किन्तु क्रोध के समय मे आत्मा स्वय क्रोध रूप होता है किन्तु जो आत्मा शुद्ध है उसमे क्रोध का कोई लेन देन नही है यह निश्चित वात है। इसी प्रकार आठ प्रकार के कर्म और औदारिकादि शरीर रहने पर भी आत्मा शुद्ध नही रहता है क्योकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानावरणादि कोई भी कर्म और औदारिकादि कोई भी शरीर नही है इस प्रकार का अविपरीत अव्याहत ज्ञान जब इस जीव को हो जाता है उस समय अपने उपयोग मे शुद्ध होता हुआ यह छद्मस्थ आत्मा भी कुछ विकार भाव नही करके अपने स्वभाव मे स्थित हो रहता है॥ १८९-१९०-१९१॥

तात्पर्यवृत्ति—उवओगे उवओगो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादभेदनयेनात्मैवोपयोगस्तस्मिन्नुपयोगाभिधाने शुद्धात्मन्युपयोग आत्मा तिष्ठति **कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो** शुद्धनिश्चयेन क्रोधादिपरिणामेषु नास्ति कोप्युपयोग आत्मा **कोहो कोहो चेव हि** क्रोधे क्रोधश्चैव हि स्फुट तिष्ठति **उवओगे णत्थि खलु कोहो** उपयोगे शुद्धात्मनि नास्ति खलु स्फुट क्रोध।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो तथैव चाष्टविधज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि औदारिक शरीरादिनोकर्मणि चैव नास्त्युपयोग—उपयोगशब्दवाच्य शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मा **उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि** उपयोगे शुद्धात्मनि शुद्धनिश्चयेन कर्म नोकर्म चैव नास्ति इति।

एदं तु अविवरीद णाणं जइया दु होदि जीवस्स इद तु चिदानदैकस्वभावशुद्धात्मसवित्तिरूप विपरीताभिनिवेशरहित भेदज्ञान यदा भवति, जीवस्य **तइया ण किंचि कुव्वदि भाव उवओग सुद्धप्पा** तस्माद्भेदविज्ञानात्स्वात्मोपलभो भवति शुद्धात्मोपलभे जाते सति किमपि मिथ्यात्वरागादिभावान्न करोति न परिणमति। कथभूत सन्? निर्विकारचिदानदैकलक्षणशुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा शुद्धभाव सन्निति। यत्रैवभूतो सवरो नास्ति तत्रास्रवो भवत्यस्मिन्नधिकारे सर्वत्र ज्ञातव्यमिति तात्पर्यं। एव पूर्वप्रकारेण भेदविज्ञानात् शुद्धात्मोपलभो भवति। शुद्धात्मोपलभे सति मिथ्यात्वरागादिभाव न करोति ततो नवतरकर्मसवरो भवतीति सक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय गत।

अथ कथ भेदज्ञानादेव शुद्धात्मोपलभो भवतीति पृच्छति—

टीका—(उवओगे उवओगो) क्योकि ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है अत. अभेद विवक्षा से यहा पर उपयोग शब्द से आत्मा को लिया गया है, उस उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा मे ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोग मात्र ही होता है अर्थात् उसमे क्रोधादिक विकार भाव नही होते हैं। (कोहादिसु णत्थि कोवि उवयोगो) शुद्ध निश्चयनय से क्रोधादिक परिणामो के होने पर कोई भी उपयोग अर्थात् आत्मा नही रहता (वह अनात्मा भ्रष्टात्मा वन जाता है)। (कोहे कोहो चेव हि) क्योकि क्रोध होने पर आत्मा स्वय ही क्रोधरूप होता है (उवओगो णत्थि खलु कोहो) परन्तु उपयोग अर्थात् शुद्धात्मा मे निश्चय से जरासा भी क्रोधभाव नही होता है। (अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगे) वैसे ही ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकार के द्रव्य कर्म तथा औदारिकादि शरीररूप नो कर्म के रहने पर भी शुद्ध वुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा नही रह पाता है। (एदं तु अविवरीद णाण जइया दु होदि जीवस्स) इस प्रकार का चिदानद मई एक शुद्धात्मा का विपरीत अभिप्राय से रहित सवेदन रूप भेदज्ञान

जव इस जीव को हो जाता है, (तइया ण किंचि कुव्वदि भाव उवओग सुद्धप्पा) तव इस प्रकार के भेद ज्ञान के होने से इसे स्वात्मा की उपलब्धि हो जाने पर फिर वह मिथ्यात्व और रागादिरूप विकार भावो मे से किसी भी प्रकार के भाव को नही करता है, नही परिणमता है। क्योकि फिर तो वह निर्विकार चिदानद रूप जो एक शुद्ध उपयोग उससे शुद्ध आत्मा होता हुआ शुद्ध स्वभाव का धारक वना रहता है। जहा पर इस प्रकार का सवर नही होता वहा पर आस्रव होता है इस प्रकार इस अधिकारमे सव स्थान पर जानना ।। १८९-१९०-१९१ ।।

इस प्रकार पूर्व मे कहे अनुसार भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। जिसके होने पर यह जीव मिथ्यात्व और रागादिरूप विकार भाव नही करता है तव इसके नूतन कर्मों का सवर हो जाता है इस प्रकार सक्षेप से व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुई ।। १८९-१९०-१९१ ।।

आगे भेद विज्ञान मे ही शुद्धात्मा की समुपलब्धि कैसे होती है सो वताते हैं —

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ।।१९२।।
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ।।१९३।।

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं ।।१९२।।
एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानं।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ।।१९३।।   (युग्मं)

अर्थ—जैसे अग्नि मे तपाया हुआ सोना भी अपने स्वर्णपने को नही छोडता है वैसे ही कर्मोदय के द्वारा सताया हुआ ज्ञानी जीव भी अपने ज्ञानीपन का त्याग नही करता है। इस प्रकार ज्ञानी तो अपने आप को जानता ही रहता है किन्तु अज्ञानी तो अज्ञान अन्धकार से ढका हुआ होने के कारण अपने आप को नही जानता हुआ राग को ही अपना स्वरूप समझता है।।१९२-१९३।।

तात्पर्यवृत्ति—**जह कणयमग्गितवियं कणयसहावं ण तं परिच्चयदि**—यथा कनक सुवर्णमग्नितप्तमपि त कनकस्वभाव न परित्यजति। **तह कम्मोदय तविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं** तेन प्रकारेण तीव्रपरीषहोपसर्गेण कर्मोदयेन सतप्तोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामपरिहारपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानी न त्यजति। किं तत्? शुद्धात्मसवित्तिलक्षण ज्ञानित्वं पाडवादिवदिति। **एवं जाणदि णाणी** एवमुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति कोऽसौ वीतरागस्वसवेदनलक्षणभेदज्ञानी **अण्णाणी मुणदि रागमेवादं** अज्ञानी पुन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् मिथ्यात्वरागादिरूपमेवात्मान मनुते जानाति। कथभूत सन्? **अण्णाणतमोच्छण्णो** अज्ञानतमसावच्छन्न प्रच्छादितो झपित। कथभूत सन्। **आदसहावं अयाणंतो** निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारस्वभाव शुद्धात्मान निर्विकल्पसमाधेरभावादजानन् अननुभवन् इति। एव भेदज्ञानात्कथ शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथाद्वय गत।

अथ कथ शुद्धात्मोपलभात्सवर इति पुनरपि पृच्छति—

टीका.—(जह् कणयमग्गितवियं पि कणयसहाय ण त परिच्चयदि) जिस प्रकार अग्नि से तपाया हुआ भी स्वर्ण अपने स्वर्णपने को नही छोडता हैं, (तह कम्योदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं) वैसे ही तीव्र परीपह या उपसर्गरूप घोर कर्म के उदयसे सताया हुआ भी अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे (समाधि स्वरूप) भेद ज्ञान का धारी जीव रागद्वेप, और मोह रूप परिणामो को न होने देने मे तत्पर होता हुआ पाण्डव और गजकुमार के समान अपने शुद्धात्मा के सवेदन रूप ज्ञानीपने को नही त्यागता है। (एव जाणदि णाणी) अपितु वह वीतराग स्वसवेदन स्वरूप भेदज्ञान वाला जीव तो पूर्व प्रकार से (समाधिस्थ हुआ) अपने शुद्धात्मा के स्वरूप को जानता ही रहता है। उसी पर जमा रहता है। (अण्णाणी मुणादि रागमेवाद) किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान नही होता इसलिये वह अपने आपको मिथ्यात्व और रागादिरूप ही मानता और जानता रहता है (अण्णाणतमोच्छण्णो) क्योकि वह अज्ञानरूप अन्धकार से ढका हुआ है (आदसहाव अयाणतो) और विकल्द रहित समाधि के न होने से विकारों से वर्जित परम चैतन्य चमत्कार ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्ध आत्मा को नही जानपाता है, उसका अनुभवन नही कर पाता है ॥ १९२-१९३ ॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने इन दो गाथाओ मे ज्ञानी को अपने आत्मा मे सुदृढ होकर लगे रहने की प्रेरणा दी है। जो प्रयत्न करके भी शुद्धात्मा के ध्यान को प्राप्त नही करते हैं वे तो अज्ञानी हैं ही किन्तु जो आत्मध्यान को प्राप्त करके भी घोर परीषह आदि के हेतुतासे उस आत्मध्यान रूप समाधिसे चिग जाते हैं वे भी एक प्रकार के अज्ञानी ही हैं। वास्तविक ज्ञानी तो वही है जो किसी भी प्रकार का वाधक कारण आने पर भी समाधि से च्युत नही होकर अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये वही दृढ वना रहता है। जिस प्रकार अग्नि से तपाया जाकर भी स्वर्ण अपने स्वर्णपने को नही छोडता है। इसके उदाहरण पाण्डवादिक अनेक महा पुरुष है जो आगम मे वताये गये हैं।

इस प्रकार भेदज्ञान से ही शुद्धात्मा की समुपलब्धि कैसे हो जाती है इस प्रश्न के उत्तर मे ये दो गाथायें कही गई है।

आगे यह वताते हैं कि शुद्धात्मा की समुपलब्धि हो जाने से ही सवर कैसे हो जाता हैं—

सुद्धं तु वियाणन्तो सुद्धचेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥१९४॥

शुद्धं तु विजानन् शुद्धमेवात्मानं लभते जीवः।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मांन लभते ॥१९४॥

अर्थ—(जैसे कि सगति करता है वह स्वय भी वैसा ही वना रहता है इस कहावत के अनुसार) जो शुद्धात्मा के अनुभव मे लग रहता हैं वह अपने आपको भी शुद्ध वना लेता है किन्तु जो अपने को अशुद्ध समझे हुए रहता है वह कभी शुद्ध नही हो सकता—सदा अशुद्ध ही रहेगा ॥१९४॥

तात्पर्यवृत्ति —सुद्धं तु वियाणतो सुद्धमेवप्पय लहदि जीवो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितमनतज्ञानादिगुण-स्वरूप शुद्धात्मान निर्विकारसुखानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानेन विजानन्ननुभवन् ज्ञानी जीव । एव गुणविशिष्ट यादृश शुद्धात्मान ध्यायति भावयति तादृशमेव लभते । कस्मात् ? इति चेत् उपादानसदृश कार्यमितिहेतो **जाणतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि** अशुद्धमिथ्यात्वादिपरिणतमात्मानजानन्ननुभवन् सन् अशुद्ध, नरनाकादिरूपमेवात्मान लभते । स क ? । अज्ञानी जीव इति । एव शुद्धात्मोपलभादेव कथ सवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथा गाता ।

अथ केन प्रकारेण सवरो भवतीति पृष्टे पुनरपि विशेषेणोत्तर ददाति—

टीका:—(सुद्ध तु वियाणतो सुद्ध मेवप्पयलहदि जीवो) क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, और औदारिक शरीरादि नोकर्म इस प्रकार तीनो प्रकार के कर्मों से रहित तथा अनन्त ज्ञानादि गुण स्वरूप शुद्धात्मा को, निर्विकार सुख की अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा अर्थात् ध्यान के द्वारा जो जानता है अनुभव करता है वह ज्ञानी जीव कहलाता है । क्योकि जैसे गुणो से विशिष्ट जैसी आत्मा का अर्थात् शुद्धात्मा का ध्यान करता है, अपने उपयोग मे दृढता से उतारता है, वह आपने आपको भी वैसा ही वना लेता है क्यो कि उपादान के समान ही कार्य होता है यह नियम बना हुआ है (जाणतो दु असुद्ध असुद्धमेवप्पय लहदि) परन्तु जो अपने आपको मिथ्यात्वादि विकार भावो मे परिणत हुआ अशुद्ध जानता है, अनुभव करता है वह अज्ञानी जीव अपने आपको नरनारकादि पर्याय रूप मे अशुद्ध किये हुए है ।।१९४।।

अव सवर होने का प्रकार कौनसा है इसीका विशेप स्पष्टीकरण करते हैं :—

अप्पाणमप्पणारुंधिऊण दो पुण्णपाव जोएसु ।
दंसणणाणह्मिठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ।।१९५।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ।।१९६।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणमाओ अणण्णमणो ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ।।१९७।।

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्वि पुण्यपापयोगयोः ।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ।।१९५।।
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा ।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिंतयत्येकत्वं ।।१९६।।
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञान मयोऽनन्यमनाः ।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मनिर्मुक्तं ।।१९७।।

अर्थ—जो पुरुष पुण्य और पापरूप दोनो प्रकार की क्रियाओ मे भटकनेवाले अपने मन को अपने आपमे रोककर अपने से अन्य देहादि वस्तुओ मे होने वाली इच्छा रहित होता हुआ केवलमात्र दर्शन ज्ञानमय स्वभाव मे स्थित होता है तथा जो सम्पूर्ण प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ अपने द्वारा अपने आपका ध्यान करता है, कर्म व नोकर्म किसी का भी चितवन नही करता है वही एक अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान कर पाता है हा, जो इस प्रकार सब ओर से अपने मनको हटाकर केवलमात्र अपने दर्शन ज्ञानमय स्वभाव मे रहता है वह जीव शीघ्र ही अपने आपको सम्पूर्ण कर्मो से रहित कर लेता है ।। १६५-१६६-१६७ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—**अप्पाणमप्पणातरुंभिदूणदो (सु) पुण्णपावजोगेसु** आत्मान कर्मत्वापन्न । आत्मना करणभूतेन द्वयो पुण्यपापयोगयोरधिकारभूतयोर्वर्तमान स्वसवेदनज्ञानवलेन शुभाशुभयोगाभ्या सकाशाद्रुन्ध्वा व्यावर्त्य । **दंसणणाणह्मि ठिदो** दर्शनज्ञाने स्थित सन् । **इच्छाविरदोय अण्णह्मि** अन्यस्मिन् देहरागादिपरद्रव्ये, सर्वत्रेच्छारहितश्चेति प्रथमगाथा गता । **जो य कर्त्ता सव्वसगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा** आत्मा, पुनरपि कथभूत **सव्वसंगमुक्को** निस्सगात्मतत्त्वविलक्षणवाह्याभ्यन्तरसर्वसगमुक्त सन् । **झायदि** ध्यायति क, **अप्पाणं** निजशुद्धात्मान केन, करणभूतेन, **अप्पणो** स्वशुद्धात्मना । **णवि कम्म णोकम्म** नैव कर्म्म नोकर्म ध्यायति, आत्मान ध्यायन् । किं करोति **चेदा चिंतेदि** एव गुणविशिष्टश्चेतयितात्मा चिंतयति । किं?, **एयत्तं** "एकोह् निर्मम शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर । वाह्या सयोगजा भावा मत्त सर्वेऽपि सर्वथा" इत्याद्येकत्व, इति द्वितीयगाथा गता ।

सो इत्यादि **सो** स पूर्वसूत्रद्वयोक्त पुरुष **अप्पाण झायंतो** एव पूर्वोक्तप्रकारेणात्मान कर्मतापन्न चिंतयन्, निर्विकल्परूपेण ध्यायन् सन् । **दंसणणाणमइओ** दशर्नज्ञानमयो भूत्वा । **अणण्णमणो** अनन्यमनाश्च **लहदि** लभते । कमेव, **अप्पाणमेव** आत्मानमेव कथभूत, **कम्मणिम्मुक्कं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मविमुक्त । केन, **अचिरेण** स्तोककालेन । एव केन प्रकारेण सवरो भवति इति प्रश्ने सति विशेषपरिहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय गत ।

अथ परोक्षस्यात्मन कथ ध्यान भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति ।

टीका—(अप्पाणमप्पणारु भिदूण दो पुण्णपाव जोएसु) पुण्य और पाप के आधार भूत दोनो प्रकार की शुभाशुभ क्रियाओ मे प्रवर्तमान होने वाले अपने करण (साधन) भूत स्वसवेदन ज्ञान के वलसे दूर हटा कर (दसणणाणह्मिठिदो) दर्शन और ज्ञान मे स्थित होता हुआ (इच्छाविरदो य अण्णह्मि) इन देहादिक और रागादिक सभी प्रकार के अन्य द्रव्यो मे इच्छा रहित होता है । यह पहली गाथा हुई । (जो सव्वसगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणोअप्पा) इस प्रकार जो आत्मा सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित जो आत्मा तत्व है उससे विलक्षण जो वाह्य और अभ्यन्तर रूप सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ करणभूत अपनी शुद्ध आत्मा से अपने शुद्ध स्वरूप का ध्यान करता है (णवि कम्म णोकम्मं) किन्तु कर्म और नोकर्म का चितवन नही करता है । तो फिर वह आत्मा का ध्यान करने वाला क्या करता है ? कि (चेदा चिंतेदि एयत्त) उपर्युक्त गुणो से विशिष्ट वह चेतना गुणधारी आत्मा केवल एकत्व का चिंतवन करता है जैसाकि—एकोऽह निर्म्मम शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । वाह्या सयोगजा भावा मत्तः सर्वेपि सर्वथा । इस श्लोक मे वताया है कि मैं तो एक हू, मेरा यहा कोई भी नही है, किसी भी प्रकार के सम्पर्क से दूर रहने वाला हू, केवल मात्र ज्ञान गुण का धारक हू मुझे योगी लोग ही ध्यान के वल से जान पहचान सकते है और कोई नही, इसके सिवाय जितने भी सयोगज भाव है अर्थात् शरीरादिक हैं वे मेरे से सर्वथा भिन्न हैं इस प्रकार चितवन करता रहता है । यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ । (सो अप्पाण झायतो) पूर्व सूत्रोक्त पुरुष उपर्युक्त प्रकार से

आत्मा को चिन्तवन करता हुआ—निर्विकल्प रूप से आत्मा का ध्यान करता हुआ (दसणणाणमइओ) दर्शन और ज्ञानमयी होकर (अणण्णमणो) तथा अपने आत्मा मे एक चित्त होकर (लहदि अप्पाणमेव) अपने आप को ही प्राप्त कर पाता है। किस प्रकार कर पाता है ? कि (अचिरेण कम्मपविमुक्क) बहुत ही शीघ्र भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के भेद से जो तीन प्रकार के हैं उनसे रहित कर पाता है ॥१९५-१९६-१९७॥

विशेषार्थ—आचार्य देव इन तीन गाथाओ मे सवर का पात्र कौन है ? कौन कर सकता है ? और उसका स्पष्ट फल क्या है ? यह बताते हुए बताया है कि जो व्यक्ति भलाई और बुराई से दूर हट कर एकाग्रचित्त होता हुआ राजस और तामस वृत्ति इन दोनो का त्याग करके सात्विकता को प्राप्त हो जाता है और ससार की दृश्यमान वस्तुओ मे अब जिसकी कोई भी इच्छा न रहने से जिसने सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है वही जीव शान्त चित्त से शुद्धात्मा का ध्यान कर सकता है जो कि सवर होने का अद्वितीय साधन है। उस शुद्धात्मा के ध्यानरूप सवरतत्व को भली प्रकार प्राप्त कर लेने पर फिर अपुनर्भवता प्राप्त करने मे देरी नही लगती उसके द्वारा वह शीघ्र प्राप्त करली जाती है। हा, उपर्युक्त प्रकार के वास्तविक त्याग के विना ही शुद्धात्मा के ध्यानरूप सवर तत्व के हो जाने की वात जो कही जाती है वह विना मुंह के भोजन कर लेने जैसी है उसमे कोई सार नही है।

सवर किस प्रकार होता है इस प्रश्न का विशेष स्पष्टीकरण करने रूप ये तीन गाथाये पूर्ण हुई ॥१९५-१९६-१९७॥

आगे जो आत्मा परोक्ष है छद्मस्थ के देखने मे नही आती है उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है—

***उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि।**
मण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठोय णादोय ॥१९८॥

उपदेशेन परोक्षरूपं यथा दृष्ट्वा जानाति।
भण्यते तथैव ध्रियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च ॥१९८॥

अर्थ—जैसे किसी का परोक्षरूप उपदेश द्वारा तथा लिखा देखकर वह जाना जाता है। वैसे ही यह जीव वचनो के द्वारा कहा जाता है तथा मनके द्वारा ग्रहण किया जाता है मानो प्रत्यक्ष देखा गया व जाना गया है ॥१९८॥

तात्पर्यवृत्ति — उवदेसेण परोक्खं रुवं जह पस्सिदूण णादेदि यथालोके परोक्षमपि देवतारूप परोपदेशाल्लिखित दृष्ट्वा कश्चिद्देवदत्तो जानाति। **भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य।** तथैव वचनेन भण्यते तथैव मनसि गृह्यते। कोसौ ?, जीव , केन रूपेण ?, मया दृष्टो ज्ञातश्चेति मनसा सप्रधारयति तथा चोक्त।

गुरूपदेशादभ्यासात्सवित्ते स्वपरातर। जानाति य स जानाति मोक्षसौख्य निरतर। अथ—

टीका—(उवदेसेण परोक्ख रूव जह पस्सिदूण णादेदि) जैसे लोक व्यवहार मे किसी परोक्ष देव के रूप को भी किसी दूसरे के कहने से या कही लिखा हुआ देखकर कि यह अमुक देवता का रूप है देवदत्त

* यह गाथा आत्मख्याति मे नहीं है।

आदिक जाना जाता है। (भणणदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादोय) उसी प्रकार यह जीव वचनो के द्वारा कहा जाता है तथा यह जीव मेरे द्वारा देखा गया और जाना गया ऐसा मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है इस प्रकार विश्वास किया जा सकता है समझा जा सकता है। ऐसा ही अन्य ग्रन्थ मे कहा गया है कि "गुरूपदेशाभ्यासात् सविते स्वपरातर, जानाति य स जानाति मोक्षसौख्य निरन्तर।।" "अर्थात् गुरू महाराज के उपदेश से, उनके वताये हुए मार्ग के द्वारा अभ्यास करने से, अपनी बुद्धि के विवेक द्वारा अपने आपके तथा औरो के अतरग तत्व को जानता है वह निरन्तर होने वाले मोक्ष सुख को जानता है।।१९८।।

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं।।१९९।।

कोविदितार्थः साधुः संप्रतिकाले भणेत् रूपमिदं।।
प्रत्यक्षमेव दृष्टं परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं।। १९९ ।।

अर्थ—कौन समझदार साधु यह कह सकता है कि आत्म तत्व वर्तमान काल मे इस छद्मस्थ के प्रत्यक्ष हो जाता है क्योकि इसका साक्षात्कार तो केवलज्ञान मे ही होता है। परन्तु परोक्ष मानसिक ज्ञान के द्वारा वह छद्मस्थ से भी जान लिया जाता है।।१९९।।

तात्पर्यवृत्ति—अथ मत **भणिज्ज रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठ परोक्खणाणे पवट्टंतं।** योसौ प्रत्यक्षेणा-त्मान दर्शयति तस्य पार्श्वे पृच्छामो वय। नैव (?)। **कोविदिदिच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज** कोविदितार्थ साधु, सप्रतिकाले ब्रूयात्? न कोपि। किं ब्रूयात, न कोऽपि। किंतु **रूवमिणं पच्चक्खमेवदिट्ठ** इदमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्ट। चतुर्थकाले केवलज्ञानिवत्। अपि तु नैव कथभूतमिदमात्मस्वरूप। **परोक्खणाणे पवट्ठ तं** केवलज्ञानापेक्षया परोक्षे श्रुतज्ञाने प्रवर्तमान, इति।

किंच विस्तर यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहित स्वसवेदनरूप भावश्रुतज्ञान शुद्धनिश्चयनयेन परोक्ष भण्यते। तथापि इद्रियमनोजनितमविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्ष। तेन कारणेन, आत्मा स्वसवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति। केवलज्ञानापेक्षया पुन परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तु नायाति। किंतु चतुर्थकालेऽपि केवलिन, किमात्मान हस्ते गृहीत्वा दर्शयंति? तेपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छंति। तथापि श्रवणकाले श्रोतृणा परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति। तथा, इदानी कालेऽपीति भावार्थ। एव परोक्षस्यात्मन कथ ध्यान क्रियते, इति प्रश्ने परिहाररूपेण गाथाद्वय गत।।

अर्थ, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययस्वरूपाणा रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतरागादिभावकर्मरूपाणा, मध्यव-सानाना, अभावो भवतीत्यादिरूपेण सवरस्य क्रमाख्यान कथयति—

टीका.—(कोविदिदच्छो साहू सम्पडिकाले भणिज्ज) कौन समझदार साधु इस समय ऐसा कह सकता है कि (रूवमिण पच्चक्खमेव दिठ्ठ) आत्मा के स्वरूप को मैंने प्रत्यक्ष ही देख लिया है जैसा कि चतुर्थकाल मे केवलज्ञानी देख लिया करते थे परन्तु ऐसा तो कोई भी नही कहता। कहना तो यह है कि वह आत्म स्वरूप (परोक्खणाणे पवट्ठ त) केवल ज्ञान की अपेक्षा से जो परोक्ष है ऐसे श्रुतज्ञान मे अर्थात्

मानसिक ज्ञान मे प्रगट हो जाता है। भावार्थ यह है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से रागादि विकल्प रहित स्वसवदेन रूप भाव श्रुत ज्ञान केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष ही है तथापि सर्व साधारण को होने वाला इन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञान होता है उसकी अपेक्षा से वह प्रत्यक्ष है। अत स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा जाना जाता है इसलिये प्रत्यक्ष होता है पर केवलज्ञान की दृष्टि मे तो वह परोक्ष ही होता है। किन्तु सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा नही कहा जा सकता अपितु सोचो कि चतुर्थकाल मे भी केवली भगवान क्या आत्मा को हाथ मे लेकर दिखलाते हैं ? अर्थात् नही, वे भी अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा कहकर चले जाते हैं। तो भी दिव्य ध्वनि सुनने के काल मे सुननेवालो के लिए आत्मा का स्वरूप परोक्ष ही होता है। तत्पश्चात् श्रोता लोग परम समाधि स्वीकार करते है उस ध्यानस्थ अवस्था मे ही वह उनके प्रत्यक्ष होता है-अनुभव गोचर होता है वैसा ही आज भी हो सकता है। इस प्रकार परोक्ष आत्म का किस प्रकार ध्यान किया जाता है इसका समाधान करते हुए दो गाथाए समाप्त हुई ॥१९९॥

अब उदयमे प्राप्त हुए द्रव्य प्रत्यय ही है स्वरूप जिनका ऐसे रागादि अध्यवमान भाव उनका अभाव हो जाने पर जीवगत रागादि भावकर्मरूप अध्यवसानो का भी अभाव हो जाता है इत्यादि रूप से सवर के क्रम का व्याख्यान करते हैं —

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदभावो य जोगोय ॥२००॥
हेउ अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स विणिरोहो ॥२०१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो।
णो कम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ॥२०२॥

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरति भावश्च योगश्च ॥२००॥
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥२०१॥
कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥२०२॥

अर्थ —पूर्वोक्त रागद्वेप और मोहरूप आस्रवो के हेतु सर्वज्ञदेव ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये चार अध्यवमान कहे हैं। ज्ञानी जीव के इन हेतुओ का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है और आस्रव भाव के न होने से कर्मो का भी निरोध हो जाता है, कर्म के अभाव से नोकर्म का निरोध हो जाता है और नोकर्म के रुक जाने से समार का भी निरोध हो जाता है ॥ २००-२०१-२०२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं** । तेषा प्रसिद्धाना जीवगतरागादिवि-भावकर्मरूपाणा भावासूवाणा हेतव कारणानि भणितानि । कानि?, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि रागाद्यध्यवसानानि । कैः ?, सर्वदर्शिभि. । ननु अध्यवसानानि भावकर्मरूपाणि तानि जीवगतान्येव भवति उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि भाव-प्रत्ययानि कथ भवतीति ? । नैव, यतः कारणात्, भावकर्म द्विधा भवति । जीवगत पुद्गलकर्मगत च । तथाहि भावक्रोधादिव्यक्तिरूप जीवभावगत भण्यते । पुद्गलपिंडशक्तिरूप पुद्गलद्रव्यगत । तथा चोक्त—

पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादी भावदव्व तु–

इति जीवभावगत भण्यते—

पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु–

इति पुद्गलद्रव्यगतं ।।

अत्र दृष्टातो यथा—मधुरकटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्स मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूप जीवभावगत । तद्व्यक्तिकारणभूत मधुरकटुक द्रव्यगत शक्तिरूप पुद्गलद्रव्यगत । एव भावकर्मस्वरूप जीवगत पुद्गलगत च द्विधेति भावकर्मव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्य । कानि तानि, अध्यवसानानि ? । **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिर्योगश्चेति प्रथमगाथा गता ? । **हेतु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणि-रोहो** पूर्वोक्तानामुदयागतद्रव्यप्रत्ययाना जीवगतभावासूवहेतुभूताना वीतरागस्वसवेदनज्ञानिनो जीवस्य, उदयागतद्रव्यकर्म रूपाणा, अभावे सति नियमान्निश्चयात् रागादिभावासूवनिरोधलक्षण सवरो जायते । **आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो** निरासूवपरमात्मतत्वविलक्षणस्य जीवगतभावाश्रवस्य भावेण स्वरूपेण विना जायते कर्मणो निरोधरूप संवर । कस्य ? परमात्मतत्वप्रच्छादकनवतरद्रव्यकर्मण इति द्वितीयगाथा गता । **कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो** । ततश्च नवतरकर्माभावेन सवरेण शरीरादिनोकर्मणा च जायते, निरोध सवर । **णोकम्मणिरोहेण य ससारणिरोहणं होदि** । नोकर्मनिरोधनेन सवरेण ससारातीतशुद्धात्मतत्व प्रतिपक्षभूत-द्रव्यक्षेत्रादिपचप्रकारससारनिरोधन भवतीति तृतीयगाथा गता, । एव सवरक्रमाख्यानेन गाथात्रय गत । एव पात्रवदा सूवविपक्षभूत सवरो निष्क्रात ।

इति श्री जयसेनाचार्य कृताया समयसारव्याख्याया शुद्धात्मनुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ
चतुर्दशगाथाभि पट्स्थलैः आसूवविपक्षद्वारेण सवर
नामा षष्ठाऽधिकार समाप्त ।

टीका—(तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं) प्रसिद्धि को प्राप्त हुए जीवगत रागादि विभाव रूप भावासूवो के भी हेतु उदय को प्राप्त हुए द्रव्य प्रत्यायो मे होनेवाले रागादि अध्यवसान सर्वज्ञ देव ने वतलाये है । यहा शका हो सकती है कि अध्यवसान तो भावकर्म रूप होते है जो कि जीवगत ही हो सकती है । उदय को प्राप्त द्रव्य प्रत्ययगत भाव प्रत्यय कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान करते हैं कि यह शका ठीक नही है क्योकि भावकर्म जीवगत और पुद्गल कर्मगत दो प्रकार का होता है । जैसा कि कहा है — "पुग्गल पिंडो दव्व कोहादी भावकम्मतु" यह जीवगत भावकर्म की बात हुई और "पुग्गलपिंडोदव्व तस्सत्ती भावकम्मतु" यह पुद्गल द्रव्यगत भावकर्म की बात हुई ।। उसी को दृष्टाँत द्वारा समझाते हैं कि किसी मीठे या कडवे पदार्थ को खाने के समय मे उसके मधुर या कटुक स्वाद को चखनेरूप जो जीव का

विकल्प होता है वह जीवगत भाव कहलाता है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति मे कारणभूत ऐसा उस मधुर या कटुक द्रव्य मे रहने वाला शक्ति का अ श-विशेष होता है वह पुद्गल द्रव्यगत भाव कहा जाता है। इस प्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत के भेद से दो प्रकार का होता है। ऐसा भावकर्म के व्याख्यान मे सर्व ही ठौर जानना चाहिये। वे अध्यवसान कौनसे हैं। कि (मिच्छत्त अण्णाण अविरदिभावोय जोगोय) मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग के भेद से चार प्रकार के हैं। यह पहली गाथा का अर्थ हुआ। (हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो) ऊपर जिनका वर्णन कर चुके हैं ऐसे जीवगत भावासृवो के जो हेतु कहे गये हैं उन द्रव्य कर्म स्वरूप उदय मे आये हुए द्रव्य प्रत्ययो का वीतराग स्वसवेदन ज्ञानी जीव के अभाव हो जाता है एव उनके न होने पर नियम से उसके अवश्य ही रागादि भावासृवो के निरोध स्वरूप सवर हो जाता है। (आसव भावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो) और इस प्रकार आसृव से रहित जो परमात्म तत्व उससे विलक्षण रूप जीवगत भाव आसृव के न होने से परमात्म तत्व को आच्छादन करने वाले नवीन द्रव्य कर्मो का भी निरोध अर्थात् सवर हो जाता है यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। (कम्मस्साभावेण य णोकम्माण च जायदि णिरोहो) इस प्रकार नवीन कर्म के अभाव रूप सवर के हो जाने पर शरीरादिरूप नोकर्म का भी निरोधात्मक सवर हो जाता है। (णो कम्मणिरोहेण य ससार णिरोहण होदि) इस प्रकार नोकर्म का अभाव हो जाने पर ससार से दूरवर्ती ऐसा जो शुद्ध आत्मतत्व उसका प्रतिपक्ष भूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पच प्रकार के ससार का भी अभाव हो जाता है ॥ २००-२०१-२०२ ॥

विशेषार्थः—जब तक यह ससारी जीव अपने आप को और शरीर को एक मानता रहता है तब तक स्वय (शरीर) को बिगडता हुआ देखकर उसे बनाये रखने के लिए मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति प्रयोगात्मक नाना प्रकार के दुष्प्रयास निरन्तर करता रहता है। अत मोह राग, द्वेष के चक्कर मे फस कर नूतन कर्म बध करने के कारण जन्म मरण के झझट से उऋण नही हो पाता किन्तु शरीर और आत्मा मे जो भेद है उसे यदि वास्तविक रूप से जान लेता है तो फिर आपको अविनश्चर व चेतन स्वरूप और इस शरीर को जड एव विनाशीक जानकर शरीर के साथ सबध रखनेवाली इन दृश्यमान इतर वस्तुओ का परित्याग कर देता है। रहा यह शरीर सो इसे भी निस्सार व बेकार समझकर इससे भी उपेक्षा कर आत्म तल्लीन हो जाता है ऐसी दशामे फिर मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतात्मक प्रयोग का ठिकाना ही कैसा, और जब नही तो रागद्वेष और मोह भाव भी कहा ? अत. फिर नूतन कर्म और नोकर्म तो होने से रह जाते है। सम्बद्ध कर्म और नोकर्म रूप भी नि सन्तान रूप से नष्ट हो जाते हैं, इस प्रकार शुद्धात्म ध्यान रूप भेद विज्ञान से सवर होकर आत्मा सदा के लिए सच्चिदानन्द बन रहता है।

इस प्रकार सवर के क्रमका व्याख्यान करने वाली तीन गाथायें पूर्ण हुई। इसके साथ साथ यह सवर का प्रकरण भी समाप्त हुआ जो कि छ स्थलो मे आई हुई चौदह गाथाओ द्वारा वर्णित है।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य को समयसार की टीका जिसमे कि शुद्धात्मा की अनुभूति का लक्षण बतलाया गया है जिसका कि नाम तात्पर्यवृत्ति है उसकी हिन्दी टीका मे १४ चौदह गाथाओ द्वारा आसृव के विरोध रूपमें वह छ स्थलो मे सवर नामा छट्ठा अधिकार पूर्ण हुआ।

सातवां महा अधिकार (निर्जरा तत्व)

तात्पर्यवृत्ति–तत्रैव सति रगभूमे सकाशात्, शृ गाररहितपात्रवत्—शुद्धजीवस्वरूपेण सवरो निष्क्रात । अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा सवरपूर्विका निर्जरा प्रविशति **उवभोगंमि दयेहि** इत्यादिगाथामादि कृत्वा दडकान् विहाय पाठक्रमेण पचाशद्गाथापर्यंत पट्स्थलैर्निर्जराव्याख्यान करोति । तत्र द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञान-शक्तिवैराग्यशक्तीना क्रमेण व्याख्यानं करोति, इति पीठिकारूपेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टय । तदनतर ज्ञानवैराग्यशक्ते सामान्यव्याख्यानार्थं **सेवतोवि ण सेवदि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापचक । तत पर तयोरेव ज्ञानवैराग्ययोर्विशेप-विवरणार्थं **परमाणुमित्तियंपि** इत्यादि तृतीयस्तले सूत्रदशक । ततश्च मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानानामभेदरूप परमार्थमज्ञ मुक्तिकारणभूत यत्परमात्मपद, तत्पद येन स्वसवेदनज्ञानगुणेन लभ्यते तस्य सामान्यव्याख्यानार्थं **णाणगुणेंहि विहीणा** इत्यादि चतुर्थस्थले सूत्राष्टक । तत पर तस्यैव ज्ञानगुणस्य विशेपविवरणार्थं **णाणी रागप्पजहो** इत्यादि पचमस्थले गाथा चतुर्दश । तदनतर शुद्धनयमाश्रित्य चिदानदैकस्वभावशुद्धात्मभावनाश्रिताना निश्चयनिश्शकाद्यष्ट-गुणाना व्याख्यानार्थं **सम्मादिट्ठीजीवो** इत्यादि षष्ठस्थले सूत्रनवक कथयति, इति षड्कभिरतराधिकारै, निर्जराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा,

अथ द्रव्यनिर्जरा कथयति ।

अब यहा शृंगार रहित पात्र के समान शुद्ध जीव स्वरूप जो सवर है वह तो इस रगभूमि मे से चला गया और वीतराग निर्विकल्प समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाली ऐसी सवर पूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है ।

वहा 'उपभोगंमि दिएंहि' इत्यादि गाथा को आदि लेकर दडको को छोड पाठक्रम से पचास गाथा पर्यन्त छ स्थलो से निर्जरा का व्याख्यान करते हैं। उनमे से प्रथम द्रव्य निर्जरा, भाव निर्जरा, ज्ञान शक्ति, वैराग्यशक्तियो का क्रम से वर्णन है। इस प्रकार प्रथम स्थल मे पीठिका रूप से चार गाथाये हैं। उसके बाद ज्ञान शक्ति और वैराग्य शक्ति का सामान्य व्याख्यान करने के लिए सेवतो विण सेवदि' इत्यादि रूप से दूसरे स्थल मे पाच गाथाये हैं। उसके आगे उन्ही ज्ञान और वैराग्य शक्तियो का विशेष वर्णन करने के लिए "परमाणु मितियपि" इत्यादि १० सूत्र तीसरे स्थल मे हैं। उसके आगे मति. श्रुत, अवधि मन पर्यय और केवल ज्ञान के भेद से पाच प्रकार है फिर भी परमार्थ से जो एक रूप ही है और मुक्ति का कारण एव परमात्म पद का मूल है वह पद जिस स्वसवेदन ज्ञान से प्राप्त होता है उसके सामान्य व्याख्यान के लिए "णाण गुणेंहि विहीणा" इत्यादि आठ सूत्र चौथे स्थल मे है। फिर उसही ज्ञान गुण का विशेप वर्णन करने के लिए "णाणे रागप्पजहो" इत्यादि १४ गाथाये पाचवे स्थल मे हैं। उसके आगे छठे स्थल मे शुद्ध नय का आश्रय लेकर चिदानद रूप एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा की भावना के आश्रयभूत निश्चयात्मक नि शकातोदि आठ गुणो के व्याख्यान के लिए "सम्मादिट्ठी जीवो" इत्यादि ९ सूत्र कहे गये हैं इस प्रकार छ अ तर अधिकार से इस निर्जरा अधिकार मे समुदाय पातनिका पूर्ण हुई ।

आगे सवसे प्रथम निर्जरा का स्वरूप कहते हैं–

उवभोग मिंदियेहिं दव्वाण मचदेणाण मिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तिं ॥२०३॥

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणाम चेतना मितरेषां।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जर निमित्तं ॥२०३॥

अर्थ –सम्यग्दृष्टि (वीतरागी) जीव अपनी इन्द्रियो द्वारा चेतन तथा उनसे भिन्न अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वह सब उसके लिए कर्मो की निर्जरा के निमित्त होता है ॥२०३॥

तात्पर्यवृत्ति —उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टि कर्ता चेतनाचेतनद्रव्याणा सबधि यद्वस्तूपभोग्य करोति। कै कृत्वा ? पचेन्द्रियविषयै **तंसव्वंणिज्ज रणिमित्तं** तद्वस्तु मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहाना सद्भावेन वधकारणमपि सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानामभावेन समस्तमपि निर्जरानिमित्त भवतीति। अत्राह शिष्य- रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जराकारण भणित सम्यग्दृष्टेस्तु रागादय सति, तत कथ निर्जराकारण भवतीति ? अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहार। अत्र ग्रथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहण, यस्तु चतुर्थगुणस्थान वर्ती सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या ग्रहण तत्र तु परिहार पूर्वमेव भणित। कथमिति चेत् ? मिथ्यादृष्टे सकाशादसयतसम्यग्दृष्टे, अनतानुवधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता, श्रावकस्य चाऽप्रत्याख्यानक्रोधमानमाया-लोभोदयजनिता रागादयो न सतीत्यादि। किं च सम्यग्दृष्टे सवरपूर्विका निर्जरा भवति मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत्, वधपूर्विका भवति तेन कारणेन मिथ्यादृष्टिचपेक्षया सम्यग्दृष्टिरवधक। एव द्रव्यनिर्जराव्याख्यानरूपेण गाथा गता।

अथ भावनिर्जरास्वरूपमाख्याति–

टीका:—(उवभोगमिंदि योहिं दव्वाण मचेदणाण मिदराण ज कुणदि सम्मदिट्ठी) सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पाचो इन्द्रियो के द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्यो मे भोग्य और उपभोग्य वस्तु का जो उपभोग करता है, (त सव्व णिज्जर- णिमित्त) वह सव उसके लिए निर्जराका ही निमित्त होता है। जो वस्तु मिथ्या दृष्टि जीव के लिए राग द्वेष और मोह भाव होने के कारण वध का निमित्त कारण होती है वही वस्तु सम्यग्दृष्टि जीव के लिए राग द्वेष और मोह भाव के न होने के कारण वे सब निर्जरा के निमित्त होती है यहा शिष्य प्रश्न करता है कि राग द्वेष, और मोहभाव होने पर सव ही निर्जरा का कारण वताया गया है सो ठीक परन्तु गुरूमहाराज ! सम्यग्दृष्टि के तो रागादिक भाव होते है (सव ही सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागी नही होते हैं) इससे उसके कर्म की निर्जरा कैसे हो सकती हैं ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि इस ग्रथ मे वास्तविक मे वीतराग सम्यग्दृष्टि का ही ग्रहण किया गया है परन्तु चतुर्थ गुण स्थान वर्ती अव्रतसम्यग्दृष्टि का कथन यहा गौण है यदि इसे भी यहा लिया जाय तो इस प्रश्न का समाधान पहिले किया जा चुका है कि मिथ्या दृष्टि प्रथम गुण स्थानवर्ती जीव की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानी अवृत सम्यग्दृष्टि जीव कम रागवाला होता है क्योकि उसके मिथ्यात्व तथा अनतानुवधी क्रोध, मान, माया, और लोभ जनित रागादिक नही होते है तथा श्रावक के अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया और लोभ जनित रागादिक नही होते हैं इत्यादि। तथा सम्यग्दृष्टि के जो भी निर्जरा होती है वह सवर पूर्वक होती है

किंतु मिथ्यादृष्टि को वह हाथी स्नान के समान वन्ध भाव पूर्वक हुआ करती है इसलिये भी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अवन्धक होता है ।।२०३।।

विशेषार्थ—इन्द्रियो के द्वारा वस्तु का ग्रहण दो प्रकार से होता है । एक तो वैषयिक दृष्टि से और दूसरा विवेक वुद्धि से । वैषयिक दृष्टि से जो पदार्थ वन्ध का कारण होता है वही विवेक बुद्धि के द्वारा निर्जरा के लिए होता है । जैसे एक नवयुवती वेश्या एकाएक हृदय की गति रूक जाने से मरण को प्राप्त हो गई जिसके शव को श्मशान मे ले जाकर चिता पर रखा गया । उसे किसी कामी पुरूष ने देखा तो सोचने लगा कि यह कितना सुन्दर रूप है, यदि जीवित अवस्था मे मुझे मिल जाती तो मैं इसे अवश्य आलिगन करता । किन्तु वही पर एक मुनि महाराज विराज रहे थे, उनकी दृष्टि जव उस पर पडी तो वह सोचने लगे कि देखो ! इसने दुर्लभ प्राप्त अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही भोग विलास मे गमा दिया इत्यादि। कामी के लिए जो वन्ध का कारण हुई वही श्री मुनि के लिए निर्जरा का कारण वनी । आचार्य देव ने यही वात कही हैं कि विरागी जीव को जो भी वाह्य पदार्थ का समागम होता है वह उसके लिए निर्जरा का ही कारण हुआ करता है । हा इसी पर से यदि कोई यह मान कर कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जराके हेतु होते हैं और इसी प्रकार हम भी भगवान की वात को ही मानने वाले हैं-सम्यग्दृष्टि हैं फिर बन्ध कैसा ? इस प्रकार स्वच्छन्द होकर भोग भोगने मे लग रहे तो वह तो अपने आपका विगाड करने वाला ही होगा उसके तो वन्ध ही नही प्रत्युत घोर वन्ध होगा । कहा भी है कि-"दो मुख पन्थी चले न पन्था, दो मुख सूई सिये न कन्था । दोय वात नहि होय सयाने, विषय भोग अरू मुक्ति हु पाने ।"

इस प्रकार द्रव्य निर्जराका व्याख्यान एक गाथा के द्वारा करके अव भाव निर्जरा का भी स्वरूप निम्न गाथा मे स्पष्ट करते है —

दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च ।
तं सुहदुःखमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ।।२०४।।

द्रव्ये, उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं च दुःखं च ।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ।।२०४।।

अर्थ—वाह्य शुभ और अशुभरूप पदार्थका समागम होने पर सुख और दुःखरूप जो साता असाता नामक वेदनीय कर्म है उसकी उदीरणा होती है ऐसा नियम है और उस उदीरित हुए सुख तथा दुःख को सम्यग्दृष्टि जीव भी भोगता है किन्तु वह भुक्त होकर निर्जीण हो जाता है अपितु उसके राग नही होने के कारण वन्ध का कारण नही वनता ।।२०४।।

तात्पर्यवृत्ति—**दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुह च दुक्खं च** उदयागतेद्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् निश्चयात् सातासातोदयवशेन सुखदुःख वा वस्तु स्वभावत एव जायते तावत् । **तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि** निरुपरागस्वसवित्तिभावेनोत्पन्नपारमार्थिकसुखाद्भिन्न तत्सुख वा दुःख वा समुदीर्णं सत् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयवुद्धया वेदयति । न च तन्मयोभूत्वा, अहं सुखी, दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति। **अथ णिज्जर जादि** अथ अहो तत कारणान्निर्जरा याति स्वस्थभावेन निर्जराया निमित्त भवति । मिथ्यादृष्टि पुन, उपादेयबुद्धया सुखमह

दु ख्यहमिति प्रत्ययेन वधकारण भवति । किं च यथा कोऽपि तम्करो यद्यपि मरण नेच्छति । तथापि तलवरेण गृहीत. सन् मरणमनुभवति । तथा सम्यग्दृष्टि , यद्यप्यात्मोत्थमुखमुपादेय च जानाति । विपयमुख च हेय जानाति तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीत सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्त स्यात्, इति भावनिर्जराव्याख्यान गत ।

अथ वीतरागस्वसवेदनज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

टीका—(दव्वे उवभुज्जन्ते णियमा जायदि सुह च दुक्ख च) उदय मे आये हुए द्रव्य कर्म को यह जीव जब भोगता है तब नियम से साता और असाता वेदनीय कर्म के उदय के वश से सुख और दु ख अपने वस्तु के स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। (त सुह दुखमुदिण्ण वेददि) जो कि रागरहित स्वसवेदन भाव से उत्पन्न होने वाले पारमार्थिक सुख से भिन्न प्रकार का होता है। उस उदय मे आये हुए सुख या दु ख को सम्यग्दृष्टि जीव भी भोगता है, किन्तु वहाँ कुछ भी भला बुरापन न मानकर रागद्वेष किए बिना उपेक्षा बुद्धि से उसे भोग लेता है-उसको पार कर जाता है-उसके साथ तन्मय होकर मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ इत्यादि रूप से अनुभव नही करता। (अथ णिज्जर जादि) इसलिए वह उसके स्वस्थ भाव से निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। झड ही जाता है (प्रत्युत बन्ध नही कर पाता) किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव तो मैं सुखी हूँ या दुखी हूँ इत्यादि रूप से उपादेय बुद्धि से उसे भोगता है इसलिये उसके वह बन्ध का कारण होता है। जैसे कोई भी चोर स्वयं कभी मरना नही चाहता किन्तु कोतवाल से जब पकड लिया जाता है और मारा जाता है तो मरण का अनुभव करता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी यद्यपि आत्मोत्थ सहज सुख को उपादेय मानता है और विपय सुख को हेय, फिर भी चारित्र मोह कर्म के उदयरूप कोतवाल से पकड़ा हुआ वह उस विषय सुख का अनुभव भी करता है इसलिए वह कर्म उसके लिए निर्जरा का निमित्त होता है। इस प्रकार यह भाव निर्जरा का व्याख्यान हुआ ।।२०४।।

विशेषार्थ—स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि सयोग केवली अर्हन्त भगवान के प्रशस्त साता वेदनीय कर्म का उदय होता है जिससे वे बाह्य विभूति चौंसठ चमर, सिंहासन, समवशरणादि विभूति से विशिष्ट होते हैं किन्तु वहा पर उनके नाम मात्र की भी ममता न होने से बन्ध नही होता है। उसी प्रकार छद्मस्थ वीतरागी जीव भी कर्म के उदय से आये हुए उपसर्गादि के समय उसे निर्मम भाव से भोग लेता है, सहन कर जाता है अत उसके भी तज्जन्य बन्ध नही होता किन्तु वह निर्जीर्ण हो जाता है। जैसे कि सुदर्शन मुनिराज को दबाकर वेश्या ने काम भोग सबधी अनेक कुचेष्टाये की पर वे मुनिराज उन सबको समभाव से भोगते रहे, सहते रहे किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नही हुआ अत उस वेश्या के तो घोर कर्म का बन्ध हुआ किन्तु सुदर्शन मुनिराज के तो कर्म की निर्जरा ही हुई। हाँ, भरत चक्रवर्ती सरीखे गृहस्थ क्षायक सम्यग्दृष्टि सरीखो ने सुभद्रादि रानियो के साथ चलाकर प्रसग किया वहाँ पर भी उनके सम्यग्दृष्टि होने मात्र से बन्ध नही हुआ हो केवल मात्र निर्जरा ही हुई हो ऐसा नही समझना चाहिए। यह बात अवश्य है कि अतत्व श्रद्धानी मिथ्यादृष्टि जैसा बन्ध नही होता था किन्तु परीत ससारात्मक बन्ध होकर चतुर्थ पचम गुणस्थान योग्य निर्जरा होती थी। किन्तु सर्वथा बध न होकर निर्जरा ही होना जैसा कि इस गाथा मे बताया है वह तो वीतराग रूप निश्चय सम्यग्दृष्टि के ही होती है क्योकि उसकी ज्ञान शक्ति व वैराग्य-शक्ति दोनो अपना बराबर काम करती रहती हैं।

अब यहाँ पर उसमे से पहले ज्ञान शक्ति का वर्णन करते हैं—

जह विसमुवभुज्जन्तो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥२०५॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥२०५॥

अर्थ—जैसे वैद्य विप खाकर भी मरण को प्राप्त नही होता वैसे ही ज्ञानी जीव कर्म फल को भोगता हुआ भी वन्ध को प्राप्त नही होता।

तात्पर्यवृत्ति—जह विसमुवभुज्जता विज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति यथा विषमुपभुजाना सतो गारुडविद्यापुरुपा, अमोघमत्रसामर्थ्यात्, नैव मरणमुपयाति। **पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झदे णाणी** तथा परमतत्वज्ञानी शुभाशुभकर्मफल भुक्ते तथापि निर्विकल्पसमाधि लक्षणभेदज्ञानामोघमत्रवलान्नैव बध्यते कर्मणेति ज्ञानशक्तिव्याख्यान गत। अथ ससारशरीरभोगविपये वैराग्य दर्शयति—

टीका—(जह विसमुवभुज्जन्तो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि) जैसे मत्र विद्या का जानकार पुरुष विप को खाकर निर्दोष मत्र की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नही होता है, (पुग्गलकम्मस्सुदय तह भुजदि णेव वज्झए णाणी) वैसे ही परम तत्व ज्ञानी जीव शुभ व अशुभ रूप कर्म के फल को भोगता हुआ भी वह निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञानरूप अमोघ (कभी भी निष्फल नही होने वाला) मत्र के वल से कर्म वध को प्राप्त नही होता। इस प्रकार ज्ञान शक्ति का व्याख्यान पूर्ण हुआ ॥२०५॥

आगे ससार, शरीर व भोगो के विपय मे जो वैराग्य की सामर्थ्य है उसे दिखलाते हैं—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्झदि तहेव ॥२०६॥

यथा मद्यं पिवन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः।
द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥२०६॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुप अरतिभाव से (अप्रीतिपूर्वक) किसी भी मादक पदार्थ को पीता हुआ भी मतवाला नही होता, वैसे ही किसी भी पदार्थ के उपभोग मे रागादि रहित हुआ ज्ञानी जीव भी कर्म वध को प्राप्त नही होता है ॥ २०६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जह मज्ज पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो यथा कश्चित् पुरुपो व्याधिप्रतीकारनिमित्त मद्यमध्ये मद्यप्रतिपक्षभूतमौपध निक्षिप्य मद्य पिवन्नपि रतेरभावान्न माद्यति। **दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण वज्झदि तहेव** तथा परमात्मतत्त्वज्ञानी पचेंद्रियविषयभूताशनपानादिद्रव्योपभोगे सत्यपि यावता यावताशेन निर्विकार

स्वसवित्तिशून्य वहिरात्म जीवापेक्षया रागभाव न करोति, तावन्ता तावताशेन कर्मणा न वध्यते । यदा तु हर्षविपादादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमयोगलक्षणभेदज्ञानवलेन सर्वथा वीतरागो भवति । तदा सर्वथा न वध्यते इति वैराग्यशक्तिव्याख्यान गत । एव यथा क्रमेण द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिप्रतिपादनरूपेण निर्जराविकारे तात्पर्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय गत ।

अथैतदेव वैराग्यस्वरूप विवृणोति—

टीका—(जह मज्ज पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो) जैसे कोई पुरुष अपने ववासीर आदि रोग को मिटाने के लिये भाग आदि मादक पदार्थ पीता है उसमे उसकी मादकता को दवानेवाली औषधि डालकर अरुचि भाव से पीता है अत वह उन्मत्त नही वनता है, (दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण वज्झदि तहेव) वैसे ही परमार्थ तत्वका जानकार पुरुष पचेन्द्रियो के विषयभूत खान पान आदि द्रव्य को उपभोग करने के समय मे भी निर्विकार स्वसवेदन से रहित होने वाले वहिरात्म जीव की अपेक्षा से जिस जिस प्रकार के रागभाव को नही करता है उस उस प्रकार का कर्म बध उसके नही होता। जव हर्ष विपाद आदि रूप समस्त विकल्प जालो से रहित परम (आत्म) ध्यान वही है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के वल से सर्वथा वीतराग हो जाता है उस समय नूतन कर्म वध नही करता है यह उसकी वैराग्य शक्ति की विशेपता ॥२०६॥

विशेषार्थ—आत्म ध्यान करने वाली योगी पुरुष की मूलमे दो प्रकार की चेष्टायें होती है। (१) पहली तो एकाग्रता के साथ आत्म ध्यान मे तल्लीन हो रहने रूप (२) दूसरी उसी आत्म ध्यान को सुसम्पन्न करने मे सहायरूप वनाने के लिये शरीर को आगमोक्त विधि से आहारादि देने मे प्रवृत्त होने रूप। जव वह आत्म ध्यान मे तल्लीन होता है तव उसके नूतन कर्म बध ही नही होता किन्तु समीचीन आहार ग्रहण आदि क्रियाओ मे प्रवृत्त होता है उस समय भी उसके किञ्चित प्रवृत्यात्मक रागाश होता है उससे जो नूतन कर्म वन्ध होता है वह भी अव्रतसम्यग्दृष्टि और देश विरत की अपेक्षा से भी अत्यल्प रूप होता है ऐसा समझना चाहिए क्योकि उसके वाह्य वस्तुओ से वैराग्य होता है।

इस प्रकार यथा क्रम से द्रव्य निर्जरा, भाव निर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति का वर्णन करते हुए इस निर्जरा अधिकार मे तात्पर्य व्याख्यान की मुख्यता से ४ गाथायें पूर्ण हुई ।

आगे उस ही वैराग्य के स्वरूप वताते हैं—

सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि।
पगरणचेट्ठा कस्सवि णयपायरणोत्ति सो होई ॥२०७॥

सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।
प्रकरण चेष्टा कस्यापि, न च प्राकरणिक इति स भवति ॥२०७॥

अर्थ—कोई भोगो को सेवता हुआ भी नही सेवन करता है । (जैसे अभया रानी के चगुलमे फसा हुआ सेठ सुदर्शन के समान विवशता वश किसी विपय को भोगता हुआ सा होकर भी वह उसका भोगनेवाला नहीं होता) दूसरा

कोई नही सेवन करता हुआ भी उसका सेवन करने वाला होता है जैसे कि किसी विवाह मे जिसका विवाह होता है वह उस विवाह का कुछ भी काम नही करता किन्तु उस विवाह मे आये हुए पाहुने आदिक-जिनका विवाह नही होना है- उस विवाह का सव काम करते है ।।२०७।।

तात्पर्यवृत्ति-—सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि निर्विकारस्वसवेदन ज्ञानी जीव स्वकीय-गुणस्थानयोग्याशनपानादिपचेद्रियभोग सेवन्नपि सेवको न भवति । अन्य' पुन , अज्ञानी कश्चित् रागादिसद्भावादसेवन्नपि सेवको भवति । अमुमेयार्थं दृष्टातेन दृढयति । **पगरणचेट्ठा कस्सवि णय पायरणोत्ति सो होदि** यथा कस्यापि परगृहादागतस्य विवाहादिप्रकरणचेष्टा तावदस्ति तथापि विवाहदिप्रकरणस्वामित्वाभावात् प्रकारणिको न भवति । अन्य पुन- प्रकरणस्वामी नृत्यगीतादिप्रकरणव्यापारमकुर्वाणोऽपि प्रकरणरागसद्भावात् प्रकारणिको भवति । तथा परमतत्त्व-ज्ञानी सेवमानोप्यसेवको भवति । अज्ञानी जीवो रागादिसद्भावादसेवकोऽपि सेवक इति ।

अथ सम्यग्दृष्टि स्वपरस्वरूपमेव विशेपेण जानाति—

टीका —(सेवतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि) निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान का धारक जीव अपने२ गुण स्थान के योग्य खानपानादि रूप पचोन्द्रियो के भोगो को भोगने वाला होकर भी उसका भोक्ता नही होता किन्तु अज्ञानी जीव उसे न सेवन करता हुआ भी उसके प्रति रागभाव होने से उसका सेवनेवाला वना रहता है । इसी वात को दृष्टात देकर अच्छी प्रकार समझाते हैं-(पगरण चेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि) जैसे कि जिसका विवाहादि नही होना है अत वह विवाहादि प्रकरण का प्राकरणिक तो नही है जो कि दूसरे घर से आया हुआ पाहुना आदि है फिर भी वह उस विवाहादि का काम करता है किन्तु जो प्राकरणिक है-जिसका विवाहादि होना है-वह गीत नृत्य आदि कोई भी प्रकार का काम नही करता है फिर भी उन (वैवाहिक) कामो के प्रति उसका राग होने से वही प्राकरणिक कहलाता है । उसी प्रकार तत्वज्ञानी जीव किसी विषय का सेवन करनेवाला होकर भी वह उसका भोक्ता नही होता, किन्तु अज्ञानी जीव किसी वस्तु का न सेवन करने वाला होकर भी अपने रागभाव के कारण वह उसका भोक्ता वना रहता है ।।२०७।।

विशेषार्थ —आत्मा के साथ इन वाह्य वस्तुओ को चिपकाये रखने वाला आत्मा का राग भाव है । जिसके प्रति राग भाव होता है वह वस्तु दूर होकर भी आत्मा के पास मे होती है और जिससे उमका राग नही होता वह समीप मे होकर भी उसके लिए नही होती । अव ज्ञानी अर्थात् त्यागी का किसी भी वस्तु से राग नही होता किन्तु किसी भी प्रकार के पर प्रयोगवश यदि उसके पास मे कोई वस्तु होती है तो वह उसका स्वीकार करता हुआ सा प्रतीत होता है फिर भी उसका कोई अपनेपन का सबध नही होता । जैसे मुनि के पास मे पिच्छी होती है, लोगो की दृष्टि मे वह पिच्छी वाले कहलाते हैं तो भी उससे उनका कोई जातीय सबध नही होता । उन्हे आगम की आज्ञा है जब भी कही पर बैठे तो वहा की भूमि एव अपने शरीर को भी भली प्रकार झाड पौंछ कर बैठे इत्यादि । इसीलिये उसे वह रखते है अत वह उनका परिग्रह नही होता । किन्तु गृहस्थ के पास मे भले ही कुछ भी नही हो फिर भी ससार भर को अपने पीछे लगाये हुए रहता है । यह सव वैराग्य की महीमा है ।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपके और पर के स्वरूप को विशेषतया किस प्रकार जानता हैं—

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ।।२०८।।

पुद्गल कर्म क्रोधस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः ।
नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥२०८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि (विरागी) जीव ऐसा जानता है कि राग नामका पौद्गलिक कर्म है उसके विपाक का उदय ही मेरे अनुभव मे प्रतीति रूप से आया करता है सो यह मेरा स्वभाव नही है । मै तो निश्चय से एक ज्ञायक स्वभाव हूँ इसमे सन्देह नही ॥२०८॥

तात्पर्यवृत्ति—**पुग्गलकम्म कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो** पुद्गलकर्मरूपो योऽसौ द्रव्यक्रोधो जीवे पूर्वबद्धस्तिष्ठति तस्य विशिष्टपाको विपाक फलरूप उदयो भवति । स क ? शातात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एष, अक्षमारूपो भाव क्रोध **णदु एस मज्झभावो जाणगभावो दु अहमिक्को** न वैष मम भाव, कस्मात् ? इति चेत् टकोत्कीर्ण-परमानदज्ञायकैकभावोऽह यत । किं च पुद्गल कर्मरूप क्रोध क्वास्ते ? भावरूप एव दृश्यते इति ? नैव । पुद्गल-पिण्डरूपो द्रव्यक्रोधस्तदुदयजनितो यश्चाक्षमारूप स भावक्रोध । इति व्याख्यान पूर्वमेव कृत तिष्ठति कथ ? इति चेत् **पुग्गलपिंडो दव्व तस्सत्ती भावकम्मं तु** इत्यादि । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभरागद्वेषमोहकर्मनोकर्म मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुघ्राणरसनस्पर्शनसज्ञाषोडशसूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेणान्यान्यपि, असख्येयलोकमात्र-प्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानीति ।

अथ कथ तव स्वरूप न भवतीति पृष्टे सति भेदभावनारूपेणोत्तरं ददाति-

टीका—(पुग्गल कम्म कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो) पुद्गल कर्मरूप द्रव्य क्रोध जो इस जीव मे पहले से ही बद्ध हो रहा है उसका विशेष विपाक अर्थात् फलरूप उदय होता है जो कि शान्तरूप आत्म तत्व उससे पृथग्भूत भिन्न अक्षमा रूप भाव है वह भाव क्रोध (ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को) मेरा भाव नही है क्योकि मैं तो एक टाकी से उकीरे हुए के समान एक परमानन्द रूप ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ और इस प्रकार पुद्गल द्रव्यकर्म रूपी क्रोध है और उसके उदय से उपजा हुआ जो अक्षमा रूप भाव है वह भाव क्रोध है यह व्याख्यान पहले भी किया जा चुका है। वह कहाँ पर है ? कि "पुग्गल पिण्डो दव्व तस्सत्ती भाव कम्म तु" इसमे बताया है। इसी प्रकार क्रोध के स्थान पर मान माया, लोभ, रागद्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन वचन, काय,श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन नाम बदल कर सोलह सूत्र भिन्न २ रूप से व्याख्यान करने योग्य हैं और इस प्रकार असख्यात लोक परिमाण और भी जो जीव के परिणाम हैं वे सभी दूर करने योग्य हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के लिए मिटा देने योग्य है ॥२०८॥

यदि कोई सम्यग्दृष्टि से पूछता है कि यह सब तेरा स्वभाव क्यो नही है तो वह इसका उत्तर भेदज्ञान भावना के द्वारा इस प्रकार देता है—

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदय फल विवागो ।
परदव्वाणुव ओगो ण दु दे हो हवदि अण्णाणी ॥२०९॥

कथमेष तव न भवति विविधः कर्मोदयफलविपाकः ।
परद्रव्याणामुपयोगो न तु देहो भवति अज्ञानी ॥२०९॥

अर्थ —यदि सम्यग्दृष्टि से कोई यह पूछता है कि नाना प्रकार के कर्मोदय के फल का विपाक रूप विभाव परिणाम वह तेरा स्वभाव क्यो नही है तो वह कहता है कि कर्म स्वय परद्रव्य हैं जिनके द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादिक भाव औपाधिक हैं, मेरा स्वभाव कैसे हो सकता है। देह तो स्पष्ट ही जडस्वरूप है मुझसे भिन्न है ।।२०९।।

तात्पर्यवृत्तिः—**कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो** कथमेप विविधकर्मोदयफलविपाकस्तवरूप न भवतीति केनापि पृष्ट तत्रोत्तर ददाति **परदव्वाणुवओगो** निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणस्वशुद्धात्मद्रव्यात्पृथग्भूतानि परद्रव्याणि यानि कर्माणि जीवे लग्नानि तिष्ठति तेपामुपयोग उदयोय, औपाधिकस्फटिकस्य परोपाधिवत् । न केवल भावक्रोधादि ममस्वरूप न भवति, इति **णदु देहो हवदि अण्णाणी** देहोऽपि मम स्वरूप न भवति हु स्फुट कस्मादिति चेत्, अज्ञानी जडस्वरूपो यत कारणात्, अह पुन, अनतज्ञानादिगुणस्वरूप इति ।

अथ सम्यग्दृष्टि स्वस्वभाव जानन् रागादीश्च मु चन् नियमाज्ज्ञानवैराग्यसपन्नो भवति इति कथयति—

टीका—(कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदय फल विवागो) नाना प्रकार के कर्मोदय के फल का विपाक वह तेरा स्वरूप क्यो नही है ऐसा यदि कोई पूछता है तो सम्यग्दृष्टि उत्तर देता है कि (परदव्वाणुवओगो) विकार रहित परम प्रसन्न भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म द्रव्य से भिन्न द्रव्य रूप पौद्गलिक कर्म जो मेरी आत्मा मे लगे हुए हैं उनके उदय से होने वाला यह क्रोधादिक तो औपाधिक भाव है जैसे कि डाक के कारण से होने वाला स्फटिक का काला पीलापन है। अत क्रोधादिक रूप भाव मेरा स्वभाव नही है। इतना ही नही किन्तु (णदु देहो हवदि अण्णाणी) यह शरीर भी मेरे शुद्धात्मा का स्वरूप नही है क्योकि यह अज्ञानी है जड स्वरूप है और मैं अनन्त ज्ञानादि गुण स्वरूप हूँ ।।२०९।।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव को जानता हुआ और रागद्वेषादि भावो को छोडता हुआ ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है—

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणय सहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुवदि तच्चं वियाणंतो ।।२१०।।

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायक स्वभावं ।
उदयं कर्म विपाकं च मुंचति तत्वं विजानन् ।।२१०।।

अर्थ —इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ जो जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव मानता है और कर्म के उदय को कर्म का विपाक जानकर उसे छोडता है वही सम्यग्दृष्टि होता है ।।२१०।।

तात्पर्यवृत्तिः—**एवं सम्माइट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं** एव—पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिर्जीव आत्मान जानाति, कथभूत ? टकोत्कीर्णपरमानदज्ञायकैकस्वभाव । **उदयं कम्मविवागं मुअदि तच्चं वियाणंतो** उदय पुनर्ममस्वरूप न भवति कर्मविपाकोयमिति मत्वा मु चति । किं कुर्वन् सन् ? नित्यानदैकस्वभाव परमात्मतत्त्व त्रिगुप्तिसमाधौ स्थित्वा जानन्निति ।

अथ सम्यग्दृष्टि सामान्येन स्वपरस्वभावमनेकप्रकारेण जानाति—

टीका—(एव सम्मादिट्ठी अप्पाण मुणदि जाणय सहाव) इस उपर्युक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप को टाकी से उकीरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला ऐसा परमानन्द स्वभाव रूप जानता है। (उदय कम्म विवाग य मुवदि तच्च वियाणतो) और यह उदय है वह मेरा स्वरूप नही है किन्तु यह तो कर्म का विपाक है ऐसा मानकर उसे छोड देता है क्योकि वह त्रिगुप्ति समाधि मे स्थित होकर नित्यानद एक स्वभाव वाले परमात्म तत्व को जानता रहता है ।।२१०।।

विशेषार्थ—यहाँ पर सम्यग्दृष्टि का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जो सभी प्रकार के विभाव भावो से रहित हो वही सम्यग्दृष्टि होता है। यह दशा कहाँ और किस समय होती है इसका स्पष्टी-

करण करते हुए लिखा है कि यह अवस्था त्रिगुप्ति रूप परम समाधि काल मे होती है, छद्मस्थ अवस्थाओ मे नही, अत वही पर सम्यग्दृष्टि होता है। इसी बात का समर्थन श्री अमृतचन्द्राचार्य के भी 'स्वस्य वस्तुत्व प्रथयन् कर्मोदय विपाक प्रभवान भावान् सर्वानपि मुञ्चति। ततोऽय नियमात् ज्ञान वैराग्याभ्यां सपन्नो भवति' अर्थात् अपने आपके वस्तुत्व को वास्तविक स्वरूप को अनुभव करता हुआ यह जीव कर्मो दय से उत्पन्न होनेवाले सभी प्रकार के विकारी भावो को छोडकर उनसे रहित होता है। इसलिए यह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है। इसलिए निःसकोच रूप से यह मान लेना चाहिए कि यहा पर वीतराग सम्यग्दृष्टि ही का वर्णन है किन्तु चतुर्थ गुणस्थान वर्ती सराग सम्यग्दृष्टि का नही है क्योकि वह तो हर समय अविरत ही होता है, वैराग्य युक्त नही होता और न वास्तविक आत्मानुभव रूप ज्ञान युक्त होता है क्योकि वह तो कभी सामायिकादि के समय शुद्धात्मा का चितवन मात्र कर पाता है।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामान्यपने अपने और परके स्वभाव को कैसे जानता है--

उदय विवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२११॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥२११॥

अर्थ—योगी जानते हैं कि श्री जिन भगवान ने कर्मों के रस का उदय अनेक प्रकार का बतलाया है वह सब मेरा स्वभाव नही है। मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ ॥२११॥

तात्पर्यवृत्तिः—उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं उदयविपाको विविधो नानाप्रकार कर्मणा सबधी वर्णित कथित, जिनवरैः **ण दु ते मज्झसहावा जाणगभावो दु अहमिक्को** ते कर्मोदयप्रकारा कर्मभेदा मम स्वभावा न भवति, इति कस्मात्? इति चेत् टकोत्कीर्णपरमानद ज्ञायकैकस्वभावोऽह यत कारणात्। सम्यग्दृष्टि सामान्येन स्वपरस्वरूपावेव जानाति इति भणित। कथ सामान्य? इति चेत् क्रोधोह मानोहमित्यादि विवक्षा नास्तीति। तदपि कथमिति चेत् "विवक्षाया अभाव सामान्यमिति वचनात्"। एव भेदभावनारूपेण ज्ञान-वैराग्ययो सामान्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापचक गत। इत ऊर्ध्व गाथादशपर्यंत पुनरपि ज्ञानवैराग्यशक्त्यर्थ विशेषविवरण करोति। तद्यथा।

रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति कथयति—

टीका—(उदय विवागो विविहो कम्माण वण्णिदो जिणवरेहिं) ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय का फल ज्ञान को ढकने आदि के भेद से अनेक प्रकार का श्री जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है। (ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अह मिक्को) वह कर्मोदय का प्रकार ज्ञानावरणादि रूपसे भेद वह मेरा स्वभाव नही है, क्योकि मैं तो टाकी से उकेरी हुई वस्तु जैसे सदा एकसी रहती है वैसे ही सदा बने रहने वाले परमानदमय और ज्ञायक एक स्वभाव का धारक हूँ। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि विरागी जीव सामान्य रूपसे अपने और परके स्वभाव को जानता है। सामान्य रूपसे क्यो कहा? उत्तर-मैं क्रोध रूप हूँ या मान रूप

हैं इस प्रकार की विवक्षा का अभाव है। जिसमे विवक्षा का अभाव हो उसे सामान्य कहते हैं ऐसा नियम है ॥२११॥

इस प्रकार भेदभावना रूपसे ज्ञान और वैराग्य दोनो का सामान्य व्याख्यान की मुख्यता से पाच गाथाये पूर्ण हुई । इसके आगे १० गाथाओ तक फिर भी ज्ञान और वैराग्य शक्ति का विशेष वर्णन करते हैं। आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव रागी नही होता है —

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२१२॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२१३॥ (युग्मं)

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥२१२॥
आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥२१३॥ (युग्मं)

अर्थ —जिसके रागादिको का लेशमात्र भी विद्यमान है तो वह जीव सम्पूर्ण द्वादशाग शास्त्र का पारगत होकर भी आत्मा को नही जान सकता । और जब आत्मा को नही जान सकता तो वह अन्य को भी नही जान सकता। एव जो आत्मा और पर को नही जान सकता वह जीव और अजीव दोनो को भी नही जानने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ? कभी नही हो सकता ।

तात्पर्यवृत्ति —परमाणुमित्तयपि य रागादीणं तु विज्जदे जस्स परमाणुमात्रमपि रागादीना तु विद्यते यस्य हृदये हु स्फुटं **णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि** सतु परमात्मतत्वज्ञानाभावात्, शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मान न जानाति, नानुभवति । कथभूतोऽपि सर्वागमधरोऽपि सिद्धात सिंधुपारगोऽपि। **अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणतो** स्वसवेदनज्ञानवलेन सहजानदैकस्वभाव शुद्धात्मानमजानन्, तथैवाभावयश्च शुद्धात्मनो भिन्नरागादिरूपमनात्मान चाजानन् **कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवो अयाणंतो** स पुरुषो जीवाजीवस्वरूपमजानन् सन् कथ भवति सम्यग्दृष्टि ? न कथमपीति ।

रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणित भवद्भिः । तर्हि चतुर्थपचमगुणस्थानवर्तिन , तीर्थंकर कुमारभरत-सगर-राम-पाडवादय सम्यग्दृष्टयो न भवति ?, इति । तन्न मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीना बधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवति । कथ ? इति चेत् चतुर्थगुणस्थानवर्तिना जीवाना अनतानुबधि क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिताना पाषाणरेखादिसमानाना रागादीनामभावात् । पचमगुणस्थानवर्तिना पुनर्जीवाना, अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनिताना भूमिरेखादिसमानाना रागादीनामभावात्, इति पूर्वमेव भणितमास्ते । अत्र तु ग्रन्थे पचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिना वीतरागसम्यग्दृष्टीना मुख्यवृत्या ग्रहण सरागसम्यग्दृष्टिना गौणवृत्त्येति व्याख्यान सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्य अथ भाविन भोग ज्ञानी न काक्षतीति कथयति—

टीका—(परमारगुमित्तय पि हु रागादीरग तु विज्जदें जस्स) जिसके हृदयमे रागादि विकार भावो का स्पष्टरूप से जरासा लेश भी यदि विद्यमान है (रग वि सो जाणदि अप्पारगय तु सव्वागमधरोवि) तो वह परमात्म तत्व का नही जानने वाला होने से द्वादशागमय सम्पूर्णशास्त्रो का पारगामी होकर भी शुद्ध वुद्धरूप एक स्वभाववाले आत्मा को नही जानता-अनुभव नही करता है अत (अप्पारगमयाणतो अरगप्पय चावि सो अयाणतो) स्वसवेदन ज्ञानके बल से सहजानन्द रूप एक स्वभाववाले शुद्धात्मा को नही जानता हुआ तथा भावना नही करता हुआ वह शुद्धात्मा से भिन्न जो रागादिरूप अनात्माकोभी नही जानता हुआ (कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणतो) वह जीव जब जीव और अजीव के स्वरूप को नही जानता है तो वह सम्यग्दृष्टि किस प्रकार हो सकता है ? इस पर यह शका हो सकती है कि जव रागी सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है तब क्या चतुर्थ व पचमगुरगस्थानवर्ती कुमार अवस्था के तीर्थंकर, भरत, सगर चक्री, रामचन्द्र व पाण्डवादि सम्यग्दृष्टि नही होने चाहिये ? क्योकि उनके राग तो स्पष्ट ही होता है। इसका उत्तर आचार्य देते है कि यह बात नही है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे अल्प वन्ध होता है क्योकि मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियो का उनके वन्ध नही होता। इसलिए सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं क्योकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवो के अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके उदय से होनेवाले पाषाण रेखा के समान रागादि भावो का अभाव होता है तथा पचम गुणस्थानवर्ती जीवो के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले भूमि रेखा के समान रागादिको का अभाव होता है यह वात पहले भी समझा चुके है। किन्तु इस ग्रथमे तो पचम गुरगस्थानवर्ती जीवो से ऊपर के गुरगस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवो को ही मुख्यता से ग्रहण किया है। सराग सम्यग्दृष्टियो को यहाँ पर गौरग रक्खा गया है। ऐसा जहाँ भी इस ग्रन्थमे सम्यग्दृष्टि का प्रसग आवे वहा सर्व ठिकाने ऐसा समझना चाहिए ॥२१२-२१३॥

विशेषार्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसके हृदय मे कुछ भी राग का अश है तो उसका मन उस राग से अनुलिप्त है। अतएव वह अपने आप का शुद्ध अनुभव नही कर सकता है। जो अपने आप का शुद्ध अनुभव नही कर सकता वह आत्मा से भिन्न रहने वाले अकेले राग का भी अनुभव नही कर सकता वह तो दोनो का मिश्रित अनुभव ही करता रहेगा। तव फिर सही सही अनुभव करनेवाला सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धारूप न लेकर अनुभूतिरूप लिया है। अनुभव तो प्राणी स्वय जिस अवस्था मे होता है उसी अवस्था का किया करता है। जैसे जो दु खी होता है वह अपने आप को दु खी और जो सुखी होता है वह अपने आपको सुखी अनुभव करता है। इसी प्रकार रागसहित अशुद्ध अवस्थामे अपने आप का अशुद्ध ही अनुभव होगा। ऐसी दशामे वह सम्यग्दृष्टि सही अनुभव कर्त्ता कैसे हुआ ? हाँ जहाँ दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धा लिया जाता है वहाँ सराग दशा मे अपने आपको रागादि सहित अनुभव करते समय भी शुद्ध हो सकने का श्रद्धान होने से कि मै हूँ तो वर्तमान मे रागादि भावो से लिप्त होने के कारण से अशुद्ध किन्तु ये तो सव सयोगी भाव हैं अत इन्हे दूर हटाकर शुद्ध हो सकता हूँ इत्यादि सम्यग्दृष्टिपन बन सकता है किन्तु वह अर्थ यहाँ पर अभीष्ट नही है।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि भोगो की वाछा नही करता है —

जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कयावि ।।२१४।।

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यतुभयं ।
तद् ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ।।२१४।।

अर्थः— जो राग पूर्वक जानने वाला भाव है और जो उसके द्वारा जाना जाता है ये दोनो ही समय २ पर विनाश हो जाते हैं । इन दोनो मे से जो किसी को भी अगीकार नही करता है किन्तु केवल ज्ञायक मात्र होकर रहता है वह ज्ञानी होता है ।।२१४।।

तात्पर्यवृत्ति—**जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उहयं** योसौ रागादिविकल्प कर्ता वेदयत्यनुभवति यस्तु सातोदय कर्मतापन्न वेद्यते तेन रागादिविकल्पेन अनुभूयते । तदुभयमपि अर्थपर्यायापेक्षया समय समय प्रति विनश्वर **तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कखदि कयावि** तदुभयमपि वेद्यवेदकरूप वर्तमान भाविन च विनश्वर जानन् सन् तत्त्वज्ञानी नाकाक्षति न वाछति कदाचिदपि । अथ तथैवापध्यानरूपाणि निष्प्रयोजनवधनिमित्तानि शरीरविषये भोगनिमित्तानि च रागाद्यध्यवसानानि परमात्मतत्ववेदी न वाछति, इति प्रतिपादयति—

टीका—(जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उहय) जो कोई रागादि रूप विकल्प है वह तो वेदन करने वाला, अर्थात् अनुभव करने वाला है अत कर्त्ता है, और जो साता के उदय से होने वाला कर्म रूप भाव रागादि विकल्प से अनुभव किया जाता है । वे दोनो ही भाव अर्थ पर्याय की अपेक्षा से अपने अपने समय मे होकर नष्ट हो जाते हैं । क्षणिक (त जाणगो दु णाणी उभय मवि ण कखदि कयावि) अतएव वर्तमान मे व आगामी काल मे भी होने वाले वेद्य वेदक रूप दोनो भावो को विनश्वर जानता हुआ तत्वज्ञानी जीव उन दोनो मे से किसी को भी कभी भी नही चाहता है ।।२१४।।

विशेषार्थ—वेद्य वेदक भाव आत्मा का स्वभाव न होकर विभाव भाव है जो कि क्रम से होने वाला होकर क्षण नश्वर है । जिसकी वाछा है ऐसा वेद्यभाव हुआ तो वेदक भाव नही है और जब वेदक भाव हुआ तव वेद्य भाव नही रहा वह नष्ट हो गया । ऐसे सहान वस्थान होने से वाछित सिद्धि तो होती नही तव ज्ञानी जीव निष्फल वाछा कैसे करे ? नही करे जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने कलश में भी कहा है—

वेद्य वेदक विभाव चलत्वाद्वेद्यते न खलु काक्षति मेव
तेन काक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोप्यति विरक्ति मुपैति ।।१४७।।

अर्थात् ससार की इन दृश्यमान क्षणिक वस्तुओ को वेद्य अर्थात् अनुभव करने योग्य-भोगने योग्य समझकर अपने आपको वेदक अर्थात् अनुभव न करने वाला भोगने वाला स्थापन करना सो असम्वद्ध है किसी भी प्रकार घटित नही होता । अत उस वेद्य वेदक भाव को जो कभी नही चाहता-स्मरण भी नही करता है किन्तु इन सासारिक वस्तुओ से अत्यन्त विरक्त हो रहता है--दूर हो रहता है वही विद्वान अर्थात् ज्ञानी है ।

आगे कहते हैं कि जो रागादिरूप अध्यवसान भाव हैं वे सभी दुर्ध्यानात्मक हैं अत· ससार मे निष्प्रयोजन वध के कारण वनते हैं उनमे से जो शरीर के सवध को लेकर भोग के निमित्त बनते हैं उन सभी भावो को परमात्म तत्व वेदी जीव कभी नही चाहता है--

बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उपज्जदे रागो ॥२१५॥

बंधोपभोग निमित्तेषु, अध्यावसानोदयेषु ज्ञानिनः।
संसार देह विषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२१५॥

अर्थ ---वधके व उपभोग के निमित्त भूत ऐसे दो प्रकार के अध्यवसान के उदय होते हैं जो कि ससार और देह विपयक होते हैं उनमे ज्ञानी जीव के कभी राग पैदा नही होता ॥२१५॥

तात्पर्यवृत्ति --**बधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्सणेव उप्पज्जदे रागो** स्वसवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्युदयरूपेपु, अध्यवसानेपु वधनिमित्त भोगनिमित्त वा नैवोत्पद्यते राग । कथभूतेष्वध्यवसानेषु ? **संसार देहविसएसु** निष्प्रयोजनवधनिमितेपु ससारविपयेपु, भोगनिमित्तेपु देहविपयेपु वा। इहमत्र तात्पर्यं भोगनिमित्त स्तोकमेव पाप करोत्यय जीव । निष्प्रयोजनापध्यानेन वहुतर करोति शालिमत्स्यवत् । तथा चोक्तमध्यानलक्षण--

वधवधच्छेदादेर्द्वेपाद्रागाच्च परकलत्रादे· आध्यानमपध्यान शासति जिनशासने विशदा । ॥६॥ इति अपध्याने कर्म वध्नाति तदप्युक्तमास्ते--

सकल्पकल्पतरुसश्रयाणात्त्वदीय चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचिनापि पक्ष पर भवसि कल्मपसश्रयस्य ॥१॥
दौर्विध्यदग्धमनसोऽतरुपात्तभुक्तेश्चित्त यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरग ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसज्ञे कौतुस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूति ॥२॥

आचारशास्त्रे भणित--

कखदि कलुसिदभूदो दुकामभोगेहिं मुच्छिदो सतो ।
णय भुजतो भोगे वधदि भावेण कम्माणि ॥ १ ॥

इति ज्ञात्वा, अपध्यान त्यक्त्वा ज शुद्धात्मस्वरूपे स्थातव्यमिति भावार्थ ।

अथ मिथ्यात्वरागादिरूपमपध्यान मम परिग्रहो न भवति, इति पुनरपि भेदज्ञानशक्ति वैराग्य शक्ति च प्रकटयति---

टीका·—(वधुवभोगणिमित्त अज्झवसाणो दएसु णाणिस्स णेव उपज्जदे रागो) स्वसवेदन ज्ञानी जीव के रागादि भावो के उदय रूप अध्यवसान वन्ध के निमित्त और भोग के निमित्त रागपैदा नही करता वे अध्यवसान कैसे होते हैं कि ? (ससार देह विसयेसु) कुछ तो ससार को लक्ष्य मे लेकर विना प्रयोजन ही वध के करने वाले रहने हैं और कुछ वर्तमान शरीर को लक्ष्य मे लेकर भोगो के निमित्त

व्रनते है। यहा यह तात्पर्य है कि यह जीव भोगो के निमित्त तो वहुत कम पाप करता है किन्तु शालि मत्स्य के समान विना ही प्रयोजन अपने दुर्विचार से घोर पार करता है जैनागम मे अपध्यान का लक्षण ऐसा कहा गया है—

"वधवन्धच्छेदादेर्द्वेपाद्रागाच्चपर कलत्रादे आध्यानमपध्यान शासति जिनशासने विशदा ।

अर्थ—किसी भी प्रकार के वैर के कारण या अपने विपय साधने के राग के वश हो कर दूसरो के स्त्री पुत्रादिक का वाधना, मारडालना या नाक आदि छेद डालना आदि का चिन्तन करना उसको जिन शासन मे प्रवीण लोगो ने अपध्यान कहा है। इससे यह जीव घोर कर्म वन्ध करता है जैसा कि लिखा है–

सकल्प कल्पतरु सश्रयणात् त्वदीय, चेतो निमज्जति मनोरथ सागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थ तस्तव चकास्ति न किंचनापि, पक्ष पर भवसि कल्मल सश्रयस्य ।।

अर्थः—ससार की मोहमाया मे फसे हुए प्राणी को लक्ष्य मे लेकर आचार्य महाराज कहते है कि हे भाई! अनेक प्रकार के सकल्प विकल्पो मे फसकर जो तेरा मन नाना प्रकार की इच्छायें करता रहता है, उससे तेरा प्रयोजन तो कोई सिद्ध होता नही, केवल मात्र पाप का सचय होता रहता है।

दौर्विध्यदग्ध मनसोऽन्तरुपात्तभुक्ते, श्चित्तायथोल्लसतिते स्फुरित्तोत्तारग ।
धाम्नि स्फुरेद्यपि तथा परमात्म सज्ञे, कौतुस्कुती तव भावेद्विफला प्रसूति ।।

हे भाई! दुर्भाग्य से खाने पीने आदि के विषय मे लालायित होकर तेरा मन दौड धूप मचाता फिरता है, वैसा ही यदि परमात्म स्मरण मे लग जाय तो फिर सारे झझट दूर हो जावे। इसी प्रकार आचार शास्त्र मे भी लिखा है–

कखिद कलुसिद भूदो, दु काम भोगेहिं मुच्छिदो सतो।
णय भुंजतो भोगे वधदि भावेंण कम्माणि ।।

अर्थ—इन दुष्ट काम भोगो की वासनाओ मे फसा हुआ मनुष्य का मलीन मन नाना प्रकार की इच्छायें करता है उससे भोगो को न भोगता हुआ भी अपने उस दुर्भाव के द्वारा कर्म वध करता ही रहता है, ऐसा जानकर अपध्यान का त्यागकर शुद्धात्मा के स्वरूप मे लगा रहना चाहिये।

विशेषार्थ—यहा पर आचार्य देव ने यह स्पष्ट कर दिखाया है कि जो ससार और देह भोगो से सर्वथा विरक्त होता है और जिसके किसी भी प्रकार का आर्त्तभाव व रौद्रभाव नही होता है वही ज्ञानी होता है। ऐसा अप्रमत्त दशा मे ही होता है उसके पहले नही। यहा शका हो सकती है कि दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक भी तो ससार देह और भोगो से विरक्त होता है जैसा कि रत्नकरड श्रावकाचार मे लिखा है–"सम्यग्दर्शन शुद्ध, ससार शरीर भोग निर्विण्ण। पच गुरू चरण शरणो, दार्शनिकस्तत्व पथ गृह्य ।। इसका उत्तर यह है कि यहा पर "निर्विण्ण" शब्द है उसका अर्थ विरक्त नही है किन्तु उद्विग्न अर्थात् अनासक्त ऐसा अर्थ है जो कि ठीक है। क्योकि अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव भी घोर मिथ्यादृष्टि के समान ससार शरीर और भोगो मे आसक्त नही होता किन्तु उन्हे स्वीकार किये हुए होकर भी उनसे भयभीत सा रहता है। अपितु विरक्त का अर्थ तो छोडे हुए--उनसे दूर रहने वाला अर्थात त्यागी ऐसा होता है जो कि अव्रत या देश विरत के

साथ मे ठीक नही बैठता प्रत्युत यहा पर तो ज्ञानी को सब प्रकार के परिग्रह से रहित होकर आत्म तल्लीन रहने वाला बतला आये हैं ।

फिर भी दिखलाते हैं कि भेदज्ञान शक्ति व वैराग्य शक्ति की ऐसी महिमा है'—

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥२१६॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयं ।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥२१६॥

अर्थ—यदि यह शरीरादिक परद्रव्य भी मेरा परिग्रह हो जाय तो फिर मैं भी अजीव पने को प्राप्त हो जाऊ । किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिये यह सब कुछ मेरा परिग्रह नही है ॥२१६॥

तात्पर्यवृत्तिः—मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्य मम यदि मिथ्यात्वरागादिक परद्रव्य परिग्रहो भवति ततोऽह, अजीवत्व जडत्व गच्छामि। न चाह अजीवो भवामि । **णादेव अह जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ** परमात्मज्ञानपदमेवाह यस्मात्तत परद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीत्यर्थ ।

अथ किं तत्परमात्मपदमिति पृच्छति—

टीकाः—(मज्झ परिग्गहो जदि तदो अहमजीविद तु गच्छेज्ज) मैं तो सहज शुद्ध केवल मात्र ज्ञान और दर्शन स्वभाव वाला हूँ । अत मिथ्यात्व व रागादिकरूप पर द्रव्य मेरा परिग्रह हो जाय तो मैं अजीव पने को अर्थात् जड पने को प्राप्त हो जाऊ परन्तु मै अजीव नही हूँ ।(णादेव अह जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ) मैं तो परमात्मस्वरूप शुद्ध ज्ञानमई हूँ इसलिये यह शरीरादिक पर द्रव्य मेरा परिग्रह नही है ॥२१६॥

वह परमात्मपद क्या है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं ।

आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण गिण्ह तव णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२१७॥

आत्मनि द्रव्यभावान्य स्थिराणि मुक्त्वा गृहाण तव नियतं ।
स्थिरमेकमिमं भावं उपलभ्यमानं स्वभावेन ॥२१७॥

अर्थ—आत्मा मे जो द्रव्य और भाव कर्म हैं उनको अथिर जान करके छोड दे और अपने ही निश्चित, स्थिर, एक, स्वभाव से अनुभवने योग्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्म पदार्थ को ग्रहण कर ॥२१७॥

तात्पर्यवृत्तिः—आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण आत्मद्रव्येऽधिकरणभूते, द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च यानि तिष्टति तानि विनश्वराणि, इति विज्ञाय मुक्त्वा **गिण्ह** हे भव्य गृहाण स्वीकुरु क ? कर्मता पन्न तव **णियदं थिरमेगमिमं भाव उपलब्भंतं सहावेण** भाव, आत्मपदार्थं कथभूत ? तव, सवधिस्वरूप। नियत, निश्चत। पुनरपि कथभूत ? स्थिर, अविनश्वरं। एक, असहाय। इद प्रत्यक्षीभूत। पुनरपि किं विशिष्ट ? उपलभ्यमान,। केन कृत्वा ? परमात्मसुखसवित्तिरूपस्वसवेदनज्ञानस्वभावेनेति।

अथ ज्ञानी परद्रव्य जानातीति भेदभावना प्रतिपादयति–

टीका—(आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण) अधिकरणभूत आत्मद्रव्य मे द्रव्य कर्म और भावकर्म हैं उनको विनाश होनेवाले अथिर जानकर छोडदे (गिण्ह तव णियद थिरमेकमिद भाव उवलब्भत सहा-वेण) और हे भव्य तू तेरे स्वभाव को ग्रहण कर जोकि तेरा स्वभाव निश्चित है, सदा एकसा रहनेवाला है, पर की सहायता से रहित है और स्पष्ट रूप से तेरे अनुभव मे आने वाला है। अर्थात् परमोत्कृष्ट आत्म सम्बन्धी सुख का सवेदन ही है स्वरूप जिसका ऐसे स्वसवेदन ज्ञान स्वभाव के द्वारा जाना जाता है ॥२१७॥

विशेषार्थ—जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है वे वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान तक सभी भाव आत्मा मे होकर भी अनियत अनेक रूप, क्षणिक स्थिति वाले तथा व्यभिचार स्वरूप है अत· आत्मा के पद नही है। किन्तु जो स्वसवेदन स्वरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्य-भिचारी है, सदा बना रहने वाला है वही आत्मा का पद है। वही ज्ञानी के द्वारा अनुभव करने योग्य है।

आगे ज्ञानी परद्रव्य को जानता है (ग्रहण नही करता) इस भेदभावना को बतलाते हैं—

को णाम भणिज्ज वुहो परदव्वं ममभिदं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥ २१८ ॥

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥ २१८ ॥

अर्थ—कौन ज्ञानी है जो परद्रव्य को भी यह मेरा द्रव्य है इस प्रकार कहता रहे। क्योकि वह तो नियम से अपने आपको ही अपना परिग्रह जानता हुआ ही रहता है ॥ २१८ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—को णाम भणिज्ज वुहो परदव्व ममभिदं हवदि दव्वं परद्रव्य मम भवतीति नाम स्फुटमहो वा को ब्रूयात्? बुधो ज्ञानी न कोपि। किं कुर्वन् ? **अप्पाणमप्पणो परिग्गह तु णियद वियाणतो** चिदानदैकस्वभावशुद्धात्मानमेव, आत्मन परिग्रह विजानन् नियत निश्चितमिति।

अथाय च मे निश्चय, देहरागादि मम परिग्रहो न भवतीति भेदज्ञान निरूपयति—

टीका—(को णाम भणिज्ज वुहो परदव्व ममभिद हवदि दव्व) वह कौनसा ज्ञानी है जो पर द्रव्य को भी कि यह मेरा द्रव्य है ऐसा स्पष्ट रूप से कहता रहे किन्तु कोई ज्ञानी भी ऐसा नही करे। (अप्पाण

मप्पणो परिग्गह तु णियद वियाणतो) क्योकि वह तो निश्चित रूप से चिदानद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा को ही अपना परिग्रह जानता रहता हैं।

आगे कहते हैं कि ये शरीरादि पर द्रव्य मेरा परिग्रह नही है। इसी बात को और भी दृढता से कहते हैं—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥२१६॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां अथवा यातु विप्रलयं।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि परिग्रहो मम ॥ २१६ ॥

अर्थ—यह शरीरादिक पर द्रव्य भले ही छिद जावो, भिदजावो, अथवा कोई इसे ले जावो, अथवा नष्ट हो जावो, जिस किसी दशा को भी प्राप्त हो जावो तो भी यह तो मेरा परिग्रह नही है यह निश्चित है। इस प्रकार विचार कर ज्ञानी तो अपने स्वस्थ (अपने स्वभाव मे) रहता है ॥ २१६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—**छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं** छिद्यता वा द्विधा भवतु, भिद्यता वा छिद्री भवतु, नीयता वा केन चित्। अथवा विप्रलय विनाश गच्छतु, एवमेव **जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ** अन्यस्मात् यस्मात् तस्मात् कारणाद्वा गच्छतु तथापि शरीर मम परिग्रहो न भवति। कस्मात्? इति चेत् टकोत्कीर्णपरमानदज्ञायकैकस्वभावोह, यत कारणात्। अय च मे निश्चय।

अथात्मसुखे सतोष दर्शयति—

टीका—(छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलय) भले ही यह शरीर छिद जावे, दो टुकडे हो जावे, चाहे यह भिद जावे अर्थात् नाना छेद वाला बन जावे, इसे कोई कही ले जावे, अथवा नष्ट हो जावे। (जम्हा तम्हा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ) भले ही इसकी ऐसी वैसी दशा क्यो न हो जावे, इसका मुझे कोई भी विचार नही क्योकि यह शरीर मेरा परिग्रह नही हैं। मै तो टाकी से उकीरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला एव परमानन्द ज्ञायक एक स्वभाव का धारक हूं अर्थात् मै तो इससे सर्वथा भिन्न स्वभाव वाला हूँ यह मेरा दृढ निश्चय है ॥ २१६ ॥

आत्म सुख मे ही सतोष है ऐसा बतलाते हैं।

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ॥ २२० ॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो तर्हि भविष्यति तवोत्तमं सौख्यं ॥ २२० ॥

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू सुख चाहता है तो उसी आत्मानुभव रूप ज्ञान में तल्लीन होकर रह। उसी मे

सदा के लिए सतोष धारण कर और उसी के द्वारा तृप्त हो और सब इच्छाओ को छोड तभी तुझे सदा बना रहने वाला उत्तम सुख प्राप्त होगा ।। २२० ।।

तात्पर्यवृत्तिः—एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि एदेण होहि तित्तो हे भव्य पचेंद्रियसुखनिवृत्तिं कृत्वा निर्विकल्पयोगवलेन स्वाभाविकपरमात्मसुखे रतो भव सतुष्टो भव, तृप्तो भव, नित्य सर्वकाल तो होहदि उत्तम सुक्ख ततस्तस्मादात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षय मोक्षसुख भविष्यति ।

अथ मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानाभेदरूप परमार्थसज्ञ मोक्षकारणभूत यत्परमात्मपद तत्समस्तहर्षविषादादिविकल्पजालरहित परमयोगाभ्यासादेवात्मानुभवति, इति प्रतिपादयति —

टीका—(एदह्मि रदो किच्च सतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि एदेण होहि तित्तो) हे भव्य । तू पचेन्द्रिय जन्य सुखको छोडकर निर्विकल्प स्वरूप आत्मध्यान के बल से सहज स्वाभाविक और सर्वोतकृष्ट आत्म सुख मे लीन हो, सतुष्ट बन एव सदा के लिए तृप्त हो रह। (तो होहदि उत्तम सोक्ख) उस आत्म सुख के अनुभव करने से तुझे सदा बना रहने वाला मोक्ष सुख प्राप्त होगा ।। २२० ।।

विशेषार्थ—ज्ञानी को सबोधन करके आचार्य देव कहते है कि हे भाई ! यदि तू ज्ञानी बना रहना चाहता है तो आत्मा के सिवाय इतर सभी वस्तुओ को भूलकर केवलमात्र आत्मध्यान मे तल्लीन हो रहना चाहिये तभी तू ज्ञानी कहलाने का अधिकारी बन सकता है ।

आगे कहते हैं कि जिस परमार्थरूप मोक्ष के कारण भूत पदमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, और केवलज्ञान भेद नही हैं वह परमात्म पद हर्ष विषाद आदि सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित है । उस परम पद को यह आत्मा परम योगाभ्यास से ही अनुभव करता है—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ।।२२१।।
आभिनिबोधिक श्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदं ।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृत्ति याति ।।२२१।।

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार जिसके भेद किये जा सकते है वह ज्ञान सामान्यतया एक है जो कि परमार्थ रूप है उसे प्राप्त करके ही आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है ।।२२१।।

तात्पर्यवृत्तिः—आभिणिसुदोहिमणकेवलं च त होदि एक्कमेव पदं मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानभेदरूपं यत्तन्निश्चयेन, एकमेव पद । पर किं तु यथादित्यस्य मेघावरणतारतम्यवशेन प्रकाशभेदा भवति । तथा मतिज्ञानावरणादिभेदकर्मवशेन मतिश्रुतज्ञानादि भेदभिन्न जात सो ऐसो परमट्ठो ज लहिदु णिव्वुदिं जादि स एष लोकप्रसिद्ध पचज्ञानाभेदरूप परमार्थं य परमार्थं लब्ध्वा जीवो निर्वृतिं याति लभत इत्यर्थ । एव ज्ञानशक्तिवैराग्यशक्ति विशेषविवरणरूपेण सूत्रदशक गत । अत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यंत तस्यैव परमात्मपदस्य प्रकाशको योसौ ज्ञानगुण , तस्य सामान्यविवरण करोति । तद्यथा

अथ मत्यादिपचज्ञानाभेदरूप साक्षान्मोक्षकारणभूत यत्परमात्मपद, तत्पद शुद्धात्मानुभूतिशून्य व्रततपश्चरणादिकायक्लेश कुर्वाणा अपि स्वसवेदनज्ञानगुणेन विना न लभते इति कथयति—

टीका—(आभिणि सुदोहि मरण केवल च त होदि एक्कमेव पद) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के नाम से भेद होकर भी वास्तव मे एक रूप ही रहता है। जैसे मेघो के द्वारा आच्छादन होने के तारतम्य के भेद से सूर्य प्रकाश मे भेद हो जाते है वैसे ही मतिज्ञानावरणादि भेदवाले कर्म के वश से जिसमे मतिश्रुतादि भेद हो जाते है। (सो एसो परमट्ठो ज लहिदु णिव्वुदि जादि) इन लोक प्रसिद्ध पाच भेदो के द्वारा भी जो भेद को प्राप्त नही होता वह परमार्थरूप ज्ञान सामान्य है जिसको प्राप्त करके यह जीव निर्वाण को प्राप्त होता है ॥२२१॥

इस प्रकार ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति का विशेष वर्णन करने मे दश गाथाये पूर्ण हुई। आगे आठ गाथाओ मे उसही परमात्मपद का प्रकाश करने वाला जो ज्ञान गुण है उसका सामान्य वर्णन करते है।

अब सबसे प्रथम यह बताते हैं कि मत्यादि पाच ज्ञानो के द्वारा भी जिसका भेद नही हो पाता है जो साक्षात् मोक्ष का कारणभूत है और परमात्मपद स्वरूप है उस पद को शुद्धात्मा की अनुभूति से शून्य केवलमात्र कायक्लेशादि रूप व्रत तपश्चरणादि करने वाले नही प्राप्त कर सकते क्योकि वे स्वसवेदन ज्ञान से हीन हैं—

णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति।
तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्ख ॥२२२॥

ज्ञान गुणैर्विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते।
तद्गृहाण सुपदमिदं यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षं ॥२२२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तु कर्मों से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो उस निश्चित ज्ञान को ग्रहण कर क्योकि ज्ञानगुण से रहित बहुत पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करते रहकर भी इस ज्ञान स्वरूप पद को नही प्राप्त होते हैं ॥२२२॥

तात्पर्यवृत्ति—**णाणगुणेहिं विहीणा एद तु पद बहूवि ण लहति** निर्विकारपरमात्मतत्वोपलब्धिलक्षण-ज्ञानगुणेन विहीना, रहिता पुरुषा, बहवोऽपि शुद्धात्मोपादेयसवित्तिरहित दुर्धरकायक्लेशादितपश्चरण कुर्वाणा अपि मत्यादिपचज्ञानाभेदरूप साक्षान्मोक्षकारण स्वसवेद्य शुद्धात्मसवित्तिविलक्षणमिद पद न लभते। **त गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्ख** हे भव्य तत्पद गृहाण यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षमिति।

अथ विशेषपरिग्रहत्यागरूपेण तमेव ज्ञानगुण विवृणोति—

टीका—(णाणगुणेहि विहीणा एद तु पद बहूवि ण लहति) सभी प्रकार के विकार से वर्जित जो परमात्म तत्व उसकी उपलब्धि होना ही है लक्षण जिसका ऐसे ज्ञान गुण से रहित बहुत से पुरुष शुद्धात्मा ही उपादेय है इस स्वसवेदन ज्ञान से रहित ऐसे घोर काय क्लेश आदि तपश्चरण को करते हुए भी मत्यादि पाच प्रकार के ज्ञानो से भी जिसमे भेद नही हो सके ऐसे साक्षात मोक्ष के कारणभूत तथा शुद्धात्मा की सवित्ती है लक्षण जिसका ऐसे अपने आपके द्वारा ही अनुभव करने योग्य पद को नही पा सकते हैं। (त गिण्ह सुपदमेद जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्ख) इसलिए हे भव्य ! यदि तू कर्मो से मुक्त होना चाहता है तो उस उत्तम पद को स्वीकार कर ॥२२२॥

विशेषार्थ—'ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठित' इस अमृतचन्द्राचार्य के वचनानुसार जब छद्मस्थ आत्मा का ज्ञान ज्ञान को ही विषय करने वाला हो जाता है उस समय उसमे अपने आपके सिवाय और किसी का भान भी नही रहता। तव उसको ज्ञान गुण या ज्ञानभाव कहते है। स्वरूपाचरण, स्वसवेदन, आत्मानुभव, शुद्धोपयोग और शुद्ध नय आदि सव इसी के नाम हैं। इस ज्ञान गुण को प्राप्त किये बिना आज तक किसी को न तो मोक्ष प्राप्त हुआ और न हो सकता है। यह वाह्य तपश्चरण आदि तो उसके साधन मात्र है उसी को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं। क्योकि वाह्य त्याग तपस्या के बिना वह ज्ञान मात्र अवस्था कभी प्राप्त नही हो सकती जैसे कि खेती के विना अन्न नही हो सकता है किन्तु खेती होकर भी यदि अन्न न आवे तो फिर वह घास है केवल पशु के खाने की वस्तु है। वैसे ही त्याग तपस्या अगीकार करके भी शुद्धात्म ध्यान की ओर यदि लक्ष्य न रखा गया तो वह त्याग तपस्या केवल स्वर्ग सुख देने वाली है, उससे मुक्ति प्राप्त नही हो सकती।

आगे विशेष परिग्रह के त्याग कराने के अभिप्राय से उस ही ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करते हैं--

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२२३।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्म ।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।।२२३।।

अर्थ–ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है (पर पदार्थों को ग्रहण किये हुए नही होता) क्योकि वह इच्छा से रहित है ऐसा कहा है इसी कारण वह पुण्य कर्म करने की भी इच्छा नही करता इसलिए उसके पुण्य का भी परिग्रह नही है। वह केवल मात्र ज्ञायक होकर रहता है ।।२२३।।

तात्पर्यवृत्तिः—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदे धम्म अपरिग्रहो भणित कोसौ ? अनिच्छ । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य वहिर्द्रव्येष्विच्छा वाछा मोहो नास्ति। तेन कारणेन स्वसवेदनज्ञानी शुद्धोपयोग-रूप निश्चय धर्म विहाय शुभोपयोग धर्मं पुण्य नेच्छति । **अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** तत कारणात्पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रह सन् पुण्यमिद ममस्वरूप न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन्, अतन्मयो भवन् दर्पणे विम्वस्येव ज्ञायक एव भवति ।

टीका—(अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्म) जो इच्छा रहित होता है वह अपरिग्रह होता है अर्थात् जिसके वाह्य द्रव्यो की इच्छा नही होती अर्थात बाह्य पदार्थों से उसका कोई लगाव नही होता। इससे स्वसवेदन ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म को छोडकर शुभोपयोग रूप धर्म अर्थात् पुण्य को नही चाहता है। (अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि) इसलिए पुण्य रूप धर्म का परिग्रहवान न होकर, किन्तु पुण्य मेरा स्वरूप नही है ऐसा जानकर, उस पुण्य रूप से परिणमन नही करता हुआ तन्मय नही होता हुआ वह दर्पण मे आये हुए प्रतिविम्ब के समान उसका जानने वाला ही होता है ।।२२३।।

अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।
अप्परिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२४॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मं ।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२२४॥

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रह रहित है (अन्य पदार्थ को ग्रहण नही करता) क्यो कि वह इच्छा से रहित है । अत वह किसी भी प्रकार के पाप की भी इच्छा नही करता इसलिए उसके पाप का भी परिग्रह नही है । वह तो उसका केवल मात्र जानने वाला रहता है ॥२२४॥

तात्पर्यवृति—**अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदि अहम्म** अपरिग्रहो भणित, स क ? अनिच्छ तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु, इच्छा काक्षा नास्ति । तेन कारणेन तत्त्वज्ञानी विषयकषायरूप अधर्म पापं नेच्छति । **अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात्--विषयकषायरूपस्याधर्मस्याऽपरिग्रह सन् पापमिद मम स्वरूप न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति । एवमेव च, अधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि सप्तदशसूत्राणि व्याख्येयानि । तथैव प्रकारेण शुभाशुभसकल्पविकल्परहितानतज्ञानादिगुणस्वरूपशुद्धात्मन. प्रतिपक्षभूतानि शेषाण्यप्य-सख्येयलोकप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानि ।

टीका—(अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्म) जिसके बाह्य द्रव्यो में वाछा नही है वह परिग्रह रहित है । इसलिये तत्वज्ञानी जीव विषय कषाय रूप अधर्म को, पाप को कभी नही चाहता । (अप्परिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि) इसलिए वह विषय कषायरूप पाप का ग्राहक न होता हुआ यह पाप मेरा स्वरूप नही ऐसा है जानकर पाप रूप से परिणमन नही करता हुआ वह दर्पण मे आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका ज्ञायक ही होता है ॥२२४॥

इस प्रकार अधर्म के स्थान पर राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ऐसे १७ सूत्र पृथक पृथक व्याख्यान करने योग्य हैं । इसी प्रकार शुभ व अशुभ सकल्प विकल्पो से रहित व अनत ज्ञानादि गुण सहित है स्वरूप जिसका ऐसे शुद्धात्मा का विरोध करने वाले और भी असख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम स्थान त्यागने योग्य हैं ॥

***धम्माच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंग पुव्वेसु**
संगं च तहा णेयं देवमणु अत्तिरियणेरइयं ॥२२५ ॥

धर्मार्थी अधर्मार्थी आकाशं श्रुतमंग पूर्वेषु ।
संगं च तथा ज्ञेयं देव मनुष्य तिर्यग् नरकादिकम् ॥२२५॥

---

* यह गाथा आत्मख्याति मे नही है ।

अर्थ—परम तत्वज्ञानी जीव परिग्रह रहित होता है क्योकि वह इच्छा रहित होता है, जिसके वाह्य पदार्थों मे आकाक्षा नही होती उसके परिग्रह भी नही होता यह नियम है इसलिए परम तत्वज्ञानी जीव चिदानन्द ही है एक स्वभाव जिसका ऐसी शुद्धात्मा को छोडकर धर्म, अधर्म और आकाश आदि अ ग पूर्वात्मक श्रुत मे बताये हुए वाह्य और अ तरंग परिग्रह तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकादि विभाव पर्यायो को नही चाहता है ऐसा समझना चाहिए। इस कारण इस विपय मे परिग्रह रहित होता हुआ उस रूप से परिणमन नही करता हुआ वह दर्पण मे आये हुए प्रतिविम्व के समान उसका केवलमात्र ज्ञायक ही होता है ।।२२५।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ।। २२६ ।।
अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितोऽशनं च नेच्छति ज्ञानी ।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।। २२६ ।।

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है। इस प्रकार जो ज्ञानी होता है वह भोजन की इच्छा नही करता है। इस कारण से भोजन को नही ग्रहण करता हुआ केवलमात्र ज्ञाता ही रहता है ।। २२६ ।।

तात्पर्यवृत्ति-—**अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असण च णिच्छदे णाणी** अपरिग्रहो भणित स क ? अनिच्छ । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य वहिर्द्रव्येपु इच्छा मूर्छा ममत्व नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भाव स च ज्ञानिनो न सभवति । **अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात् आत्मसुखे तृप्तो भूत्वा अशनविषये निप्परिग्रह सन् दर्पणे विम्वस्येव अशनाद्याहारस्य वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति । न च रागरूपेण ग्राहक इति ।

टीका—(अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असण च णिच्छदे णाणी) जिसके वाह्य द्रव्यो मे इच्छा, मूर्छा, ममत्व परिणाम नही है वह अपरिग्रहवान कहा गया है क्योकि इच्छा अज्ञानमय भाव है इससे इसका होना ज्ञानी के सभव नही है अत ज्ञानी के भोजन की भी इच्छा नही होती इसलिये वह (अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि) आत्म सुख मे सतुष्ट होकर भोजन व तत्सबधी पदार्थों मे परिग्रह रहित होता हुआ जैसे दर्पण मे आये हुये प्रतिविव के समान केवल आहार मे गृहण करने के योग्य वस्तु का उस वस्तु के रूप से ज्ञायक ही होता है। किन्तु रागरूप से उसका गृहण करने वाला नही होता ।। २२६ ।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ।। २२७ ।।
अपरिग्रहो अनिच्छो भणितः पानं च नेच्छति ज्ञानी ।
अपरिगृहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ।। २२७ ।।

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव किसी पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नही करता है। इस कारण उसके पीने का भी परिग्रह नही होता है अत वह तो उसका केवलमात्र ज्ञाता ही रहता है ।।२२७।।

तात्पर्यवृत्ति—**अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं तु णिच्छदे णाणी** अपरिग्रहो भणित कोसौ ? अनिच्छ । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य वहिर्द्रव्येष्वाकाक्षा तृष्णा मोह इच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भाव स च ज्ञानिनो न सभवति **अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि** तत कारणात् स्वाभाविकपरमानदसुखे तृप्तो भूत्वा विविधपानकविपये निष्परिग्रह सन् दर्पणे विम्वस्येव वस्तुस्वरूपेण ज्ञायक एव भवति, न च रागरूपेण ग्राहक इति ।

तथा चोक्त —

ण वलाउ साधु अट्ठ ण सरीरस्सय वयट्ठ तेजट्ठ, णाणट्ठ, सजमट्ठ भ्काणट्ट चेव भु जति ॥ १ ॥
अरकाभरकणिमित्त इसिणो भु जति पाणधारणणिमित्त, पाणा धम्मणिमित्त, धम्म हि चरति मोक्खट्ठ ॥२॥
अथ परिग्रहत्यागव्याख्यानमुपसहरति—

टीका—(अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाण च णिच्छदे णाणी) जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहलाता है अर्थात् जिसके वाह्य पदार्थो मे इच्छा, मूर्छा व ममत्व परिणाम नही है वह अपरिग्रह-वान कहा गया है । अत. इच्छा जो अज्ञानमय भावरूप है वह ज्ञानी के कभी सभव नही है । अतएव उसके पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नही हो सकती इसलिये (अप्परिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि) स्वाभाविक परमानन्द सुखमे सतुष्ट होकर नाना प्रकार के पानक के विपय मे परिग्रह रहित होता हुआ ज्ञानी जीव तो दर्पण मे आये हुए प्रतिविंव के समान वस्तु स्वरूपसे उस पानक का ज्ञायक ही होता है-रागसे उसका ग्राहक नही होता है ॥२२७॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने इन गाथाओ मे स्पष्ट कर वताया है कि ज्ञानी जीव को इच्छा नही होती अत उसको किसी भी प्रकार का परिग्रह नही होता । वह तो निष्किचन होकर आत्मतल्लीन रहता है । इस पर शका हो सकती है कि ऐसा जीव इन छद्मस्थो मे कौन है जिसके इच्छा विल्कुल नही होती क्योकि गृहस्थ के तो अनेक प्रकार की इच्छा हर समय लगी रहती है और मुनि त्यागी तपस्वी के भी और नही तो भोजन की इच्छा तो होती है और वह आहार भी ग्रहण करता ही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मुनि जव अप्रमत्तरूपसे आत्मध्यान मे मग्न होता है उस समय उसके किसी भी प्रकार की इच्छा नही होती है अत वास्तवमे वहाँ ज्ञानी होता है, जैसा कि "झाणणि लीणो मुनि णाणी" इस सिद्धात के वाक्य से स्पष्ट है । रही मुनि के आहार ग्रहण करने की वात सो वह प्रमत्त सयत दशामे हुआ करता है । यह आहार लेना भी शरीर को मोटा ताजा सुन्दर वनाये रखने के लिये नही, किन्तु सयम के सम्पादन के लिये ज्ञानोपार्जन के लिए एव ध्यान की सिद्धि के लिये होता है । जैसे गाडी चलाने के लिये उसके वाग लगाया जाता है वैसे ही केवलमात्र प्राण सधारण के लिये ऋषि लोग भोजन करते हैं और प्राणो का सधारण भी जिस धर्म से मुक्ति प्राप्त हो उसे सम्पादन करने के लिये किया करते है । जैसा कि टीका कार के द्वारा उद्धृत निम्नलिखित गाथाओ मे लिखा हुआ है —

ण वलाउसाहणट्ठ ण सरीरस्स य चयट्ठतेजट्ठ ।
णाणट्ठ सजमट्ठ भ्काणट्ठ चेव भु जति ॥१॥
अक्खामक्ख णिमित्त इसिणो भु जति पाणधारण णिमित्त
पाणा धम्मणिमित्त धम्म हि चरति मोक्खट्ठ ॥२॥ (युग्म)

अत कारणमे कार्य का आरोप कर लेने से मुनि का आहार लेना भी परिग्रह न होकर वह ज्ञान ध्यान रूप ही कहा जाता है। हा जो लोग चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असयत सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी कह कर उसे भी इन्ही गाथाओ पर से अनिच्छक और निष्परिग्रह समझ बैठते है उनकी बात मेरी समझ मे नही आती, क्योकि जो जीव छ खण्ड पृथ्वी को तो अपने पीछे लगाये बैठा है और अपने साधारण से स्वार्थ के लिये मोक्षगामी अपने भाई के ऊपर सुदर्शन चक्र चला देता है उसे ज्ञानी कहना ज्ञानी शब्द की विडवना ही है। उसे ज्ञानी तो नही किन्तु निष्परिग्रही ज्ञानी लोगो का श्रद्धालु उनका हृदय से समादर करने वाला कह सकते हैं। अन्यथा मिथ्यादृष्टि तो उनका नही मानने वाला एव विरोधी होता है। हाँ, यदि द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा अव्रत सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी या अनिच्छक आदि रूप कहा जाय तो कहा जा सकता है क्योकि आगे चलकर वह भी वैसा वनने वाला होता है। किन्तु ग्रन्थ की शब्द सरणी को देखते हुए यहा पर उसका प्रसग नही है। उपर्युक्त गाथाओ मे ज्ञानी को वाह्य वस्तुओ का ग्राहक तो नहीं किंतु ज्ञायक वताया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था को प्राप्त करके यह छद्मस्थ जीव ज्ञानी कहलाता है, वह अप्रमत्त दशा दो भागोमे विभक्त होती है। एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। सविकल्प दशा मे शरीरादि वाह्य वस्तुओ को स्मरण करते हुए उनसे आपको पृथक समझता हुआ वह दूसरे भाग मे स्वय निर्विकल्प रूप से अपने आप मे स्थिर हो रहता है।

अव परिग्रह त्याग के व्याख्यान का उपसहार करते हैं—

इव्वादु एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणग भावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ ॥२२८॥

इत्यादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतः निरालंबश्च सर्वत्र ॥२२८॥

अर्थ—उपर्युक्त अनेक भावो आदि को लेकर और भी अनेक प्रकार के सव भावो को ज्ञानी जीव नही चाहता नही वाछा करता, किन्तु वह तो सव ओर से सव ठौर निरालव होकर ज्ञायक ही रहता है ॥२२८॥

तात्पर्यवृत्ति—**इव्वादु एदु विविहे सव्वे भावेय णिच्छदे णाणी** इत्यादिकान् पुण्यपापाशन पानादिवहिर्भावान् सर्वान् सर्वत्र परमात्मतत्त्वज्ञानी नेच्छति। अनिच्छन् स कथभूतो भवति? **जाणग भावो णीयदो णिरालबोय सव्वत्थ** टकोत्कीर्णपरमानदज्ञायकैकस्वभाव एव भवति नियतो निश्चित। पुनश्च कथभूतो भवति जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च वाह्याभ्यतरपरिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरद्रव्ये सर्वत्र निरालबोऽपि, अनतज्ञानादिगुणस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्णकलश इव सालवन एव तिष्ठतीति भावार्थ।

अथ ज्ञानी वर्तमानभाविभोगेषु वाछा न करोतीति कथयति—

टीका—(इव्वादु एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी) परमात्म तत्व का जानने वाला जीव ऊपर कहे हुए पुण्य, पाप और भोजन पानादि इन वाह्य मे होने वाले सभी भावो को कभी भी नही चाहता है। (जाणगभावो णियदो णीरालवो य सव्वत्थ) क्योकि वह तो नियम से टाकी से उकेरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला और परमानन्द स्वरूप ज्ञायक भाव है उस मय हो रहता है। वह ऊर्ध्व, मध्य और अधोरूप तीन जगत एव भूत, भावी, वर्तमान रूप तीनो कालो मे होने वाले वाह्य अभ्यतर परिग्रह रूप चेतन अचेतनात्मक सभी पर पदार्थों मे मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना

से सर्वथा निरालंब होकर अनंतज्ञानादि गुणस्वरूप अपने स्वभाव में पूर्ण कलश के समान निश्चल अव-लंबन सहित ठहरता है ॥२२८॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी वर्तमान के व भविष्य के भोगों की इच्छा नहीं करता है.—

उप्पण्णोदय भोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२२९॥

उत्पन्नोदय भोगे वियोगवुद्ध्या तस्य स नित्यं ।
कांक्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२२९॥

अर्थ—उदय को प्राप्त हुए वर्तमान कर्म के भोगने में वियोग बुद्धि होने से ज्ञानी जीव आगामी काल में उदय होने वाले कर्म के भोगने की वांछा नहीं करता तथा भूत कालीन कर्म का भोग तो रहा ही नहीं है ।

तात्पर्यवृत्ति—**उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं** उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्धिश्च हेयबुद्धिर्भवति 'तस्य तस्मिन् भोगविषये षष्ठीसप्तम्योरभेद इति वचनात्' कोसौ निरीहवृत्तिर्भवति स्वसंवेदनज्ञानी नित्यं सर्वकाल **कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी** स एव ज्ञानी, अनागतस्य निदानबंधरूपभाविभोगोदयस्या-कांक्षां न करोति । किं च विशेष य एव भोगोपभोगादिचेतनाचेतनसमस्तपरद्रव्यनिरालंबनो भावपरिणाम. स एव स्व-संवेदनज्ञानगुणो भण्यते । तेन ज्ञानगुणालंबनेन य एव पुरुष ख्याति-पूजा-लाभ-भोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावरहित. सन् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैं कृतकारितानुमतैश्च विषयसुखानंदवासनावासित चित्त मुक्त्वा शुद्धात्म-भावनोत्थवीतरागपरमानंद सुखेन वासित रंजित मूर्छित परिणत तन्मय तृप्त रत संतुष्ट चित्तं कृत्वा वर्तते स एव मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानाभेदरूप परमार्थशब्दाभिधेय साक्षान्मोक्षकारणभूत शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागम-भाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूप स्वसंवेद्यशुद्धात्मपद परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्य. । यादृश परमात्मपदमनुभवति तादृशं परमात्मपदस्वरूप मोक्ष लभते । कस्मात् ? इतिचेत् उपादानकारणसदृश कार्यं भवति यत कारणात् इति । एवं स्वसंवेदनज्ञानगुणं विना मत्यादिपंचज्ञानविकल्परहितमखंडपरमात्मपद न लभ्यते इति सक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टक गत ।

अथानंतर तस्यैव ज्ञानगुणस्य चतुर्दशगाथापर्यंत पुनरपि विशेषव्याख्यान करोति । तद्यथा-ज्ञानी सर्वद्रव्येषु वीतरागत्वात्कर्मणा न लिप्यते सरागत्वादज्ञानी लिप्यते, इति प्रतिपादयति—

टीका—(उप्पण्णोदय भोगे विओगबुद्धीय तस्स सो णिच्च) उत्पन्न हुए कर्मोदय के भोगने में स्वसंवेदन ज्ञानी जीव सदा ही वियोग बुद्धि एवं हेयबुद्धि वाला होता है । (यहाँ गाथा में जो तस्य शब्द पड़ा है, वह षष्ठी का एकवचन है जो कि 'उत्पन्नोदय भोगे' इस सप्तमी के एक वचनात्मक पद का विशेषण है किन्तु साधारण नियमानुसार विशेषण और विशेष्य में एक विभक्ति होनी चाहिए । टीका-कार ने इसका उत्तर यह दिया है कि षष्ठी और सप्तमी में कहीं अभेद भी होता है) । (कंखामणाग-दस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी) वही ज्ञानी आगामी काल में उदय में आने वाले निदान बंध स्वरूप भविष्य कालीन भोगों का उदय है उसकी वांछा कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं करता । इसका स्पष्ट विवेचन यह है कि भोग, उपभोग आदि चेतन और अचेतनात्मक जितने भी पर द्रव्य हैं उन सबके

विपय मे निरालवन रूप ग्रात्मा के परिणाम हैं उसीका नाम स्वसवेदन ज्ञान गुण है। इस स्वसवेदन ज्ञान गुण के ग्रालम्बन से जो पुरुप ख्याति, पूजा, लाभ व भोगो की इच्छारूप निदानबध ग्रादि विभाव परिणाम से रहित होता हुग्रा तीन लोक ग्रौर तीन काल मे भी ग्रपने मन, वचन, काय तथा कृत, कारित ग्रौर ग्रनुमोदना द्वारा विपयो के सुख मे ग्रानन्द की वासना से वासित होने वाले चित्त का त्याग कर ग्रर्थात् विपय सुख की ग्रभिलापा से रहित चित्तवाला होकर शुद्ध ग्रात्मा की भावना से उत्पन्न हुए वीतराग परमानद सुख के द्वारा वासित ग्रर्थात रजित व मूर्छित रूप मे परिणत ग्रर्थात् उसी रूप ग्रपने मन को सतृप्त, सतुप्ट व तल्लीन वनाकर रहता है, वही जीव शुद्ध ग्रात्मा की सवित्ती है लक्षण जिसका तथा जिसमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, ग्रवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान ग्रौर केवलज्ञान मे भेद नही है, परमार्थ नाम से कहा जाने योग्य है, मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा जो परमागम की भापा मे वीतराग धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान स्वरूप कहा जाता है ग्रौर ग्रपने ही द्वारा सवेदन करने योग्य शुद्ध ग्रात्मा का स्थान है ऐसे ज्ञान को परम समरसी भाव के द्वारा ग्रनुभव करता है दूसरा जीव उसका ग्रनुभव नही कर सकता है एव वह जैसे परमात्म पद का ग्रनुभव करता है उसी प्रकार परमात्म पद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। क्योकि उपादान कारण के समान ही कार्य हुग्रा करता है ऐसा नियम है। इस उपर्युक्त स्वसवेदन ज्ञान गुण के विना मत्यादि पाच ज्ञानो के विकल्प से रहित वह ग्रखण्ड परमात्मपद को कभी प्राप्त नही होता। इस प्रकार सक्षेप से व्याख्यान करने की मुख्यता से ग्राठ गाथाग्रो का वर्णन हुग्रा ॥२२९॥

ग्रथानतर इसी ही ज्ञानगुण का फिर चौदह गाथाग्रो द्वारा विशेप व्याख्यान करते हैं—

सबसे प्रथम यह वताते हैं कि ज्ञानी सभी द्रव्यो मे रागरहित वीतरागी होता है इसलिए नूतन कर्मवन्ध नही करता किन्तु ग्रज्ञानी जीव राग सहित होता है ग्रत कर्म वन्ध करता है—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रज्ज एण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२३०॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झ गदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दमज्झे जहा लोहं ॥२३१॥ (युग्मं)

ज्ञानी रागप्रहायः सर्व द्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकं ॥२३०॥

ग्रज्ञानी पुनः रक्तः सर्व द्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहं ॥२३१॥

ग्रर्थ—ज्ञानी जीव सव ही द्रव्यो के प्रति होने वाले राग को छोड देता है ग्रत वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नही होता जैसे कि कीचड मे पडा हुग्रा सोना जग नही खाता है। किन्तु ग्रज्ञानी जीव सभी द्रव्यो मे राग रखता है इसलिए कर्मों के फन्दे मे फसकर नित्य नये कर्म वध किया करता है। जैसे कि लोहा कीचड मे पडने पर जग खा जाया करता है ॥२३०-२३१॥

तात्पर्यवृत्ति—हर्षविषादादिविकल्पोपाधिरहित स्वसंवेदनज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागादिपरित्यागशील यत कारणात् ततः कर्दममध्यगत कनकमिव कर्मरजसा न लिप्यते इति। अज्ञानी पुन स्वसंवेदनज्ञानाभावात् सर्वपंचेंद्रियविषयादिपरद्रव्ये रक्त कांक्षितो मूर्छितो मोहितो भवति यत कारणात्, ततः कर्दममध्यलोहमिव कर्मरजसा बध्यते, इति ।

अथ सकलकर्मनिर्जरा नास्ति कथ मोक्षो भविष्यतीति प्रश्ने परिहारमाह—

टीका—स्वसंवेदन ज्ञानी जीव हर्ष विषादादि विकल्प भावो की झंझट से रहित होता हुआ सभी द्रव्यो के प्रति होने वाले रागादिक विकारभावो का त्यागी होता है इसलिए कीचड़ मे पड़े हुए सोने के समान वह नवीन कर्मरूप रज से लिप्त नही होता । किन्तु अज्ञानी स्वसंवेदन ज्ञान के न होने से पचेन्द्रिय के विषयादि सभी प्रकार के परद्रव्यो मे रागभाव युक्त आकांक्षायुक्त मूर्छावान एव मोही रहता है इसलिए वह कीचड मे पड़े हुए लोहे के समान नवीन कर्मरूप रज से बध जाता है ॥२३०-२३१॥

विशेषार्थ—ज्ञानी को नवीन कर्म बन्ध नही होता, अज्ञानी ही कर्मबन्ध किया करता है । ऐसा बताते हुए उस ज्ञानी को स्वसंवेदन करने वाला बतलाया है । यह स्वसंवेदन क्या है ? इसके विषय में आत्मानुशासन मे भी एक श्लोक आया है.—

वेद्यत्व वेदकत्वं च, यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहु, रात्मनोऽनुभव दृशः ॥१६१॥

अर्थात् जहा पर योगी के ज्ञान मे ज्ञेयपना ज्ञायकपना ये दोनो अपने आप में ही हो ऐसी अनन्य अवस्था का नाम स्वसंवेदन है इसी को आत्मानुभव या स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं । अर्थात् सब परद्रव्यो से हट कर अपने आपके द्वारा आप में ही लीन होने का नाम स्वसंवेदन है। यह योगी के अर्थात् त्रिगुप्ति रूप समाधि में निरत मुनि के ही होता है । यही बात यहा कही है सब ठौर हर्ष विषादादि से रहित होने वाले ज्ञानी को ससार मे देह युक्त होते हुए भी नवीन कर्म बंध नही होता किन्तु जिसके कहीं पर भी कुछ भी हर्ष विषाद रूप विभाव विद्यमान हैं तो उसके उपर्युक्त स्वसंवेदन ज्ञान न होने से उसके राग भाव के अनुसार नवीन कर्मबन्ध होता ही है । यहां पर यह शंका हो सकती है कि स्वसवेदन ज्ञान तो अव्रत सम्यग्दृष्टि के भी होता है । उसका उत्तर यह है कि उसको तो अपनी आत्मा का चेतन लक्षण के द्वारा परोक्ष ज्ञान होता है जैसा कि धूम को देखकर उससे अग्नि का ज्ञान कर लिया जाता है । किन्तु योगी को हर्ष विषादादि रहित अपने शुद्धात्मा का जैसा मानसिक प्रत्यक्ष होता है वैसा नहीं होता, जिसको कि स्वानुभव कहा जावे । यही बात पचास्तिकाय की गाथा १२७ की टीका मे आई है—"यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्ष ज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमादग्निवदशुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदनज्ञान समुत्पन्न परमानन्द रूपानाकुलत्व सुस्थित वास्तविक सुखामृत जलेन पूर्णकलशवत् सर्वप्रदेशेषु भरितावस्थाना परम योगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतरेषान भवति इत्यलिंग ग्रहणोऽस्ति ॥

ज्ञानी के बन्ध का अभाव हो जाने से पूर्व बद्ध कर्मो की निर्जरा होकर किस प्रकार मोक्ष होती है –

*** णागफणीए मूलं णाइणि तोएण गब्भणागेण ।**
णागं होदि सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण ॥२३२॥

नागफण्या मूलं नागिनी तोयेन गर्भनागेन ।
नागं भवति सुवर्णं धम्यमानं भस्त्रावायुना ॥२३२॥

---

* यह गाथा आत्म ख्याति मे नहीं

तात्पर्यवृत्तिः—नागफणी नामौषधी तस्या मूल नागिनी हस्तिनी तस्यास्तोय मूत्र गर्भनाग सिंदूरद्रव्य नाग सीसक। अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे। कथभूत सन् भस्त्रया धम्यमानमिति दृष्टात-गाथागता।

अथ दार्ष्टांतमाह—

अर्थ व टीका—नागफणी, थूहर की जड, हथिनी का मूत्र, गर्भनाग अर्थात् सिन्दूरद्रव्य और नाग अर्थात् सीसा धातु इनको धोकनी से अग्नि पर तपाने पर यदि पुण्योदय हो तो स्वर्ण वन जाता है वैसे ही—

❀ कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥२३३॥
❀ झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमिदव्वो परमजोईहिं ॥२३४॥

कर्म भवति किट्टं रागादयः कालिका अथ विभावाः।
सम्यक्त्वदर्शन ज्ञान चारित्रं परमौषधमिति विजानीहि ॥२३३॥
ध्यानं भवत्यग्निः तपश्चरणं भस्त्रा समाख्याते।
जीवो भवति लोहं धमितव्यः परमयोगिभिः ॥२३४॥

तात्पर्यवृत्ति—द्रव्यकर्म किट्टसज्ञ भवति रागादिविभावपरिणामा कालिकासज्ञा ज्ञातव्या सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रत्रय भेदाभेदरूप परमौषध जानीहि इति ॥२३३॥

तात्पर्यवृत्ति—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप ध्यानमग्निर्भवति। द्वादशविधतपश्चरण भस्त्रा ज्ञातव्या। आसन्न-भव्यजीवो लोह भवति। स च भव्यजीव पूर्वोक्तसम्यक्त्वाद्यौषधध्यानाग्निभ्या सयोग कृत्वा द्वादशविधतपश्चरणभस्त्रया परमयोगिभि धमितव्यो ध्यातव्य। इत्यनेन प्रकारेण यथा सुवर्णं भवति तथा मोक्षो भवतीति सदेहो न कर्तव्यो भट्टचार्वाकमतानुसारिभिरिति ॥२३४॥

अथ ज्ञानिन शखदृष्टातेन वधाभाव दर्शयति—

अर्थ व टीका—द्रव्य कर्म तो कीट है, रागादि विभाव परिणाम कालिका है, भेदाभेदरूप सम्यग्-दर्शन ज्ञान, चारित्र नाम की परमौषधि है ऐसा जानो। वीतराग विकल्प रहित समाधिरूप ध्यान है वही अग्नि है और आसन्न भव्य जीव रूप लोहा है। उस भव्य जीव लोहे का पूर्वोक्त सम्यक्त्वादिरूप औषध तथा ध्यानरूप अग्नि के साथ सयोग मिलाकर परम योगी लोगो को धमना चाहिये इस प्रकार करने से जैसे स्वर्ण वन जाता है वैसे ही मोक्ष भी हो जाता है इसमे भट्ट और चार्वाक मत वालो को सन्देह नही करना चाहिये ॥२३३-२३४॥

अव ज्ञानी के जो कर्म वन्ध नही होता उसे शख के दृष्टान्त द्वारा वतलाते हैं—

भुंज्जंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काऊँ ॥२३५॥

❀ यह गाथा आत्म ख्याति मे नही।

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्त मिस्सिये दव्वे ।
भुंज्जंतस्सवि णाणं णवि सक्कदि रागदो एदुं ॥२३६॥
जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३७॥
जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३८
तह णाणी विहु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२३९॥

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्त मिश्रितानि द्रव्याणि ।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुं ॥२३५॥
तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्त मिश्रितानि द्रव्याणि ।
भुंजानस्यापि ज्ञानं नापि शक्यते रागतां नेतुं ॥२३६॥
यदा स एव शंखः श्वेतभावं स्वयं प्रहाय ।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्॥२३७॥
यथा शंखः पौद्गलिकः तदा शुक्लत्वं प्रहाय ।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२३८॥
तथा ज्ञान्यपि यदि ज्ञानस्वभावं स्वयं प्रहाय ।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥२३९॥

अर्थ—जैसे शख अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यो का भक्षण करता है तो भी उन वस्तुओ के खाने मात्र से अपने श्वेत स्वभाव को छोडकर काला नही हो सकता, उमी प्रकार ज्ञानी भी सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यो को भोग करते हुए भी उस ज्ञानी का ज्ञान रागरूप नही हो सकता है। किन्तु वही शख श्वेतपने को छोडकर कृष्णरूप मे परिणमन करता है तब उसके श्वेतपना नही रहता। उमी प्रकार ज्ञानी भी यदि अपने उस ज्ञान स्वभाव को छोडकर अज्ञानरूप परिणमन करता है तो अवश्य अज्ञानी बन जाता है।

तात्पर्यवृत्ति --यथा सजीवस्य शखस्य श्वेतभाव कृष्णीकर्तुं न शक्यते। किं कुर्वाणस्यापि ? भुजानस्यापि। यानि ? कर्मतापन्नसचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणीति व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता।

तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानिनो जीवस्य वीतरागस्वसवेदनलक्षणभेदज्ञान, रागत्वमज्ञानत्व नेतु न शक्यते कस्मात् ? स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। किं कुर्वाणस्यापि ? भुजानस्यापि। कानि स्वकीयगुणस्थानावस्थायोग्यानि सचित्ता-

चित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणि । तत कारणात् चिरतनवद्धकर्मनिर्जरैव भवति । नवतरस्य च सवर इति व्यतिरेक-दार्ष्टांतगाथा गता । अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधौ ज्ञातव्यौ इति ।

यथा यदा स एव पूर्वोक्त सजीवशख कृष्णपरद्रव्यलेपवशात्, अतरगस्वकीयोपादानपरिणामाधीन सन् श्वेत-स्वभावत्व विहाय कृष्णभाव गच्छेत् तदा शुक्लत्व त्यजति । इत्यन्वयदृष्टातगाथा गता ।

तथैव च यथा निर्जीवशख कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अतरगोपादानपरिणामाधीन सन् श्वेतस्वभावत्व विहाय कृष्णभाव गच्छेत् तदा शुक्लत्व त्यजति । इति निर्जीवशखनिमित्त द्वितीयान्वयदृष्टातगाथा गता ।

तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानी जीवोऽपि हि स्फुट स्वकीयप्रज्ञापराधेन वीतरागज्ञानस्वभावत्व विहाय मिथ्यात्वरागा-द्यज्ञानभावेन परिणतो भवति तदा स्वस्थभावच्युतः सन्नज्ञानत्व गच्छेत् । तस्य सवरपूर्विका निर्जरा नास्तीति भावार्थ - इत्यन्वयदार्ष्टांतगाथा गता ।

अथ सरागपरिणामेन वध , तथैव वीतरागपरिणामेन मोक्षो भवतीति दृष्टातदार्ष्टांताभ्या समर्थयति—

टीका—जैसे भोगने मे आने वाले सचित्त, अचित्त या मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यो को खाने वाले शख का श्वेतपना (किसी भी द्रव्य द्वारा) काला नही किया जा सकता है । यह व्यतिरेक दृष्टात की गाथा हुई । उसी प्रकार ज्ञानी जीव का वीतराग स्वसवेदनरूप भेदज्ञान को अज्ञान रूप अर्थात् रागरूप कोई नही कर सकता है भले ही वह अपने गुणस्थान अनुसार सचित्त, अचित्त या मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यो का उपभोग करता है क्योकि किसी के स्वभाव को नही वदला जा सकता है एव जव वह ज्ञान-स्वरूप ही रहता है, रागरूप नही होता तव उसके पहले वधे हुए कर्मो की निर्जरा ही होती है नवीन वध नही होता है । यह व्यतिरेक दार्ष्टांत गाथा हुई । जहा अन्वय और व्यतिरेक शब्द आते है वहा क्रमश विधिरूप निषेधरूप अर्थ लिया जाता है । ऐसा जानना चाहिए। हा, जहा वही पूर्वोक्त सजीव शख किसी भी परद्रव्य के लेपके वश से अपने अ तरगरूप उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ श्वेतपने को छोडकर काला वनने चले तो श्वेतपन को छोड देता है । यह अन्वय दृष्टात गाथा हुई । इसी प्रकार निर्जीव शख भी कृष्ण स्वभाव परद्रव्य के लेप के वश से अपने अ तरग उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ श्वेत स्वभाव को छोडकर काला वनने चले तो श्वेतपने को छोड ही देता है । इस प्रकार निर्जीव शख को निमित्त लेकर कही हुई अन्वय रूप दूसरी दृष्टात गाथा हुई उसी प्रकार उस शख के समान ज्ञानी जीव भी अपनी बुद्धि को विगाड लेने से वीतराग ज्ञान स्वभाव को छोडकर मिथ्यात्व तथा रागादिरूप अज्ञानतया परिणत होता है तब अपने स्वभाव से च्युत होता हुआ अज्ञानपने को प्राप्त होता है यह स्पष्ट ही है फिर उसके सवर पूर्वक निर्जरा भी नही होती है । यह दार्ष्टांत गाथा हुई ॥२३५-२३६-२३७-२३८-२३९॥

विशेषार्थ—स्पष्टीकरण यह है कि कार्य मे उपादान व निमित्त दो प्रकार के कारण होते है। जो स्वय कार्यरूप मे परिणत हो उसे उपादान कहते हैं और जो उसमे सहयोग दे उसे निमित्त कहते है। वहा लौकिक दृष्टि मे निमित्त की मुख्यता और परमार्थ दृष्टि मे उपादान की मुख्यता होती है। यह शास्त्र परमार्थी लोगो के लिए है सो यहां पर उपादान पर वल देते हुए सख का दृष्टात देकर समझाया है कि काली पीली वस्तुओ को खाकर भी शख सफेद ही रहता है क्योकि उसका स्वभाव श्वेत ही है। हा यदि वह आप भी काला वने तो वन सकता है। वैसे ही ज्ञानी जीव को विकारी वनाने के लिए वाह्य निमित्त चाहे कितने ही क्यो न हो पर वे सव उसको (ज्ञानी जीव को) विकारी

नही कर सकते हैं। गजकुमार को चिगाने के लिए ब्राह्मण ने कितना बवडर किया उनके माथे पर सिगडी जलादी फिर भी वे अपने ध्यान मे ही रत रहे। किन्तु ज्ञानी जहा स्वय ही बिगडने लगे और अपने उपयोग को बिगाडे तो साधारण से निमित्त पर भी बिगाड सकता है। जैसे कि माघनन्दी आचार्य कुम्हार की लडकी को देखकर भ्रष्ट हो गये। इस प्रकार होने मे तो ज्ञानी की स्वयं की ही भूल है और कोई क्या करे उसे तो सावधान रहना चाहिए।

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सोवि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२४०॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे ॥२४१॥
जह पुण सो चेव णरो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविह सुहुप्पादगे भोगे ॥२४२॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मं विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२४३॥

पुरुषो यथा कोपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानं।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४०॥
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तं।
तत्सोपि ददाति कर्मराजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४१॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं।
तत्सोपि न ददाति राजा विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् ॥२४२॥
एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४३॥

अर्थ—लोक मे जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तब राजा उसके साधनभूत यथोचित पारितोषिक देता है। वैसे ही यह अज्ञानी जीव विषय सुख के लिये कर्मराजा की सेवा करता है तब वही कर्मरूपी राजा सुख को उत्पन्न करने वाले भोग देता है। किन्तु यदि वही पुरुष किसी प्रकार की फल की इच्छा विना राजा की सेवा करता है तो राजा उसे पारितोषिक नहीं देता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि विरागी जीव विषयो के सुख के लिए कर्मरूपी राजा की सेवा नही करता हैं तव वही कर्मरूपी राजा नाना प्रकार के सुख पैदा करने वाले भोगो को नही देता है ॥ २४०-२४१-२४२-२४३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा कश्चित्पुरुष , वृत्तिनिमित्त राजान सेवते तत सोऽपि राजा तस्मै सेवकाय ददाति, कान् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगान् इत्यज्ञानिविषयेऽन्वयदृष्टातगाथा गता।

एवमेवाज्ञानी जीवपुरुष शुद्धात्मोत्थसुखात्प्रच्युत सन्नुदयागत कर्मरज सेवते विषयसुखनिमित्त तत सोऽपि पूर्वोपार्जितपुण्यकर्मराजा ददाति, कान् ? विषयसुखोत्पादकान् भोगाकाक्षानरूपान् शुद्धात्मभावानाविनाशकान् रागादि-परिणामान् इति।

अथवा द्वितीयव्याख्यान—कोऽपि जीवोऽभिनवपुण्यकर्मनिमित्त भोगाऽकाक्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठान करोति सोऽपि पापानुबधिपुण्यराजा कालातरे भोगान् ददाति। तेऽपि निदानवधेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिदु ख-परपरा प्रापयतीति भावार्थ । एवमज्ञानिजीव प्रत्यन्वयदृष्टातगाथा गता।

यथा स चैव पूर्वोक्तपुरुषो वृत्तिनिमित्त न सेवते राजान। तत सोऽपि राजा तस्मै न ददाति, कान् ? विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् इति ज्ञानिजीवविषये व्यतिरेकदृष्टातगाथा गता।

एवमेव च सम्यग्दृष्टिर्जीवः पूर्वोपार्जितमुदयागत कर्मरज शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानदात्प्रच्युतो भूत्वा विषयसुखार्थं, उपादेयबुद्धया न सेवते ततस्तदपि कर्म न ददाति, कान् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगाकाक्षारूपान् शुद्धा-त्मभावनाविनाशकान् रागादिपरिणामानिति।

अथवा द्वितीयव्याख्यान—कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषाय-वचनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठान करोति तथापि भोगाकाक्षारूपनिदानवधेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठान न सेवते। तदपि पुण्यानुबधिपुण्यकर्म भवातरे तीर्थंकर-चक्रवर्ती—वलदेवाद्यभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासना-वलेन शुद्धात्मभावनाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकाक्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति, भरतेश्वरा-दीनामिव। इति सज्ञानिजीव प्रति व्यतिरेकदार्ष्टां तगाथा गता। एव मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपपरमार्थ-शब्दवाच्य साक्षान्मोक्षकारणभूत शुद्धात्मसवित्तिलक्षण स्वसवेद्य सवरपूर्विकाया निर्जराया उपादानकारण पूर्वं यद्व्या-ख्यात परमात्मपद, तत्पद येन निर्विकारस्वसवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन विना न लभ्यते तस्यैव भेदविज्ञानगुणस्य पुन-रपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि।

इत उर्ध्वं निश्शकाद्यष्टगुणकथन गाथानवकपर्यंत व्याख्यान करोति। तत्र तावत् प्रथमगाथाया निजपरमात्म-पदार्थभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्ता सत सम्यग्दृष्टय, घोरोपसर्गेऽपि सप्तभयरहितत्वेन निर्विकारस्वानुभवस्वरूप स्वस्थभाव न त्यजन्तीति कथयति—

टीका—जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो राजा उस सेवक को नाना प्रकार की सुखदायक वस्तुये देता है। यह अज्ञानी जीव के विषय मे अन्वय दृष्टान्त का वर्णन करने वाली गाथा हुई । इस प्रकार शुद्धात्मा से उत्पन्न होने वाले सुख से दूर होता हुआ अज्ञानी जीव भी विषय सुख के लिए कर्म रूपी राजा की सेवा करता है। अत वह पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म राजा भी उसे विषय सुख को उत्पन्न करने वाले भोगो की अभिलाषा वाले एव शुद्धात्मा की भावना को नष्ट करने वाले रागादि परिणामो को उत्पन्न कर देता है। इसी गाथा का दूसरा अर्थ करते है कि कोई जीव नवीन पुण्य कर्म वध के निमित्त भोगो की इच्छामय निदान भाव से शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है तो वह पापानु-वधी पुण्य राजा कालान्तर मे उसे भोग उत्पन्न कर देता है, परन्तु वे निदान वध से प्राप्त हुए भोग रावण आदि के समान उसे अन्त मे नरक मे गिराने वाले होते है और उसे दु खो की परम्परा को प्राप्त

कराते है। यह अज्ञानी जीव के प्रति अन्वय दृष्टाँत गाथा हुई। अब यदि वही पुरुष किसी भी आजीविका के लिए राजा की सेवा नही करता है तो वह राजा भी नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करने वाले भोग नही देता। यह ज्ञानी जीव के सबध मे व्यतिरेक दृष्टात पूर्ण हुआ। इसी ही प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पहले के वाधे हुए एव उदय मे आए हुए कर्म को शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग सुख से दूर हटकर विषय सुख के लिए उपादेय बुद्धि से अर्थात् प्रयत्न पूर्वक अपने विचार से उसे सेवन नही करता। इसलिए वह कर्म भी उसके लिए नाना प्रकार के सुख को उत्पन्न करने वाले तथा भोगो की अभिलापारूप तथा शुद्धात्मीक भावना को नष्ट करने वाले रागद्वेषादिपरिणामो को नही उपजाता है इसी का अव दूसरे प्रकार से व्याख्यान यह है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि के न होने से अशक्यानुष्ठान के रूप मे विपय कषायो से बचने के लिए व्रत शील या दान पूजादि शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है किन्तु भोगो की आकाक्षा रूप निदान बध के साथ उस पुण्य कर्म का अनुष्ठान नही करता है तो वह पुण्यानुवधी पुण्य कर्म आगे के भव मे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वलदेवादि के अभ्युदयरूप मे उदय मे आया हुआ भी पूर्व भव मे भाये हुए भेद विज्ञान को भावना के बल से शुद्धात्मा की भावना का मूलोच्छेद करने वाले भोगो की आकाक्षा रूप निदान बध वाले ऐसे विषय सुखो को उपजाने वाले रागादि परिणामो को पैदा नही करता है। जैसे कि भरतेश्वर चक्रवर्ती आदि के पैदा नही किया। यह सम्यग्ज्ञानी जीव के प्रति दाष्टात गाथा पूर्ण हुई ॥२४०-२४१-२४२-२४३॥

विशेषार्थ—आचार्य श्री ने यहाँ यह बात वतलाई है कि अज्ञानी जीव फल प्राप्त करने की इच्छा से कार्य करता है परन्तु ज्ञानी फल की इच्छा के विना ही करता है। इस पर यह शका हो सकती है कि जव फल पाने की इच्छा ही ज्ञानी के नही हैं तो फिर वह कुछ करता भी क्यो है? इसका उत्तर यह है कि वह जो भी कुछ करता है वह पर प्रयोग वश होकर करता है। जैसे कि मुनि एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करते हैं तो उन्हे परम आगम मे एक स्थान पर अधिक ठहरने की आज्ञा नही है इसलिये गमन करते हैं। गृहस्थ यदि कही पर जाता है तो कुछ लाभ पाने के लिए या वहाँ का सौन्दर्य आदि देखने के लिए जाता है तो वह देखकर या प्राप्त कर प्रसन्न होता है आदि। परन्तु मुनि मे ऐसी वात नही है उन्हे इस स्थान से न तो द्वेष होता है और न उस स्थान से राग और न कोई सवध ही रखते हैं। वे तो जैसे यहा बैठे थे वैसे ही वहा जा बैठते है, अपने आपमे प्रसन्न रहते हैं स्वस्थित रहते है इत्यादि। यही वात यहा वतलाई है।

इस प्रकार जिस परमात्मपद का वर्णन इन विशेषणो से किया जा चुका है वह मति श्रुत, अवधि मन पर्यय और केवल ज्ञान के भेदसे भी भेदको प्राप्त नही होता। जो परमार्थशब्द से कहा जाने योग्य है, जो साक्षात् मोक्ष का कारण भूत है, शुद्धात्मा का सवेदन होना ही जिसका लक्षण है जो अपने आपके द्वारा ही जानने योग्य है और सवर पूर्वक निर्जरा का उपादान कारण है, वह पद जिस विकार रहित स्वसवेदन लक्षण वाले भेद विज्ञान गुणके विना नही प्राप्त किया जासकता है उसी भेद विज्ञान गुण का विशेष व्याख्यान इन चौदह गाथाओ मे पूर्ण हुआ।

अव इसके आगे नव गाथाओ मे नि शकितादि आठ गुणो का वर्णन करते हैं। उसमे भी सबसे प्रथम पहली गाथा मे यह वताते हैं कि जो सम्यक्त्वी जीव निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुए सुखरुप अमृतरस के आस्वादन से सतुष्ट रहते हैं वे घोर उपसर्ग के आने पर भी सात प्रकार के भय से रहित होने के कारण निर्विकार रूप स्वानुभव ही है स्वरूप जिसका ऐसे अपने स्वभाव को नही छोडते हैं उसीमे तल्लीन रहते हैं।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।।२४४।।

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन ।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंका ।।२४४।।

अर्थः—सम्यग्दृष्टि जीव नि शक कहे गये हैं इसलिये निर्भय होते हैं । वे मरणादिरूप सप्त प्रकार के भय से रहित होते हैं यही उनके नि शक होने का अर्थ है ।।२४४।।

तात्पर्यवृत्ति —सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति सम्यग्दृष्टयो जीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावनिर्दोषपरमात्माराधन कुर्वाणा सतो निश्शका भवति यस्मात् कारणात् । **णिब्भया तेन** तेन कारणेन निर्भया भवति **सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा** यस्मादेव कारणात्, इहलोक-परलोक-अत्राण अगुप्ति-मरण-वेदना-आकस्मिकसज्ञितसप्तभयविप्रमुक्ता भवति **तह्मा दु णिस्सका** तस्मादेव कारणात् घोरपरीपहोपसर्गे प्राप्तेपि निश्शका शुद्धात्मस्वरूपे निष्कपा सत शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानदतृप्ताश्च परमात्मस्वरूपान्न प्रच्यवते पाडवादिवत् ।

अथानतर वीतरागसम्यग्दृष्टेर्निश्शकाद्यष्टगुणा नवतरवध निवारयति तत कारणाद्बधो नास्ति किन्तु सवरपूर्विका निर्जरैव भवतीति प्रतिपादयति—

टीका—(सम्मादिट्ठी जीवा णिस्सका होंति) सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप निर्दोष परमात्मा का आराधन करते हुए नि शक होते है (णिब्भया तेण) इसी से वे भय रहित होते। (सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा) क्योकि इस लोक का भय, परलोक, भय, अत्राण (अरक्षा) अगुप्तिभय, वेदनाभय, और आकस्मिक भय इन सात भय से रहित होते है, (तह्मा दु णिस्सका) इसलिये वे घोर उपसर्गके आपडने पर भी पाण्डवादि के समान नि·शक होते है अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप मे निश्चल रहते हुए तथा शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द सुख उसमे तृप्त रहते हुए उस परमात्मस्वरूप से च्युत नही होते हैं ।।२४४।।

विशेषार्थः—शका शब्द के मुख्यता से दो अर्थ है । सन्देह और भय । आचार्य श्री ने यहा पर भय अर्थ को लेकर प्रतिपादन किया हैं। समन्तभद्रादि ने अपने रत्नकरण्ड आदि ग्रथो मे 'सन्देह' अर्थ को लेकर लिखा है जैसे– '*इदमेवेदृशमेव, तत्व नान्यन्न चान्यथा । इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसशया रुचि* ।। इसमे स्पष्ट है । वह सन्देह जहाँ नही होता वहा भय भी नही होता ऐसा नही है, सोही यहा पर भी समझना चाहिए । देखो, अनादिकाल का अज्ञानी प्राणी शरीर और आत्मा को एक समझ रहा है अत शरीर को नष्ट होता हुआ देखकर आत्मा को भी नष्ट हुआ मान रहा है एव दु खी हो रहा है । किन्तु जब सन्तो का समागम प्राप्त करता है तो उनके कहने से कि हे भाई ! यह तेरा शरीर नाशवान् है जो कि जड है किन्तु तेरा आत्मा तो इसमे रहता हुआ भी इससे भिन्न है जोकि अमूर्तिक, चैतन्य और नित्य है । यह शरीर जो रूपादिमान् है वह तो यही पडा रह जायगा, किन्तु आत्मा तो अपनी करनी के अनुसार अन्यत्र जाकर अपना ठाठ दिखाने लगेगा जैसा कि व्यन्तरादिक के मु ह से सुनने मे आता है इत्यादि । तब यह मानने लग जाता है कि जैसा कि श्री गुरु कहते हैं वह ठीक ही है । फिर भी इस शरीर से ममत्व

वनाये ही रहता है कि यह शरीर है तो भगवान् भजन आदि कर लेता हू। यदि यह अस्वस्थ रोगी आदि हो जाय तो मैं क्या करू इत्यादि रूप से भय वना ही रहता है यह अव्रत सम्यग्दृष्टि की अवस्था है। जिसको कि लक्ष्य मे लेकर रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे नि शकितादि अ ग का लक्षण लिखा है परन्तु जव वही विरक्त होता है तो धन धान्यादि का त्याग करके एकान्त मे आत्म ध्यानस्थ रहता है, वहा पर शरीर से निरपेक्ष होने के कारण उसे फिर वहा किसी भी प्रकार का भय नही रहता। उसी विरत सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य मे लेकर यहा इस प्रकार नि शकितादि आठ अ गो का वर्णन किया है। जैसा कि आत्म ख्यातिकार के द्वारा लिखे गये सप्त भयो के वृत्तो मे आये हुए अन्तिम चरण से स्पष्ट होता है—"नि शक्ड सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति" अर्थात् वह ज्ञानी सदा निरन्तर स्वय सहज ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करता है अर्थात् आत्मध्यान मे तल्लीन रहता है।

आगे कहते हैं कि वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के नि शक आदि आठ गुण नवीन वध का निवारण करते रहते हैं इसलिये उसके वन्ध नही होता अपितु सवर पूर्वक निर्जरा होती है —

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्म मोहबाध करे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २४५ ॥

यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्म मोह बाधाकरान्।
स निश्शंक स्चेतयिता सम्यग्दृष्टि र्ज्ञातव्यः ॥ २४५ ॥

अर्थ— जो कोई कर्मवन्ध का करने वाला मोह भाव, व वाधा को उत्पन्न करने वाले, मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और शुभाशुभरूप योग इन चार पायो को उखाड डालता है वह आत्मा ही नि शक सम्यग्दृष्टि होता है।।२४५।।

तात्पर्यवृत्ति.— जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्मोहवाधकरे य कर्त्ता मिथ्यात्वाविरति कपाययोगलक्षणान् समारवृक्षस्य मूलभूतान् निष्कर्मात्मतत्त्वविलक्षणत्वेन कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्यपृथक्त्वेन मोहकरान् अव्यावाधसुखादिगुणमिक्षणपरमात्मपदार्थभिन्नत्वेन वा वाधाकरास्तान् आगमप्रसिद्धाश्चतुर पादान् शुद्धात्मभावनाविपये निश्शको भूत्वा स्वमवेदनज्ञानङ्गेन छिनत्ति **सो णिस्सको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** म चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिर्निश्शको मतव्य, तस्य तु शुद्धात्मभावनाविपये शकाकृतो नास्ति वध, किंतु पूर्ववद्धकर्मणो निश्चित निर्जरैव भवति।

टीका—(जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्म मोहवाधकरे) जो कोई मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभरूप योग भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे ससार रूप वृक्ष के जड सरीखे हैं एव निष्कर्म जो आत्मतत्व से विलक्षणता लिए हुए होने से कर्मो को उत्पन्न करने वाले है और अव्यावाध (वाधा रहित) सुख आदि गुणो का धारी जो परमात्मा पदार्थ है उससे पृथक् होने के कारण वाधा पैदा करने वाले हैं ऐसे उन आगम प्रसिद्ध चारो पायो को शुद्धात्मा की भावना मे शका रहित होकर स्वसवेदन नाम वाले ज्ञान रूप खड्ग के द्वारा काट डालता है (सोणिस्सको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह चेतनस्वरूप आत्मा ही निश्शक सम्यग्दृष्टि माना गया है। उसके शुद्धात्मा के विपय मे शका को पैदा करने वाला वध नही होता किन्तु पूर्व वद्धकर्म की निर्जरा ही निश्चित रूप से होती है।

विशेषार्थ—यहा पर भी आचाय उसी वीतरागी सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य मे लेकर कह रहे हैं कि

जिसने अन्तरग और वहिरग परिग्रह का सर्वथा त्याग कर दिया है और कर्म वध के करनेवाले चारो प्रत्ययो से दूर हटकर निर्विकल्प समाधि मे लगकर अपने स्वस्थ भाव का ही अनुभव कर रहा है। न कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि का जो अपने सहोदर भाई पर चक्र चला रहा है या भयके मारे घवराकर लोहे के कीलो से टकरा जाने के कारण मर जाता है। यही वात आगे की गाथाओ से भी झलकती है।

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तहयसव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।२४६।।

यो न करोति तु कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ।।२४६।।

अर्थ—जो आत्मा कर्मो के फलो मे व सभी प्रकार के धर्मो मे इच्छा नही करता है उस आत्मा को नि का-क्षित (इच्छा रहित) सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये ।।२४६।।

तात्पर्यवृत्ति—**जो ण करेदि दु कखं कम्मफलेसु तहय सव्वधम्मेसु** य कर्त्ता शुद्धात्मभावनासजातपरमानन्दसुखे तृप्तो भूत्वा काक्षा वाछा न करोति केपु ? पचेंद्रियविपयसुखभूतेपु कर्मफलेपु तथैव च समस्तवस्तुधर्मेपु स्वभावेपु अथवा विपयसुखकारणभूतेपु नानाप्रकारपुण्यरूपधर्मेपु अथवा इहलोकपरलोककाक्षारूपसमस्तपरसमयप्रणीतकुधर्मेपु। **सो णिक्कखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टि संसारसुखे निष्काक्षितो मतव्य.। तस्य विपयसुखकाक्षाकृतो नास्ति वध किंतु पूर्वसचितकर्मणो निर्जरैव भवति।

टीका—(जो ण करेदि दु कख कम्म फलेसु तह सव्वधम्मेसु) जो आत्मा शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये परमानन्द सुख मे सतुष्ट होकर काक्षा अर्थात् कुछ भी वाछा नही करता है अर्थात् पाचो इन्द्रियो के विपय सुख रूप जो कर्मो के फल है उनमे तथा समस्त वस्तुओ के धर्मों मे स्वभावोंमे या विपय सुख के कारणभूत नानाप्रकार पुण्यरूप धर्मो मे अथवा इस लोक व परलोक सवधी इच्छाओ के कारणभूत समस्त परसमय (शास्त्र) हैं उनके द्वारा प्ररूपित कुधर्मों मे भी कुछ भी इच्छा नही रखता है (सो णिक्कखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह आत्मा सम्यग्दृष्टि इच्छा व काक्षा रहित है ऐसा जानना चाहिये। इस ज्ञानी जीव के विपयो के सुख की इच्छा नही होती इसलिये उसके वाछा जन्य वन्ध नही होता किन्तु पूर्व सचित कर्म की निर्जरा ही होती है ।।२४६।।

जो ण करेदि दु गुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।२४७।।

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां ।
स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ।।२४७।।

अर्थ—जो जीव सभी वस्तुओ के धर्मो मे ग्लानि नही करता है वह अवश्य ही विचिकित्सा दोप रहित सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है ।।२४७।।

तात्पर्यवृत्ति —जो ए करेदि दु गु छ चेदा सव्वेसिमेव धम्माएं यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्वभावना-वलेन जुगुप्सा निंदा दोष विचिकित्सान करोति, केषा सवधित्वेन ? सर्वेषामेव वस्तुधर्माणा स्वभावाना, दुर्गंधादिविषये वा **सो खलु णिव्विदिगिछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** न सम्यग्दृष्टि निर्विचिकित्स स्फुट मतव्यो ज्ञातव्य तस्य च परद्रव्यद्वेपनिमित्तो नास्ति वव । किं तु पूर्वसचितकर्मणो निर्जरैव भवति ।

टीका—(जो ए करेदि दु गु छ चेदा सव्वेसिमेव धम्माए) जो चेतन आत्मा परमात्म तत्व की भावना के वलसे सभी वस्तुओ के स्वभावो के प्रति जुगुप्सा ग्लानि निन्दा या विचिकित्सा नही करता, दुर्गन्ध के विपय मे ग्लानि नही करता (सो खलु णिव्विदिगिछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह ही ग्लानि रहित सम्यग्दृष्टि माना गया है । उसके पर पदार्थों से द्वेष निमित्तक वन्ध नही होता किन्तु पूर्व सचित कर्मो की निर्जरा ही होती है ॥२४७॥

जो हवदि असम्मूढ़ो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु ।
सो खलु अमूढ़दिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२४८॥

यो भवति असंमूढ़ श्चेतयिता सर्वेषु कर्मभावेषु ।
स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२४८॥

अर्थ—जो चेतन आत्मा सर्वकर्मों के उदयरूप भावो मे मूढता (मोह ममता) धारण नही करता वह वास्तव मे अमूढ दृष्टि अगका धारी सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है ॥२४८॥

तात्पर्यवृत्ति.—जो हवदि असमूढ़ो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु यश्चेतयिता आत्मा स्वकीयशुद्धात्मनि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण निश्चयरत्नत्रयलक्षणभावनावलेन शुभाशुभकर्मजनितपरिणामरूपे वहिर्विषये सर्वथाऽसमूढो भवति **सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स खलु स्फुट सम्यग्दृष्टिरमूढदृष्टिर्मंतव्यो ज्ञातव्य । तस्य च वहिर्विषये मूढताकृतो नास्ति वध परमसमयमूढताकृतो वा। किं तु पूर्ववद्धकर्मणो निश्चित निर्जरैव भवति ।

टीका—(जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु) जो चेतन आत्मा अपनी शुद्धात्मा मे ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय रत्नत्रयमय भावना का वल है उससे समाधि परिणामोसे शुभ और अशुभ कर्मो से उपजाये हुये परिणाम स्वरूप इन वाह्य द्रव्यो के विपयो मे सर्वथा असम्मूढ है मोह ममता नही रखता है (सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वास्तवमे वही सम्यग्दृष्टि अमूढ-दृष्टि अगका धारी माना जाना चाहिए । इस ज्ञानी जीव के वाह्य पदार्थोमे मूढता-ममता से होने वाला कर्मवन्ध नही होता, किन्तु पूर्वकृत कर्मो की निर्जरा ही होती है ॥२४८॥

विशेषार्थ—इस गाथा के दूसरे चरण के आत्मख्यातिकार के पाठमे तथा तात्पर्यवृत्ति कारके पाठ मे थोडा सा अन्तर है । आत्मख्याति कारका पाठ है 'चेदासदिट्ठी सव्वभावेसु' जिसका अर्थ होता है विश्व के सभी पदार्थो मे समीचीन दृष्टि वाला किन्तु तात्पर्यवृत्ति मे पाठ है "सव्वेसु कम्मभावेसु" शुभ या अशुभ कर्मो के द्वारा उपजाये हुए शुभ अशुभ भावो मे जिनका उपयोग होता है ऐसे सभी पदार्थो मे जो असम्मूढ है । इस प्रकार अर्थ पर दृष्टि डालने पर दोनो मे कोई विशेष अन्तर नही है । मूल मतलव दोनो का एक है आत्मख्यातिकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव मय होता

है अर्थात् शुद्धात्मध्यान मे तल्लीन रहता है वाह्य पदार्थो से उसका विचार दूर हटा हुआ है। यही वात तात्पर्यवृत्ति कार कह रहे हैं अर्थात् दोनो के ही कहने मे त्रिगुप्तिमय परम समाधि मे निरत रहता हुआ मुनि ही वास्तव मे अमूढदृष्टि या सम्यग्दृष्टि है।

जो सिद्धभत्ति जुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहण गारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२४९॥

जो सिद्धभक्ति युक्तः उपगूहनकस्तु सर्व धर्माणां।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि र्मन्तव्यः ॥२४९॥

अर्थ—जिसने सिद्ध भावना की भक्तिमे ही अपना उपयोग लगा रखा है अतएव सर्व विभाव धर्मों का ढकने वाला है वह उपगूहन अग का धारी सम्यग्दृष्टि मानना योग्य है ॥२४९॥

तात्पर्यवृत्ति—**जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं** शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्ति-युक्त मिथ्यात्वरागादिविभावधर्माणामुपगूहक प्रच्छादको विनाशक **सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टि, उपगूहनकारी मतव्यो ज्ञातव्य। तस्य चानुपगूहनकृतो नास्ति वध किं तु पूर्वसचितकर्मणो निश्चित निर्जरैव भवति।

टीका—(जो सिद्धभत्तीजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माण) जो जीव शुद्धात्मा की भावनारूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति से युक्त है तो वह मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव भावो का उपगूहक अर्थात् दवानेवाला है या नाश करने वाला ही है, (सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) तो ऐसा वह सम्य-ग्दृष्टि उपगूहनकारी माना जाना ही चाहिए। उस जीवके दोषो को नही छिपाने रूप अनुपगूहन के द्वारा किया हुआ वन्ध नही होता किन्तु उसके तो निश्चित रूप से पूर्व सचित कर्म की निर्जरा ही होती है ॥२४९॥

विशेषार्थ—जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति मे वास्तवमे अपना मन लगाया है-उसमे तन्मय हो गया है तो उसका उपयोग अन्य विभाव भावो पर कहा रहेगा वे तो सव दवे ही रहेगे अत वह दोषो का उपगूहक ही रहता है। उपगूहन का दूसरा नाम उपवृहण अथात् गुणो को वढाना है जिसको आत्म-ख्याति कारने लिया है वह इस प्रकार है कि जव अपने उपयोग को सिद्धो के स्वरूप मे लगा लिया तव आत्मा की स्वाभाविक शक्ति अभिव्यक्त होती है, पुष्ट होती है, वढती है, एव आत्म दुर्वलता से होने वाला वध न होकर निर्जरा ही होती है।

उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं
सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२५०॥

उन्मार्गं गच्छंतं शिवमार्गे यः स्थापयत्यात्मानं।
स स्थितिकरणेन युक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२५०॥

अर्थ—जो जीव उन्मार्ग मे जाते हुए अपने आप को भी बचाकर मार्ग मे स्थापना करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण गुण महित है, ऐसा समझना योग्य है ।।२५०।।

तात्पर्यवृत्तिः—उम्मग्ग गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाण य कर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपमुन्मार्गं गच्छत सतमात्मान परमयोगाभ्यासबलेन शिवमार्गे स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गे निश्चल स्थापयति **सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टि, स्थितिकरणयुक्तो मतव्यो ज्ञातव्य । तस्य चास्थितिकरणकृतो नास्ति बध किं तु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चित निर्जरैव भवति ।

टीकाः—(उम्मग्ग गच्छत सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाण) जो कोई मिथ्यात्व और रागादिरूप उन्मार्ग की ओर जाते हुये अपने आप को परम उत्तमरूप योगाभ्यास के बल से अपनी शुद्ध आत्मा की भावना स्वरूप मोक्ष मार्ग है, शिवमार्ग है उसमे निश्चलतया स्थापन करता है (सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह सम्यग्दृष्टि जीव स्थितिकरण गुण युक्त माना जाना चाहिये। उसके अस्थितीकरण रूप दोष का किया हुआ बन्ध नही होता किन्तु निश्चितरूप से पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा ही होती है ।।२५०।।

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२५१।।

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।
सः वात्सल्यभावयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ।।२५१।।

अर्थ—जो मोक्ष मार्ग पर चलनेवाले तीनो साधुओ के प्रति वात्सल्य भाव रखता है वह सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य गुण का धारी माना जाना चाहिए ।।२५१।।

तात्पर्यवृत्ति —जो कुणदि वच्छलत्त तिण्हे साधूण मोक्खमग्गमि यः कर्त्ता मोक्षमार्गे स्थित्वा वत्सलत्व भक्ति करोति, केषा ? त्रयाणा स्वकीयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा, कथभूताना साधूना ? मोक्षमार्गे साधकाना अथवा व्यवहारेण तदाधारभूतसाधूना **सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टि वत्सलभावयुक्तो मतव्यो ज्ञातव्य । तस्य चावात्सल्यभावकृतो नास्ति बध किं तु पूर्वसचितकर्मणो निर्जरैव भवति ।

टीका—(जो कुणदि वच्छलत्त तिण्हे साहूण मोक्खमग्गमि) जो कोई मोक्ष मार्ग मे ठहरकर मोक्ष मार्ग के साधन करने वाले इन तीन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूप अपने ही भावो की अथवा व्यवहार से उस रत्नत्रय के आधार भूत आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनो की भक्ति करता है उसमे धार्मिक प्रेम करता है (सो वच्छल भावो जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो) वह सम्यग्दृष्टि जीव वत्सल भाव युक्त माना जाना चाहिए । उसके वात्सल्य भाव कृत वन्ध नही होता । किन्तु पूर्व सचित कर्मों की निर्जरा ही होती है ।।२५१।।

विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२५२

विद्यारथमारूढः मनोरथरयान् हंति यश्चेतयिता ।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ।।२५२।।

अर्थ—जो जीव आत्मानुभूति रूप विद्यारूपी रथ मे आरूढ होकर मन रूपी रथ के वेगो को नष्ट करता है वह सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र के ज्ञान की प्रभावना करने वाला मानना चाहिए ।।२५२।।

तात्पर्यवृत्तिः—**विज्जारहमारूढो मणोरहएसु हरणदि जो चेदा** यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिस्वरूपविद्यारथमारूढ सन् ख्यातिपूजालाभभोगाकाक्षारूपनिदानवधादिविभावपरिणामरूपान् द्रव्यक्षेत्रादिपचप्रकारससारदु खकारणान् शत्रून् मनोरथरयान् वेगाश्चित्तकल्लोलान् स्वस्यभावसारथिवलेन दृढतरध्यानखड्गेन हति । **सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञानप्रभावी मतव्यो ज्ञातव्य । तस्य चाप्रभावनाकृतो नास्ति वध किं तु पूर्वसचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति । एव सवरपूर्विकाया भावनिर्जराया उपादानकारणभूताना शुद्धात्मभावनारूपाणा शुद्धनयमाश्रित्य निश्शकाद्यष्टगुणाना व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवक गत ।

इद तु निश्शकाद्यष्टगुणव्याख्यान निश्चयनयमुख्यत्वेन व्याख्यात । निश्चयरत्नत्रयसाधके व्यवहाररत्नत्रयेऽपि स्थितस्य सरागसम्यग्दृष्टेरप्यजनचौरादिकथारूपेण व्यवहारनयेन यथासभव योजनीय । निश्चय व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहारनयव्याख्यान ? इति चेन्नैव । अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययो परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति तथाचोक्त—

जेइजिणमम‌इ पउ जह तामा ववहारणिच्छए मुचह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्च । इति

किं च—सवरपूर्विका निर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति स च निश्चयरत्नत्रयलाभो वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभबहिर्द्रव्यनिरालवने निर्विकल्पसमाधौ सति भवति, स च समाधिरतीव दुर्लभ । कस्मात् ? इति चेत् एकेंद्रियविकलेंद्रियपचेन्द्रियसज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेंद्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनतपोभावनासमाधिमरणानि परपरादुर्लभानि यत । तदपि कस्मात् ? तत्प्रतिपक्षभूताना मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकाक्षारूपनिदानवधादिविभावपरिणामाना प्रवलत्वात् इति दुर्लभपरंपरा ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण समाधौ प्रमादो न कर्तव्य ।

इत्यतिदुर्लभरूपा बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् ।
ससृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नर सुचिर । इति

तत्रैव सति शृ गाररहितपात्रवत् शातरसरूपेण निर्जरा निष्क्राता ।

इति श्री **जयसेनाचार्य कृताया** समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ गाथाचतुष्टय पीठिका रूपेण, गाथापचक ज्ञानवैराग्यशक्त्यो सामान्यविवरणरूपेण, गाथादशक तयोरेव विशेष विवरणरूपेण, गाथाष्टक ज्ञानगुणस्य सामान्यविवरणरूपेण, गाथाचतुर्दश तस्यैव विशेषविवरणरूपेण, गाथानवक निश्शकाद्यष्टगुणकथनरूपेण चेति समुदायेन पचाशद्गाथाभि षड्भिरतराधिकारै सप्तमो निर्जराधिकार समाप्त ।

टीका-(विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणादि जो चेदा) जो चेतन आत्मा अपने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि स्वरूप विद्यामई रथ पर आरूढ होकर मान, वडाई, पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ तथा भोगो कीइच्छा को आदि लेकरनिदानबध आदि विभावरूप परिणाम होता है जो कि द्रव्य, क्षेत्रादि रूप पाच प्रकार सासारिक दु खो केकारण होते हैं एव जो आत्मा के शत्रु है ऐसे मनोरथ के वेगो को चित्त की तरगो को स्वस्थ भाव समभाव रूप सारथी के वल से और दृढतर ध्यान रूप खड्ग के द्वारा नष्ट करदेता है (सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो) वह सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला माना गयाहै। अत उसके अप्रभावना से होने वाला बध नही होता किन्तु निश्चित रूप से पूर्व सचित कर्मो की निर्जरा ही होती ॥२५२॥

इस प्रकार शुद्ध नय का आश्रय लेकर सवर पूर्वक जो भाव निर्जरा होती है उसके उपादान कारण रूप तथा शुद्धात्मा की भावना स्वरूप जो नि शकित आदि आठ गुण होते हैं उनके व्याख्यान करने की मुख्यता से नव गाथाये पूर्ण हुई ॥

यह नि शकितादि गुणो का जो व्यख्यान है वह निश्चयनय की प्रधानता से किया गया है। इस व्याख्यान को निश्चय रत्नत्रय का साधक जो व्यवहार रत्नत्रय है उसमे स्थित होने वाले-सराग सम्यग्दृष्टि के ऊपर भी अ जन चौरादिक की कथारूप जो व्यवहारनय है उसके द्वारा यथा सभव लगा लेना।

टीकाकार के इस कथन को लेकर शका पैदा होती है कि निश्चयनय का व्याख्यान करने के बाद भी व्यवहारनय का व्याख्यान यहा क्यो किया ? टीकाकार इसका उत्तर देते हैं कि सुवर्ण और स्वर्ण-पाषाण मे परस्पर कार्य कारणभाव है वैसा ही कार्यकारण भाव निश्चयनय और व्यवहार नयमे है, व्यवहारनय कारण है तो निश्चयनय उसका कार्य है यह बात दिखलाने के लिए ही यहा यह प्रयास किया गया है जैसे कि-

जइ जिणसमइ पउजह ता मा ववहार णिच्छए मुवह, एक्केण विणा छिज्जई, तित्थ अण्णेण पुण तच्च। अर्थात्—यदि जिनमत का रहस्य प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय इन दोनो मे से किसो को मत भूलो क्योकि व्यवहारनय को छोड देने से अभीष्ट सिद्धि का मूल कारण जो तीर्थं है वह नष्ट हो जाता है और निश्चयनय को भुला देने पर समुचित वस्तु तत्व ही नही रह पाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव के जो सवर पूर्वक निर्जरा होती हुई वताई गई है वह भी प्रधानतया निर्विकल्प समाधि के होने पर ही होती है। जो कि निर्विकल्प समाधि, शुद्धात्मा के समीचीन (तन्मयतारूप) श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप होती है तथा राग (आर्त्त और रौद्रभाव) से रहित धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान मय होती है और शुभ और अशुभ रूप वाह्य द्रव्यो के आलवन से सर्वथा रहित होती है। यह निर्विकल्प समाधि वास्तव मे अत्यन्त दुर्लभ है क्योकि साधारण निगोद से निकल कर एकेन्द्रियपना, विकलेन्द्रियपना, पचेन्द्रियपना, सज्ञीपना, सज्ञीमे भी पर्याप्तपना, मनुष्यपना, उत्तमदेश, उत्तमकुल सुडोलशरीर, इन्द्रियो की पूर्णता, रोगरहित आयु, भलीवुद्धि, समीचीन धर्म का सुनना, उसे विचार पूर्वक अपने मन मे उतारना और धारण करना, उस पर विश्वास लाना, सयम स्वीकार करना, वैषयिक सुखसे दूर हटना, क्रोधादि कषायो को दूर करना, अनशनादिक तप की भावना का होना, एव समाधि पूर्वक मरण ये सव वाते उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। क्योकि उपर्युक्त वातो मे रुकावट डालने वाले मिथ्यात्व विषय

कषायरूप विकारी परिणामो की प्रवलता रहती है जिससे ख्याति पूजा, लाभ और भोगो की आकाक्षा रूप निदान वध आदि विभाव परिणाम होते ही रहते है। इस प्रकार की दुर्लभता को जानकर समाधि के विषय मे किसी भी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिये।

जैसा कि कहा भी है— इत्यतिदुर्लभरूप वोधि लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्।
ससृतिभीमारण्ये, भ्रमति वराको नर सुचिर॥

अर्थात्—उपर्युक्त प्रकार से जिसका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है उस बोधि भाव को प्राप्त करके भी यदि मनुष्य प्रमादी वना रहे और उसे हाथ से खोदे तो फिर वह विचारा इस भयकर ससाररूपवन मे वहुत काल तक परिभ्रमण करता ही रहेगा। इस प्रकार शृगार रहित पात्र की भाति शान्त रस रूप जो निर्जरा है वह चली गई।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की वनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति रूप लक्षण वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद मे ४ गाथाये पीठिकारूप मे, ५ गाथायें ज्ञान और वैराग्य का सामान्य वर्णन करने के रूप मे, १० गाथाये उन्ही दोनो शक्तियो का विशेष वर्णन के रूपमे, ८ गाथाये ज्ञान गुण के सामान्य वर्णन करनेमे, १४ गाथायें उसी का विशेष वर्णन करनेमे फिर ६ गाथायें नि.शकितादि गुणो का वर्णन करने मे इस प्रकार सव मिलाकर ५० गाथाओ द्वारा छह अतर अधिकारो मे सातवा निर्जरा नाम का अधिकार पूर्ण हुआ।

आठवां महा अधिकार (बंध तत्व)

तात्पर्यवृत्ति—अथ प्रविशति बध। तत्र **जहणाम कोवि पुरिसो** इत्यादि गाथामादि कृत्वा पाठक्रमेण पट्पचाशद्गाथापर्यंत व्याख्यान करोति। तासु पट्पचाशद्गाथासु मध्ये प्रथमतस्तावद् बधस्वरूपसूचनमुख्यत्वेन गाथादशक। तदनतर निश्चयेन हिंसाहिंसाव्रताव्रतद्वयस्य लक्षणकथनरूपेण **जो मण्णदि हिंसामि** इत्यादि गाथासप्तक। तत पर वहिरगद्रव्यहिंसा भवतु, मा वा भवतु, निश्चयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेति प्रतिपादनरूपेण **जो मरदि** इत्यादि गाथाषट्क। अथानतरं निश्चयरत्नत्रयलक्षण यद्भेदविज्ञान तस्माद्विलक्षणानि यानि व्रताव्रतानि तद्व्याख्यानमुख्यत्वेन **एवमलिए** इत्यादि सूत्रभूतगाथाद्वय। तदनतर तस्यैव भावपुण्यपापरूपव्रताव्रतस्य शुभाशुभबधकारणभूतस्य परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन **वत्थुं वढुच्च** इत्यादि गाथात्रयोदश। एव समुदायेन पचदश। तदनतर निश्चये स्थित्वा व्यवहारो निषेध्यत इति कथनरूपेण **ववहारणओ** इत्यादि सूत्रषट्क। अत पर रागद्वेषरहितज्ञानिना प्राशुकान्न पानाद्याहारो, बधकारण न भवति इति पिडशुद्धिव्याख्यानरूपेण **आधाकम्मादीया** इत्यादि सूत्रचतुष्टय। तदनतर क्रोधादिकषाया कर्मबधनिमित्त भवति तेषा च चेतनाचेतनवहिर्द्रव्य निमित्त भवतीति प्रतिपादनरूपेण **जह फलिहमणि विसुद्धो** इत्यादि सूत्रपचक। तदनतरमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यान च बधकारण भवति न पुन। शुद्धात्मेति व्याख्यानमुख्यत्वेन **अप्पडिकमण** इत्यादिगाथात्रय चेति समुदायेन पटपचाशद्गाथाभिरष्टातराधिकारैं बधाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा वहिरात्मजीवमवधिनो बधकारणभूतस्य शृगारसहितपात्रस्थानीयस्य मिथ्याज्ञानस्य नाटकरूपेण प्रविशत सत शातरसपरिणत वीतरागसम्यक्त्वाविनाभूत भेदज्ञानप्रतिषेध करोतीति उपदिशति।

टीका—अब वध प्रवेश करता है। वहाँ 'जहणाम कोवि पुरुषो' इत्यादि गाथा को आदि लेकर पाठ क्रम से ५६ गाथाओ मे इसका वर्णन है। उन ५६ गाथाओ मे से भी सबसे प्रथम दश गाथाओ मे मुख्यता से वध के स्वरूप की सूचना है। फिर 'जोमण्णदि हिंसामिय' इत्यादि सात गाथाओ मे हिंसक और अहिंसक का स्वरूप है तत्पश्चात् वाहर मे दीखनेवाली द्रव्य हिसा हो या ना हो किन्तु जहा हिंसा का अध्यवसाय हो गया वहा निश्चय से हिसा है ही इस प्रकार का प्रतिपादन 'जोमरदि' इत्यादि छह गाथाओ मे हुआ है। फिर दो गाथाये ऐसी है जिसमे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जो भेद विज्ञान उससे विलक्षणता रखने वाले जो व्रत और अव्रत है उन्ही का 'एवमलिए' इत्यादि रूप से किया गया है। उसके भी वाद 'वत्थु पडुच्च' इत्यादि तेरह गाथायें हैं जिनमे शुभ व अशुभ वन्ध के कारण भूत भाव पुण्य और भाव पाप जो व्रत और अव्रत उनका व्याख्यान प्रधानता से किया गया है। फिर 'ववहारणयो' इत्यादि छह गाथायें हैं जिनमे यह वतलाया गया है कि निश्चय मे स्थित होने पर ही व्यवहार का निषेध किया जा सकता है। इसके 'आधाकम्मादीया' इत्यादि चार सूत्र हैं जो पिण्ड शुद्धि का व्याख्यान करने वाले हैं उनमे यह वताया गया है कि प्राशुक अन्न पान रूप आहार का ग्रहण करना रागद्वेष रहित ज्ञानी जीवो के लिए वन्ध का कारण नही होता है। इससे भी आगे 'जह फलिह मणि विसुद्धो' इत्यादि पाच गाथायें हैं जिनमे वताया गया है कि क्रोधादि कषाये ही कर्म वन्ध का निमित्त होती हैं जो कि चेतन और अचेतन वाह्य द्रव्यो के निमित्त से हुआ करती हैं। इसके आगे 'अप्पडिकमण' इत्यादि तीन गाथाये हैं जिनमे वताया गया है कि अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही बन्ध के कारण हैं किन्तु शुद्धात्मा वध का कारण नही होती। इस प्रकार मिलाकर आठ अ तर अधिकारो और छप्पन गाथाओ के द्वारा वन्ध अधिकार पूर्ण होता है उसकी पातनिका हुई।

अब यह वताते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव के कर्म बध का कारण भूत जो मिथ्यात्व है जो कि शृ गारसहित पात्र स्थानीय है जो कि नाटक रूप से प्रवेश कर रहा है उसका प्रतिरोध करने वाला भेद विज्ञान है जो कि शान्त रस के परिणत होकर रहने वाला है और वीतराग रूप सम्यक्त्व को साथ मे लिए हुए होता है।

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं॥ २५३॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतल कयलि बंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं॥ २५४॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो॥२५५॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबन्धो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठीहिं सेसाहिं॥२५६॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पई रयेण॥२५७॥ (पंचकम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामं ।।२५३।।
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदली वंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ।।२५४।।
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिंत्यतां किं प्रत्ययिकस्तु तस्य रजोबंधः ।।२५५।।
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ।।२५६।।
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्त्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ।।२५७।।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष अपनी देहमे तैलादि लगाकर बहुत धूलवाले स्थानमे स्थित होकर नाना हथियारो से व्यायाम करता है । वहा वह ताड का वृक्ष केले का वृक्ष तथा वास के पिण्ड इत्यादि को तोड मरोडता है, भेदता है ओर सचित्त व अचित्त द्रव्यो का उपघात करता है । इस प्रकार नाना प्रकार के उपकरणो द्वारा आघात करनेवाले पुरुप के जो धूल या मिट्टी लगती है वह वास्तवमे क्यो चिपकी है ? कि उसने तैल लगा रखा है इसलिये उसके मिट्टी चिपक रही है शेष काय चेष्टाओ से धूलका चिपकना नही हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकार की चेष्टाओ मे प्रवृत्त होता है वह अपने उपयोगमे रागादि विकारभावो को करता हुआ प्रवर्त्तता है इसलिये कर्मरज से लिप्त होता रहता है ।। २५३-२५४-२५५-२५६-२५७ ।।

तात्पर्यवृत्ति.—जहणाम कोवि पुरिसो इत्यादि व्याख्यान क्रियते–यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुष स्नेहाभ्यक्त सन् रजोबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यास श्रम करोति इति प्रथमगाथा गता ।

छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवशाशोकसज्ञान् वृक्षविशेषान् तत्सबधिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघात च करोति इति द्वितीयगाथा गता।

उपघात कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैर्निश्चयतश्चिंत्यता विचार्यता किंप्रत्ययक किंनिमित्तक रजोबध ? इति पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रय गत । अत्रोत्तर—

य स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यगनरूप तेन तस्य रजोबध इति निश्चयतो विज्ञेय न कायादिव्यापारचेष्टाभि शेषाभिरित्युत्तरगाथा । एव सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टातो गत । अथ दार्ष्टातमाह **एव मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु** एव पूर्वोक्तदृष्टातेन मिथ्यादृष्टिर्जीव विविधासु कायादिव्यापारचेष्टासु वर्त्तमान **रागादी उवओगे कुव्वतो लिप्पदि रयेण** शुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात् मिथ्यात्वरागाद्युपयोगान् परिणामान् कुर्वाण सन् कर्मरजसा लिप्यते वध्यत इत्यर्थ । एव यथा तैलम्रक्षितस्य रजोवधो भवति तथा मिथ्यात्वरागादिपरिणतस्य जीवस्य कर्मवधो भवति इति बधकारणतात्पर्यकथनरूपेण सूत्रपचक गत ।

अथ गाथापचकेन वीतरागसम्यग्दृष्टेर्बंधाभाव दर्शयति—

टीका—(जहणाम कोवि पुरुसो) जैसे कोई भी पुरुप अपने शरीर मे तैल आदि चिकना पदार्थ लगाकर वहुत सी धूल वाले स्थान मे जाकर मुद्गरादि शस्त्रो से व्यायाम का अभ्यास करता है। यह एक गाथा का अर्थ हुआ। वह ताड का वृक्ष, तमाखू का पौधा, केले का पेड वाँसो का बीडा और अशोक वृक्ष आदि नाना वृक्षो को छेदता भेदता है एव उनसे सबध रखने वाले सचेतन और अचेतन द्रव्यो का घात करता है। यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। उन नाना प्रकार के उपकरणो द्वारा उपघात करते हुए उस जीव के जो धूली लगती है वह सोचो किस कारण से धूली लगती है ? इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप मे तीन गाथाये हुई। उसका उत्तर यह है कि उसने अपने शरीर मे तेल मालिश से चिकनापन कर रखा है उसीसे वह धूल उसके चिपकती है। यह चौथी उत्तर रूप गाथा हुई। इस प्रकार प्रश्नोत्तर रूप चार सूत्रो द्वारा दृष्टात कहा गया। (एव मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो वहुविहासु चिट्ठासु) उपर्युक्त दृष्टात के अनुसार ही मिथ्यादृष्टि जीव अर्थात् विरति रहित जीव नाना प्रकार की शारीरिक व्यापारमय चेष्टाओ मे प्रवर्तमान होता है तव वहा पर वह (रागादि उवओगे कुव्वन्तो लिप्पदि रयेण) शुद्धात्म तत्व का समीचीन रूप श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के न होने सेमिथ्यात्व और रागादिरूप उपयोगो को अर्थात् विकारी परिणामो को करता वह कर्म रूप रज से लिपजाता है बध जाता है ऐसा समझना चाहिए। जिस प्रकार तैल लगाये हुए पुरुष के जैसे धूली चिपकती है वैसे ही मिथ्यात्व तथा रागादि रूप मे परिणत जीव के कर्मबध होता है। इस प्रकार कर्म वन्ध के कारण का व्याख्यान करने के रूप मे पाच गाथाये पूर्ण हुई ॥२५३-२५४-२५५-२५६-२५७॥

आगे वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के कर्म वन्ध नही होता है ऐसा पाच गाथाओ से वतलाते है—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणु बहुलम्मि ठाणे, करेदि सत्थेहि वायामं ॥२५८॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतल कदलि वंस पिण्डीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥२५९॥
उवघादं कुव्वंतस्स, तस्स णाणा विहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥२६०॥
जो सो दु णेहभावो, तह्मिणरे तेण तस्स रयबंधो ॥
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहि सेसांहिं ॥२६१॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरन्तो उवओगे, रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२६२॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्न पनीते सति ।
रेणवहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥२५८॥

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतल कदली वंश पिंडी: ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघांत ॥२५६॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चित्यतां किं प्रत्ययिको न रजोबंध ॥२६०॥
यः सतुस्नेहभावस्तस्मिन् नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न काय चेष्टाभिः शेषाभिः ॥२६१॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्त्तमानो वहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥२६२॥

अर्थ—हां, वही पूर्वोक्त पुरुष यदि अपने शरीर मे लगी हुई चिकनाहट को दूर करके अर्थात् हटाकर बहुत मट्टी वाले स्थानमे भी नाना शस्त्रों द्वारा अनेक प्रकार के व्यायाम करता है। ताडवृक्ष की जड को, केले के वृक्षको, वास के बीडे को छेदता है भेदता है, और सचित्त अचित्त द्रव्यो का उपघात भी करता है। इस प्रकार नानाविध उपकरणो के द्वारा उपघात करने वाले के भी नाना प्रकार की कायिक चेष्टा करने पर भी उसके धूलि नही चिपकती सो क्यो नही चिपकती ? इस प्रकार विचार करो तो समझमे आवेगा कि उस मनुष्य ने जो तेल लगा रखा था उसी से उनके धूल चिपकती थी, काय की अन्य चेष्टाओ से नही चिपकती थी, सो अब वह तैल नही है इसलिये नही चिपकती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विरत जीव भी नाना प्रकार के योगो मे प्रवर्त्तमान होता हुआ भी अपने उपयोग मे रागादिको को नही करता इसलिये कर्मरज से लिप्त नही होता है ॥ २५८-२५९-२६०-२६१-२६२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा स एव पूर्वोक्तो नर स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति धूलिवहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाम, अभ्यास श्रम करोतीति प्रथमगाथा गता। छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवश पिंडीसज्ञान् वृक्षविशेषान्। तत्सचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघात च करोति इति द्वितीयगाथा गता। उपघात कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्व्यायामाभ्यासादिकरणविशेषै, निश्चयतश्चित्यता विचार्यता किंप्रत्ययक किंनिमित्तक, तस्य रजोबधो न भवति। एव प्रश्नरूपेण गाथात्रय गत। अथोत्तर—य स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यगरूप, तेन स तस्य रजोवध, इति निश्चयतो विज्ञेय। न कायादिव्यापारचेष्टाभिःशेषाभि, तदभावात् तस्य वधो नास्तीत्यभिप्राय, इत्युत्तरगाथा गता। एव सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टातो गत। अथ दार्ष्टांतमाह—

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो वहुविहेसु जोगेसु एव पूर्वोक्तदृष्टातेन सम्यग्दृष्टिर्जीव विविधयोगेषु नाना प्रकारमनोवचनकायव्यापारेषु वर्तमान। **अकरंतो उवओगे रागादी** निर्मलात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाणा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा सद्भावात् रागाद्युपयोगान् परिणामानकुर्वाण सन् **णेव बज्झदि रयेण** कर्मरजसा न बध्यते। एव तैलम्रक्षणाभावे यथा रजोवधो न भवति तथा वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागाद्यभावाद्ब धो न भवति, इति बधाभावकारणतात्पर्यकथनरूपेण गाथापचक गत। किं च यथात्र पातनिकाया भणित, सज्ञानिजीवस्य शातरसे स्वामित्व, अज्ञानिनस्तु शृ गाराद्यष्टरसाना स्वामित्व, तथाध्यात्मविषये नाटकावतारप्रस्तावे नवरसाना स्वामित्व ज्ञातव्य। इति सूत्रदशकसमुदायेन प्रथमस्थल गत।

अथ वीतरागस्वस्वभाव मुक्त्वा हिंस्यहिंसकभावेन परिणमनमज्ञानिजीवलक्षण। तद्विपरीत सज्ञानिलक्षणमिति प्रज्ञापयति—

टीका:—जैसे वही पूर्वोक्त पुरुष शरीर से सर्व तैलादिरूप चिकने पदार्थ को सर्वथा दूर कर धूल भरे स्थान मे भी अनेक हथियारो द्वारा व्यायाम परिश्रम करता है। यह प्रथम गाथा हुई। वहा वह ताल-तमाल (तम्बाखू), केला वास का वीडा आदि वृक्षो को छेदता है भेदता है, उनमें होने वाले सचित और अचित्त पदार्थो को विगाडता है। यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। वैशाख स्थान आदि साधनो के द्वारा उपघात करते रहने वाले उस पुरुप के जो धूल नही चिपकती सो क्यो ? इस प्रकार प्रश्न करनेरूप मे तीसरी गाथा हुई। उसका उत्तर यह है कि उस पुरुष के शरीर मे तेल चुपडने रूप चिकनापन था उसीसे धूल चिपकती थी यह निश्चित वात है। उसी की अन्य शारीरिक चेष्टाओ से धूल नही चिपकती थी अव उसके शरीर मे वह तैलादि जनित चिकनापन नही रहा इसलिये उसके धूल नही चिपकती यह सव उत्तररूप गाथा का अभिप्राय हुआ। इस प्रकार चार गाथाओ मे दृष्टान्त हुआ। अव दार्ष्टांत कहते हैं कि (एव सम्मादिट्ठी वट्टन्ता वहुविहेसु जोगेसु) पूर्वोक्त दृष्टात के अनुसार सम्यग्दृष्टि अर्थात् विरत जीव भी विविध प्रकार के योगो मे अर्थात् अनेक प्रकार के मन, वचन, और काय सवधी व्यापारो मे प्रवतमान होता हुआ भी (अकरतो उवओगे रागादी) निर्मल आत्मा का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ही है स्वरूप जिसका ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सद्भाव होने से रागादि के उपयोग स्वरूप विकारी परिणामो को नही करता है अत. (णेव वज्भदि रयेण) नूतन कर्मो से नही वन्धता है। इस प्रकार तैलादिक की चिकनाहट न होने पर जैसे धूल नही चिपकने पाती वैसे ही वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि विकार रूप भाव न होने से वन्ध नही होता इस प्रकार वन्ध अभाव का कारण वतानेके रूप मे ये पाच गाथाये आई ॥ २५८-२५९-२६०-२६१-२६२ ॥

विशेषार्थ—यहा आचार्य महाराज कह रहे है कि जो काम मिथ्यादृष्टि अज्ञानी करता है वही काम सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव भी करता है उसमे मिथ्यादृष्टि को वन्ध होता है और सम्यग्दृष्टि को वन्ध नही होता। इस पर से कोई व्यक्ति "हम भी भगवान के भक्त हैं, सम्यग्दृष्टि है, हम कुछ भी करें हमारे वन्ध नही होता" ऐसा सोचकर यदि स्वच्छन्द हो जाता है तो वह भूल करता है क्योकि जो कोई कुछ भी करेगा तो उसके वन्ध होगा ही । ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कुछ भी करता नही है इसलिए उसके वन्ध नही होता ऐसा स्वय आचार्य श्री कर्ता कर्म अधिकार मे वता ही आये है। यहा पर आचार्य श्री के कहने का इतना ही तात्पर्य है कि किसी २ कार्य मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनो का सहयोग होता है तभी वह सम्पन्न होता है। वहा पर मिथ्यादृष्टि तो उस कार्य को चलाकर इच्छापूर्वक सम्पन्न करता है अत उसके कर्म वन्ध हुए विना नही रहता परन्तु सम्यग्दृष्टि तो वहा तटस्थ रहता है अत उसके वन्ध नही होता। यहा उदाहरण मे सुदर्शन मुनि और वेश्या के प्रसग को ही लिया जा सकता है। वेश्याने सुदर्शन मुनिराज को प्रतिग्रहण के वहाने से अपने घर पर ले जाकर उनके साथ तीन दिन तक भारी कुचेष्टा की एव घोर पाप वन्ध किया किन्तु वही पर श्री मुनिराज पूर्ण निर्विकार वने रहे ऐसी दशामे उन्हे कर्म वन्ध कैसे हो सकता था ? हा, यदि वहा पर थोडा सा भी भला वुरा पन मान करके भी तनिकसा अपना कर्तापन का सवध जोड लेते तो मुनि भी अज्ञानी वन करके कर्म वध के करनेवाले वन जाते क्योकि कर्तापन और ज्ञानीपन दोनो एक साथ नही रहते जैसा कि अमृतचन्द्र आचार्य के निम्न वृत्त से स्पष्ट है –

जानाति य स न करोति करोति यस्तु जानात्यय न खलु तत्किल कर्मराग ।
राग त्ववोधमयमध्यवसाय माहुर्मिथ्यादृश स नियत स हि (च) वधहेतु ॥ १६७॥

अर्थात्-जो जानता है वह करता नही है और जो करता है वह जानता नही है क्योकि कर्त्तापन उस कार्य के प्रति इच्छा हुए विना नही होता। इच्छा रागभाव है और राग अज्ञानमय अध्यवसान भाव है जो कि नियमसे वन्ध का कारण होता है एव वह मिथ्यादृष्टि के ही होता है अर्थात् जहा पर किंचित् भी इच्छा या राग भाव है मिथ्यादृष्टिपन है ऐसा आचार्यों ने कहा है। अस्तु

जैसा यहा पातनिका मे वताया था कि ज्ञानी जीव का स्वामीपना अर्थात् अधिकार तो एक शात रस पर होता है किन्तु अध्यात्म के विषय मे इस नाटकके प्रस्तावमे नवो रसो का स्वामीपना है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार अज्ञानी के पाच तथा ज्ञानी के पाच मिलाकर दश गाथाओ मे यह वन्ध अधिकार का पहला स्थल पूर्ण हुआ।

आगे यह वतलाते है कि वीतरागरूप स्वस्थ भाव को छोडकर हिंस्य हिंसक भाव रूप से परिणमन करना यह अज्ञानी जीव का लक्षण है उससे विपरीत सम्यग्ज्ञानी जीव का लक्षण है—

जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तोदु विवरीदो ॥२६३॥

यो मन्यते हिनस्मि हिंस्ये च परैः सत्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२६३॥

अर्थ—जो ऐसा मानता है कि मै किसी पर जीव को मार रहा हू या मार सकता हूँ और मैं पर जीवो के द्वारा मारा जा रहा हूँ या मारा जा सकता हूँ अर्थात् कोई भी मुझे मार रहे है या मार सकते हैं ऐसा समझने वाला जीव अज्ञानी है। ज्ञानी का विचार इससे उलटा होता है ॥ २६३ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहिं सत्तेहिं सो मूढो अण्णाणी यो मन्यते जीवानह हिनस्मि, परै सत्वैरह हिंस्ये इति च योसौ परिणाम स निश्चितमज्ञान स एव बधहेतु, स परिणामो यस्यास्ति स चाज्ञानी। **णाणी एत्तोदु विवरीदो** एतस्माद्विपरीतो यो जीवितमरणलाभालाभसुखदु खशत्रुमित्रनिंदाप्रशसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासजातपरमानदसुखास्वादरूपे वा भेदज्ञाने रत स ज्ञानीत्यर्थ।

अथ कथमयमध्यवसाय पुनरज्ञान ? इति चेत्—

टीका—(जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहि सत्तेहिं सो मूढो अण्णाणी) जो कोई ऐसा मानता है कि मैं पर जीवो को मारता हूँ तथा पर जीवो के द्वारा मैं मारा जा रहा हू, तो उसका यह भाव-विचार नियम से अज्ञान भाव है जो कि बध का कारण है। इस प्रकार जिस किसी के भी यह विचार भाव होता है वही अज्ञानी मूर्ख होता है (णाणी एत्तो दु विवरीदो) किन्तु जो इससे उलटे विचार वाला है जो कि जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दु ख, शत्रु, मित्र तथा निन्दा और प्रशसा आदि विकल्पो मे राग द्वेष नही करता हुआ शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुख उसका आस्वादन करना ही है स्वरूप जिसका ऐसे भेदज्ञान मे तल्लीन होता है अर्थात् उपर्युक्त समभाव से तन्मय होता है वह ही ज्ञानी जीव होता है ॥२६३॥

अब यह विचार अज्ञान क्यो है सो बताते हैं—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसि ॥२६४॥

आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषां ॥२६४॥

अर्थ व टीका—जब कि जीवो का मरण उनकी आयुके क्षयसे होता है ऐसा ही जिनेश्वर देवने कहा है। जब उनकी आयु का तू अपहरण नही कर सकता (और तेरी आयु का अपहरण वे नही कर सकते हैं) तो कैसे तुम्हारे द्वारा उनका मरण किया गया ॥२६४॥

तात्पर्यवृत्ति—**आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं** आयु क्षयेण मरण जीवाना जिनवरै प्रज्ञप्त कथित । **आउ ण हरेसि तुमं कहते मरणं कदं तेसिं** तेषामायु कर्म च न हरसि त्व तस्यायुष स्वोपयोगेनैव क्षीयमाणत्वात् कथ ते त्वया तेषा मरण कृतमिति ।

आउक्खयेण मरणं जीवाण जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आऊं न हरंति तुहं कहते मरणं कयं तेहिं ॥

आयुः क्षेयण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।
आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥

अर्थ—जीवो का मरण आयु कर्म के क्षय से होता है ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है क्योकि पर जीव तेरा आयु कर्म नही हरते इसलिए उन्होने तेरा मरण कैसे किया ।

(यह उपरोक्त गाथा तात्पर्यवृत्ति मे नही पर आत्मख्याति को टीका मे है)

विशेषार्थ—प्रत्येक प्राणी का जीवन उसकी आयु के ऊपर निर्भर है। यदि आयु नि शेष हो चुकी है तो वह कभी जीवित नही रह सकता और अभी शेष है तो वह किसी का मारा नही मर सकता क्योकि कोई भी किसी की आयु को हडप नही सकता है, वह तो उपभोग के द्वारा ही समाप्त होगी। हा, उसका उपभोग दो प्रकार से होता है उदय से और उदीरणा से । उदय से आयु का उपभोग होना समुचित मरण है और उदीरणा से उपभोग अकाल मरण कहलाता है परन्तु आयु का उपभोग होकर उसको समाप्ति होना ही चाहिये तभी मरण होगा अन्यथा नही। रही निमित्त की बात सो निमित्त मिलने पर भी किसी की मृत्यु नही होती तो किसी की साधारण निमित्त से भी मृत्यु हो जाती है तो किसी के विना निमित्त के भी। जैसे कि किसी से तलवार की मर्म की चोट लगने पर भी नही मरता तो कोई साधारण चाकू की चोट से ही मर जाता है तथा मरने वाला विना चोट खाये भी मर जाता है। अत ऐसे अनियमित निमित्त पर ज्ञानी महत्व नही देता है। शका-तो फिर आपके कहने मे हम

कुछ भी करते रहे भले ही आख मीचकर भी चले तो कोई दोष नही है। उत्तर—हे भाई ! कुछ भी क्यो करते रहे। करना तो अज्ञान भाव है, वन्ध करने वाला है। इसके स्थान पर यो कहो कि कुछ भी नही करें निर्विकल्प समाधि मे लग कर आत्म तल्लीन होकर नवीन बध न होने से ज्ञानी कहलाने का अधिकारी बने रहे उस अवस्था मे चाहे कुछ भी हो हमारा उसमे क्या चारा है यदि कोई मरता है तो अपने आयु की समाप्ति पर, और कोई जीवित है तो अपने आयु के बल पर पर क्योकि हमारा तो उधर उपयोग ही नही है। परन्तु समाधि से च्युत होने पर यदि वहाविकल्प आवे तो उसे मारने का विकल्प न करके वचाने का विकल्प करना चाहिए जैसा कि बालि मुनि ने या विष्णुकुमार मुनि ने किया था ताकि कर्म वन्ध भी हो तो वह शुभ हो अनत ससार के कारणभूत अशुभ कर्म बन्ध से बच जावे।

जीवन का अध्यवसाय भी अज्ञान है सो बताते हैं—

जो मण्णदि ज वेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सोमूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये चापरैः सत्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीत. ॥

अर्थ—जो ऐसा मानता है—विचारता है कि मैं पर जीवो को जीवित रखता हूँ और ये दूसरे जीव भी मुझे जीवित रखते हैं तो वह मूढ है अज्ञानी है। ज्ञानी जीव तो इससे उलटा मानता है। (यह उपर्युक्त गाथा तात्पर्यवृत्ति की टीका मे नही है पर आत्मख्याति की टीका मे है)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आऊं च ण देसि तुमं कहं त ये जीवियं कयं तेसिं ॥२६५॥

※ आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आऊं च ण दिंति तुंह कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एव भणंति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषां ॥२६५॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः
आयुश्च न ददाति तुभ्यं कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥

अर्थ—जीव अपनी आयु के उदय से ही जीवित है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं। सो हे भाई ! तू पर जीव को आयु तो देता नही है तो तूने उन जीवो को जीवित कैसे किया ? तथा पर जीव भी तुझे आयु नही दे सकते तो उन्होंने भी तुझे जीवित किया यह भी कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नही माना जा सकता ॥ २६५ ॥

※ (यह गाथा तात्पर्यवृत्ति की टीका मे नही है)

तात्पर्यवृत्ति—**आउउदयेण जीवदि जीवो एव भणंति सव्वण्हू** आयुरुदयेन जीवति जीव एव भणंति सर्वज्ञा । **आउं च ण देसि तुम कहं तए जीविदं कदं तेसिं** आयु कर्म च न ददासि त्व तेषा जीवाना तस्यायुप स्वकीयशुभाशुभपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्, कथ त्वया जीवित कृत ? न कथमपि । किं च ज्ञानिना पुरुषेण स्वसवित्तिलक्षणत्रिगुणत्रिगुप्तिसमाधौ स्थातव्य तावत् । तदभावे चाशक्यानुष्ठानेन प्रमादेन, अस्य मरण करोमि, अस्य जीवित करोमि, इति यदा विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति अस्य शुभाशुभकर्मोदये सति, अहं निमित्तमात्रमेव जात इति मत्वा मनसि रागद्वेषरूपोऽहकारो न कर्तव्य इति भावार्थ ।

अथ दु खसुखमपि निश्चयेन स्वकर्मोदयवशाद् भवति, इत्युपदिशति—

टीका—(आऊदयेण जीवदि जीवो एव भणति सव्वण्हू) प्रत्येक जीव अपनी आयु के उदयसे जीवित है। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान कहते हैं तू (आऊ च ण देसि तुम कह तये जीविय कय तेसि) आयु कर्म तो उन्हे देता नही है क्योकि उनकी आयु तो उनके शुभ तथा अशुभ परिणामो के अनुसार उपजी है तो फिर तूने उन्हे कैसे जीवित कर दिया। अर्थात् किसी भी प्रकार जीवित नही किया। इसलिये हो सके जहा तक इन सब विकल्पो को छोडकर ज्ञानी जीव को स्वसवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसी त्रिगुप्ति रूप समाधि मे लगा रहना चाहिये और जब इसका अभाव हो जाय अर्थात् उसका उपयोग उस समाधि से हट जावे तो उस असमर्थ अवस्था में प्रमाद के कारण से मैं इस जीव को मार रहा हू या जिला रहा हू "ऐसा विकल्प आवे तो मन मे ऐसा विचारना चाहिए कि इसके ऐसा होने मे प्रधान कारण इसके शुभ तथा अशुभ कर्म का उदय है, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ, ऐसा विचार कर अपने मन मे राग और द्वेष रूप अहकार नही करना चाहिए इसका यही तात्पर्य है ।।२६५।।

आगे कहते हैं कि सुख और दु ख भी निश्चय से अपने ही कर्मो के उदय से होते है—

जो अप्पणादु मण्णदि दुःखिदसुहिदं करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो ।।२६६।।

य आत्मना तु मन्यते दुःखित सुखितान् करोमि सत्वानिति ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ।।२६६।।

अर्थ—जो जीव अपने मन मे ऐसा समझता है कि मै इन पर जीवो को दु खी या सुखी करता हूँ या कर सकता हू, तो ऐसा विचार करने वाला जीव मूढ है अज्ञानी है ज्ञानी का विचार तो इससे उलटा होता हैं ।।२६६।।

तात्पर्यवृत्ति—**जो अप्पणादु मण्णदि दु खिदसुहिदे करेमि सत्तेति** य कर्ता आत्मन सवधित्वेन मन्यते किं ? दु खितसुखितान् सत्वान् करोम्यह । **सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो** यश्चाहमिति परिणामो निश्चितमज्ञान स एव बधकारण स परिणामो यस्यास्ति स अज्ञानी बहिरात्मा । एतस्माद्विपरीत परमोपेक्षासयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणे भेदज्ञाने स्थितो ज्ञानीति ।

अथ परस्य सुखदु ख करोमीत्यध्यवसायक कथमज्ञानी जात ? इति चेत्—

टीका-(जो अप्पणा दु मण्णदि दु खिदसुहिदे करेमि सत्तेति) जो कोई अपने मन मे ऐसा मानता है कि मैं इन जीवो को दुखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ (सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु

विवरीदो) यह उपर्युक्त अहंकार रूप परिणाम नियम से अज्ञान भाव है जो कि बंध का कारण है और यह भाव जिसके है वह अज्ञानी बहिरात्मा है ज्ञानी जीव तो इससे विपरीत विचार वाला है वह परम उपेक्षा रूप सर्वथा निर्वृत्तिरूप जो संयमभाव उसकी भावना मे परिणत हो रहने वाला अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान मे स्थित होता है ॥२६६॥

अस्तु मैं पर को सुख या दुःख दे सकता हूँ इस प्रकार के परिणाम करने वाला अज्ञानी कैसे है ? सो कहते है –

कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कदा ते ॥२६७॥
कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता ।
कम्मं च ण देसि तुमं कहं तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२६८॥
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं ॥२६९॥

कर्मनिमित्तं सर्वे दुःखितसुखिता भवंति यदि सत्वाः ।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥२६७॥
कर्मनिमित्तं सर्वे दु.खितसुखिता भवंति यदि सत्वाः ।
कर्म च न ददासि त्वं कथं त्वं सुखितः कृतास्तैः ॥२६८॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददासि त्वं कथं त्वं दुःखितः कृतस्तैः ॥२६९॥

अर्थ—अपने अपने कर्मोदय के निमित्त से ही सब जीव सुखी या दुखी होते है ऐसा देखने मे आ रहा है और तू उनको कर्म देता नही तब तेरे द्वारा वे प्राणी कैसे सुखी या दुखी किये गये । एव वे सब जीव तुझे कर्म तो देते नहीं हैं फिर उन्होने तुझे दुःखी किया यह भी कैसे बन सकता है । तथा उन्होंने तुझे सुखी किया यह भी कैसे कहा जा सकता है ? कभी नही कहा जा सकता ॥२६७-२६८-२६९॥

तात्पर्यवृत्ति —कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता यदि चेत् कर्मोदयनिमित्त सर्वे सत्वा जीवा सुखितदुःखिता भवति ? कम्मं च ण देसि तुमं दुःखिदसुहिदा कहं कदा ते तर्हि शुभाशुभकर्म च न ददासि त्व कथ ते जीवास्त्वया सुखितदुःखिता कृता ? न कथमपि ।

कम्मणिमित्त सव्वे दुःखिदसुहिदा हवति जदि सत्ता यदि चेत्कर्मोदयनिमित्त सर्वे जीवा सुखितदुःखिता भवति कम्म च ण देसि तुम कह त सुहिदो कदो तेहिं तर्हि शुभाशुभकर्म च न ददासि त्व न प्रयच्छसि तेभ्य कथ त्व दुःखीकृतस्तैः ? न कथमपि ।

कम्मोदयेण जीवा दुःखिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे यदि चेत् कर्मोदयेन सर्वे जीवा दु खित सुखिता भवति **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेंहिं** तर्हि शुभाशुभंकर्म च न ददासि त्व न प्रयच्छमि तेभ्यः कथ दुखीकृतस्तै ? न कथमपि ।

किं च तत्वज्ञानी जीवस्तावत् अन्यस्मै परजीवाय मुखदु खे ददामि, इति विकल्प न करोति । यदा पुनर्निर्विकल्प समाधेरभावे सति प्रमादेन सुखदु ख करोमीति विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति—अस्य जीवस्यातरगपुण्यपापोदयो जात अह पुनर्निमित्तमात्रमेव, इति ज्ञात्वा मनसि हर्पविपादपरिणामेन गर्वं न करोति, इति । एव परजीवाना जीवित-मरण सुखदु ख करोमीति व्याख्यानमुख्यतया गाथासप्तकेन द्वितीयस्थल गत ।

अथ परोजन परस्य निश्चयेन जीवितमरणसुखदु ख करोतीति योसौ मन्यते स वहिरात्मेति प्रतिपादयति—

टीका—(कम्मणिमित्त सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवति जदि सत्ता) यदि अपने अपने कर्मोदय को निमित्त लेकर ही सव जीव सुखी और दु खी होते हैं, (कम्म च ण देसि तुम दुक्खिदसुहिदा कह कदा ते) अतः जवकि वह कर्म तो उन्हे तुम देते नही हो फिर तुमने उन्हे दु खी और सुखी कर दिये यह कैसे कहा जावे, नही कहा जा सकता है । (कम्मणिमित्त सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवति जदि सत्ता) और जव कि कर्मोदय को निमित्त लेकर ही सव ससारी जीव दु खी और सुखी होते है (यह नियम अटल है) (कम्म च ण देसि तुम कह त सुहिदो कदो तेंहिं) और इन ससारी जीवो ने जव वह कर्म तुझे दिया नही फिर उन्होने तुझे सुखी वना दिया यह कैसे वन सकता है ? (कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवति जदि सव्वे) कर्म के उदयसे ही सव जीव सुखी और दुखी होते है (कम्म च ण देसि तुम कह त दुहिदो कदो तेंहिं) एव जव कि कर्म उन्होने तुझे दिया ही नही उन्होने फिर हमे दु खी वना दिया यह भी कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नही हो सकता । इस प्रकार साच समझकर तत्व ज्ञानी जीव 'मैं दूसरो को सुख दुख दे सकता हू अथवा वे मुझे सुख दु ख दे सकते हैं' ऐसा विकल्प ही नही करता (वह निर्विकल्प समाधि मे रत होरहता है) । जव कि प्रमाद से, उस समाधि के टूट जाने पर मैं किसी को सुखी या दुखी करता हूँ इत्यादि विकल्प आता है तव वह मनमे ऐसा विचारता है कि इस जीव के ऐसा ही अतरग पुण्य या पाप का उदय हो आया है, उसी से ऐसा हुआ है, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ । इस प्रकार विचार कर मनमे हर्ष विपाद परिणामो के द्वारा किसी प्रकार का अहकार नही करता ।। २६७-२६८-२६९ ।।

विशेषार्थ—प्रद्युम्नकुमार को दु खी करने का व मारने का कितना प्रयास किया गया परन्तु उसके पुण्यके उदयसे जहाँ भी गया वहा लाभ ही हुआ । इसलिए मानना पडता है कि किसी के भी हानि, लाभ, सुख या दुख होता है उसके पुण्यके अनुसार ही होता है । अत ज्ञानी जीव तो ऐसी उलझन मे न पडकर अपनी शुद्धात्मा के चिंतवन द्वारा पूर्व कर्मों को हलका करने मे ही लगा रहता है । हा, जव वह समाधि से च्युत हो जाता है तव उस प्रमत्त सयत दशामे किसी के भी लिए अशुभ निमित्त न होकर शुभ निमित्त मात्र होने के कारण अपना कालक्षेप करता है ।

इस प्रकार दूसरे जीवो को जीवन दान करना, मार डालना, सुख देना और दुख देना आदि का विचार करने वाली सात गाथाओ द्वारा यह दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

अव इसके आगे यह वताते हैं कि दूसरा कोई भी दूसरे को जिला सकता है मार सकता है सुख दे सकता है इस प्रकार जो मानता है वह निश्चय से वहिरात्मा होता है—

जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तह्मा दु मारिदोदे दुहाविदो चेद् णहु मिच्छा ॥२७०॥
जोण मरदि ण य दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो।
तह्मा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा ॥२७१॥

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितो चेति न खलु मिथ्या ॥२७०॥
यो न म्रियते न च दुःखितो सोपि च कर्मोदयेन खलुजीवः
तस्मान्न मारितस्ते दुःखितो चेति न खलु मिथ्या ॥२७१॥

अर्थ—जो कोई भी मरता है या दुखी होता है वह सब अपने कर्म के उदयानुसार ही होता है अत मैंने अमुक को मार दिया या दुखी कर दिया इस प्रकार का विचार हे भाई क्या मिथ्या नही है ? किन्तु मिथ्या ही है। तथा जो नही मरता है या दु खी नही हो रहा है वह भी सव अपने कर्म के उदय से ही है इसलिये मैंने नही मरने दिया या मैंने दु खी भी नही होने दिया यह भी तेरा विचार क्या मिथ्या नही है? किन्तु मिथ्या ही है ॥२७०-२७१॥

तात्पर्यवृत्ति—**जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो** यो म्रियते यश्च दु खितो भवति स सर्वोऽपि कर्मोदयेन जायते **तह्मा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा** तस्मात्कारणात्, मया मारितो दु खीकृतश्चेनि तवाभिप्रायोय न खलु मिथ्या ? किंतु मिथ्यैव। **जो ण मरदि णय दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो** यो न म्रियते यश्च दु खितो न भवति कोऽसौ ? जीव खलु स्फुट स सर्वोऽपि कर्मोदयेनैव **तह्मा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा** तस्मात् कारणात् न मारितो मया न दु खीकृतश्चेति तवाभिप्रायोय न खलु मिथ्या ? अपि तु मिथ्यैव अनेनापध्यानेन स्वस्थभावाच्च्युतो भूत्वा कर्मैव बध्नातीति भावार्थ ।

अथ स एव पूर्वसूत्रद्वयोक्तो मिथ्याज्ञानभावो मिथ्यादृष्टेर्वंधकारण भवतीति कथयति—

टीका:—(जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो) जो कोई मरता है अथवा दु खी होता है वह सव अपने कर्म के उदय से ही होता है अतः (तम्हा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा) इसलिए मैंने अमुक को मार दिया या अमुक को दु खी कर दिया यह तेरा विचार है, हेआत्मन्! क्या झूठा नही है ? अपितु झूठा ही है। तथा (जो ण मरदि ण य दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो) जो नही मरता है या नही दु खी होता है वह भी अपने कर्मोदय के द्वारा ही होता है ऐसा स्पष्ट है (तम्हा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा) इसलिए मैंने उसे नही मरने दिया अथवा मैंने उसे दु खी नही होने दिया इस प्रकार का विचार हे आत्मन्! क्या झूठा नही है ? अपितु यह झूठा ही है।

प्रत्युत इस अपध्यान के द्वारा तू अपने स्वस्थ भाव से च्युत होकर कर्म वन्ध ही करेगा यह इसका तात्पर्य है ॥२७०-२७१॥

विशेषार्थः—यह सव कथन उन त्यागी तपस्वी लोगो को लक्ष्य मे लेकर किया गया है जिनका जीवन निश्चयनय के ऊपर अवलम्बित है और शुद्धात्मा के ध्यान से ही प्रयोजन रह गया है। यदि वे इस उलझन मे पडते हैं तो आर्त्तभाव और रौद्रभाव को अपनाकर अपने ध्येय से च्युत होते हैं अत. मिथ्यादृष्टि या वहिरात्मा कहलाने के अधिकारी वन जाते हैं। वहिरात्मा शव्द के दो अर्थ है (१) पहला वाह्य शरीर पर ही है आत्मवुद्धि जिसकी (२) दूसरा वाह्य अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त इन दृश्यमान वस्तुओ पर मन है जिसका। आत्मा शव्द का अर्थ मन भी होता है सो यहा पर दूसरा अर्थ विवक्षित है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि शव्द के भी दो अर्थ होते हैं—(१) पहला मिथ्या अर्थात् झूठी या उल्टी है दृष्टि अर्थात् श्रद्धा जिसकी वह मिथ्यादृष्टि (२) दूसरा मिथ्या अर्थात् भूलभरी दृष्टि अर्थात् विचार धारा जिसकी वह मिथ्यादृष्टि। यहा पर मिथ्यादृष्टि शव्द का भी यह दूसरा अर्थ ही विवक्षित है।

आगे कहते हैं कि पूर्व के दो सूत्रो मे कहा हुआ मिथ्याज्ञान रूपी भाव मिथ्यादृष्टि के वध का कारण होता है—

एसा दु जामदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
एसा दे मूढ़मदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥२७२॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्वानिति।
एषा ते मूढ़मतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥२७२॥

अर्थ—हे आत्मन्! तेरी जो ऐसी वुद्धि है कि मैं इन प्राणियो को सुखी या दुखी करता हूँ, यह तेरी मूढ़ वुद्धि है, मिथ्या वुद्धि या मोह वुद्धि है यह शुभ या अशुभ कर्मों को वांधने वाली है ॥२७२॥

तात्पर्यवृत्ति.—**एसा दु जा मदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति** एषा या मतिस्ते तव दु खितसुखितान् करोम्यहं सत्वान् **एसा दे मूढ़मदी सुहासुहं बंधदे कम्म** सैषा भवदीया मति हे मूढमते स्वस्थभावच्युतस्य शुभाशुभ कर्म वध्नाति न किमप्यन्यत्कार्यमस्ति इति।

अथ निश्चयेन रागाद्यध्यवसानमेव वधहेतुर्भवति इति प्रतिपादनरूपेण तमेवार्थं दृढयति—

टीकाः—(एसादे दु जा मदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति) हे आत्मन्! मैं इन जीवो को सुखी या दुखी करता हू या कर सकता हूँ इस प्रकार की वुद्धि है (एसा दे मूढमदी सुहासुह वधदे कम्मं) यह तेरी मूढवुद्धि है जो कि तुझे स्वस्थभाव से दूर रख कर तेरे शुभाशुभ कर्मो का वन्ध करने वाली है और इसका कुछ भी कार्य नही है।

यह रागद्वेष रूप अध्यवसान भाव ही वन्ध करनेवाला हैं ऐसा आगे वतलाते हैं।

दुक्खिद सुहिदे सत्ते करेमि जं एस मज्झवसिदंते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥२७३॥

मारेमि जीवावेमिय सत्ते जं एव मज्झवसिदंते ।
तं पाव बंधगं वा पुण्णस्य य बंधगं होदि ॥२७४॥ (युग्मम्)

दुःखित सुखितान् सत्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य च बंधकं वा भवति ॥२७३॥
मारयामि जीवयामि च सत्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य च बंधकं वा भवति ॥२७४॥

अर्थ—मैं इन ससारी प्राणियो को सुखी या दुखी करता हू या कर सकता हू तथा मार सकता हू या जिला सकता हूँ, इस प्रकार का जो अध्यवसान भाव है वही तेरे पाप या पुण्य के बध का कारण होता है ॥ २७३-२७४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—दुखितसुखितान् सत्वान् करोम्यह कर्ता यदेवमध्यवसित रागाद्यध्यवसान ते तव शुद्धात्मभावनाच्युतस्य सत पापस्य पुण्यस्य वा तदेव बधकारण भवति नचान्यत् किमपि दु खादिक कर्तु मायाति । कस्मात् ? इति चेत् तस्य सुखदुःखपरिणामस्य जीवस्य स्वोपार्जितशुभाशुभकर्माधीनत्वात् इति ।

मारयामि जीवयामि सत्वान् यदेवमध्यवसित ते तव शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुष्ठानशून्यस्य सत पापस्य पुण्यस्य वा तदेव बधक भवति नचान्यत् किमपि कर्तु मायाति । कस्मात् ? इति चेत् तस्य परजीवस्य जीवितमरणादे स्वोपार्जितकर्मोदयाधीनत्वात् इति ।

अथैव निश्चनयेनहिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायात विचार्यमाण—

टीका—मैं इन दृश्य मान जीवो को दु खी या सुखी करता हूँ या कर सकता हू इस प्रकार जो अध्यवसित अर्थात् रागादिरूप विकार भाव तेरे होता है वही उस समय शुद्धात्मा की भावना से गिरा हुआ होने के कारण तेरे पाप या पुण्य के बध का कारण वनता है । वही तुझे दु ख देता है इसके सिवाय और कोई भी तुझे दु खादि देने के लिये नही आता क्योकि जीव के सुख या दुःखरूप परिणाम होता है वह अपने से ही उत्पन्न किये हुए शुभाशुभरूप कर्मों के आधीन होता है । तथा मैं पर जीवो को मार रहा हू, मार सकता हू, एव जिला रहा हू या जिला सकता हूँ ऐसा जो तेरा अध्यवसान है वह शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान से रहित होने वाले तुझको केवल मात्र पाप व पुण्य के बध का करने वाला है और तेरे इस विचारसे और कुछ भी होना जाना नही है क्योकि पर जीव का मरना और जीना आदि तो उसीके उपार्जित किये हुए कर्म के आधीन होता ॥ २७३-२७४ ॥

आगे कहते हैं कि निश्चयनय से विचार किया जाय तो यही हिंसा करने रूप जो द्वेष रूप अध्यवसान है सो ही हिंसा है —

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारे हि मा व मारेहिं ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२७५॥

अध्यवसितेन बंधः सत्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ।।२७५।।

अर्थ—निश्चयनय का कहना है कि जीवो को मारो या न मारो किन्तु जीवो के मारने रूप भाव से कर्मोंका वध तो होता है। यही वधतत्व का सक्षेप है ।। २७५ ।।

तात्पर्यवृत्तिः—**अज्झवसिदेण बधो सत्ते मारे हि माद मारे हि** अध्यवसितेत परिणामेन वधो भवति, सत्वान् मारय मा वा मारय **एसो बधससासो** एष प्रत्यक्षीभूतो वधसमासः वधसक्षेप । तद्विपरीतेन निरुपाधिचिदानदैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधिना मोक्षो भवतीति मोक्षसमास । केषा ? **जीवाणां णिच्छयणयस्स** जीवाना निश्चयनयस्येति । एव जीवितमरणसुखदुःखानि परेषा करोमीत्यध्यवसाय एव बधकारण, प्राणव्यपरोणादिव्यापारो भवतु वा मा भवतु । एव सर्वं ज्ञात्वा रागाद्यपध्यान त्यजनीयमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्केन तृतीयस्थल गत ।

अथ हिंसाध्यवसान पूर्वमुक्त तावत् इदानी पुन असत्याद्यव्रताध्यवसानै पाप सत्याद्यवसानैश्च पुण्ण वधो भवतीत्याख्याति—

टीकाः—(अज्झवसिदेण बधो सत्ते मारे हि मा व मारेंहि) किसी जीव को मारो या न मारो परन्तु जहा किसी को मारने का विकल्प हुआ कि उस विकल्प (परिणामसे) से हिंसा होकर कर्मो का वध होता ही है। (एसो बधसमासो जीवाए णिच्छयणयस्स) जीवो के लिए निश्चयनय से यही प्रत्यक्षरूप बध तत्व का सक्षेप है और इससे विपरीत उपाधि रहित चिदानदमई एक लक्षण को रखने वाली विकल्प रहित समाधि से मोक्ष होता है। यह मोक्ष तत्व का सक्षेप कथन है ।। २७५ ।।

विशेषार्थ—श्री जिन शासन मे मुख्य दो नय हैं-एक निश्चयनय व दूसरा व्यवहार नय। निश्चयनय स्वावलम्वी है स्वयं आत्मनिर्भर करता है और व्यवहार नय परावलम्वीहै, बाह्य अन्य पदार्थों के आश्रय पर टिकता है। व्यवहारनय, जो कि मुख्यतया गृहस्थो के द्वारा अपनाने योग्य है—कहता है कि जब किसी के द्वारा कोई जीव मारा या पीटा जाता है, वहा हिंसा होती है क्योकि उसके भाव को कौन जानता है कि मारने का उसका भाव था या नही। किन्तु निश्चयनय जो कि मुख्यतया ऋषियों के द्वारा ग्राह्य है अपने अधिकारियो को कहता है कि जब तुमने बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग ही कर दिया तो फिर वाह्य हिंसा करने की आवश्यकता भी क्या रह गई ? कुछ भी नही। परन्तु हे भाई ! मन बडा ही चपल, है अच्छा विचार करते करते ही वुरे विचार पर भी चला जाता है अतः इसे सभालकर रखो और दूसरे को मारडालने, या दुख देने आदि का भी विचार कभी मत आनेदो। यदि इस प्रकार के विचार भी मनमे आगये तो तुम फिर हिंसा के दोप से वच नही सकते। फिर तुम यह कहकर कि हमने किसी भी जीव को मारा तो है नही ऐसा कहने से हिंसासे छूट नही सकते हो। इसलिए तुम्हे तो सदा ही स्वस्थ भाव मे रहना चाहिए अर्थात् ज्ञान ध्यान मे ही रहना चाहिए। इसी प्रकार मैं दूसरे जीवो को जीवन दान देना, मार डालना एव सुख दुख देना आदि कर सकता हूँ यह सव अध्यवसान हैं विचार हैं वही वन्ध का कारण है किसी के प्राणो का अपहरण करनेरूप आदि चेष्टा हो, भले ही मत हो। ऐसा जानकर रागादि दुर्भावरूप अपध्यान का त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार का व्याख्यान करते हुए यह तीसरा स्थल छह गाथाओ मे पूर्ण हुआ।

जिसमे हिंसाध्यवसान की वात कही गई वह विपय पूर्व मे वर्णित कर दिया गया, अब आगे यह बताते हैं कि असत्यादि अव्रत रूप विचारो से तो पाप वन्ध होता है और सत्य बोलना आदि विचारो से पुण्य वध होता है—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं ॥२७६॥
तहय अचोज्जे सच्चे बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥२७७॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापं ॥२७६॥
तथापि चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यं ॥२७७॥

अर्थ—जिस प्रकार हिंसा के विपय मे किया हुआ विचार पाप वन्ध का कारण है उसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के विपय मे किया हुआ विचार भी पाप बन्ध का कारण होता हैं जिस प्रकार अहिंसा के विषय मे किया हुआ विचार पुण्य वध करने वाला है वैसे ही सत्य बोलने चोरी न करने, ब्रह्मचर्य पालने और अपरिग्रह के विपय का विचार भी पुण्य के वध का करने वाला है ॥२७६-२७७॥ यहा पर मूलार्थ और टीकार्थ मे कोई अन्तर नही है।

तात्पर्यवृत्ति—एवमसत्येऽचौर्येऽब्रह्मणि परिग्रहे चैव यत्क्रियतेऽध्यवसान तेन पाप बध्यते इति प्रथमगाथा गता। यश्चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मचर्ये तथैवापरिग्रहत्वे यत्क्रियतेऽध्यवसान तेन पुण्य वध्यते इति व्रताव्रतविषये पुण्यपापावधरूपेण सूत्रभूतगाथाद्वय गत। अत परमिदमेव सूत्रद्वय परिणाममुख्य त्वेन त्रयोदशगाथाभिर्विवृणोति तद्यथा—

वाह्य वस्तु रागादि परिणामकारण परिणामवस्तु बधकारणमित्यावेदयति—

टीका—यहा मूलार्थ और टीका मे कोई अन्तर नही है

विशेपार्थ—आचार्य श्री यहा वतला रहे है कि अव्रत रूप प्रवृत्ति करने मैं पाप बन्ध होता है और व्रत रूप सदवस्था मे पुण्य वध होता है।

शंका—पहले तो आचार्य श्री वतला आये है कि मात्र सम्यग्दर्शन होने पर ही किसी भी प्रकार का वन्ध नही होता और यहा कहा जा रहा है कि महाव्रत अवस्था मे भी पुण्य बध होता है सो कुछ समझ मे नही आया।

समाधान—हे भाई, जहा आचार्य श्री ने सम्यग्दृष्टि को निर्वन्ध कहा है वहा केवल वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेकर कहा है जैसा कि 'चत्तारि विपापे' इत्यादि गाथा से सुस्पष्ट है शेष अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के वन्ध उनके रागानुसार होता ही है क्यो कि राग ही बन्ध का कारण है।

शका—आपने कहा सो ठीक परन्तु महाव्रतो से भी पुण्य बध होता है यह कैसे ?क्योकि फिर जो वन्ध नही करना चाहता वह क्या व्रत छोड दे ?

उत्तर—हे भाई ! महाव्रतो के दो रूप होते हैं—(१) सत्प्रवृत्तिरूप (२) निवृत्ति रूप। जैसे कि हिंसा करना या किसी को भी कष्ट देना यह पाप है, अशुभ वन्ध का कारण है किन्तु हिंसा नही करना अर्थात् सभी के सुखी होने की भावना करना यह सत्प्रवृत्तिरूप महाव्रत है यह पुण्य बध करने वाला है और इसी का सम्पन्न रूप किसी से भी डरने डराने रूप भय सज्ञा से रहित स्वय निर्भय होना यह पुण्य और पाप इन दोनो से भी दूर रहने वाला है। इसी प्रकार झूठ बोलना पाप, सत्य बोलना पुण्य किन्तु सर्वथा नही बोलना अर्थात् मौन रहना सो पुण्य और पाप इन दोनो से भी रहित। किसी की भी विना दी हुई वस्तु लेना सो चोरी पाप, और उसका त्याग किन्तु श्रावक के द्वारा भक्ति पूर्वक उचित रूप से दिया हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करना सो पुण्य और आहार सज्ञा से रहित होना सो पुण्य व पाप इन दोनो से भी रहित। व्यभिचार तो पाप तथा स्त्री त्याग रूप ब्रह्मचर्य सो पुण्य किन्तु मैथुन सज्ञा से रहित होना यह पुण्य और पाप से रहित। इस प्रकार परिग्रह पाप, परिग्रह त्याग पुण्य किन्तु परिग्रह सज्ञा का नही होना सो शुद्ध रूप इस प्रकार महाव्रतो का पूर्व प्रारम्भात्म रूप शुभ किन्तु उन्ही का ही अपर रूप जो कि पूर्णतया उदासीनतामय एव चारो प्रकार की सज्ञाओ से भी रहित होता है। वह शुद्ध व्रत अवन्ध कर होता है ऐसा जानना।

इस प्रकार अव्रत पाप बध करने वाला व व्रत पुण्य वध करने वाला है ऐसा कथन करने वाली दो गाथाये पूर्ण हुई ॥२७६-२७७॥

अब इसके आगे परिणामो की मुख्यता से इन्हीं दो गाथाओ का तेरह गाथाओ से विशेष वर्णन करते हैं उसमे पहले यह वताते हैं कि वाह्य वस्तु तो रागादि परिणामो के लिए कारण होती है तथा रागादिरूप परिणाम वध का कारण होते हैं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥२७८॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानां।
न च वस्तुतस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोस्ति ॥२७८॥

अर्थ—इन ससारी जीवो के जो रागादि रूप अध्यवसान भाव होता है वह वाह्य वस्तु का निमित्त लेकर होता है वह अध्यवसान भाव ही वन्ध का कारण होता हैं किन्तु वह वस्तु बध का कारण नही होती ॥२७८॥

तात्पर्यवृत्ति—वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं वाह्यवस्तुचेतनाचेतन पंचेंद्रियविषय भूत प्रतीत्य आश्रित्य जीवाना तत्प्रसिद्ध रागाद्यध्यवसान भवति **ण हि वत्थुदो दु बंधो** न हि वस्तुन सकाशाद्वधो भवति। तर्हिकेन वध ? **अज्झवसाणेण वधोत्ति** वीतरागपरमात्मतत्त्व-भिन्नेन रागाद्यध्यवसानेन वंधो भवति वस्तुन सकाशाद्वधो कथ न भवतीति चेत् अन्वयव्यतिरेकाभ्या व्यभिचारात्। तथा हि वाह्यवस्तुनि सति नियमेन वधो भवतीति—अन्वयो नास्ति, तदभावे वधोन भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति। तर्हि किमर्थं वाह्यवस्तुत्याग ? इति

चेत् रागाद्यध्यवसानानां परिहारार्थं । अयमत्र भावार्थः । बाह्यपंचेंद्रियविषयभूते वस्तुनि सति, अज्ञानभावात् रागाद्य-ध्यवसानं भवति तस्मादध्यवसाना वद्‌धोभवतीतिपारंपर्येण वस्तु, बंधकारणंभवति न च साक्षात् । अध्यवसानं पुनर्निश्चयेन बंधकारणमिति ।

एवं बंधहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वमसत्यत्वं दर्शयति—

टीकाः—(वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं) जीवों के रागादिरूप से प्रसिद्ध होने वाला विकारी भाव इन पंचेन्द्रियों के विषयभूत चेतन और अचेतनात्मक बाह्य वस्तुओं के आश्रय से होता है (ण हि वत्थुदो दु बंधो) फिर भी वह वस्तु बंध का कारण नहीं होती । फिर बन्ध का कारण क्या है ? कि (अज्झवसाणेण बंधोत्ति) बंध तो श्री वीतराग परमात्मा तत्व से भिन्नता रखने वाला रागादिरूप अध्यवसान भाव विकारी परिणाम से होता है । वस्तु से बन्ध क्यों नहीं होता है? ऐसा कहो तो उसका समाधान यह है कि वस्तु के साथ में बन्ध का अन्वय व्यतिरेक पूरी प्रकार नहीं बैठता उसमें व्यभिचार आता है । क्योंकि जहां बाह्य वस्तु हो वहां बंध भी अवश्य हो इस प्रकार तो अन्वय और जहां वाह्य वस्तु न रहे वहां बंध भी न होवे इस प्रकार का व्यतिरेक भी नहीं पाया जाता (देखो, एक संयमी यत्नाचार से चल रहा है वहां सहसा टकराकर कोई जीव मर गया तो वहां वध होने पर भी संयमी के बंध नहीं, इसी प्रकार किसी को मारने के लिए किसी ने तलवार चलाई किन्तु उसके लगी नहीं वह वच गया तो वधतो नहीं हुआ फिर भी उस तलवार चलाने वाले के कर्म बन्ध हो ही गया) इस पर शंका होती है कि फिर बाह्य वस्तु के त्याग की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि रागादिरूप अध्यवसान भाव को न होने देने के लिए बाह्य वस्तु के त्याग की आवश्यकता है क्योंकि पंचेन्द्रियों की विषयभूत बाह्य वस्तु के होने पर ही अज्ञान भाव के कारण रागादिरूप अध्यवसान भाव होता है जिस अध्यवसान भावसे नूतन कर्म बन्ध होता है । इस प्रकार परम्परा से वाह्य वस्तु भी कर्म बन्ध का कारण होती है किन्तु साक्षात् बाह्य वस्तु ही बन्ध का कारण होती हो ऐसा नहीं है अपितु ऐसा साक्षात् संबंध तो अध्यवसान के ही साथ में है इसलिए निश्चय से बन्ध का कारण अध्यवसान भाव को ही माना जाता है ।।२७८।।

विशेषार्थः—यहां बाह्य त्याग का समर्थन किया गयाहै । आचार्य महाराज कहते हैं कि यद्यपि नूतन कर्म बन्ध आत्मा के रागद्वेष विकार भाव से होता है किन्तु वह विकार भाव बाह्य वस्तु के आलम्वन से ही होता है । जैसे कि सुभट है तो उसको मारने या बचाने का विचार हो सकता है किन्तु बांझ के पुत्र को मारने या बचाने का विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि वह है ही नहीं । एवं जब वाह्य वस्तु का आलम्वन लेकर ही विकार भाव होता है तब उस विकार भावसे बचने के लिए छद्मस्थ को बाह्य वस्तु का त्याग करना भी परमावश्यक है । जब बाह्य वस्तु का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से सर्वथा त्याग करके उनसे दूर हो जायगा तो उसका स्मरण भी कभी नहीं करेगा फिर उसके रागादि-रूप विकार भाव कैसे होगा ? इसलिये वाह्य त्याग आवश्यक है ।

आगे बताते हैं कि कर्म बंध करनेवाला जो अध्यवसान भाव होता है वह अपना कार्य करने में असमर्थ होता है (अर्थात् मारने का विचार करने पर भी मार नहीं सकता) तब वह झूंठा होता है:—

दुक्खिद सुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढ़मई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२७६॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बंधयामि तथा विमोचयामि ।
या एषा मूढ़मतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥२७९॥

अर्थ—हे भाई ! तेरी जो ऐसी मूढ बुद्धि है कि मैं इन जीवो को दु खी या सुखी करता हू या कर सकता हूँ, बाध सकता हू या छुडा सकता हू वह तेरी मोह रूप बुद्धि है, निरर्थक है, मिथ्या ही है इसमे तथ्य नही है ॥२७९॥

तात्पर्यवृत्ति—**दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बधामि तह विमोचेमि** दु खितसुखितान् जीवान् करोमि, बध्नामि, तथा विमोचयामि **जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा** या एषा तव मति सा निरर्थिका निष्प्रयोजना हु स्फुट दे अहो तत कारणात् मिथ्या वितथा व्यलीका भवति । कस्मात् ? इति चेत् भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवाना सातासातोदयाभावात् सुखदु खाभाव स्वकीयाशुद्धशुद्धाध्यवसानाभावात् बधो मोक्षाभावश्चेति ॥

अथ कस्मादध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवती चेत्—

टीका—(दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बधामि तह विमोचेमि) मैं इन जीवो को दु खी या सुखी कर रहा हू, बाध रहा हूँ या छुडा रहा हू (जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा) यह जो तेरी बुद्धि है वह निरर्थक है, कोई भी प्रयोजन सिद्ध करने वाली नही है यह स्पष्ट है इसलिये यह मिथ्या है, झूठी है, व्यर्थ है । क्योकि जब तक उन जीवो को साता वेदनीय तथा असाता वेदनीय का उदय न हो तब तक तेरे विचार मात्र से उनको सुख या दु ख नही हो सकता है । इसी प्रकार जब तक उनका अपना विचार अशुद्ध या शुद्ध न हो तब तक तेरे विचार मात्र से उनका बध जाना और मुक्त हो जाना नही हो सकता है ॥२७९॥

इस पर शिष्य प्रश्न करता है यह उपरोक्त अध्यवसान क्रियाकारी क्यो नही है—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते किं करोसि तुमं ॥२८०॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि ।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तर्हि किं करोषि त्वं ॥२८०॥

अर्थ—जब कोई भी जीव अपने २ अध्यवसान के निमित्त से कर्म से बध को प्राप्त होते हैं और मोक्षमार्ग मे स्थित होने पर कर्म से छूटते हैं (अन्यथा नही ऐसा नियम है) तब तेरा विचार क्या काम आया ?

तात्पर्यवृत्ति—**अज्झवसाणणिमित्त जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि** मिथ्यात्वरागादिस्वकीयाध्यवसाननिमित्त कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणावध्यते , इति चेत् **मुच्चति मोक्खमग्गे ठिदा य ते** शुद्धात्मसम्यक्त्वश्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणे मोक्षमार्गे स्थिता पुनर्मुच्यते यदि चेत्ते जीवा **किं करोसि तुमं** तर्हि किं करोषि त्व हे दुरात्मन् न किमपीति, त्वदीयाध्यवसान स्वार्थक्रियाकारि न भवति ।

अथ दुःखिता जीवाः स्वकीयपापोदयेन भवति न च भवदीयपरिणामेनेति—

टीका – (अज्झवसाणणिमित्त जीवा बज्झति कम्मणा जदि हि) जब कि सब ही ससारी जीव अपने मे होने वाले मिथ्यात्व या रागादि अध्यवसान का निमित्त लेकर ही नवीन कर्म के बध से जकड लिये जाते हैं ऐसा ही नियम है (मुच्चति मोक्खमग्गे ठिदा य ते) शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका उस मोक्षमार्ग मे स्थित होने पर अर्थात् आत्मध्यान मे तल्लीन होकर मुक्त हो सकते हैं तब (किं करोसि तुम) हे दुरात्मन् ! तू वहा क्या कर सकता है ? कुछ भी नही अपितु तेरा विचार तो व्यर्थ ही ठहरता है ।। २८० ।।

इस प्रकार जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने पाप कर्म के उदय मे होते हैं, तुम्हारे विचारानुसार नही, यह बतलाते है —

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८१।।
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८२।।
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८३।।
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।२८४।।(चतुष्कम्)

कायेन दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्वाः ।।२८१।।
वाचा दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिता कर्मणा यदि सत्वाः ।।२८२।।
मनसा दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्वाः ।।२८३।।
शस्त्रेण दुःखयामि सत्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।
सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि जीवाः ।।२८४।।

अर्थ—मैं शरीर से प्राणियो को दुःखी करता हूँ यह जो तेरी बुद्धि है वह झूठी है क्योकि जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने २ कर्मो के उदय से दुःखी होते हैं। मैं वचन से इनको दुःखी करता हूँ यह जो तू बुद्धि करता है

वह सव मिथ्या है क्योकि जीव दु खी होते हैं वे सव अपने २ कर्मों के उदय से दु'खी होते हैं। मैं मेरे मन से इन जीवो को दु खी करता हू यह जो तेरी वुद्धि है वह मिथ्या है क्योकि जीव जो दु खी होते हैं वे सव अपने २ कर्मोके उदय से दु खी होते हैं इसीप्रकार मैं शस्त्र के द्वारा प्राणियो को दु खी करता हूँ यह तेरी बुद्धि मिथ्या है क्योकि जीव जो दु खी होते हैं वे सव अपने २ कर्मों के उदयसे दु खी होते हैं ॥ २८१-२८२-२८३-२८४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—**कायेण** इत्यादि स्वकीयपापोदयेन जीवा दु खिता भवति यदि चेत् ? तेपा जीवाना स्वकीय-पापकर्मोदयभावे भवतो किमपि कर्तुं नायाति इति हेतो मनोवचनकायैं शस्त्रैश्च जीवान् दुःखितान् करोमि इति रे दुरात्मन् त्वदीया मतिर्मिथ्या। पर किं तु स्वस्थभावच्युतो भूत्वा त्व पापमेव वध्नासि इति ।

अथ सुखिता अपि निश्चयेन स्वकीयशुभकर्मोदये सति भवतीति कथयति—

टीका.—हे दुरात्मन् ! भोले प्राणी ! यदि जीव अपने ही पाप कर्म के उदयसे दु खी होते हैं एवं तुम उन जीवो के विषयमे कुछ कर ही नही सकते हो तो फिर मैं इन जीवो को मन से, वचन से, कायसे और शस्त्रो के द्वारा भी दु खी कर सकता हू या कर रहा हू यह जो तेरी वुद्धि है वह झूठी है प्रत्युत ऐसी वुद्धि के द्वारा स्वस्थ भाव (सहज निराकुल आत्मभाव) से च्युत होकर तू पाप वध ही करेगा।

यह जीव सुखी भी निश्चय से अपने शुभ कर्म के उदय होने पर होता है ऐसा वतलाते है—

कायेण च वायाइव मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एवंपि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८५॥

कायेन च वाचा वा मनसा सुखितान् करोमि सत्वानिति ।
एवमपि भवति मिथ्या सुखिनः कर्मणा यदि सत्वाः ॥२८५॥

अर्थ—उसी प्रकार यदि ये प्राणी अपने २ कर्मों के उदय से सुखी होते हैं तव मैं मन, वचन, काय से इनको सुखी करता हूँ यह तेरी वुद्धि मिथ्या है ॥२८५॥

तात्पर्यवृत्ति—स्वकीयकर्मोदयेन जीवा यदि चेत् सुखिता भवति। न च त्वदीयपरिणामेन तर्हि मनोवचन-कायैर्जीवान् सुखितानह करोमि इति भवदीया मतिर्मिथ्या। एव तवाध्यवसान स्वार्थक न भवति। पर किंतु निरुपराग-परमचिज्ज्योति स्वभावे स्वशुद्धात्मतत्वमश्रद्दधान तथैवाजानन् अभावयश्च तेन शुभपरिणामेन पुण्यमेव वध्नाति इत्यर्थ ।

अथ स्वस्थभावप्रतिपक्षभूतेन च रागाद्यध्यवसानेन मोहित सन्नय जीव. समस्तमपि परद्रव्यमात्मनि नियोजयति इत्युपदिशति—

टीका—यदि सभी जीव सुखी भी अपने अपने कर्मोदय से होते है, न कि तेरे परिणामो से, तो निश्चय से मैं मन, वचन, काय से इन ससारी प्राणियो को सुखी करता हूँ यह तेरी वुद्धि मिथ्या है। क्योकि तेरे विचार से तो जीव सुखी होते नही है एव तेरा विचार तो निरर्थक ही है प्रत्युत दूसरो को सुखी करने के विचार से तो तू वीतराग मय परम चेतन ज्योतिस्वरूप जो शुद्धात्म तत्व उसको नही जानता हुआ, नही मानता हुआ और नही अनुभव करता हुआ तू उस शुभ परिणाम से पुण्य को ही वाधता है इस प्रकार इसका अर्थ है ॥२८५॥

विशेषार्थः—जिसने सर्वप्रकार का परिग्रह त्याग कर महाव्रत धारण कर लिया फिर भी मैं अमुक को मार रहा हूँ या बचा रहा हूँ इसी विचार मे उलझा रहा तो उस जीव को लक्ष्य मे लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि तेरे इस विचार मात्र से कोई भी जीव सुखी दुखी नही होता। सुखी दुखी होना तो उस जीव के शुभ व अशुभ कर्मोदय के अनुसार है तब तू क्यो व्यर्थ ही इस प्रकार के सकल्प विकल्प मे फस रहा है ? तुझे तो इन सब प्रपचो से दूर हटकर अपने शुद्ध आत्मा के ध्यान मे लगकर अपने पूर्वकर्मों को हलका करना चाहिए ॥

आगे कहते हैं कि यह जीव अपने आत्मा मे स्थितिरूप स्वस्थ भाव के विरोधी रागादिरूप अध्यवसान से मोहित होता है तब यह सब ही परद्रव्य को अपना मानने लगता है—

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।
देवमुणये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविह ॥२८६॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च ।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२८७॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान् ।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधं ॥२८६॥
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकंच ।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानं ॥२८७॥

अर्थ—यह जीव अध्यवमान भाव के द्वारा तिर्यंच, नारक, देव और मनुष्य नाम से कही जाने वाली सभी पर्यायो को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप को तथा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव द्रव्य को एव लोक अलोक को इन सवको अपना लेता है अपने कर लेता है ।।२८६-२८७।।

तात्पर्यवृत्ति—उदयागतनरकगत्यादिकर्मवशेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपापपुण्यरूपान् कर्मजनितभावान् आत्मान करोति आत्मन सवधात्करोति । निर्विकारपरमात्मतत्त्वज्ञानाद् भ्रष्ट सन् नारकोऽहमित्यादिरूपेण, उदयागतकर्मजनित विभावपरिणामान् आत्मनि योजयनीत्यर्थं ।

धर्माधर्मास्तिकायजीवाजीवलोकालोकज्ञेयपदार्थान् अध्यवसानेन तत्परिच्छित्तिविकल्पेनात्मान करोति, आत्मन सवधात् करोति त्यभिप्राय । किं च यथा घटकारपरिणत ज्ञान घट इत्युपचारेणोच्यते । तथा धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थ विपये धर्मोऽय-म्तिकायादिघमित्यादि योऽसौ परिच्छित्तिरूपो विकल्प सोप्युपचारेण धर्मास्तिकायादिर्भण्यते । कथ ! इति चेत् धर्मा विपयत्वात् । स्वस्थभावच्युतोभूत्वा यदा धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्प करोति तदा तस्मिन् विकल्पे कृते सति धर्मास्तिकायादिरप्युपचारेण कृतो भवति इति ।

अथ निश्चयेन परद्रव्याद्भिन्नोऽपि यस्य मोहस्य प्रभावात् आत्मानं परद्रव्ये योजयति स मोहो येपा नास्ति त तव तपाधेना इति प्रकाशयति—

टीका:—उदय मे आए हुए नरकगति आदि कर्म के वश से यह जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप अवस्थाओ को तथा पुण्य पाप रूप और भी सभी अवस्थाओ को जो कि कर्म जनित अवस्थायें हैं उनको अपने आप के साथ लगा कर अपना लेता है, अपनी कर लेता है। अर्थात् निर्विकार रूप जो परमात्म तत्व उसके ज्ञान से भ्रष्ट होता हुआ वह उन उदयागत कर्म से उत्पन्न विभाव रूप परिणामो को मैं नारकी हूँ इत्यादि रूप से अपने ऊपर लाद लेता है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय जीव, अजीव लोक और अलोक रूप जो ज्ञेय पदार्थ हैं उनको भी अपनी परिच्छित्ति करने के विकल्परूप अध्यवसान के द्वारा अपने आप से जोड करके अपना लेता है, अभिप्राय यह है कि जैसे घटाकार मे परिणत हुआ ज्ञान भी उपचार से अर्थात् विषय विषयी के सवध से घट कहा जाया करता है, वैसे ही धर्मास्तिकायादि ज्ञेय पदार्थो के विषय मे यह धर्मास्तिकाय है इत्यादि परिच्छित्तिरूप (जाननरूप) विकल्प है वह भी उपचार से धर्मास्तिकायादि कहलाता है क्यो कि उस विकल्प का विषय धर्मास्ति कायादि है। अत जव स्वस्थ भाव मे च्युत होकर यह आत्मा "मै धर्मास्तिकाय हूँ इत्यादि" रूप विकल्प करता है उस समय उपचार से धर्मास्तिकाय आदि ही किया हुआ होता है ॥२८६-२८७॥

विशेषार्थ—जैसे हिंसा के अध्यवसान से आत्मा हिंसक, अहिंसा के अध्यवसान से अहिंसक और उदय मे आये हुए नारकादि अध्यवसान से नारकादिरूप, सुख दुख आदि अध्यवसान से पुण्य पाप रूप होता है उसी प्रकार ज्ञायमान धर्म द्रव्यादि के अध्यवसान से धर्मादि रूप स्वय होता है अर्थात् तत्तदध्य-वान से आत्मा स्वय विश्वरूप वन जाता है यह सव अध्यवसान मोहात्मक ही है अत. उससे नूतन वन्ध होता रहता है।

आगे यह वताते हैं कि निश्चय से यह आत्मा शरीरादि पर द्रव्य से भिन्न है किन्तु जिस मोह के प्रभाव मे यह अपने आपको पर द्रव्य के माथ सवध जोडता है वह मोह भाव जिसके नही है वही तपोधन है—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२८८॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि।
तेऽशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥२८८॥

अर्थ:—ये उपर्युक्त अध्यवसान तथा और भी इस प्रकार के अध्यवसान भाव जिनके नहीं हैं वे मुनि लोग ही शुभ तथा अशुभ दोनो प्रकार के कर्मो से नही लिपते हैं ॥२८८॥

तात्पर्यवृत्ति—**एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि** एतान्येवमादीनि पूर्वोक्तानि शुभाशुभा-ध्यवसानानि कर्मवंधनिमित्तभूतानि न सति येषा ते **असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति** त एव मुनीश्वरा शुभाशुभकर्मणा न लिप्यते। किं च विस्तर शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूप निश्चयरत्नत्रयलक्षण भेदविज्ञानयदा न भवति तदाह् जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसान नारकोहमित्यादि न कर्मोदयाध्यवसान, धर्मास्तिकायोयमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसान च निर्विकल्पशुद्धात्मन सकाशाद्भिन्नं न जानातीति। तदजानन् हिंसाध्यवसानविकल्पेन सहा-त्मानमभेदेन श्रद्दधाति जानाति अनुचरति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति मिथ्याज्ञानी भवति मिथ्याचारित्री भवति तत

कर्मबन्ध. स्यात् । यदापुन पूर्वोक्त भेदविज्ञान भवति तदा सम्यग्दृष्टिर्भवति, सम्यग्ज्ञानी भवति सम्यक्चारित्री भवति, तत कर्मबन्धो न भवतीति भावार्थ ।

कियत कालं परभावानात्मनि योजयतीति चेत्—

टीका —(एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि) ये ऊपर बतलाये गये तथा इसी प्रकार के और भी जो अध्यवसान है वे ही कर्मबन्ध के निमित्त भूत होते हैं जो कि शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के हैं, ये अध्यवसान भाव जिनके नही होते (ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पति) वे ही मुनीश्वर शुभ और अशुभ कर्म के द्वारा लिप्त नही होते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जिस समय इस जीव को शुद्धात्मा का समीचीन रूप श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसा भेद विज्ञान नही होता तब उस समय वह जीव "मै इन जीवो को मारता हूँ" इत्यादि रूप से हिंसा के अध्यवसान को, "मैं नारक हूँ" इत्यादि कर्मोदय के अध्यवसान को 'यह धर्मास्तिकाय है' इत्यादिरूप से ज्ञेय पदार्थ के अध्यवसान को अर्थात् जो कि शुद्धात्मा से भिन्न वस्तु है, उसको जानता है तब उस समय मे वह उस हिंसा अध्यवसान रूप विकल्प के साथ अपने आपको अभेदरूप अर्थात् एकमेक रूप से जानता हुआ वैसे ही श्रद्धान रकता अर्थात् जानता है, वैसे ही मानता है और वैसे ही आचरण भी करता है इसलिये मिथ्यादृष्टि होता है, मिथ्याज्ञानी होता है और मिथ्या चारित्री भी होता है इसीलिए उसके कर्म वन्ध होता है और जब पूर्वोक्त भेद विज्ञान होता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है, सम्यग्ज्ञानी होता है और सम्यक् चारित्रवान् होता है उस समय कर्मका बध नही होता है यह भावार्थ है ॥२८८॥

अब यह बताते हैं कि यह आत्मा इन पर पदार्थों को अपने ऊपर कब तक लादता है —

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुह सुह जणयं ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ॥२८९॥

यावत्संकल्पविकल्पौ तावत्कर्म करोत्यशुभशुभजनकं ।
आत्मस्वरूपा ऋद्धिः यावत् न हृदये परिस्फुरति ॥२८९॥

अर्थ—जब तक यह छद्मस्थ जीव बाह्य वस्तुओ के सबध मे सकल्प विकल्प करता है तब तक उसके हृदय मे आत्मा के स्वरूप के विषय का ज्ञान नही हो पाता अत तभी तक वह शुभ और अशुभ जाति के कर्म भी करता है ॥२८९॥

तात्पर्यवृत्ति —यावत्काल बहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादौ ममेतिरूप सकल्प करोति अभ्यतरे हर्षविषादरूप विकल्प च करोति तावत्कालमनतज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मान हृदये न जानाति । यावत्कालमित्थभूत आत्मा हृदये न परिस्फुरति तावत्काल शुभाशुभजनक कर्म करोतीत्यर्थ ।

अथाध्यवसानस्य नाममालामाह—

टीका —जब तक यह जीव शरीर, पुत्र, स्त्री आदिक बाह्य वस्तुओ के विषयमे ये सब मेरे है

इस प्रकार का तो सकल्प और उन्हे लक्ष्यमे लेकर प्रसन्नता तथा अप्रसन्नतारूप विकल्प को मनमे करता है तब तक यह जीव अनन्त ज्ञानादि स्वरूप आत्मा को हृदय से नही जानता है। और जब तक इस प्रकार की आत्मा इसके हृदय मे स्फुरायमान नही होती तब तक शुभाशुभ को उपजाने वाले कर्म करता ही रहता है ।। २८९ ।।

विशेषार्थ —आचार्य श्री ने यहा आत्मोपलब्धि की बात कही है। वह आत्मोपलब्धि तीन प्रकार की है-(१) आगमिक आत्मोपलब्धि (२) मानसिक आत्मोपलब्धि (३) केवलात्मोपलब्धि। (१) गुरु की वाणी मे आत्मा का स्वरूप सुनकर उसपर विश्वास ले आना यह आगमिक आत्मोपलब्धि है। (२) आत्मा के शुद्ध स्वरूप को मन से स्वीकार करना अर्थात् मन को तदनुकूल परिणमा लेना यह मानसिक आत्मोपलब्धि है। (३) केवलज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्षरूप से आत्मा की प्राप्ति है वह केवलात्मोपलब्धि है। उनमे से केवलआत्मोपलब्धि की बात तो अपूर्व है वह तो परमात्मस्वरूप एव ध्येय रूप है ही, परन्तु यहा पर शेप आत्मोपलब्धियो मे से मानसिक आत्मोपलब्धि की बात है जहा पर श्रद्धा के साथ आचरण भी तदनुकूल होता है अर्थात् 'जैसी कथनी वैसी करणी' की बात है। जहा पर श्रद्धाके साथ २ मानसिक आत्मोपलब्धि के समय स्वय मे भी हर्ष विषादादि विकारभावो का अभाव होता है अत वहा शुभ या अशुभ किसी प्रकार के नूतन कर्मबन्ध का सद्भाव नही होता। अतः वही महर्षियो को स्वीकार्य है तथा उसी का यहा इस अध्यात्म प्रकरण मे सग्रहण है एव उसी मानसिक आत्मोपलब्धि वाले को सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, निर्बन्ध आदि रूप से कहा गया है जहा आगमिक आत्मोपलब्धि की बात है वहा पर शुद्धात्मा के विपय का श्रद्धान तो होता है किन्तु आचरण तदनुकूल न होकर उससे उलटा होता है अर्थात् उसे यह विश्वास तो है कि आत्मा का स्वरूप हर्ष विपादादि करना नही है किन्तु स्वय हर्ष विपादादि को लिए हुए रहता है और करता रहता है इस प्रकार "कथनी और व करणी और" वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला होने से उसे इस अध्यात्म शैली ग्रन्थ मे सम्यग्दृष्टि आदि न कह कर मिथ्यादृष्टि आदि कहा गया है जैसा कि ऊपर गाथा न २८८ में व टीका मे लिखा गया है। हा, आगमिक लोग शुद्धात्मा की श्रद्धा मात्र से भी सम्यग्दृष्टिपन मानते हैं क्योकि उनकी विचार धारा यह है कि इसके शुद्धात्मा होने रूप आचरण भले ही आज न सही किन्तु शुद्धात्मा की श्रद्धा तो इसके भी जगी है अत सग्राहकता के रूप से यह भी सम्यग्दृष्टि ही है —

अब आगे की गाथामे आचार्यदेव अध्यवसान के पर्याय नाम गिनाते हैं —

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ।।२९०।।

बुद्धि र्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानं।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ।।२९०।।

अर्थ—बुद्धि, व्यवमाय, अध्यवमान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं ।। २९० ।।

तात्पर्यवृत्ति—बोधन बुद्धि, व्यवमान व्यवसाय, अध्यवमानमध्यवसाय, मनन पर्यालोचन मतिश्च, विज्ञायते

अनेनेति विज्ञान, चिंतन चित्त भवन भाव', परिणमन परिणाम, इति शब्दभेदेऽपि नार्थभेद:-किं तु सर्वोऽपि समभिरुढनयापेक्षयाऽध्यवसानार्थ एव। कथ? इति चेत् यथेंद्र शक्र पुरंदर इति। एव व्रतं पुण्य अव्रतं पापमिति कथनेन सूत्रद्वय पूर्वमेव व्याख्यात तस्यैव सूत्रद्वयस्य विशेषविवरणार्थं बाह्य वस्तु रागाद्यध्यवसानकारण रागाद्यध्यवसान तु वधकारणमिति कथनमुख्यत्वेन त्रयोदश गाथा गता:, इति समुदायेन पंचदशसूत्रैश्चतुर्थस्थल समाप्त।

अत परमभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेण निश्चयनयेन विकल्पात्मकव्यवहारनयो हि बाध्यत इति कथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कपर्यंत व्याख्यान करोति—

टीका.—बोधन अर्थात् जानना मात्र सो बुद्धि, व्यवसानं अर्थात् जानने मात्र के रूपमे व्यवसाय सो व्यवसाय, अध्यवसान अर्थात् समझ लेना सो अध्यवसाय, मनन अर्थात् मान लेना स्वीकार करना सो मति, विज्ञान जिसके द्वारा जाने सो विज्ञान; चिन्तन अर्थात् स्मरण करना वह चित्त, भवन अर्थात् चेतना का होना सो भाव, परिणमन अर्थात् चेतना का रूपान्तर मे होना सो परिणाम। इस प्रकार यहां शब्द भेद तो है किन्तु अर्थ भेद नही है। यदि समभिरूढनय से देखें तो इन सब का अर्थ अध्यवसान ही होता है जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरन्दर का एक ही देवराज ऐसा अर्थ होता है ॥ २९० ॥

इस प्रकार व्रतो के द्वारा पुण्य होता है और अव्रतो के द्वारा पाप इस प्रकार का कथन दो गाथाओं मे हुआ। उसी का विशेप वर्णन करने के लिये वाह्य वस्तु रागादिरूप अध्यवसान का कारण होती है और रागादिरूप अध्यवसान है वह वन्ध का कारण होता है इस प्रकार के कथन को मुख्य लेकर शेष तेरह गाथायें हुई। इस प्रकार पन्द्रह गाथाओ मे यह चतुर्थ स्थल पूर्ण हुआ ॥

अब इसके आगे यह कथन करते हैं कि अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि है स्वरूप जिसका ऐसे उस निश्चयनय के द्वारा विकल्पात्मक जो व्यवहार नय है वह दवा दिया जाता है इस प्रकार के कथन की मुख्यता से छह गाथाओ मे वर्णन करते हैं:—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२९१॥

एवं व्यवहारनय: प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनय संलीना मुनय: प्राप्नुवंति निर्वाणं ॥२९१॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार सविकल्प जो व्यवहार नय है वह निर्विकल्प रूप निश्चयनय के द्वारा प्रतिषेध करने योग्य है। इस निर्विकल्प रूप निश्चय नय मे तल्लीन होकर मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥२९१॥

तात्पर्यवृत्ति—**एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण** एव पूर्वोक्तप्रकारेण परद्रव्याश्रितत्वाद् व्यवहारनय प्रतिषिद्ध इति जानीहि। केन? कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्याश्रितनिश्चयनयेन। कस्मात्? **णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं** निश्चयनयमालीना आश्रिता स्थिता: सतो मुनयो निर्वाण लभते यत कारणादिति। किंच यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारभप्रस्तावे सविकल्पावस्थाया निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनय सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजन इति भावार्थ.। कथ निष्प्रयोजन? इति चेत् कर्मभिरमुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वात्।

टीका—(एव व्यवहारणयो पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण) हे आत्मन् ? उपर्युक्त व्यवहारनय जो कि पराश्रित है वह शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने वाले निश्चयनय से हटा देने योग्य है ऐसा तुम समझो क्योकि (णिच्छय णय सल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाण) निश्चय नय का आश्रय लेने वाले उसमे लीन रहने वाले, स्थित रहने वाले मुनि लोग ही निर्वाण को प्राप्त होते है। भावार्थ यह है कि यद्यपि व्यवहार नय निश्चयनय का साधक है इसलिए प्रारभ मे, प्रथम सविकल्पदशा मे, प्रयोजनवान् हैं। उसे प्राप्त करना आवश्यक है फिर भी जो लोग विशुद्ध ज्ञान दर्शन रूप जो शुद्धात्मा उसमे स्थित हैं चिगते नही है, उनको व्यवहारनय से कोई प्रयोजन नही होता है ।।२९१।।

विशेषार्थ.—व्यवहार नय से यहा पर व्रत, समिति आदि रूप वाह्य क्रियात्मक दशा को और निश्चय नय से आत्म तल्लीनतारूप निर्विकल्प समाधि दशा को लिया गया है। अव जो जीव अनादि कालीन सासारिक उलझन से मुक्त होना चाहता है वह अव मै हिसा नही करके अहिंसा का पालन करूगा इत्यादि रूप से महाव्रत धारण करता है ताकि निराकुल वन कर आत्मानुचिंतन द्वारा अपने मन के मैलको धो डालता है विना ऐसा किये वह सीधा ही आत्मानुचिंतन रूप समाधि मे नही लग सकता व मन के मल को नही धो सकता इसलिए व्रत का धारण करना परम आवश्यक है। किन्तु व्रत धारण करने पर भी आत्मानुमनन रूप समाधि नही प्राप्त की जा सके तो भी उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती है क्यो कि उसका साक्षात् कारण तो आत्म समाधि ही है। जिसने आत्मानुभवरूप समाधि दशा रूप निश्चयनय को प्राप्त कर लिया उसके लिए फिर वाह्य व्रत पालन रूप क्रियात्मक दशापर आनेका कोई प्रयोजन नही रहता। यह वात दूसरी है कि उपयोग की दुर्बलता से आत्मानुभव पर अधिक देर नही टिका रहने के कारण उसे वहा से हटकर वाह्य महाव्रतादि के पालने मे प्रवृत्त होना पडता है वह भी इसलिए कि उसे ऐसा करके फिर आत्मानुभव रूप समाधि को पुन प्राप्त कर सके इसीलिए व्यवहार नय निश्चय नय के द्वारा प्रतिषेध्य है। सार यही है कि मुनि को निर्विकल्प समाधि के प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए तभी मुनिपना सफल है अन्यथा नही।

शंका—फिर आजकल तो मुनि नही वनना चाहिये क्योकि इस समय तो निर्विकल्प समाधि नही हो सकती है ? ऐसा सुना जाता हे।

समाधान—कौन कहता है कि आजकल निर्विकल्प समाधि नही हो सकती है ? विकल्प भी दो प्रकार के होते है (१) ध्येय ध्याता आदि रूप विकल्प (२) इष्ट अनिष्टादि रूप विकल्प। जहा मै ध्यान करने वाला हू और अमुक अर्हन्तादि का ध्यान कर रहा हू इस प्रकार का ध्याता और ध्येय आदि का विकल्प न हो जैसा कि छहढाला मे लिखा हुआ है।

जह ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहा। चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहा।। तीनो अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दशा। प्रगटी जहा, दृग, ज्ञान व्रत ये, तीन धा एक हि लसा।। ऐसा एकाकार ध्यान जिसको आगम भापा मे शुक्ल ध्यान कहते हैं वह तो उत्तम सहनन वाले के ही होता है अत इस समय नही हो सकता है किन्तु जहा पर यह मेरा और यह पराया अथवा यह अच्छा और यह वुरा इस प्रकार के आर्त्तरौद्रभावात्मक सकल्प विकल्प न होने पावे ऐसा धर्म्य ध्यान तो हो सकता है। जैसा कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी लिखते है—

अज्जवितिरयण सुद्धा, अप्पा झाऊण जाति सुरलोए।
लोयन्तिय देवत्त, तत्थचुदा णिव्वुदिं जति ॥७७॥ (मोक्षपाहुड)

अर्थात् आज भी ऐसे जीव हैं जिनका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय निर्दोप व शुद्ध है अत वे अपनी आत्मा का ध्यान करके उसके बल पर यहां से ब्रह्म स्वर्ग में जाकर लौकातिक देव हो जावे और वहा से आकर मनुष्य हो मुनि बनकर निर्वाण को प्राप्त कर लें। इस प्रकार शुद्ध रत्नत्रय को पालन करने की, एव सीधा यहा से लौकान्तिक पद पाने जैसी योग्यता मुनि बनने पर ही हो सकती है अत आज भी मुनि बनना निरर्थक नही है, सार्थक ही है यदि वह समाधि के लिये है।

अन्यथा कोरे व्रतादिक तो अभव्य भी स्वीकार करता है जो कि कर्मों से मुक्त नही होता ऐसा बताते हैं.—

वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२६२॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तं।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥२६२॥

अर्थ—देखो, श्री जिन भगवान् ने बताया है कि उन व्रत, समिति, गुप्ति शील, और तपो को करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि बना रहता है ॥२६२॥

तात्पर्यवृत्तिः—**वदसमिदि गुत्तीओ सीलतव जिणवरेहिं परिकहिदं** व्रतसमितिगुप्तिशील तपश्चरणादिक जिनवरं प्रज्ञप्त कथित **कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ** मदमिथ्यात्वमदकषायोदये सति कुर्वन्नप्यभव्यो जीवस्त्वज्ञानी भवति मिथ्यादृष्टिश्च भवति। कस्मात् ? इति चेत् मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेयश्रद्धानाभावात्। इति

अथ तस्यैकादशागश्रुतज्ञानमस्ति कथमज्ञानी ? इति चेत्

टीका—(वदसमिदिगुत्तीओसीलतव जिणवरेहिं परिकहिदं) श्री जिन भगवान के द्वारा बताये हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपश्चरण आदि को (कुव्वतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ) मिथ्यात्व तथा कषाय का मन्द उदय होने से, करता रहने पर भी अभव्य जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि बना रहता है। क्योकि उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियो को उपशम, क्षय वा क्षयोपशम नही हो पाता, इसलिये शुद्ध आत्म तत्व ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान उसके नही होता। यद्यपि उसके ग्यारह अ ग तक का ज्ञान हो जाता है फिर भी वह अज्ञानी बना रहता है ऐसा नीचे बताते हैं।-

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२६३॥

मोक्षमश्रद्दधानो ऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥२६३॥

अर्थ—अभव्य जीव यदि शास्त्र भी पढ़ता है पर शुद्ध ज्ञानमय आत्म स्वरूप मोक्ष तत्व का श्रद्धान न होने से उसका वह शास्त्र पढना भी गुणकारी नही होता है ।।२६३।।

तात्पर्यवृत्ति—**मोक्खं असद्दहंतो अभविय सत्तो दु जो अधीयेज्ज** मोक्षमश्रद्दधान सन्नभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशांगश्रुताध्ययन कुर्यात् **पाठो ण करेदि गुणं** तथापि तस्य शास्त्रपाठ शुद्धात्मपरिज्ञानरूप गुण न करोति किंकुर्वतस्तस्य ? **असद्दहंतस्य णाणं तु** अश्रद्दधतोऽरोचमानस्य । कि ज्ञान । कोऽर्थ ? शुद्धात्मसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण निर्विकल्पसमाधिना प्राप्य गम्य शुद्धात्मस्वरूपमिति । कस्मान्न श्रद्धत्ते ? दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् । तदपि कस्मात् । अभव्यत्वादिति भावार्थः--

अथ तस्य पुण्यरूपधर्मादिश्रद्धानमस्तीति चेत्—

टीका —(मोक्ख असद्दहतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज) मोक्षका जिसको श्रद्धान नही है (अर्थात् अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध हो सकती है इस प्रकार की आत्म विशुद्धि पर जिसका विश्वास नही जमता है) ऐसा अभव्य जीव यद्यपि अपनी ख्याति, पूजा, लाभादि के लिए ग्यारह अंग श्रुत का अध्ययन भी करता है तो करे (पाठो न करेदि गुण) तो भी शास्त्र का पढना उसके लिये शुद्धात्मा के परिज्ञान रूप गुण का करनेवाला नही होता। (असद्दहंतस्स णाणं तु) क्योकि वह ज्ञान पर अपनी रुचि नही लाता है, विश्वास नही लाता है, अर्थात् वह शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान, और अनुष्ठानरूप जो निर्विकल्प समाधि है उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य, जानने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उसको नही मानता नही स्वीकार करता है क्योकि उसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार के मोहनीय कर्म का उपशम क्षयोपशम व क्षय नही होता। उसका भी यह कारण है कि वह अभव्य है यह भावार्थ है ।। २६३ ।।

फिर यहा शका होती है कि वह पुण्य रूप धर्मादि को क्यो मानता है ?

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो ह फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मखयणिमित्तं ।।२६४।।

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्चस्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तं ।।२६४।।

अर्थ—वह अभव्य जीव धर्म का श्रद्धान करता है, उसे प्रतीति मे लाता है, उसमे रुचि रखता है, एव उसे धारण करता है, सो वह कर्मों को नष्ट करने के लिए नही किंतु भोगों को प्राप्त करने के लिए करता है ।।२६४।।

तात्पर्यवृत्ति—**सद्दहदि** श्रद्धत्ते च **पत्तेदिय** ज्ञानरूपेण प्रत्येति च प्रतीतिं परिच्छित्तिं करोति **रोचेदिय** विशेषश्रद्धानरूपेण रोचते च **तह पुणोवि फासेदिय** तथा पुन स्पृशति च अनुष्ठानरूपेण क ! **धम्मं भोगणिमित्तं** अहमिंद्रादिपदवीकारणत्वादिति मत्वा भोगाकाक्षारूपेण पुण्यरूप धर्मं **ण हु सो कम्मक्खयणिमित्त** नच कर्मक्षयनिमित्त शुद्धात्मसवित्तिलक्षण निश्चयधर्ममिति ।

अथ कीदृशौ तौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

टीका—(सद्दहदिय) श्रद्धान करता है, उसे (पत्तेदिय) ज्ञान के द्वारा प्रतीति में लाता है, उसकी जानकारी प्राप्त करता है (रोचेदिय) विशेष रूप से विश्वास लाता है (तह पुणोवि फासेदिय) तथा उसे

छूता है अर्थात् आचरण मे लाता है। कौन से धर्म को लाता है? कि (धम्मं भोगणिमित्त) अहमिंद्रादि का कारण होने से जो धर्म भोगो का विशेष रूप से साधन है उस पुण्य रूप धर्म को भोगो की अभिलाषा से ही धारण करता है (ण दु सो कम्मखयणिमित्त) किन्तु शुद्धात्मा की सविति है लक्षण जिसका ऐसा जो निश्चय धर्म जो कि कर्मो के नाश करने मे निमित्त होता है उस धर्म को नही मानता नही जानता आदि ॥२६४॥

विशेषार्थ—जैसे कि किसान अन्न को पृथ्वी पर डालता है वह इसलिए नही कि यह बेकार है अपितु वह उसे इसलिए डालता है कि ऐसा करने पर यह मुझे कई गुणा अधिक होकर फल देगा। इसी प्रकार अभव्य मुनि भी वर्तमान भोगो का त्याग करता है वह वैराग्य से नही, परन्तु मैं इन मानव उचित भोगो को छोड दू गा तो मुझे स्वर्गीय दिव्य भोग प्राप्त होंगे इसलिए करता है शरीर से काय क्लेशादि तप करता है वह भी इसलिए कि इस घिनावने शरीर को तप में लगादू गा तो मुझे विक्रियादि ऋद्धिवाला दिव्य शरीर मिलेगा अपितु इसलिए नही कि मैं अशरीरी बन जाऊंगा क्योकि अशरीरी बन रहने का तो उसे महत्व ही मालूम नही है इसलिए उसका वह श्रद्धान, ज्ञान आचरण ठीक न होकर मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

आगे प्रतिषेध्य जो व्यवहार नय व प्रतिषेधक जो निश्चय नय उसका क्या स्वरूप है सो बताते हैं—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥२६५॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा में संवरे जोगे ॥२६६॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयं।
षड् जीवनिकां च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥२६५॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा में संवरो योगः ॥२६६॥

अर्थ—आचाराग आदि शास्त्र का पढना ज्ञान है, जीवादि नव पदार्थों का मानना दर्शन है और छह काय के जीवो की रक्षा करना सो चारित्र है इस प्रकार व्यवहार नय कहता है। किन्तु वास्तव मे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही सवर है और आत्मा ही योग है ऐसा निश्चय नय कहता है ॥२६५-२६६॥

तात्पर्यवृत्ति — आयारादीणाणं आचारसूत्रकृतमित्यादि एकादशागशब्दशास्त्र ज्ञानस्याश्रयत्वात्कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञान भवति। **जीवादी दंसण च विण्णेयं** जीवादिनवपदार्थ श्रद्धानविषय सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्व भवति। **छज्जीवाणं रक्खा भणति चरित्तं तु ववहारो** षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वात्, हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्र भवति एव पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्गं प्रोक्त इति।

आदा खु मज्झ णाणे स्वशुद्धात्मा ज्ञानस्याश्रयत्वान्निमित्तत्वान्निश्चयनयेन मम सम्यग्ज्ञानं भवति । **आदा मे दसणे** शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनस्याश्रयत्वात् कारणत्वात् निश्चयेन सम्यग्दर्शनं भवति **चरित्ते य** शुद्धात्मा चारित्रस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् निश्चयेन सम्यक्चारित्रं भवति **आदा पच्चक्खाणे** शुद्धात्मा रागादिपरित्यागलक्षणस्याप्रत्याख्यानस्याश्रयत्वात्कारणत्वात् निश्चयेन प्रत्याख्यानं भवति । **आदा मे संवरे** शुद्धात्मा स्वरूपोपलब्धिवलेन हर्षविषादादिनिरोधनलक्षणसवरस्याश्रयत्वान्निश्चयेन सवरोभवति **जोगे** शुभाशुभचितानिरोधलक्षणपरमध्यानशब्दवाच्ययोगस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् परमयोगो भवतीति शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चयमोक्षमार्गो ज्ञातव्य । एव व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूप कथित तत्र निश्चय प्रतिषेधको भवति, व्यवहारस्तु प्रतिषेध्य इति । कस्मादिति चेत् निश्चयमोक्षमार्गे स्थिताना नियमेन मोक्षो भवति व्यवहारमोक्षमार्गे स्थिताना तु भवति न भवति च । कथ न भवति ? इति चेत्, यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयात्मकाशाच्छुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो भवति । यदि पुन सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे शुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा न वर्त्तते तदा मोक्षो न भवति । तदपि कस्मात् ? सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे सति, अनतज्ञानादिगुणस्वरूपमात्मानमुपादेय कृत्वा न वर्तते न श्रद्धत्ते यत कारणात् । यस्तु तादृशमात्मानमुपादेय कृत्वा श्रद्धत्ते तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिक न विद्यते स तु भव्यो भवति । यस्य पुन पूर्वोक्तशुद्धात्मस्वरूपमुपादेय । नास्ति तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिक न विद्यते इति ज्ञातव्य । मिथ्यादृष्टिर्भवति तेन कारणेनाभव्यजीवस्य मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमादिक कदाचिदपि न सभवति इति भावार्थ । किं च निर्विकल्पसमाधिरूपेनिश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य , किं तु तस्यास्त्रिगुप्तावस्थाया व्यवहार स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थ । एव निश्चयनयेन व्यवहार प्रतिषिद्ध इति कथनरूपेण षट् सूत्र पचम स्थल गत ।

अथाहारविषये मरमविरसमानापमानादिचिंताल्परागद्वेषकारणाभावादाहारग्रहणकृतो ज्ञानिना बधो नास्ति इति कथयति—

टीका —(आयारादी णाण) आचारांग सूत्रकृताग आदि ग्यारह अ ग रूप जो शब्द शास्त्र है वह ज्ञान का आश्रय होने के कारण व्यवहार से सम्यग्ज्ञान है। (जीवादी दसण च विण्णेय) जीवादि स्वरूप नव पदार्थ जो श्रद्धान का विषय है वही सम्यक्त्व का आश्रय है निमित्त है इसलिए व्यवहार से वही सम्यक्त्व है। (छज्जीवाण रक्खा भणति चरित्रं तु ववहारो) छह कार्य के जीवो की रक्षा करना चारित्र का आश्रय होने से, कारण होने से व्यवहार नय से चारित्र है । इस प्रकार यह मोक्षमार्ग का स्वरूप हुआ । किन्तु (आदा खु मज्झणाणे) अपनी शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय है, निमित्त है इसलिए निश्चयनय से मेरी आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है। (आदा मे दसणे) मेरी शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन का आश्रय है हेतु है इसलिए निश्चयनय से वही सम्यग्दर्शन है (चरित्तेय) मेरी शुद्धआत्मा ही चारित्र का आश्रय है, हेतु है इसलिए निश्चयनय से वही सम्यक्चारित्र है। (आदा पच्चक्खाणे) शुद्धात्मा ही, रागादि के परित्याग स्वरूप जो प्रत्याख्यान उसका आश्रय है, कारण है इसलिए निश्चयनय से वही प्रत्याख्यान है। (आदा मे सवरे) शुद्धात्मा ही, स्वरूप की उपलब्धि के वश से हर्ष विषाद आदि का न होना ही लक्षण जिसका ऐसे सवर का आश्रय होने से, निश्चयनय से वही सवर है। (जोगे) शुभ और अशुभ रूप जो चिंता उसका निरोध करके रखना वही है लक्षण जिसका ऐसा परम ध्यान शब्द से कहा जाने योग्य योग है उसका आश्रय होने से, हेतु होने से, शुद्धात्मा ही परम योग है। इस प्रकार स्वशुद्धात्मा के ही आश्रय होने से यह निश्चय मोक्षमार्ग है ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार मोक्ष मार्ग व निश्चय मोक्ष मार्ग का स्वरूप कहा। वहा निश्चय मोक्ष मार्ग तो प्रतिषेधक है और व्यवहार मोक्ष मार्ग (निश्चय मोक्षमार्ग से) प्रतिषेध्य है। क्योकि निश्चय मोक्ष मार्ग मे स्थित है इनको नियम से मोक्ष

होता है किन्तु व्यवहार मोक्ष मार्ग मे स्थित होने वालो को मोक्ष होता भी है और नही भी होता है। क्यो कि यदि मिथ्यात्व आदि (तीन मिथ्यात्व की और चार अनतानुवधी की) सात प्रकृतियो का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने से शुद्धात्मा को उपादेय मान कर वह व्यवहार मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्त होता है तब तो मोक्ष होता है। और यदि उन्ही सात प्रकृतियो के उपशमादि के न होने पर शुद्धात्मा को उपादेय न मानकर ही वह व्यवहार मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्त हुआ है तो उसके फिर कभी मोक्ष नही हो सकता है सो उससे मोक्ष नही होने का यही कारण है कि उसमे मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियो का उपशमादिभाव न होने से अनत ज्ञानादि गुण स्वरूप शुद्धात्मा है उसकी उपादेयता वहा नही होती। हा, जो जीव शुद्धात्मा को उपादेय मानता है उसका विश्वास करना है (अर्थात् जो कोई रागद्वेष मिटाना चाहे तो मिटाकर सदा के लिए वीतराग रूप वन सकता है) तो उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतिया का उपशमादि भी अवश्य होता है वह भव्य जीव होता है। किन्तु जो पूर्वोक्त शुद्धात्मा के स्वरूप को नही मानता उस पर विश्वास नही रखता, तो उसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियो का उपशमादि भी नही है एव वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा समझना चाहिए। अभव्यजीव भी वही होता है जिसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियो का उपशमादिकन है और न हो सकेगा यह भावार्थ है। हा, यहा यह वात आई है कि निश्चय मोक्ष मार्ग तो निर्विकल्प समाधि रूप है उस त्रिगुप्ति रूप मोक्ष मार्ग मे स्थित होने पर प्रवृति रूप व्यवहार मोक्ष मार्ग में पहुँच कर व्यवहार छोड दिया जाता है उसका भी अर्थ यह है कि निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प समाधि रूप है इस त्रिगुप्ति रूप मोक्षमार्ग मे स्थित होने पर प्रवृत्ति रूप व्यवहार मोक्षमार्गस्वय नही रहता यह इन गाथाओ का तात्पर्य है इस प्रकार निश्चय नय मे व्यवहार के प्रतिषेधरूप कथन की मुख्यता से छह सूत्रो से पचम स्थल पूर्ण हुआ ॥२९५-२९६॥

विशेषार्थ—मोक्ष शब्द का अर्थ छोड देना-त्याग कर देना होता है। उसका मार्ग अर्थात् त्याग करने का उपाय आचार्य श्री ने निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार कहा है। बाह्य सर्व वस्तुओ का त्याग कर आत्मा को ही मानना, उसे ही जानना, और उसी मे ही तल्लीन होना यह तो निश्चय मोक्षमार्ग है जोकि एक ही प्रकार का है उसमे भेद नही है। जीवादि नव पदार्थों के स्वरूप को भिन्न भिन्न रूप से अच्छी प्रकार समझकर उस पर विश्वास लाना और हिंसादि पाच पापो का त्याग करना व्यवहार मोक्षमार्ग होता है वह दो प्रकार से होता है। एक भव्य के द्वाराआराध्य और दूसरा अभव्य द्वारा ग्राह्य। भव्य जीव स्वय अशरीरी वन रहने के लिये उसे धारण करता है और उसका पालन करके उसके द्वारा निश्चय मोक्षमार्ग मे लगकर अशरीरी वन जाता है। किन्तु अभव्य का विश्वास अशरीरी पन पर नही होता, वह तो सासारिक वैभव प्राप्ति करने के लिये ही ग्रहण करता है अत ग्रैवेयक मे जा जन्म लेता है।

आगे कहते है कि आहार लेने के विषय मे मान, अपमान, सरस, नीरस, आदि की चिता रूप रागद्वेष न करने के कारण आहार लेते हुए भी ज्ञानी जीव के आहार कृत बध नही होता—

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं ॥२९७॥
आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह मणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा ॥२९८॥

आधाकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणाः खलु ये नित्यं ॥२९७॥
आधाकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।
कथमनुमन्यते अन्येन क्रियमाणा परस्य गुणाः ॥२९८॥

तात्पर्यवृत्ति—स्वय पाकेनोत्पन्न आहार अध कर्मशब्देनोच्यते तत्प्रभृतिव्याख्यान करोति-अधःकर्माद्या ये इमे दोषा, कथभूता ? शुद्धात्मन सकाशात्परस्याभिन्नस्याहाररूपपुद्गलद्रव्यस्य गुणा । पुनरपि कथभूताः ? तस्यैवाहारपुद्गलस्य पचनपाचनादिक्रियारूपा तान्निश्चयेन कथ करोतीति ज्ञानीति प्रथमगाथार्थं । अनुमोदयति वा कथमिति द्वितीय गाथार्थं परेण गृहस्थेन क्रियमाणान्, न कथमपि । कस्मात् ? निर्विकल्पसमाधौ सति आहारविषयमनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् इत्यध कर्मव्याख्यानरूपेण गाथाद्वय गत ।

आहारग्रहणात्पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्त यत्किमप्यशनपानादिक कृत तदौपदेशिक भण्यते तेनोपदेशिकेन सह तदेवाध कर्म पुनरपि गाथाद्वयेन कथ्यते

अर्थ व टीका—स्वय अपने बनाने से सम्पन्न हुआ आहार आधाकर्म शब्द से कहा जाता है । उसी को प्रथम लेकर कहते हैं कि आधाकर्मादिक जो दोष हैं वह सब शुद्धात्मा से पृथग्भूत आहाररूप पुद्गल द्रव्य के गुण हैं क्योकि वह सब उसी आहार रूप पुद्गल द्रव्य के पकने पकाने आदि क्रियारूप होते हैं अत निश्चय से ज्ञानी उन्हे कैसे कर सकता है ? एव किसी दूसरे गृहस्थ के द्वारा उन सबकी वह अनुमोदना भी कैसे कर सकता है ? कभी नही कर सकता । क्योकि ज्ञानी के तो निर्विकल्प समाधि होती है उसके होने पर उसके आहार विषयक मन, वचन, काय, और कृत कारित और अनुमोदना का अभाव होता है । इस प्रकार आधाकर्म दोष के व्याख्यान रूप मे दो गाथाये कही गई ॥ २९७-२९८ ॥

इसी प्रकार आहार ग्रहण करने से पहले उस पात्र को निमित्त लेकर जो कुछ अन्न पान सम्पन्न किया जाता है वह औद्देशिक दोष कहलाता है इस औद्देशिक दोष के साथ उसी आधादोष का वर्णन फिर दो गाथाओ मे करते हैं-

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचदेणं वुत्तं ॥२९९॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गल मयं इमं दव्वं ।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचदेणं वुत्तं ॥३००॥

आधाकर्मौपदेशिकं च पुद्गलमयमेतद्द्रव्यं ।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥२९९॥
आधाकर्मौपिदेशिकं च पुद्गलमय मेतद् द्रव्यं ।
कथं तन्मम कारितं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥३००॥

अर्थ—पर के उद्देश्य से किया हुआ यह आवाकर्म पुद्गलमयी द्रव्य है तथा नित्य ही अचेतन है ऐसा कहा गया है सो यह मेरी की हुई कैसे हो सकती है अथवा मेरी कराई हुई कैसे हो सकती है ।। २९९-३००।।

तात्पर्यवृत्ति—यदिदमाहारकपुद्गलद्रव्यमधःकर्मरूपमौपदेशिक च चेतनशुद्धात्मद्रव्यपृथक्त्वेन नित्यमेवाचेतन भणित तत्कथं मया कृत भवति कारितं वा कथ भवति ? न कथमपि। कस्माद्धेतो ? निश्चयरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञाने सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् । इत्यौपदेशिकव्याख्यानमुख्यत्वेन च गाथाद्वयं गत ।

अयमत्राभिप्राय पश्चात्पूर्व सप्रतिकाले वा योग्याहारादिविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमतरूपैर्नवभिर्विकल्पै. शुद्धास्तेषा परकृताहारादिविषये बधो नास्ति यदि पुन परकीयपरिणामेन बधो भवति तर्हि क्वापि काले निर्वाण नास्ति। तथा चोक्त ।

णवकोडिकम्मसुद्धो पच्छापुरदोय सपदियकाले ।
परसुहदुक्खणिमित्त वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाण ।।

एव ज्ञानिनामाहारग्रहणकृतो बधो नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयेन षष्ठस्थल गत ।

अथ रागादय किल कर्मबन्धकारण भणिता , तेषा पुन कि कारण ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—

टीका—जो अधःकर्मरूप तथा औद्देशिकरूप आहारमय पुद्गलद्रव्य है वह चेतनात्मक शुद्ध आत्मद्रव्य से पृथक् होने के कारण सर्वथा अचेतन कहा गया है तब वह मेरे द्वारा किया हुआ कैसे हो सकता है ? कराया हुआ भी कैसे हो सकता है ? कभी नही हो सकता है। क्योकि निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के होने पर आहार के विषय में मन, वचन, काय और कृत कारित और अनुमोदना का अभाव होता है। इस प्रकार औद्देशिक दोष के व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथायें पूर्ण हुई । तात्पर्य यह है कि बादमे पहले या वर्तमान मे कभी भी योग्य आहार आदि के विषय में मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदनारूप नव प्रकार के विकल्पो से जो शुद्ध है, रहित है उनके दूसरे के द्वारा बनाये हुए आहारादि विषयक बन्ध कभी नही हो सकता है। यदि दूसरे के परिणामो द्वारा बन्ध हो जाय तब कभी भी किसी का निर्वाण नही हो सकेगा, सो कहा भी है-

णव कोडि कम्म सुद्धो पच्छा पुर दोय संपदिय काले ।
पर सुह दु ख णिमित्त वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाण ।।

अर्थात्—त्रिकाल सबधी कार्यों से मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदनारूप नव कोटितया जो दूर है ऐसा जीव भी दूसरो के सुख दु ख का निमित्त लेकर यदि बन्धता होवे तब तो किसी की भी मुक्ति नही हो सकेगी। अतः जो ज्ञानी जीव हैं अर्थात् जो आत्म- समाधि मे लीन हैं उनके आहार ग्रहण करने से होने वाला बध भी नही होता (क्योकि वे उस प्रपच से ही दूर हैं)। ऐसी व्याख्यान वाली चार गाथाओ से यह छट्ठा स्थल पूर्ण हुआ ।। २९९-३०० ।।

अब यह बताते हैं कि जिन रागादिभावो से आत्मा को बन्ध होता है सो रागादि विकारी भाव कैसे बनते हैं ?—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।।३०१।।

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ।।३०२।।

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ।।३०१।।

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ।।३०२।।

अर्थ व टीका:—जैसे स्फटिक मणि जो कि निर्मल होता है वह किसी वाहरी लगाव के विना अपने आप ही लाल आदि रूप परिणमन नही करता है किन्तु जपा पुष्पादि वाह्य दूसरे २ द्रव्य के द्वारा वह लाल आदि बनता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी उपाधि से रहित अपने चिच्चमत्कार रूप स्वभाव से वह शुद्ध ही होता है जोकि जपा पुष्प स्थानीय कर्मोदय रूप उपाधि के विना रागादिरूप विभावो के रूप मे परिणमन नही करता है। हा, जब कर्मोदय से होने वाले रागादिरूप दोष भावो से अपनी सहज स्वच्छता से च्युत होता है तव वह रागी बनता है। इससे यह बात मान लेनी पडती है कि रागादिक हैं वे सव कर्मोदय जनित हैं किन्तु ज्ञानी जीव के स्वय के भाव नही है ।। ३०१-३०२ ।।

इस प्रकार चिदानद ही है एक लक्षण जिसका ऐसे अपने स्वभाव को जानता हुआ (अनुभव करता हुआ) ज्ञानी जीव रागादि नही करता है इसलिए वह नूतन रागादि की उत्पत्ति के कारण भूत कर्मो का कर्त्ता भी नहीं होता ऐसा आगे वतलाते हैं—

णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ।।३०३।।

नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।
स्वयमेवात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानां ।।३०३।।

अर्थ—ज्ञानी जीव स्वय ही अपने आप मे रागद्वेष और मोह भाव को तथा किसी भी प्रकार के कपाय भाव को नही करता हैं इसलिए वह उन भावो का करने वाला नही होता हैं ।।३०३।।

तात्पर्यवृत्ति—**णवि रागदोसमोह कुव्वदि णाणी कसायभावं वा** ज्ञानी न करोति । कान् ? रागादिदोषरहितशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतान् रागद्वेपमोहान् क्रोधादिकपायभाव वा । कथ न करोति ? **सयं** स्वय शुद्धात्मभावेन कर्मोदयसहकारिकारण विना । कस्य सवधित्वेन ? **अप्पणो** आत्मन **ण सो तेण कारगो तेसिं भावाण** तेन कारणेन स तत्त्वज्ञानी तेपा रागादिभावाना कर्ता न भवतीति ।

अज्ञानी जीव. शुद्धस्वभावमात्मानमजानन् रागादीन् करोति तत स भाविरागादिजनकनवतरकर्मणा कर्ता भवतीत्युपदिशति—

टीका.—(णवि रागदोस मोह् कुव्वदि णाणी कसायभाव वा) रागादि दोषो से रहित जो शुद्धात्मा उसके स्वभाव से पृथक् रहने वाले रागद्वेष मोह भावो को तथा किसी भी प्रकार के कषाय भाव को क्रोधादि रूप परिणाम को ज्ञानी जीव नही करता क्योकि वह (सयमप्पणो ण सो तेण कारणो तेसि भावाण) कर्मोदय रूप सहकारी कारण के बिना अपने आप ही अपने उन विकार भावो का कर्त्ता शुद्ध भाव के द्वारा नही हो सकता ।।३०३।।

विशेषार्थ—यहा पर आचार्य श्री ने २९७-२९८-२९९ गाथाओ मे स्पष्ट कर बताया है कि यद्यपि आत्मा परिणमन स्वभाव है स्वभाव को छोड कर विभाव रूप मे परिणमन करने वाला है किन्तु वह अपने आप विभाव रूप कभी परिणमन नही करता । हा, जब कर्मोदयात्मक पर द्रव्यो का सयोग पाता है तभी विभाव रूप मे परिणमन करता है । जैसे कि स्फटिक मणि श्वेत होता है वह लाल पीला आदि भी बनता है फिर भी श्वेत स्वच्छ तो अपने आप होता है किन्तु लाल पीला आदि तो वह डाक का सबध पावे तब ही बनता है । आत्मा की भी ऐसी ही बात है । ज्ञानी इसको भली प्रकार जानता है इसलिए वह सब विकल्पो से दूर हटकर अपने आप, आत्मस्वरूप मे तल्लीन रहता है, अब उसके लिए बाह्य निमित्त तो कोई रहा नही फिर 'अपने आप रागद्वेष मोहरूप कषाय भाव करे तो कैसे करे ? इसलिए ज्ञानी जीव किसी भी प्रकार के कषायभाव का करने वाला नही होता अर्थात् उसकी आत्मा मे किसी भी प्रकार का विकार पैदा नही होता ।

शका—हमने तो सुना है कि ज्ञानी जीव अनन्तानुबधी कषाय नही करता है इतर कषाय होने पर भी उसके ज्ञानी पन मे कोई भी बाधा नही आती है ।

समाधान—यहा पर तो आचार्य महाराज ने ऐसी कोई छटनी नही की है अपितु यहा तो स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञानी तो वह है जो किसी भी प्रकार की कषाय नही करता । और यह कहना ठीक भी है क्योकि ज्ञानी को बध इष्ट नही होता । क्योकि सभी प्रकार के कषाय भाव से बन्ध होता है अत ज्ञानी को फिर कोई भी कषाय कैसे इष्ट हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती ! जैसाकि आत्मख्याति के उल्लेख से भी स्पष्ट होता है—ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावै स्वय न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेष मोहादिभावानामकर्तै वेति नियमः" अर्थात् ज्ञानी निर्विकल्परूप अपने शुद्ध स्वभाव से नही चिगता इसलिए रागद्वेषमोहादि भावो से न तो अपने आप परिणमन करता है और न कोई दूसरा भी उसे उन विकारी भावो से परिणमा सकता है । क्यो कि वह तो टाकी से उकीरा हुआ भाव जैसा है सदा एकसा रहता है एक अटल ज्ञायक भाव मय बना रहता है इसलिए वह रागद्वेषमोहादि भावो का अकर्त्ता होता है ऐसा नियम है ।

जब यह जीव शुद्ध स्वभाव रूप आत्मा को नही जानता हुआ अज्ञानी होता है तब रागादिको को करने लगता है तो वह उनसे रागादिको को पैदा करने वाले नवीन कर्मों का कर्त्ता बनता है ऐसा बताते हैं—

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणममाणो रायाई बंधदि पुणोवि ।।३०४।।

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ।।३०४।।

अर्थ—हा, रागद्वेप आदि कपाय रूप कर्मो के उदय आने पर जो भाव होते हैं उन विकारी परिणामो के रूपमे परिणमन करता हुआ वही जब अज्ञानी बन जाता है तो फिर रागादिरूप कर्मों को बान्धने लगजाता है ।।३०४।।

तात्पर्यवृत्ति—रागह्मिय दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मण्युदयागते सति स्वस्थभावच्युतस्य तदुदयनिमित्तेन ये जीवगतरागादिभावा परिणामा भवंति । **तेहिं दु परिणममाणो रागादि बंधदि पुणोवि** तं कृत्वा रागादिरहमित्यभेदेनाहमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादिपरिणामोत्पादकानि द्रव्यकर्माणि बध्नाति ततस्तेषा रागादीनामज्ञानी जीव कर्ता भवतीति । तमेवार्थं दृढयति ।

टीका—(रायह्मि य दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा) रागद्वेषादि कषायरूप द्रव्य कर्म के उदय आने पर अपने सहज भाव से चिगे हुए इस जीव के उस कर्मोदय के निमित्त से जो आत्मगत रागादि भाव अर्थात् विकारी परिणाम होते हैं (तेहिं दु परिणममानो रागादी बधदि पुणोवि) उनसे मैं रागादि-रूप हूँ इस प्रकार के अभेद को लिये हुए परिणमन करता हुआ अर्थात् रागद्वेष रूप होता हुआ वह फिरसे भावी रागादिरूप परिणामो के उत्पादक द्रव्य कर्मों का बन्ध करने लग जाता है । इस प्रकार वह अज्ञानी जीव उन रागादिको का कर्ता बनता है ।।३०४।।

इसी बात को आगे की गाथा से दृढ करते हैं—

रायह्मिय दोसह्मिय कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
ते मम दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ।।३०५।।

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तन्मम तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ।।३०५।।

अर्थ—रागद्वेप आदि कपाय रूप कर्मो के उदय आने पर ये सब मेरे हैं इस प्रकार से परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि का बन्ध करता है ।।३०५।।

तात्पर्यवृत्ति—पूर्वगाथायामह रागादीत्यभेदेन परिणमन् सन् तानि रागादिभावोत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्माणि वध्नातीत्युक्त । अत्र तु शुद्धात्मभावनारहितत्वेन मदीयो राग इति सवधेन परिणमन् सन् तानि नवतरद्रव्यकर्माणि वध्नाति, इति विशेप ? । किं च विस्तर—यत्र मोहरागद्वेपाव्याख्यायते तत्र मोहशब्देन दर्शनमोह., मिथ्यात्वादि-जनक इति ज्ञातव्य । रागद्वेपशब्देन तु क्रोधादिकपायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्य । अत्राह शिष्य—मोहशब्देन तु मिथ्यात्वादिजनको दर्शनमोहो भवतु दोपो नास्ति रागद्वेपशब्देन चारित्रमोह इति कथ भण्यते ? इति पूर्वपक्षे परिहार ददाति—कपायवेदनीयाभिधानचारित्रमोहमध्ये क्रोधमानौ द्वेपागौ द्वेपोत्पादकत्वात्, मायालोभौ रागागौ रागजनकत्वात्, नोकपायवेदनीयसज्ञाचारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुन्नपुसकवेदत्रयहास्यरतय पच नोकपाया रागागा रागोत्पादकत्वात्,अरतिभय शोकजुगुप्सा सज्ञा चत्वारो द्वेपागा द्वेपोत्पादकत्वात् इत्यनेनाभिप्रायेण मोहशब्देन दर्शनमोहो मिथ्यात्व भण्यते, राग द्वेपशब्देन पुनश्चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्य ।एव कर्मवधकारण रागादय , रागादीना च कारण निश्चयेन कर्मोदयो न च ज्ञानी जीव इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथापंचक गतं ।

अथ कथ सम्यग्ज्ञानी जीवो रागादीनामकारक इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह–

टीकाः—इससे पहली गाथा मे तो मै स्वय रागादिरूप हू इस प्रकार उन रागादि से अभिन्न परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि के उत्पन्न करने वाले उन नवीन द्रव्य कर्मों का बन्ध करता है ऐसा वता आए है, किन्तु इस गाथा मे यह वता रहे हैं कि शुद्धात्मा की भावना से रहित होने से यह जीव 'यह रागभाव मेरा है' इस प्रकार राग के साथ सबध करता हैं इतनी विशेषता है। हा, यहा पर यह बात जान लेने की है कि जहा पर रागद्वेष और मोह ये तीनो एक शब्द एक साथ आवें वहा पर मोह शब्द से दर्शन मोह जोकि मिथ्यात्व का जनक है उसे लेना चाहिए और रागद्वेष शब्द से क्रोधादि कषायो के उत्पन्न करने वाले चारित्र मोह को समझना चाहिए । यहा शिष्य पूछता है कि मोह शब्द से मिथ्यात्वादि जनक दर्शन मोह लिया जाय यह ठीक ही है इसमे दोष नही है किन्तु रागद्वेष शब्दसे चारित्र मोह कैसे लिया? इसका उत्तर यह है कि कषाय वेदनीय नामवाले चारित्र मोह के भीतर क्रोध और मान ये दोनो द्वेष के उत्पादक होने से द्वेष के अ ग हैं और माया और लोभ ये दोनो राग जनक होने से रागरूप हैं। इसी प्रकार नो कपाय वेदनीय नामक चारित्र मोह मे स्त्री, वेद, पुरुष वेद, नपु सक वेद, हास्य, रति ये पाच नो कषाय रागोत्पादक होने से राग मे आगई शेष अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चारो नो कषायें द्वेष की उत्पादक होने से द्वेष मे इस प्रकार मोह शब्द से दर्शन मोह मिथ्यात्व और राग द्वेष शब्द से चारित्र मोह, ऐसा सभी स्थान पर समझना चाहिए। इस प्रकार कर्म बन्ध के कारण रागादि भाव हैं और रागादि भावो का कारण नियम से कर्म का उदय है किन्तु ज्ञानी जीव नही, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस सातवे स्थल मे पाच गाथाये कही गई ॥३०५॥

सम्यग्ज्ञानी जीव रागादि विकारी भावो का अकर्त्ता कैसे है ? सो वताते हैं —

अपडिकमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं ।
एदेणु वदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥३०६॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चज्खाणं ।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥३०७॥
जाव ण पच्चक्खाणं अपडिक्कमणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वं ॥३०८॥ (त्रिकलम्)

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयं ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥३०६॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथैवाप्रत्याख्यानं ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥३०७॥
यावन्न प्रत्याख्यानमप्रतिक्रमणं च द्रव्य भावयोः ।
करोत्यात्मा तावत्तु कर्त्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥३०८॥

अर्थ—अप्रतिक्रमण भी दो प्रकार का है, अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है इस आगम के उपदेश से जान लेना चाहिये कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है। अप्रतिक्रमण द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भावके भेद से दोप्रकार का है इस आगम के उपदेश से आत्मा कर्मों का अकर्ता कहा गया है। क्योंकि जब तक आत्मा द्रव्य और भावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तबतक आत्मा कर्मों का करने वाला होता है ऐसा जानना चाहिये ॥३०६–३०७–३०८॥

तात्पर्यवृत्तिः—**अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं** तहेव विण्णेयं पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपमप्रतिक्रमणं द्विविधं, भाविरागादिविषयाकांक्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविधं **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** एतेनोपदेशेन परमागमेन ज्ञायते किं ज्ञायते ? चेतयितात्मा हि द्विप्रकाराप्रतिक्रमणेन द्विप्रकाराप्रत्याख्यानेनच रहितत्वात् कर्मणामकर्ता भवतीति। **अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणंपि** द्रव्यभावरूपेणाप्रतिक्रमणम् प्रत्याख्यानं च द्विविधं भवति **एदेणुवदेसेणदु अकारगो वण्णिदो चेदा** तदेव बंधकारणमित्युपदेश आगम: तेनोपदेशेन ज्ञायते, किं ज्ञायते ? द्रव्यभावरूपेणाप्रत्याख्यानेनाप्रतिक्रमणेन च परिणत: शुद्धात्मभावनाच्युतो योऽसावज्ञानी जीव: स कर्मणां कारक:। तद्विपरीतोऽज्ञानी चेतयिता पुनरकारक इति। तमेवार्थं दृढयति-**जाव ण पच्चक्खाणं** यावत्कालं द्रव्यभावरूपं, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं नास्ति **अपडिक्कमणं तु दव्वभावाणं कुव्वदि** यावत्कालं द्रव्यभावरूपमप्रतिक्रमणं च करोति **आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो** तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीव: कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यं। किं चाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च कर्मणां कर्तृ, न च ज्ञानी जीव:। यदि स एव कर्ता भवति ? तदा सर्वदैव कर्तृत्वमेव। कस्मात् ? इति चेत् जीवस्य सदैव विद्यमानत्वात् इति। अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं पुनरनित्यं रागादिविकल्परूपं, तच्च स्वस्थभावच्युतानां भवति न सर्वदैव। तेन किं सिद्धं ? यदा स्वस्थभावच्युत: सन् अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानाभ्यां परिणमति तदा कर्मणां कारको भवति। स्वस्थभावे पुनरकारक: इति भावार्थ:। एवमज्ञानिजीवपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणं नच ज्ञानी जीव इति व्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतं।

अथ निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बंधो भणित: स च हेयस्तस्याशेषस्य नारकादिदु:खस्य कारणत्वाद्धेय:। तस्य बंधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह—

सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं उदासीनोऽहं निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्य: प्राप्य: भरितावस्थोऽहं, राग–द्वेष–मोह–क्रोध–मान–माया–लोभ–पंचेंद्रियविषयव्यापार, मनोवचनकायव्यापार–भावकर्म–द्रव्यकर्म–नोकर्म–ख्याति–पूजा–लाभ–दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहित: शून्योऽहं, जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायै: कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवा इति निरंतरं भावना कर्तव्या।

इति **श्री जयसेनाचार्य कृतायां** समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण **जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्टिव्याख्यानरूपेण गाथादशकं। निश्चयहिंसाकथनरूपेण गाथासप्तकं, निश्चयेन रागादिविकल्प एव हिंसेति कथनरूपेण सूत्रषट्कं अव्रतव्रतानि पापपुण्यबंधकारणानीत्यादिकथनेन गाथापंचदशं, निश्चयनयेन स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य इति मुख्यत्वेन गाथाषट्कं, पिंडशुद्धिमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। निश्चयनयेन रागादय: कर्मोदयजनिता इति कथनमुख्यत्वेन सूत्रपंचकं, निश्चयनयेनाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणमिति प्रतिपादनरूपेण गाथात्रयमित्येवं समुदायेन षट्पंचाशद्गाथाभिरष्टभिरंतराधिकारै:, अष्टमो बंधाधिकार: समाप्त:।

टीका—(अपडिक्कमण दुविह अपच्चक्खाण तहेव विण्णेय) पूर्वकाल मे अनुभव किये हुए विषयो का अनुभवन करने रूप रागादि का स्मरण करना सो अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है। एवं आगामी काल मे होनेवाले रागादि के विषयो की आकांक्षा रूप जो अप्रत्याख्यान वह भी दो प्रकार का है। (एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा) इस प्रकार के परमागम के उपदेश से जाना जाता है कि आत्मा दोनो प्रकार के अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानो से रहित है इसलिये वह कर्मों का अकर्ता है (अपडिक्कमण दुविह दव्वेभावे अपच्चक्खाणपि) द्रव्य और भाव के रूप मे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी दो २ प्रकार के हैं। (एएणुवएसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा) वह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही तो बन्ध का कारण है ऐसा आगम का उपदेश है जिससे यह जान लिया जाता है कि द्रव्य और भावरूप जो अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान है उसमें परिणत होता हुआ आत्मा शुद्धात्मा की भावना से च्युत होता है वह अज्ञानी ही कर्मो का करनेवाला होता है किन्तु उससे विपरीत स्वभाववाला अर्थात् शुद्धात्मा की भावना मे लीन रहता हुआ प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान मय जो ज्ञानी है वह बन्ध कारक नही होता है, इसी बात को दृढता से कहते है कि (जाव ण पच्चक्खाण) जितने काल तक द्रव्य और भावस्वरूप प्रत्याख्यान जो कि विकार रहित स्वसवेदन लक्षण वाला है वह नही होता है (अपडिक्कमण दु दव्वभावाण कुव्वदि) और जितने काल तक द्रव्य और भावरूप अप्रतिक्रमण भी करता रहता है (आदा ताव दु कत्ता सो होदि णायव्वो) तब तक परमसमाधि के न होने से वह जीव अज्ञानी होता है जो कि कर्मों का करने वाला होता है ऐसा समझना चाहिये। यहा यह तात्पर्य है—जीव की अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान रूप परिणति ही कर्मो को करने वाली होती है। ज्ञानी जीव (जोकि नियम से उस परिणति से रहित होता है) कर्मों का करने वाला नही होता यह बात स्पष्ट है। यदि वह (ज्ञानी जीव) कर्त्ता हो तो कर्त्तापन सदा ही बना रहे क्यो कि जीव (जोकि ज्ञान स्वभाव वाला है (तो सदा ही बना रहता है। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान रूप भाव रागादि विकल्प भाव हैं अत. वे अनित्य हैं, क्योकि वे स्वस्थभाव से च्युत हुए जीवो के ही होते हैं इसलिये सदा नही होते हैं। इससे यह बात सिद्ध होगई कि जब यह स्वस्थ भाव से च्युत होता हुआ अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के रूप मे परिणत होता है उस समय मे कर्मों का करने वाला होता है, और स्वस्थ भाव मे रहने पर फिर अकर्त्ता होता है यह तात्पर्य है। इस प्रकार अज्ञानी जीव की परिणतिरूप जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है वही बन्ध का कारण है किन्तु ज्ञानी जीव वध का कारण नही। इस कथन की मुख्यता से इस आठवें स्थल मे तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥ ३०६-३०७-३०८ ॥

अब निर्विकल्प समाधि रूप निश्चय प्रतिक्रमण और निश्चय प्रत्याख्यान इन दोनो से रहित जो जीव हैं उनके बन्ध बताया गया है वह त्यागने योग्य सम्पूर्ण नरक आदि के दुखो का कारण है इस लिये हेय है अत उस बन्ध के नाश के लिए जो भावना होती है उसे कह रहे हैं कि—मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द रूप एक स्वभाव वाला हूँ, विकल्प रहित हू, उदासीन हू, निरजन जो निज शुद्धात्मा उसके समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो निश्चय रत्नत्रय है उस रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहजानन्द रूप सुख उसकी अनुभूति मात्र ही है लक्षण जिसका ऐसे स्वसवेदन के द्वारा सवेद्य है, जानने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है वह मैं हूँ, भरित अर्थात् सतृप्त अवस्था वाला हू, राग, द्वेष मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ एव पचेन्द्रियो के विषयो मे होने वाला व्यापार मन, वचन और काय का व्यापार तथा भावकर्म, नोकर्म, द्रव्यकर्म, ख्याति, लाभ, पूजा, एव देखे गये, सुने गये तथा अनुभव में लाए गये जो भोग उनकी आकाक्षा रूप निदान शल्य, माया शल्य, और मिथ्या शल्य इन तीनो शल्यो से

रहित तथा और भी सब प्रकार के विभाव परिणामो से रहित हूँ, शून्य हूँ, तीन लोक और तीन काल मे मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना द्वारा शुद्ध निश्चयनय से तो मैं ऐसा ही हूँ और ऐसे ही सब जीव हैं इस प्रकार की भावना निरन्तर करनी चाहिये।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मानुभुति के लक्षण वाली श्री समयसार जी की तात्पर्य नाम की टीका के हिन्दी रूपान्तर मे जैसा कि लिख आये हैं "जह णाम कोवि पुरिसो" इत्यादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की व्याख्या मे दश गाथाये, निश्चय हिंसा के कथन मे सात गाथायें निश्चयसे रागादि विकल्प ही हिंसा है ऐसा कथन करने वाली छह गाथाये, अव्रत पाप वन्धक हैं तो व्रत पुण्य वन्धक इत्यादि कथन पन्द्रह गाथाओ मे, निश्चनय मे स्थित होने पर व्यवहारनय छूट जाता है ऐसा कथन मुख्यता से छह गाथाओ मे, पिण्डशुद्धि की मुख्यता से चार गाथाओ मे, निश्चनय से रागादिक है सो कर्म जनित है यह कथन मुख्यता से पाच गाथाओ मे, निश्चय नय से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही बन्ध के कारण है यह कथन तीन गाथाओ मे, इस प्रकार समुदाय से छप्पन गाथाओ मे आठ अन्तर अधिकारो द्वारा यह आठवा बधाधिकार समाप्त हुआ।

नवाँ महाधिकार (मोक्ष तत्व)

तात्पर्यवृत्ति —तत्रैव सति पात्रस्थनीयशुद्धात्मन सकाशात्पृथग्भूत्वा शृगारस्थानीयबधो निष्क्रात.। **अथ प्रविशति मोक्ष**—

जहणाम कोवि पुरिसो इत्यादि गाथामादि कृत्वा यथाक्रमेण द्वाविंशतिगाथापर्यंत मोक्षपदार्थव्याख्यान करोति—तत्रादौ मोक्षपदार्थस्य सक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथासप्तक, तदनतर मोक्षकारणभूतभेदविज्ञानसक्षेपसूचनार्थं **बधाण च सहाव** इत्यादि सूत्रचतुष्टय अत पर तस्यैव भेदज्ञानस्य विशेषविवरणार्थं **पण्णाए घेत्तव्वो** इत्यादि सूत्रपचक तदनतर वीतरागचारित्रसहितस्य द्रव्यप्रतिक्रमणादिक विपकुभ सरागचारित्रस्यामृतकुभ इति युक्तिसूचन-मुख्यत्वेन **ते यादी अवराहे** इत्यादि सूत्रषट्क कथयतीति द्वाविंशतिगाथाभि स्थलचतुष्टये मोक्षाधिकारे समुदायपातनिका तद्यथा विशिष्टभेदज्ञानावष्टभेन बधात्मनो पृथक्करण मोक्ष इति प्रतिपादयति—

वहा पात्र के स्थान पर जो शुद्धात्मा है उसके पास मे से शृगार स्थानीय जो बध है वह तो चला गया है। अब मोक्ष प्रवेश कर रहा है सो "जहणाम कोवि पुरिसो" इत्यादि गाथा से प्रारम्भ करके बावीस गाथा पर्यन्त मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान कर रहे हैं। वहा सबसे पहले सात गाथाओ मे मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान है। तत्पश्चात् मोक्ष के कारणभूत भेद विज्ञान की सूचना देने के लिये 'बधाण च सहाव' इत्यादि चार गाथाये है। फिर उसी भेद विज्ञान का विशेष वर्णन करने के लिये 'पण्णाए घेत्तव्वो' इत्यादि पाच गाथायें हैं। पश्चात् वीतरागचारित्र वाले जीव के लिये द्रव्य प्रतिक्रमणादिक विषकुम्भ है किन्तु सराग चारित्र वाले के लिये वही अमृतकुम्भ है इस प्रकार की युक्ति की मुख्यता लेकर 'ते यादी

अवरोहे' छह गाथाये हैं। इस प्रकार बावीस गाथाओं से चार स्थल वाले मोक्ष अधिकार की यह समुदाय पातनिका है।

यहा विशिष्ट भेदज्ञान के वल से वध और आत्मा को पृथक् करना, सो मोक्ष है ऐसा वताते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणियह्मि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥३०९॥
जइ णवि कुव्वदि छेदं ण मुंचदि तेण कम्मबंधेण।
कालेण वहुएणवि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥३१०॥
इय कम्मबंधणाणं पयेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं।
जाणंतोवि ण मुंचदि मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो ॥३११॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकाल प्रतिबद्धः।
तीव्रं मंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥३०९॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन कर्म बंधेन।
कालेन वहुकेनापि न स नर· प्राप्नोति विमोक्षं ॥३१०॥
इति कर्मबंधनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागं।
जानन्नपि न मुंचति मुंचति सर्वान् यदि विशुद्ध ॥३११॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुप चिरकाल से वधन मे वधा हुआ है तथा उस वधन के तीव्र या मन्द स्वभाव को भी जानता है एव उसके काल को भी जानता है कि यह इतने दिन से है, फिर भी यदि उस वन्धन का छेद नही करता है तो वह वन्धन मे पडा हुआ पुरुप वहुत काल हो जानेपर भी उससे मुक्त नही हो सकता है उसी प्रकार कर्म के वन्धनो की वात है। उनके भी प्रदेश, स्थिती, प्रकृति और अनुभाग ये भेद हैं उनको जानता हुआ भी वन्धन से मुक्त नही हो सकता है। यदि रागादि को छोडकर शुद्ध होता है तो वही वन्धन से छूट सकता है ॥३०९–३१०–३११॥

तात्पर्यवृत्ति—**जह णाम** इत्यादि यथा कश्चित्पुरुप वधनके चिरकालवद्धस्तिष्ठति तस्य वधस्य तीव्रमद-स्वभाव जानाति दिवसमासादिकाल च विजानाति इति प्रथमगाथा गता। जानन्नपि यदि वधच्छेद न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्मवधविशेषेणामुच्यमान सन् पुरुपो वहुतरकालेऽपि मोक्ष न लभते इति गाथाद्वयेन दृष्टातो गत.। अथ **इय कम्मवंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभाग जाणंतोवि ण मुंचदि** एव ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्न-कर्मवधनाना प्रदेश प्रकृतिस्थिति, अनुभाग च जानन्नपि कर्मणा न मुंचति। **मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो** यदा मिथ्यात्व-रागादिरहितो भवति तदाऽनतज्ञानादिगुणात्मकपरमात्मस्वरूपे स्थित सर्वान्कर्मवधान् मुंचति। अथवा पाठातर **मुंचदि सव्वे जदि स बधे** मुच्यते कर्मणा यदि किं सिस्यति छिनत्ति कान्? सर्ववधान्। अनेन व्याख्यानेन ये प्रकृत्यादिवंधपरिज्ञानमात्रेण सतुष्टास्ते प्रतिवोध्यते। कथ? इति चेत् वधपरिज्ञानमात्रेण स्वरूपोपलब्धिरूपवीतराग-

चारित्ररहिताना स्वर्गादिसुखनिमित्तभूत पुण्यबधो भवति न च मोक्ष इति दार्ष्टांतगाथा गता। एतेन व्याख्यानेन कर्मबध-प्रपचरचनाविषये चिंतामात्रपरिज्ञानेन सतुष्टा निराक्रियते।

टीका.—(जह णाम इत्यादि) जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बधन मे बधा हुआ उसके तीव्र या मन्द स्वभाव को भी जानता है एव उसके काल को भी जानता है। यह एक गाथा हुई। इस प्रकार से जानता हुआ भी यदि वह बध को नही छेदता है तो उससे वह नही छूटता है एव उस बन्धन से नही छूटता हुआ वह पुरुष चिरकाल तक भी मोक्ष को प्राप्त नही होता है। यह दो गाथाओ मे दृष्टात हुआ। (इय कम्मबधणाण पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभाग जाणतो वि ण मुच्चइ) उसी प्रकार ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतियो के भेद से नाना भेद वाले जो कर्मो के बन्धन हैं उनके प्रदेश, प्रकृति, स्थिती और अनुभाग को जानता हुआ भी जीव कर्म से मुक्त नही होता है। (मु चदि सव्वे जदि विसुद्धो) जब कि मिथ्यात्व और रागादि से रहित हो जाता है तो अनन्तज्ञानादि गुणात्मक परमात्मा के मे स्वरूप स्थित होता हुआ वह सभी कर्मों को छोड देता है उनसे रहित हो जाता है। इसका दूसरा पाठ यह है कि (मु चदि सव्वे जदि स बधे) हा, यदि उन सभी कर्मबन्धो को छेद डालता है तो कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है। इस कथन से आचार्यदेव ने जो प्रकृति स्थिति आदि रूप कर्म बन्ध के परिज्ञान मात्र से सतुष्ट हुए बैठे हैं (हमको कर्म बन्ध का ज्ञान तो है अत. हम्हे कुछ नही करना है क्योकि ज्ञानमात्र से मोक्ष होता है ऐसा बताया है) उनको समझाया है कि हे भाई! स्वरूप की उपलब्धिरूप वीतराग चारित्रसे रहित जीवो के बन्ध के परिज्ञानमात्र से स्वर्गादिक के सुख का निमित्तभूत पुण्य बध ही होता है मोक्ष नही होता। इस प्रकार यह दार्ष्टान्त की गाथा हुई। इस कथन से उन लोगो का निराकरण किया है जो कर्मबन्ध की प्रपच की रचना (बन्धोदयादिरूप) के विषय मे चिन्ता कर लेने रूप ज्ञान मात्र से सतुष्ट हुए बैठे हैं ॥ ३०९-३१०-३११ ॥

इसी को और स्पष्ट करते हैं—

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धं ण पावदि विमोक्ख।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं ॥३१२॥

यथा बंधान् चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षं।
तथा बंधान् चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षं ॥३१२॥

अर्थ—जैसे बन्धन मे बधा हुआ कोई पुरुष इन बधनो के विषय मे विचार करने मात्र से बधन मुक्त नही हो पाता है वैसे ही जीव भी कर्म बन्धनो के विषय मे चिंतवन करने मात्र से उनसे मुक्त नही हो सकता है ॥३१२॥

तात्पर्यवृत्ति—**जह बधे चितंतो बधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं** यथा कश्चित्पुरुषो बधनबद्धो बध चिंतयमानो मोक्ष न लभते **तह बधे चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्ख** तथा जीवोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेश-बध चिंतयमान स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षण मोक्ष न लभते। किं च समस्त शुभाशुभबहिर्द्रव्यालबनरहितचिदानदैकशुद्धात्म बलबनस्वरूपवीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरहितो जीव, बधप्रपचरचनाचितारूपसरागधर्मध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिसुख-कारणपुण्यबध लभते न च मोक्षमिति भावार्थ।

अथ कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति प्रश्न प्रत्युत्तर ददाति—

टीका—(जह बन्धे चिन्ततो बधण बद्धो ण पावदि विमोक्ख) जैसे बंधन से बधा हुआ कोई भी पुरुष उनके विषय मे विचार करने मात्र से ही बधन मुक्त नही हो जाता है। (तह बधे चिंततो जीवोवि ण पावदि विमोक्ख) उसी प्रकार जीव भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप बध के विषय का मात्र विचार करता हुआ ही स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका उस मोक्ष को कभी प्राप्त नही हो सकता है। भावार्थ यह है कि समस्त शुभ और अशुभ बाह्य द्रव्यो के आलम्बन से रहित चिदानदैकरूप शुद्धात्मा के आलम्बन स्वरूप जो वीतराग धर्म्यध्यान या शुक्ल ध्यान से रहित जीव, बधप्रपच की रचना की चितारूप सराग धर्म्य ध्यान स्वरूप शुभोपयोग से, स्वर्गादि सुख का कारणभूत पुण्यबध प्राप्त करता है परन्तु मोक्ष नही पाता है ॥३१२॥

इस पर प्रश्न होता कि फिर मोक्ष कैसे होगा? इसका उत्तर देते है —

जह बंधे मुत्तूण य बंधण बंधो उ पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे मुत्तूणय जीवो संपावइ विमोक्खं ॥३१३॥
यथा बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं ।
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षं ॥३१३॥

अर्थ—जैसे बधन मे बधा हुआ पुरुष उस बधन को काट कर मुक्त होता है वैसे ही जीव भी कर्मबध को काट कर ही मोक्ष पासकता है और प्रकार नहीं ॥३१३॥

तात्पर्यवृत्ति—जह बधेमुत्तूणय बधणवद्धोय पावदि विमोक्खं तह बधे मुत्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं यथा बधनबद्ध कश्चित्पुरुषो रज्जुबध शृ खलाबध काष्ठिनिगलबध वा कमपिबध छित्वा कमपि भित्वा कमपि मुक्तवा स्वकीयविज्ञानपौरुषबलेन मोक्ष प्राप्नोति। तथा जीवोऽपि वीतरागनिर्विकल्पस्वसवेदनज्ञानायुधेन बध छित्वा द्विधाकृत्वा भित्वा विदार्य मुक्त्वा छोटयित्वा च निज शुद्धात्मोपलभस्वरूपमोक्ष प्राप्नोतीति। अत्राह शिष्य प्राभृतग्रथे यन्निर्विकल्पस्वसवेदनज्ञान भण्यते तन्न घटते कस्मात्? इति चेत् तदुच्यते-सत्तावलोकनरूप चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्प कथ्यते तथा बौद्धमते ज्ञान निर्विकल्प भण्यते परतु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनक भवति जैनमते तु विकल्पस्योत्पादक भवत्येव न, किंतु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति तथैव स्वपरप्रकाशक चेति। तत्र परिहार कथचित्सविकल्पमपिच कथचिन्निर्विकल्प च। तद्यथा यथा विषयानदरूप सरागस्वसवेदनज्ञान सरागसवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पाना सद्भावेऽपि सति तेषा मुख्यत्व नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथापि स्वशुद्धात्मसवित्तिरूप वीतराग स्वसवेदनज्ञानमपि स्वसवित्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पाना सद्भावेऽपि सति तेषा मुख्यत्व नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते यत एवेहापूर्वस्वसवित्याकारान्मुख्यप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहित सूक्ष्मविकल्पा अपि सति तत एवकारणात् स्वपरप्रकाशक च सिद्ध इद निर्विकल्पसविकल्पस्य। तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यान यथागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तरो भवति सचाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृत। एव मोक्षपदार्थसक्षेपसूचनार्थं प्रथमस्थले गाथासप्तक गतं।

अथ किमयमेव मोक्षमार्ग? इति चेत्—

टीका —(जह् वधे छित्तूण य वधण बधो दु पावदि विमोक्ख) जैसे बधन मे वधा हुआ कोई पुरुष रस्सी के वध को, साकल के वध को, व काठ की बेडी के वध को किसी को तोडकर, किसीको फोडकर एव किसी को खोल कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के वल से उस वधन से छुटकारा पाता है (तह वधे छित्तूण य जीवो सपावइ विमोक्ख) उसी प्रकार यह जीव भी वीतराग एव विकल्प रहित स्वसवेदन-ज्ञान के वल से वध को छेद कर, उसे दो रूप कर अर्थात् भिन्न २ कर, खोलकर, विदारण कर अपने शुद्धात्मा के उपलभ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि इस प्राभृत ग्रन्थ मे निर्विकल्प स्वसवेदन ज्ञान होता हुआ वताया गया है वह तो किसी भी प्रकार घटित नही होता है क्योकि चक्षु आदि के द्वारा दर्शन होता है जो कि सत्ता मात्र अवलोकन स्वरूप है उसे जैनमत मे निर्विकल्प कहा है। हा, वौद्धमत मे ज्ञान को निर्विकल्प कहा गया है, किन्तु वह भी उत्तर क्षण मे विकल्प का जनक होता है परन्तु जैनमत मे ज्ञान विकल्प का उत्पादक न होकर अपने स्वरूप से ही सविकल्प तथा स्व पर प्रकाशक कहा गया है। इसका उत्तर यह है कि जैनमत अनेकान्तात्मक है इसलिए ज्ञान को कथचित् सविकल्प और कथचित् निर्विकल्प कहा गया है। जैसे विषयानदरूप सराग स्वसवेदन ज्ञान होता है वह सराग सवित्ति के विकल्प रूप तो सविकल्प होता है किन्तु वही पर शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पो का सद्भाव होने पर भी वहा पर उनकी मुख्यता नही होती इसलिए उसे निर्विकल्प भी कहा जाता है। वैसे ही अपनी शुद्धात्मा की सवित्तिरूप वीतराग स्वसवेदन ज्ञान होता है वह भी स्वसवित्तिरूप एक आकार से तो सविकल्प होता है फिर भी वहा पर वाह्य विषयो के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं उनके होने पर भी उनकी वहा मुख्यता नही होती इसलिए उसे निर्विकल्प भी कहते हैं। और ईहापूर्वक स्वसवित्याकार जो अन्तर्मुख प्रतिभास होता हैं वही पर वहिर्विपयो के भी अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं इसलिए वह स्व पर प्रकाशक भी होता है, यही निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञान का तथा स्व पर प्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान स्पष्ट सिद्धि है। इसीका आगम अध्यात्म तर्क शास्त्र के अनुसार विशेष व्याख्यान किया जावे तव तो वहुत विस्तार हो जावे सो इस अध्यात्म शास्त्र मे नही किया गया है ।।३१३।।

इस प्रकार मोक्ष पदार्थ की सक्षेप सूचना करते हुए सात गाथाओ द्वारा प्रथम स्थल पूर्ण हुआ। (गाथा न० ३१३ मे जह वधे छित्तूणय, जह वधे भित्तूणय, जह बधे मुत्तूणय इत्यादि इस प्रकार तीन प्रकार से पाठ पाया जाता है इस प्रकार पाँच गाथाओ के स्थान मे सात गाथाये समझ लेना चाहिए)

क्या यही मोक्ष का मार्ग है इसका समाधान करते हैं।

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो ण रज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ।।३१४।।

बंधानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।
बंधेषु यो न रज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ।।३१४।।

अर्थ—वध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जान कर जो पुरुष विरक्त होता है वही कर्मों को काट सकता है ।।३१४।।

तात्पर्यवृत्ति —बंधाणं च सहावं वियाणिदुं भाववधाना मिथ्यात्वरागादीना स्वभाव ज्ञात्वा कथ ज्ञात्वा ? मिथ्यात्वस्वभावो हेयोपादेयतत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशो भण्यते रागादीना च स्वभाव पचेंद्रियविषयेष्विष्टानिष्टपरिणाम इति न केवल बधस्वभावं ज्ञात्वा **अप्पणो सहावं च** अनतज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मन. स्वभाव च ज्ञात्वा **बंधेसु जो ण रज्जदि** द्रव्यबधहेतुभूतेषु मिथ्यात्वरागादिभावबधेषु निर्विकल्पसमाधिबलेन यो न रज्यते **सो कम्मविमोक्खणं कुणदि** स कर्म विमोक्षण करोति ।

अथ केन कृत्वात्मबधो द्विधा भवति ? इति चेत् ।

टीका—(बधाण च सहाव वियाणिदु) भाववंध मिथ्यात्व और रागादिक हैं उनके स्वभाव को जानकर हेय उपादेय के विषय मे विपरीत मान्यता (अर्थात् हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझना) मिथ्यात्व कहलाता है। पचेन्द्रियो के विषय मे इष्ट और अनिष्ट का विचार होना रागादिक का स्वभाव है उसे जानकर (अप्पणो सहाव च) केवल बध स्वभाव को ही नही परन्तु आत्मा के अनत ज्ञानादि स्वभाव को जानकर (बधेसु जो ण रज्जदि) द्रव्यबध के हेतुभूत मिथ्यात्व और रागादिरूप भाव बध है उनमे निर्विकल्प समाधि के बल से रजायमान नही होता (सो कम्मविमोक्खण कुणई, वह कर्मों का नाश करता है ।।३१४।।

इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा और बन्ध को किस प्रकार भिन्न भिन्न किया जाय ?

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ।।३१५।।
जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां ।
प्रज्ञाछेदकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ।।३१५।।

अर्थ—जीव और बन्ध इन दोनों को निश्चित अपने अपने लक्षणो द्वारा बुद्धिरूपी छैनी से इस प्रकार पृथक् करना चाहिये कि ये नानापन को प्राप्त हो जावें ।।३१५।।

तात्पर्यवृत्ति —जीवो बधोय तहा छिज्जति सलक्खणेहिं णियएहिं यथा जीवस्तथा बधश्चैतौ द्वौ छिद्येते पृथक्क्रियेते, काभ्या कृत्वा ? स्वलक्षणाभ्या निजकाभ्या **पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा** प्रज्ञाछेदनैकलक्षणेन भेदज्ञानेन छिन्नौ सतौ नानात्वमापन्नौ इति । तथाहि-जीवस्य लक्षणं शुद्धचैतन्य भण्यते, बधस्य लक्षण मिथ्यात्वरागादिक, ताभ्यां पृथक्कृतौ । केन ? करणभूतेन प्रज्ञाछेदनकेन, शुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानरूपा प्रज्ञैव छेत्र्येव छुरिका तया एवेत्यर्थः । छिन्नौ सतौ नानात्वमापन्नौ ।

आत्मबधयोर्द्विधाकरणे कि साध्य ? इति चेत्—

टीका—(जीवो बधो य तहा छिज्जति सलक्खणेहि णियएहि) जैसे जीव और बध यह दोनो अपने अपने लक्षणो द्वारा पृथक् किये जाते हैं (पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा) उसी प्रकार प्रज्ञा-रूपी छैनी है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा भिन्न किये हुए भिन्नता को प्राप्त हो जाते है। क्योंकि जीव का लक्षण शुद्ध चैतन्य है और बध का लक्षण मिथ्यात्व रागादिक है उनके द्वारा भिन्न भिन्न

कर लिये जाते हैं। किससे पृथक् किये जाते है ? कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी भेदज्ञान रूपी प्रज्ञा वही है छेदने वाली छुरी उससे पृथक् किये जाते हैं। छिन्न २ होने पर वह नानापन को प्राप्त हो जाते हैं ॥३१५॥

आत्मा और बंध इन दोनो का पृथक्करण होने पर क्या सिद्धि होती है ?—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधोछेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥३१६॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां।
बंधश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥३१६॥

अर्थ—जीव और बंध इन दोनो को निश्चित अपने २ लक्षणो द्वारा इस प्रकार पृथक् करना कि बंध तो छिदकर भिन्न हो जाय और आत्मामात्र रह जाय वह ग्रहण किया जाय ॥३१६॥

तात्पर्यवृत्ति—**जीवो बंधोय तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं** जीवबंधौ द्वौ पूर्वोक्ताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां। छिद्येते पूर्ववत्। ततश्छेदानंतरं किं साध्यं ? **बंधो छेदेदव्वो** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानछुरिकया मिथ्यात्वरागादिरूपो बंधश्छेत्तव्य शुद्धात्मनः सकाशात्पृथक्कर्तव्य। **सुद्धो अप्पाय घेत्तव्वो** वीतरागसहजपरमानंदलक्षणः सुखसमरसीभावेन शुद्धात्मा च गृहीतव्य इत्यभिप्राय।

इदमेवात्मबंधयोर्द्विधाकरणे प्रयोजनं यद्बंधपरिहारेण शुद्धात्मोपादानमित्युपदिशति—

टीका—(जीवो बंधोय तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं) जीव और बन्ध ये दोनो पूर्वोक्त अपने २ लक्षणों द्वारा ऊपर लिखे अनुसार पृथक् कर लिये जाते हैं उसका फल यह है कि (बन्धो छेदेदव्वो) विशुद्ध ज्ञान और दर्शन ही है स्वभाव जिसका ऐसे परमात्म तत्व का समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चय रत्नत्रय, तत्स्वरूप जो भेद विज्ञान वही हुई छुरी उसके द्वारा मिथ्यात्व और रागादिरूप बन्ध वह तो छेद डाला जावे, शुद्धात्मा से पृथक् कर दिया जावे (सुद्धो अप्पा य घेतव्वो) किन्तु वीतराग सहज परमानन्द है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा का सुख समरसी भाव के द्वारा ग्रहण कर लिया जावे यही आत्मा तथा बन्धको पृथक् करने का प्रयोजन है।

आत्मा तथा बंध को पृथक् करने का प्रयोजन यह है कि बंध को त्याग कर शुद्धात्मा ग्रहण कर लिया जावे ऐसा आगे बताते हैं।

कहसो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥३१७॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्य ॥३१७॥

अर्थ—शिष्य पूछता है कि शुद्धात्मा कैसे ग्रहण किया जाता है तो उत्तर मिलता है कि प्रज्ञा के द्वारा ही वह

ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा वह बंध से विभक्त किया गया है वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा वह ग्रहण के योग्य भी है।।३१७।।

तात्पर्यवृत्ति—कह सो घिप्पदि अप्पा कथं स गृह्यते आत्मा दृष्टिविषयो न भवत्यमूर्त्तत्वात्, इति प्रश्नः ? **पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा** प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृह्यते, इत्युत्तरं। कथं ? इति चेत् **जह पण्णाए विभत्तो** यथा पूर्वसूत्रे प्रज्ञया विभक्तः, रागादिभ्यः पृथक्कृतः **तह पण्णाएव घित्तव्वो** तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः। ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृण्हतोऽपि विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात्। अतो यथा प्रज्ञया प्रविभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।

कथमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत्—

टीका—(कह सो घिप्पइ अप्पा) आत्मा तो अमूर्त है अतः वह दृष्टि का तो विषय नही है तब फिर वह कैसे ग्रहण किया जा सकता है, ऐसा प्रश्न, होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि (पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा) वह बुद्धि के द्वारा, भेद ज्ञान के द्वारा ही, ग्रहणकिया जा सकता है (जह पण्णाए विभत्तो) जैसे पूर्व सूत्र मे प्रज्ञा के द्वारा ही वह विभक्त किया गया है रागादि से पृथक किया गया है (तह पण्णाएव घित्तव्वो) उसी प्रकार प्रज्ञा से ही उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मा कैसे प्राप्त किया जाय ? उसका एक ही उत्तर है कि विवेक बुद्धि से ही शुद्धात्मा प्राप्त किया जाय क्योकि जैसे शुद्धात्मा को विभक्त करने के लिये आत्मा के पास विवेक बुद्धि ही कारण है वैसे ही उसे ग्रहण करने के लिये भी उसके पास वही एक कारण है। इसलिये जैसे विवेक बुद्धि के द्वारा उसे पृथक् किया वैसे ही उसी से उसे ग्रहण कर लेना चाहिये ।।३१७।।

इस आत्मा को प्रज्ञा से कैसे ग्रहण करना सो बताते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहन्तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।३१८।।

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्याः ।।३१८।।

अर्थ—जो चेतनावान है सो नियम से मैं हूँ उसके सिवा जितने भी भाव हैं वे सब मेरे से भिन्न हैं इस प्रकार विवेक बुद्धि से शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये ।।३१८।।

तात्पर्यवृत्तिः—प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोहं तु निश्चयतः, अवशेषा ये भावास्ते मम परे इति ज्ञातव्याः। यो हि निश्चयतः स्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं, ये त्वमी अवशिष्टा अन्ये स्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणाभावास्ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायातोऽत्यंतमत्तो भिन्नास्ततोऽहमेव मयैव मह्यमेवमत्त एव, मय्येव मामेव गृह्णामि, यत् किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमान

चेतये, किं तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रोभावोऽस्मि । भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणवलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते चिन्मुद्राकितनिर्विभाग-महिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहमिद्य ते यदि कारकारिण यदि वा धर्मा गुणा वा यदि, भिद्यंता न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।१।।

टीका —नियम से स्वलक्षण का अवलम्वन करने वाली ऐसी बुद्धि से चेतन स्वरूप आत्मा प्रविभक्त हुआ—(जाना गया, पहिचाना गया) वही मै हूँ और जो शेष अपने २ लक्षण से लखे जाने वाले भाव हैं जो कि व्यवहार मे आते है, किन्तु व्यापक चेतयितापन के व्याप्यपने को प्राप्त नही होते हुए चेतन से शून्य है वे सव भाव मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिये मै ही मेरे द्वारा ही मेरे लिये ही, मेरे से ही. मुझ मे ही और मुझ को ही ग्रहण करता हूँ जो कुछ ग्रहण करता हू वह सव आत्मा के एक चेतना ही क्रिया है, इसलिये चेतता ही हूँ चेतता हुआ ही चेतता हूँ चेतते हुये के द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुये के लिये ही चेतता हू, चेतते हुये से ही चेतता हूँ, चेतते हुये को ही चेतता हू। अथवा न तो चेतता ही हू, न चेतता हुआ ही चेतता हू, न चेतते हुये द्वारा हो चेतता हू, न चेतते हुये के लिये ही चेतता हू, न चेतते हुये से ही चेतता हू, न चेतते हुये मे ही चेतता है और न चेतते हुये को ही चेतता हूँ। तो फिर कैसा हूँ ? कि सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ। जैसा कि श्री अमृतचन्द्र आचार्य भी लिखते हैं—

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणवलाद्भेत्तु हि यच्छक्यते ।
चिन्मुद्राकितनिर्विभाग महिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं ।।
भिद्य ते यदि कारकारिण यदि वा धर्मा गुणा वा यदि ।
भिद्यता न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।

अर्थ—ज्ञानी जीव सोचता समझता है कि जिनको भिन्न किया जा सकता है उन सव परभावो को निज लक्षण के वल से पृथक् करके चैतन्य चिह्न से चिह्नित एव विभाग रहित महिमावाला मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र ही हूँ, उसमे कर्ता, कर्म, करण आदि कारक भेद तथा सत्व, असत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्म भेद और ज्ञानदर्शन आदि गुणभेद किये जाते हो तो किये जावे किन्तु उन सव मे व्यापक होकर रहनेवाले भावस्वरूप परम शुद्ध चैतन्य प्रभु मे उनसे कोई भेद नही होता ।।३१८।।

विशेषार्थ —पराश्रित रूप आस्रवभाव से दूर होने के लिये पहले तो ज्ञानी जीव कर्ता कर्म आदि षट कारको को अपने आप मे ही घटित करता है फिर उस भेदभाव से भी दूर होकर अपने आप अखड स्वरूप हो जाता है इसी वात को यहा वताई है।

उसी चैतन्य के ज्ञातृत्व व दृष्टत्व ये दो धर्म हैं उनको लेकर कथन करते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ।।३१९।।
पण्णाए घित्तव्वो जोणादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।३२०।। (युग्मं)

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ।।३१९।।

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ।।३२०।।

अर्थ—विवेक बुद्धि के द्वारा अंगीकार करना कि नियम से जो देखने वाला है वह मै हू किन्तु अवशेष जितने भी भाव हैं वे सब मेरे मे पर हैं। इसी प्रकार विवेक बुद्धि के द्वारा यह भी स्वीकार करना कि जो ज्ञाता है वह तो नियम से मैं हूँ, उसके सिवाय जितने भी भाव हैं वे सब मेरे नही हैं किन्तु मुझसे भिन्न है ऐसा जानना चाहिये ।। ३१९-३२० ।।

तात्पर्यवृत्ति—प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोह तु निश्चयत, अवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्या । प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽह तु निश्चयत, अवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्या चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्व ज्ञातृत्व चात्मन स्वलक्षणमेव । ततोह द्रष्टारमात्मान गृण्हामि । यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यतमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यत पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, पश्यत पश्यामि । किं तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि । अपि च ज्ञातारमात्मान गृण्हामि यत्किल गृण्हामि तज्जानयेव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानतमेव जानामि । अथवा न जानामि, न जानन् जानामि, न जानतैव जानामि, न जानते जानामि, न जानति जानामि, न जानत जानामि । किं तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि । ननु कथ चेतना दशनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूना सामान्यविशेषात्मकत्वाद् द्वैरूप्य नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, तत सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातिक्रातत्वाच्चेतनैव न भवति । तदभावे द्वौ दोषौ स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्ति, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगतव्या ।

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूप त्यजेत्, तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चान्तमुपैति तेन नियत दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ।।१।।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो, भावा परे ये किल ते परेषां ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावा परे सर्वत एव हेया. ।।२।।

निश्चयतोऽवशेषा ये रागादिभावा विभावपरिणामास्ते चिदानदैकभावस्य ममापेक्षया परा इति ज्ञातव्या । अत्राह शिष्य—चेतनाया ज्ञानदर्शनभेदौ न स्त, एकैवचेतना ततो ज्ञाता द्रष्टेति द्विधात्मा कथ घटते इति ? अत्र पूर्वपक्षे परिहार—सामान्यग्राहक दर्शन विशेषग्राहक ज्ञान । सामान्यविशेषात्मक च वस्तु । सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे चेतनाया अभाव स्यात् । चेतनाया अभावे आत्मनो जडत्व चेतनालक्षणस्य विशेषगुणस्याभावे सत्यभावो वा भवति । नचात्मनो जडत्व दृश्यते, नचाभाव ? प्रत्यक्षविरोधात् ? तत स्थित यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवतीत्यभिप्राय ।

अथ शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य परमात्मन शुद्धचिद्रूप एक एव भाव न च रागादय इत्याख्याति—

टीका—जो भी चेतना है वह या तो दर्शन रूप या ज्ञान रूप होती है इन दोनो को छोडकर चेतना पृथक् नही होती । इसलिये चेतयितापन ही दृष्टापन या ज्ञातापन है जो कि आत्मा का स्वलक्षण है

इसलिये मैं आत्मा को द्रष्टारूप मे ग्रहण करता हूँ। ग्रहण करता हू, इसका अर्थ यह है कि मै देखता ही हूं, देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखने वाले के लिए ही देखता हू, देखने वाले से ही देखता हू, देखने वाले मे ही देखता हू, देखने वाले को ही देखता हू, अथवा यो कहो कि मैं नही देखता हूँ, न देखता हुआ देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हू, न देखते हुए के लिये देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, और न देखते हुए को देखता हूँ किन्तु मैं तो सब प्रकार से विशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। तथा ज्ञातृस्वरूप आत्मा को ग्रहण करता हू, ग्रहण करता हूँ अर्थात् जानता ही हू। जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हू, जानते हुए मे ही जानता हूँ, तथा जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा मैं नही जानता हूँ, नही जानता हुआ जानता हू न जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, नही जानते हुए के लिए जानता हू, न जानते हुए से जानता हू, नही जानते हुए मे जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ, किन्तु सब ओर से विशुद्ध ज्ञप्ति मात्र भाव हू। इस पर शिष्य प्रश्न करता है कि चेतना दर्शन और ज्ञान इन दोनो भेदो को छोडकर क्यो नही रहती ? क्योकि आप ऐसा कहते हैं कि जो चेतयिता वही द्रष्टा भी है और ज्ञाता भी है। उसका समाधान करते हैं कि चेतना प्रतिभास स्वरूप है अर्थात् पदार्थो के स्वरूप को झलकाने वाली है और जितने भी पदार्थ हैं वे सामान्य विशेषात्मक हैं इसलिये द्विरूपपन का उल्लघन नही करते हैं अतः चेतना भी द्विरूपपने को नही छोडती है। एव उस चेतना के दो रूप है उन्ही का नाम दर्शन और ज्ञान है इसलिये वह इन्हे नही छोडती है क्योकि यदि वह उन्हे छोडदे तो सामान्य और विशेष से अतिक्रात होजाने के कारण चेतना ही न रहे। ऐसी दशा मे दो दोष उत्पन्न होते है—एक तो यह है कि चेतन का अपना गुण चेतना नही रहा तब वह अचेतन ठहरेगा, दूसरा अथवा व्यापक चेतनत्व के नही रहने पर फिर चेतन भी नही रहेगा उसका अभाव ही हो जायगा। इसलिये इन दोनो दोषो से वचने के लिए ज्ञान दर्शन स्वरूप ही चेतना को मानना चाहिये। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र आचार्य भी कहते है—

अद्वैतापिहि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूप त्यजेत्। तत्सामान्य विशेषरूपबिरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चातमुपैति तेन नियतदृग्ज्ञप्ति रूपास्तुचित्
॥१८३॥

अर्थ—जगत मे निश्चय से चेतना अद्वैत है अखड रहने वाली है, फिर भी वह दर्शन ज्ञानरूप को छोडदे तो सामान्य और विशेष के अभाव से वह चेतना अपने अस्तित्व को ही छोड दे। उसके अस्तित्व के छोड देने पर चेतन के जडपना हो जावे। अथवा व्याप्य आत्मा व्यापक चेतना के विना अन्त को प्राप्त हो जावे अर्थात् उसका अभाव ही हो जावे इसलिये चेतना नियम से दशन ज्ञान स्वरूप ही है। और तब फिर—

एकाश्चिताश्चिन्मय एव भावो भावा परे ये किल ते परेषाँ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावा. परे सर्वत एव हेया ॥१८४॥

अर्थ—चैतन्य का तो एक चिन्मय भाव ही है। दूसरे भाव हैं वे प्रगट रूप से पर के भाव हैं। इसलिए एक चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है और जो परभाव है वे सभी त्यागने योग्य हैं। अर्थात् चैतन्यभाव के अतिरिक्त जो रागादिरूप भाव हैं वे विभाव परिणाम हैं और वे चिदानद स्वरूप जो मेरे भाव हैं उसमे पर हैं ऐसा जानना चाहिए। यहा शिष्य कहता है कि चेतना के ज्ञान और दर्शन ये दो भेद नही हो सकते क्योकि चेतना जब एक है तो उसकी आत्मा ज्ञाता दृष्टा के रूप मे दो भेद वाली यह कैसे बन सकती हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि प्रत्येक वस्तु

सामान्य विशेषात्मक होती है अत उसका सामान्य ग्राहक अ श दर्शन और विशेष ग्राहक अ ंश ज्ञान होता है । इस प्रकार सामान्य विशेषात्मक यदि चेतना मे न हो तो चेतना का अभाव ही ठहरे और उसका अभाव होने पर या तो आत्मा को जडपना प्राप्त हो अथवा चेतना लक्षण विशेष गुण के न होने पर उसका अभाव ही ठहरे, किन्तु न तो आत्मा का अभाव ही है और न उसमे जडता ही देखी जाती है क्यो कि इसमे प्रत्यक्ष से विरोध आता हैं । इसलिए यह बात निश्चित हुई कि यद्यपि अभेद नय से चेतना एक रूप है फिर भी वह सामान्य और विशेष को विषय करने वाली है अत विषय के भेद से दर्शन और ज्ञान रूप है । यही आचार्यों का अभिप्राय है ।।३१९-३२०।।

आगे बताते है कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मा का एक शुद्ध चेतन्य रूप एक ही भाव है, रागादिक नही है—

को णाम भणिज्ज वुहो णादुं सव्वे परोदये भावे।
मज्झमिणं तिय वयणं जाणतो अप्पयं सुद्धं ।। ३२१ ।।

को नाम भणेद् बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परोदयान् भावान् ।
ममेदमिति वचनं जानन्नात्मानं शुद्धं ।। ३२१ ।।

अर्थ—वह कौनसा ज्ञानी है जो उपर्युक्त एक चिन्मात्रभाव के सिवाय इन और सभी भावो को परके जान कर भी तथा शुद्धात्मा को जानता हुआ भी इन सबको ये मेरे हैं ऐसा कहता रहे? अर्थात कोई भी नही हैं।

तात्पर्यवृत्ति —को णाम भणिज्ज वुहो को ब्रूयाद्बुधो ज्ञानी विवेकी नाम स्फुटमहो वा न कोऽपि । किं ब्रूयात् । **मज्भमिणतियवयण** ममेति वचन किं कृत्वा ? पूर्वं **णादुं** निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानेन ज्ञात्वा । कान् ? **सव्वे परोदये भावे** सर्वान् मिथ्यात्वरागादिभावान् विभावपरिणामान् । कथभूतान् ? परोदयान् शुद्धात्मन. सकाशात् परेण कर्मोदयेन जनितान् । किं कुर्वन् सन् ? **जाणंतो अप्पय सुद्धं** जानन् परमसमरसीभावेनानुभवन्, क ? आत्मान । कथ भूत ? शुद्ध, भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहित । केन कृत्वा जानन् ? शुद्धात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेनेति । एव विश पभेदभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रपचक गत ।

अथ मिथ्यात्वरागादिपर भावस्वीकारेण वध्यते वीतरागपरमचैतन्यलक्षणस्वस्थभावस्वीकारेण मुच्यते जीव इति प्रकाशयति—

टीका—(को णाम भणिज्ज वुहो) कौन ज्ञानी विवेकी बुद्धीमान ऐसा कहे ? कोई भी नही कहे (मज्भमिणतिय वयण) कि ये सव मेरे हैं ऐसा वचन कहे । क्या करके ? कि (णादु) निर्मल आत्मा की अनुभूति वही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जान कर, किनको जानकर ? कि (सव्वे परोदये भावे) सभी मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणामो को जानकर। कैसे जानकर ? कि परोदयान् अर्थात् शुद्धात्मा से पृथक् जो कर्मोदय उससे ये सब पैदा हुए हैं ऐसा जानकर। क्या करता हुआ? कि (जाणतो अप्पय सुद्ध) परम समरसीभाव के द्वारा जानता हुआ, अनुभव करता हुआ । किसको ? कि आत्मा को, कैसी आत्मा को ? भाव कर्म, दव्य कर्म और नो कर्म रहित शुद्धात्मा को, किससे जानता हुआ ? कि शुद्धात्मा की भावना मे परिणत जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान के द्वारा जानता हुआ ।

विशेषार्थः—आचार्य महाराज कहते हैं कि शुद्धात्मा को जानता हुआ विद्वान जब सब बाह्य वस्तुओ को पर जान चुका है तब ये मेरी हैं इस प्रकार से नही बता सकता है। यदि बाह्य वस्तुओ को अपनी बताता है तो उसे अभी शुद्धात्मा का ज्ञान नही हुआ है। अध्यात्म व आगम की बात तो दूर रहे किन्तु आम जनता मे भी जो बुद्धिमान है वह पर के धनादि को अपना नही कहता है फिर एक सम्यग्ज्ञानी अन्तरात्मा इन पर पदार्थों को अपना कहता रहे यह बात कभी बन नही सकती है अपितु पर पदार्थों को अपना कहने वाला का ज्ञान वास्तविक सम्यग्ज्ञान नही है।

इस प्रकार विशेष भेदभावना के व्याख्यान की मुख्यता से इस तीसरे स्थल मे पाच सूत्र कहे गये हैं।

आगे प्रकाश करते हैं कि मिथ्यात्व व रागद्वेषादि पर भावो को अपना मानने से यह जीव कर्मों से बधता है और वीतराग परम चैतन्य मई है लक्षण जिसका ऐसे स्वस्थ भाव को स्वीकार करने से मुक्त होता है—

तेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि।
मा बज्झेऽहं केणवि चोरोत्ति जणम्मि विचरंतो ॥३२२॥
जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिन्ता उप्पज्जदि कयावि ॥३२३॥
एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जो पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥३२४॥ (त्रिकलम्)

स्तेयादीनपराधान् करोति यः स शंकितो भवति।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥३२२॥
यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जन पदे भ्रमति।
नापि तस्य बद्धुं, यच्च चिंतोत्पद्यते कदाचित् ॥३२३॥
एवं हि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता।
यदि पुर्नानिरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये ॥३२४॥

अर्थ—जो पुरुष चोरी आदि अपराधो को करता है वह शकाशील होकर भटकता फिरता है कि लोगो मे घूमते हुए किसी के द्वारा बाध न लिया जाऊ। तथा जो अपराधो को नही करता है वह पुरुष जनपद मे (देश मे) नि शंक होकर घूमता है उसको बन्ध जाने की शका कभी नही उपजती। इसी प्रकार मैं यदि अपराध सहित हू तो बधूगा ऐसी शकायुक्त आत्मा होता है और यदि निपराध हू तो मैं निश्शक कभी नही बधूगा इस प्रकार सोचकर ज्ञानी निर्द्वन्द होता है ॥३२२-३२३-३२४॥

तात्पर्यवृत्ति—**तेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि** य स्तेयपरदाराद्यपराधान् करोति स पुरुष सशंकितो भवति। केन रूपेण? **मा बज्झेहं केणवि चोरोत्ति वणह्मि विवरतो** जने विचरन् माहं बध्ये केनापि तलवरादिना। किं कृत्वा? चौर इति मत्वा। इत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता।

जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि यःस्तेयपरदाराद्यपराधं न करोति स निश्शंको जनपदे लोके भ्रमति । **णवि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि** तस्य चिंता नोत्पद्यते कदाचिदपि जे अहो यस्मात्कारणात् वा निरपराधः, केन रूपेण चिंता नोत्पद्यते ? नाहं बध्ये केनापि चौर इति मत्वा । एवं व्यतिरेक दृष्टांतगाथा गता । **एवंहि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेदा** यो रागादिपरद्रव्यग्रहणं स्वीकारं करोति स स्वस्थभावच्युतः सन् सापराधो भवति सापराधोऽत्र शंकितो भवति । केन रूपेण ? बध्येऽहं कर्मपेपन्नो ज्ञानावरण-दिकर्मणा । ततः कर्मबंधभीतः प्रायश्चित्तंप्रतिक्रमणरूपं दंडं ददाति **जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि** यस्तु पुनर्निरपराधो भवति स तु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तविभावपरिणामरहितोभूत्वानिश्शंको भवति । केन रूपेण ? इति चेत्—रागाद्यपराधरहितत्वात् नाहं बध्ये केनापि कर्मणेति प्रतिक्रमणादिदंडं विनाप्यनंत-ज्ञानादिरूपनिर्दोषपरमात्मभावनयैव शुद्धयति इत्यन्वयव्यतिरेकदार्ष्टांतगाथा गता ।

अथ को हि नामायमपराधः ? इति पृच्छति ।

टीका:—(तेयादी अवराहे कुव्वदि सो ससंकिदो होदि) जो पुरुष चोरी परदार गमनादि अपराधों का करने वाला है वह सशंकित रहता है । किस प्रकार से सशंक रहता है ? कि (मा वज्झेऽहं केणवि चोरोत्ति जणम्मि विचरंतो) लोगों में विचरण करता हुआ मैं चोर समझा जाकर किसी कोटपाल आदि के द्वारा कभी बान्ध न लिया जाऊं । इस प्रकार यह अन्वय दृष्टांत की गाथा हुई । (जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि) किन्तु जो कोई चोरी आदि अपराध नहीं करता वह निश्शंक होता हुआ गांव में लोगों के बीच में घूमता रहता है (ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि) क्योंकि वह निरपराध है इसलिए उसके कभी कोई चिंता नहीं उपजती कि मैं चोर समझकर किसी के द्वारा बांधा जा सकता हूँ ऐसा समझा हुये होता है । यह व्यतिरेक दृष्टांत हुआ । (एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा) इसी प्रकार जो कोई जीव रागादि रूप पर द्रव्यों को ग्रहण करता है स्वीकार करता है वह स्वस्थ भाव से च्युत होता हुआ अपराध युक्त होता है और अपराधयुक्त होने के कारण शंकाशील भी होता है । किस प्रकार शंकाशील होता है कि मैं ज्ञानावरणादि कर्म के द्वारा बांधा जा रहा हूँ । इसलिये कर्म वन्ध के भय से प्रतिक्रमण व प्रायश्चित नाम दण्ड देता है अर्थात् उसे भोगता है । (जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि) किन्तु जो निरपराध है वह तो देखे गये सुने गये और अनुभव में आये ऐसे भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध आदि समस्त विभाव परिणामों से रहित होने के कारण निश्शंक होता है ? किस प्रकार निश्शंक होता है ? कि मैं तो रागादि रूप अपराध से रहित हूं इसलिये मैं किसी भी कर्म से नहीं बंध सकता हूँ इसलिये वह प्रतिक्रमणादिरूप दंड विधान के बिना भी अनन्त ज्ञानादि रूप निर्दोष परमात्मा की भावना के द्वारा ही शुद्ध हो जाता है । इस प्रकार यह अन्वय व्यतिरेक रूप दार्ष्टांत गाथा हुई ।।३२२-३२३-३२४।।

विशेषार्थ:—यहां यह स्पष्ट बताया है कि जो मुनि आत्म आराधना रूप समाधि में स्थित है उसे प्रतिक्रमणादि की चिंता नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह तो अपने आप में है निरपराध है । प्रतिक्रमणादिक का दण्ड विधान तो उनके लिये विधेय है जो कि अपराधवान हैं । हां, जब उसका उपयोग समाधि से उचट कर बाह्य बातों की ओर है तब अपराधवान है अर्थात् प्रमादवान है अतः प्रमाद के प्रति विधान रूप दण्ड के रूप में यथा समय यथारीति प्रतिक्रमणादि नहीं करता है तो वह अपराधी ही नहीं किन्तु महा अपराधी है । संयमी न होकर असंयमी है ।

आगे अपराध शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

संसिद्धिराधसिद्धि साधियमाराधियं च एयंट्ठ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३२५॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थं।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥३२५॥

अर्थ—ससिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थवाचक हैं इसलिये जो आत्मा राध से रहित हो वह आत्मा अपराध होता है ॥३२५॥

तात्पर्यवृत्ति—संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधिदं च एयट्ठो कालत्रयवर्तिसमस्तमिथ्यात्वविषयकपायादिविभावपरिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजशुद्धात्माराधन सेवनं राध इत्युच्यते ससिद्धि सिद्धिरिति साधितमित्याराधित च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि। **अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो** अपगतो विनष्टो राध शुद्धात्माराधना यस्य पुरुपस्य स पुरुप एवा भेदेन भवत्यपराध। अथवा अपगतोविनष्टो राध शुद्धात्माराध शुद्धात्माराधना यस्य रागादिविभावपरिणामस्य स भवत्यपराध सहापराधेन वर्तते य स सापराध, चेतयितात्मा तद्विपरीत त्रिगुप्तिसमाधिस्थो निरपराध इति।

अर्थ—हे भगवन्, किमनेन शुद्धात्माराधनाप्रयासेन यत प्रतिक्रमणाद्यनुष्ठानेनैव निरपराधो भवत्यात्मा, कस्मात्? इति चेत् सापराधस्याप्रतिक्रमणादेर्दोपशब्दवाच्यापराधाविनाशकत्वेन विपकुभत्वे सति प्रतिक्रमणादेर्दोपशब्दवाच्यापराधविनाशकत्वेनामृतकुभत्वात् इति तथा चोक्त चिरतनप्रायश्चित्तग्रथे—

अपडिक्कमण अपडिसरण अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिदा अगरुहा सोहीय विसकुभो ॥१॥
पडिकमण पडिसरण पडिहरण धारणा णियत्तीय।
णिदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुभो दु ॥२॥

अत्र पूर्वपक्षे परिहार—

टीका—(ससिद्धिराधसिद्धि साधिदमाराधिद च एयट्ठो) तीन काल मे होने वाले मिथ्यात्व, विपय कपायादि परिणाम से रहित होने के द्वारा निर्विकल्प समाधि मे स्थित होकर अपनी शुद्ध आत्मा का आराधन सेवन, वह राध कहलाता है, ससिद्धि, सिद्धि साधित तथा आराधित ये शब्द उस राध के पर्यायवाची नाम हैं। (अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो) अपगत अर्थात् नष्ट हो गया है राध अर्थात् शुद्धात्मा का आराधन जिस पुरुप का वह पुरुष ही अभेद विवक्षासे अपराध ठहरता है। अथवा अपगत है अर्थात् नष्ट हो गया है राध अर्थात् शुद्धात्मा की आराधना जिसके वह रागादि विभाव परिणाम वही अपराध है और उस सहित जो है वह सापराध है। किन्तु उससे विपरीत जो आत्मा त्रिगुप्ति रूप समाधि मे स्थित होता है वह निरपराध है। इस पर शिष्य कहता है कि हे भगवन्! शुद्धात्मा की आराधना के प्रयास करने का क्या प्रयोजन है, जब कि प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठान से ही आत्मा निरपराध हो जाता है। क्योकि अपराधी के जो अप्रतिक्रमणादिक है वे दोप शब्द का वाच्य जो अपराध

उसके नष्ट न करने वाले होने से विषकुंभ स्वरूप कहे जाते हैं किन्तु प्रतिक्रमणादिक हैं व दोष शब्द के वाच्य अपराध का नाश करने वाले होने से अमृत कुंभ स्वरूप कहे जाते हैं। जैसा कि पुराने प्रायश्चित् नाम के ग्रंथमे कहा गया है —

अपडिक्कमण अपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्तीय अणिंदा अगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥१॥
पडिकमण पडिसरण पडिहरण धारण णियत्तीय ।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥

अब आचार्य महाराज इस शका का निवारण करते हैं —

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय ।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३२६॥
अपडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३२७॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।
निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुंभः ॥३२६॥
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।
अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाशुऽद्धिरमृत कुम्भः ॥३२७॥

अर्थ—(ज्ञानी समाधिस्थ के लिये) प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार तो विष कुंभ है क्योकि इसमे कर्तापन की बुद्धि होती है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा, और अशुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार ये अमृत कुंभ हैं क्योकि यहा कर्तापन को छोडकर आत्मतल्लीनता पर जोर दिया है अतः ज्ञानी को निर्बंधपने के लिये यह उपयोगी पडता है ॥ ३२६-३२७॥

तात्पर्यवृत्ति — पडिकमणमित्यादि **पडिकमणं** प्रतिक्रमण कृतदोषनिराकरण । **पडिसरणं** प्रतिसरण सम्यक्त्वादिगुणेपु प्रेरण । **पडिहरणं** प्रतिहरण मिथ्यात्वरागादिदोषेपु निवारण **धारणा** पचमस्कारप्रभृतिमंत्रप्रतिमादिबहिर्द्रव्यावलवनेन चित्तस्थिरीकरण धारणा। **णियत्तीय** बहिरंगविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तन निवृत्ति । **णिंदा** आत्मसाक्षिदोषप्रकटन निंदा **गरुहा** गुरुसाक्षिदोषप्रकटन गर्हा । **सोहिय** दोषे सति प्रायश्चित्त गृहीत्वा विशुद्धिकारण शुद्धि । इत्यष्टविकल्परूपशुभोपयोगो यद्यपि मिथ्यात्वादिविपयकपायपरिणतिरूपाशुभोपयोगापेक्षया सविकल्पसरागचारित्रावस्थायाममृतकुंभो भवति। तथापि रागद्वेषमोहख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतिभोगाकाक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालबनविभावपरिणामशून्या, चिदानंदैकस्वभावविशुद्धात्मालवनभरितावस्था निर्विकल्पशुद्धोपयोगलक्षणा, **अपडिकमणं** इति गाथाकथितक्रमेण ज्ञानजनाश्रितनिश्चयाप्रतिक्रमणादिरूपा तु या तृतीया भूमिस्तदपेक्षया वीतरागचारित्रस्थितानां पुरुषाणा विपकुंभ एवेत्यर्थ ।

किं च विशेष —अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति ज्ञानिजनाश्रितं, अज्ञानिजनाश्रित चेति। अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमण तद्विषयकषायपरिणतिरूप भवति। ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमण तु शुद्धात्मसम्यक्त्वश्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षण-त्रिगुप्तिरूप। तच्च ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमण सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगापेक्षयायद्यप्यप्रतिक्रमण भण्यते तथापि वीतरागचारित्रापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमण। कस्मात् ? इति चेत् समस्तशुभाशुभास्रवदोपनिराकरणरूपत्वादिति। तत स्थित तदेव निश्चयप्रतिक्रमण व्यवहारप्रतिक्रमणापेक्षया, अप्रतिक्रमणशब्दवाच्य ज्ञानिजनस्य मोक्षकारणं भवति। व्यवहारप्रतिक्रमण तु यदि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेन विषयकषायवचनार्थं करोति तदपि परपरया मोक्षकारणं भवति, अन्यथा स्वर्गादिसुखनिमित्तपुण्यकारणमेव। यत्पुनरज्ञानिजनसवधिमिथ्यात्वविषयकषायपरिणतिरूपमप्रतिक्रमण तन्नरकादिदुःखकारणमेव। एव प्रतिक्रमणाद्यष्ट-विकल्परूप शुभोपयोगो यद्यपि सविकल्पावस्थायाममृत कुभो भवति तथापि सुखदुःखादिसमतालक्षणपरमोपेक्षारूप-सयमापेक्षया विषकु भ एवेति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाष्टक गत।

इति श्री जयसेनाचार्य कृताया समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया, तात्पर्यवृत्तौ द्वाविंशति-गाथाभिश्चतुर्भिरतराधिकारैर्नवमो मोक्षाधिकारः समाप्त.।

टीका—पडिकमणमित्यादि। प्रतिक्रमण—किये हुए दोषो का निराकरण करना, प्रतिशरण—सम्यक्त्वादि गुणो मे प्रवृत्त होना, प्रतिहरण—मिथ्यात्व तथा रागादि दोषो का निवारण करना, धारणा—पंच नमस्कार मत्र आदि मत्र तथा प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यो के आलम्बन से चित्त को स्थिर करना, निवृत्ति–वहिरग विषयकषायादि में जो इच्छायुक्त चित्त होता है उसका निवारण करना, निंदा—अपने आपकी साक्षी से दोषो का प्रकट करना, गर्हा–गुरुकी साक्षी से दोषो को प्रकट करना, शुद्धि—कोई भी प्रकार का दोष होजाने पर प्रायश्चित लेकर उसका शोधन करना। इन आठ शुभ विकल्पो वाला शुभ उपयोग यद्यपि मिथ्यात्वादि विषय कषाय परिणति रूप अशुभ उपयोग की अपेक्षा तो विकलपसहित सराग चारित्र की अवस्था मे तो अमृतकु भ ही है। तो भी जो अवस्था राग द्वेष और मोहभाव तथा ख्याति, पूजा, लाभ व देखे हुये, सुने हुये और अनुभूति मे आये हुये ऐसे भोगो की आकांक्षा रूप निदान बध इत्यादि समस्त पर द्रव्यो के आलवन से होने वाले सव ही प्रकार के विभाव परिणामों से शून्य है तथा जो चिदानदैक स्वभाववाले विशुद्ध आत्मा के आलवन से भरी रहती है और निर्विकल्परूप शुद्धोपयोग लक्षण वाली है एव जो "अपडिकमण इत्यादि" गाथा में कहे हुये क्रम से ज्ञानीजनो के द्वारा आश्रय करने योग्य जो निश्चय प्रतिक्रमणादि रूप जो तीसरी अवस्था है उसकी अपेक्षा लिये हुये जो वीतराग चारित्र मे स्थित हो रहे हैं उन लोगो के लिये तो उपर्युक्त द्रव्य प्रतिक्रमणादि विषकु भ ही हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अप्रतिक्रमण दो प्रकार है एक तो ज्ञानीजनो के आश्रयरूप दूसरा अज्ञानी लोगो के द्वारा आश्रित। उसमें अज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण तो विषय कषाय की परिणतिरूप होता है किन्तु ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण तो शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप त्रिगुप्तिमय होता है। वह ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण यद्यपि सराग चारित्र है लक्षण जिसका ऐसे शुभोपयोग की अपेक्षा तो अप्रतिक्रमण कहा जाता है किन्तु वीतराग चारित्र की अपेक्षा उसी का नाम निश्चय प्रतिक्रमण है क्योकि वहाँ शुभ और अशुभ आस्रवरूप दोष के निराकरण रूप होता है इसलिये यही निश्चय प्रतिक्रमण है। यह व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा अप्रतिक्रमण शब्द के द्वारा कहा जाकर भी ज्ञानीजनो के लिये मोक्ष का कारण होता है। व्यवहार प्रतिक्रमण तो यदि शुद्धात्मा को उपादेय मानकर उसी निश्चय प्रतिक्रमण का साधक होने से विषय कषायो से बचने के लिये करता है तो वह परम्परा मोक्ष का कारण होता है

अन्यथा वह फिर स्वर्गादि के सुख का निमित्तभूत पुण्य का ही कारण होता है। अज्ञानीजन संबंधी अप्रतिक्रमण तो मिथ्यात्व और विषय कषायो को परिणिति रूप होने से नरकादि के दु ख का ही कारण है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण आदि अष्ट विकल्प रूप शुभोपयोग यद्यपि सविकल्प अवस्था मे अमृत कुंभ होता है तो भी सुख दु ख आदि मे समताभाव मय परमोपेक्षारूप सयम की अपेक्षा से तो वह विषकुंभ ही है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस चतुर्थ स्थल मे आठ गाथायें हुई ॥३२६-३२७॥

इति श्री जयसेनाचार्य की बनाई शुद्धात्मा की अनुभूति रूप लक्षण वाली श्री समयसार की तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका के हिन्दी अनुवाद बाईस मे गाथाओ द्वारा चार अन्तराधिकारो मे यह नवम मोक्ष नाम का अधिकार समाप्त हुआ।

दसवां महाधिकार [१०] सर्व विशुद्ध ज्ञान

(मोक्षतत्व चूलिका)

तात्पर्यवृत्ति.—तत्रैव सति शृंगाररहितपात्रवद्रागादिरहितशांतरसपरिणतशुद्धात्मरूपेण मोक्षो निष्क्रांत। **अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानं**-ससारपर्यायमाश्रित्याशुद्धोपादानरूपेणाशुद्धनिश्चयनयेन यद्यपि कर्तृत्वभोक्तृत्वबधमोक्षादि-परिणामसहितो जीवस्तथापि सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानरूपेणशुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्वभोक्तृत्व बधमोक्षादिकरणभूतपरिणामशून्य एवेति। **दवियं जं उप्पज्जदि** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा चतुर्दशगाथापर्यंत मोक्षपदार्थचूलिकाव्याख्यान करोति। तत्रादौ निश्चयेन कर्मकर्तृत्वाभावमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टय। तदनतर शुद्धस्यापि यद्ज्ञानावरणप्रकृतिबधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति कथनार्थं **चेदा दु पयडिअट्ठं** इत्यादि प्राकृतश्लोकचतुष्टय। अत पर निश्चयेन भोक्तृत्वा भावज्ञापनार्थं **अण्णाणी कम्मफलं** इत्यादिसूत्रचतुष्टय। तदनतर मोक्षचूलिकोपसहाररूपेण **विकुव्वदि** इत्यादि सूत्रद्वय कथयतीति मोक्षपदार्थचूलिकाया समुदायपातनिका।

अथ निश्चयेन कर्मणा कर्ता न भवति—इत्याख्याति—

टीका—वहा इस प्रकार शृंगार रहित पात्र के समान रागादि रहित शान्तरस मे परिणत शुद्धात्मा के रूप मे मोक्ष भी यहा से चला गया।

अब यहा 'सर्व विशुद्ध ज्ञान' प्रवेश करता है। वहा ससार पर्याय का आश्रय लेकर यह जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय से यद्यपि कर्तापन, भोक्तापन एव बन्ध और मोक्षादि परिणाम सहित है तो भी सर्व विशुद्ध पारिणामिक रूप परमभाव का ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है जो कि शुद्ध उपादान रूप है उससे कर्त्तापन, भोक्तापन, बन्ध या मोक्ष आदि कारण भूत परिणामो से रहित है। इसलिये 'दवियं ज उपज्जदि' इत्यादि गाथा को आदि लेकर १४ गाथाओ पर्यन्त मोक्ष पदार्थकी

चूलिका का व्याख्यान करते है । वहां सबसे प्रथम कर्म कर्त्तापन के भाव की मुख्यता से चार गाथाये कही हैं । उसके पश्चात् ऐसा कथन करने के लिये कि शुद्ध के भी जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियो का बध होता है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है इसे कहने के लिये 'चेदा दु पयडि अट्ठं' इत्यादि चार प्राकृत श्लोक हैं । तत्पश्चात् निश्चय से भोक्तापन का अभाव बताने के लिये "अण्णाणी कम्मफल" इत्यादि चार सूत्र हैं । उसके पश्चात् मोक्ष चूलिका का उपसंहार करते हुये 'विकुणदि' इत्यादि दो सूत्र हैं । इस प्रकार मोक्ष पदार्थ की चूलिका की यह समुदाय पातनिका है ।

अब यहा कहते हैं कि निश्चय से यह जीव कर्मो का कर्त्ता नही है —

दवियं जं उपज्जदि गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कड़यादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३२८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते ।
तं जीवमंजीवं वा तेहि मणण्णं वियाणाहि ॥३२९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण सो होदि ॥३३०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा ॥३३१॥(चतुष्कम्)

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत् ।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥३२८॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।
ते जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥३२९॥
न कुतश्चिप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।
उत्पादयति न किंचित्कारणमपि तेन न स भवति ॥३३०॥
कर्म प्रतीत्य कर्त्ता कर्त्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।
उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥३३१॥

अर्थ—जो द्रव्य अपने गुणो से उपजता है वह उन गुणो से कभी अन्य अर्थात् भिन्न नही होता ऐसा हे भव्य ! तू जान । जैसे स्वर्ण अपने कडे आदि पर्यायों मे इस लोक मे अन्य नहीं है कडा आदि ही है । इसी प्रकार सूत्र मे जो जीव और अजीव के परिणाम कहे हैं, उन परिणामो से जीव या अजीव को अनन्य समझो अर्थात् जिस द्रव्य के जो परिणाम हैं वे उस द्रव्य स्वरूप ही हैं । अब जब आत्मा न तो किसी अन्य से उत्पन्न ही हुआ है इसलिये वह किसी

का किया हुआ कार्य नही है और न किसी अन्य को उत्पन्न भी करता है इसलिये यह किसी का कारण भी नही है। क्योकि कर्म का आश्रय लेकर तो कर्त्ता होता है और कर्त्ता का आश्रय लेकर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है। अन्य प्रकार से कर्ता कर्म की सिद्धि नही देखी जाती है।

तात्पर्यवृत्ति—यथा कनकमिह कटकादिपर्यायैः सहानन्यदभिन्न भवति तथा द्रव्यमपि यदुत्पद्यते परिणमति। कैः सह ? स्वकीयस्वकीयगुणैः, तद्द्रव्य तैर्गुणैः सहानन्यदभिन्नमिति जानीहि इति प्रथमगाथा गता। **जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते** जीवस्य अजीवस्य च ये परिणामा पर्याया देशिता. कथिता' सूत्रे परमागमे तैः सह तेनैव पूर्वोक्तसुवर्णदृष्टातेन तमेव जीवाजीवद्रव्यमनन्यदभिन्न विजानीहीति द्वितीयगाथा गता। यस्माच्छुद्धनिश्चयनयेन नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण कदाचिदपि नोत्पन्न —कर्मणा न जनित तेन कारणेन कर्मनोकर्मापेक्षयात्मा कार्य न भवति। न च तत्कर्मनोकर्मोपादानरूपेण किमप्युत्पादयति तेन कारणेन कर्मनोकर्मणा कारणमपि न भवति, यत कर्मणा कर्ता मोचकश्च न भवति तत कारणाद्बधमोक्षयो शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवतीति तृतीयगाथा गता **कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पंज्जंते णियमा** यत पूर्वं भणित सुवर्णद्रव्यस्य कुडलपरिणामेनेव सह जीवपुद्गलयो स्वपरिणामैः सहैवानन्यत्वमभिन्नत्व। पुनश्चोक्त कर्मनोकर्मभ्या कर्तृभूताभ्या जीवो नोत्पाद्यते जीवश्च कर्मनोकर्मणी नोत्पादयति ततो ज्ञायते कर्म प्रतीत्योपचारेण जीव कर्मकर्त्ता। तथा कर्माणि चोत्पद्यते जीवकर्तारमाश्रित्योपचारेण नियमान्निश्चयात् सदेहो नास्ति **सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा** अनेन प्रकारेण, अनेन कोऽर्थ' ? परस्परनिमित्तभाव विहाय शुद्धोपादानरूपेण शुद्धनिश्चयेन जीवस्य कर्मकर्तृत्वविषये। सिद्धिर्निष्पत्तिर्घटना न दृश्यते कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलाना च कर्मत्व न दृश्यते तत स्थित शुद्धनिश्चयनयेनाकर्ता जीव इति चतुर्थगाथा गता। एव निश्चयेन जीव. कर्मणा कर्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टय गत।

अथ शुद्धस्यात्मनो ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिर्यद्बधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति प्रज्ञापयति—

टीका:—जैसे स्वर्ण यहा पर अपनी कटकादि पर्यायो से अनन्य अर्थात् भिन्न नही है वैसे ही द्रव्य भी जो उत्पन्न होता हैं, परिणमन करता है, वह अपने गुणो के साथ अनन्य अर्थात् अभिन्नरूप से ही उत्पन्न होता है यह पहली गाथा हुई। (जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते) जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य के भी परिणाम या पर्याय जो सूत्ररूप परमागम मे बताये हैं, उपर्युक्त दृष्टात के अनुसार उन परिणामो के साथ यह जीव या अजीव द्रव्य अनन्य अभिन्न ही होता है, ऐसा हे भव्य! तुम समझो यह दूसरी गाथा हुई। क्योकि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव नरनारकादि विभाव पर्यायो के रूप मे पैदा नही हुआ अर्थात् कर्मों के द्वारा आत्मा पैदा नही हुआ है, इसलिये आत्मा कर्म नो कर्मों का कार्य नही है। वैसे ही आत्मा उपादान के रूप मे किसी भी कर्म और नो कर्म को भी उत्पन्न नही करता है, इसलिये कर्म और नोकर्मो का कारण भी वह नही है। क्योकि आत्मा कर्मो का कर्ता भी नही है तो मोचक भी नही है इसलिये आत्मा शुद्ध निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष दोनो का ही कर्ता नही है। यह तीसरी गाथाका अर्थ हुआ। (कम्म पडुच्च कत्ता कत्तार तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जति य णियमा) जैसाकि पहले कहा है कि स्वर्ण का कुण्डलादि रूप परिणाम के साथ मे अभिन्न सबध है वैसे ही जीव और पुद्गल का भी अपने परिणामो के साथ अभिन्नपना है। और कर्तारूप कर्म और नोकर्म के द्वारा जीव पैदा नही किया जाता है वैसे ही कर्म और नोकर्म को जीव पैदा नही करता हैं। इस पर से यह जाना जाता है कि कर्म को प्रतीतिमे लाकर उपचार से जीव कर्म का कर्त्ता होता है तथा जीव को कर्त्तारूप मे आश्रय करके उपचार से कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है निश्चय है इसमे सदेह नही है। (सिद्धी

दु ए दिस्सदे अण्णा) इस प्रकार परस्पर के निमित्त भाव को छोडकर शुद्ध उपादान रूप से शुद्ध निश्चय-नय से जीव के कर्म कर्तापने के विषय मे सिद्धी नही होती है अर्थात् बात घटित होती नही देखी जाती, तथा कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलो को भी कर्मपना और प्रकार से नही देखा जाता इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नही है यह चौथी गाथा हुई। इस प्रकार निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नही है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल मे चार गाथायें पूर्ण हुई ॥ ३२८-३२९-३३०-३३१ ॥

विशेषार्थ—निश्चयनय तादात्म्य सबध को लेकर वर्णन करता है उसकी दृष्टि में संयोग संबंध गौण होता है। ज्ञानावरणादि कर्म और आत्मा का यदि कोई सबध है तो वह सयोग सबध है इसलिये निश्चयनय की दृष्टि मे वह नही है। अत निश्चयनय की दृष्टि मे कर्म नही है और आत्मा उनका कर्ता नही है अपितु इस दृष्टि मे तो आत्मा का स्वय का परिणाम ही उसका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है क्योकि उसका उसी के साथ तादात्म्य सबध है।

ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियो का आत्मा के साथ बध है वह अज्ञान का ही माहात्म्य है ऐसा बताते हैं—

चेदा दु पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सदि ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ॥३३२॥
एवं बंधोदु दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ॥३३३॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥३३२॥
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययोर्भवेत् ।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥३३३॥

अर्थ—चेतयिता आत्मा तो ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियो के निमित्त से उपजता है और नाश को प्राप्त होता है। प्रकृति भी इस चेतनेवाले आत्मा के लिये उपजती है और नाश को प्राप्त होती है। आत्मा के परिणामो के निमित्त से उसी प्रकार परिणमती है। इस प्रकार दोनो आत्मा और प्रकृति के परस्पर निमित्त से बध होता है और उस बध से ससार उत्पन्न होता है ॥३३२-३३३॥

तात्पर्यवृत्ति—चेदा आत्मा स्वस्थभावच्युत सन् प्रकृतिनिमित्त कर्मोदयनिमित्तमुत्पद्यते। विनश्यति च विभाव-परिणामै पर्यायै। प्रकृतिरपि चेतयितृकार्य जीवसबधिरागादिपरिणामनिमित्त ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायैरुत्पद्यते विनश्यति च। एव पूर्वोक्तप्रकारेण बधो जायते द्वयो—स्वस्थभावच्युतस्यात्मन, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपिंडरूपाया ज्ञानावरणादि-प्रकृतेश्च। कथभूतयोर्द्वयो ? अन्योऽन्यप्रत्ययो, परस्परनिमित्तकारणभूतयो। एव रागाद्यज्ञानभावेन बधो भवति तेन बधेन ससारो जायते, न च स्वस्वरूपत इत्युक्त भवति।

अथ यावत्कालं शुद्धात्मसंवित्तिच्युत सन् प्रकृत्यर्थं प्रकृत्युदयरूप रागादिक न मुंचति तावत्कालमज्ञानी स्यात् तदभावे ज्ञानी च भवतीत्युपदिशति—

टीका—स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ आत्मा प्रकृति के निमित्त से अर्थात् कर्मोदय का निमित्त पाकर अपने विभाव परिणामो से उत्पन्न भी होता है और नाश को प्राप्त होता है। प्रकृति भी इस चेतयिता के लिये जीव सबंधी रागादि परिणामो का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादिरूप कर्म पर्यायो के द्वारा उपजती है और नाश को प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वस्थभाव से च्युत आत्मा का और कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलपिण्डरूप ज्ञानावरणादि प्रकृति का भी पूर्वोक्त रीति से बध होता है। उनका बध कैसे होता है ? कि अन्योन्य रूप से एक दूसरे मे परस्पर निमित्त कारण रूप वालो का बध होता है इस प्रकार रागादिरूप अज्ञान भाव से बध होता है और उस बध से ससार होता है। तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप से बध नही होता है ॥३३२-३३३॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने बतलाया है कि परमार्थ से तो आत्मा के और प्रकृति के कर्ता कर्म पने का अभाव है तो भी परस्पर मे निमित्त नैमित्तिक रूप से कर्ता कर्मपना भी है जिससे बंध है एव उसी से ससार है।

आगे यह बताते हैं कि शुद्धात्मा की सवित्ति से च्युत हुआ जीव जब तक प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय से होने वाले रागादिभाव को नही छोडता है तब तक अज्ञानी रहता है किन्तु उन रागादि के अभाव मे ज्ञानी होता है।

जा एस पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयणाओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥३३४॥
जया विमुञ्चए चेया कम्मप्फल मणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३३५॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥३३४॥
यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनंतकं।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥३३५॥

अर्थ—यह जीव जब तक उपर्युक्त प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय से होने वाली रागादिरूप परिणति को नही छोडता है तब तक अज्ञायक रहता है, मिथ्यादृष्टि तथा असयत होता है। जब यह आत्मा अनत भेद वाले कर्म के फल को छोड देता है, उसे नही भोगता है, उस समय बध से रहित हुआ ज्ञाता, दृष्टा और सयमी होता है ॥३३४-३३५॥

तात्पर्यवृत्ति—यावत्कालमेष चेतयिता जीव, चिदानदैकस्वभावपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणा सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणामभावात्प्रकृत्यर्थ रागादिकर्मोदयरूप न मुंचति, तावत्काल रागादिरूपमात्मानं श्रद्धाति जाना-

त्यनुभवति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति, अज्ञानी भवति, असयतश्च भवति, तथा भूत मन् मोक्ष न लभते। यदा पुनरयमेव चेतयिता मिथ्यात्वरागादिरूप कर्मफल शक्तिरूपेणानत विशेषेण सर्वप्रकारेण मु चति तदा शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा सद्भावात् लाभान्मिथ्यात्वरागादिभ्यो भिन्नमात्मान श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च। तत मम्यग्दृष्टिर्भवति, ज्ञानी भवति सयतो मुनिश्च भवति तथाभूत मन् विशेषेण द्रव्यभावगतमूलोत्तरप्रकृतिविनाशेन मुक्तो भवतीति। एव यद्यप्यात्मा शुद्धनिश्चयेन कर्ता न भवति तथाप्यनादिकर्मवधवशान्मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्म वध्नातीति अज्ञानसामर्थ्यज्ञापनार्थं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टय गत—

अथ शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलभोक्तृत्व जीवस्वभावो न भवति, कस्मात्? अज्ञानस्वभावत्वात्—इति कथयति—

टीका:—जव तक यह चेतक स्वभाववाला जीव चिदानद एक स्वभाव है जिसका ऐसे परमात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और साम्यक चारित्र के अभाव से प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय रूप रागादिक को नही छोडता है तव तक वह आत्मा को रागादिरूप ही मानता है, रागादिरूप ही जानता है, और रागादिरूप ही अनुभवता है इसलिये मिथ्यादृष्टि होता है, अज्ञानी होता है और असयत होता है इस प्रकार होता हुआ वह मोक्ष को नही पाता है। किन्तु जव वही चेतयिता शक्ति रूपसे अनन्त विशेष भेदवाले मिथ्यात्व रागादिरूप कर्मफल को सर्व प्रकार से छोड देता है उस समय शुद्ध वुद्ध एक स्वभाव जो आत्म तत्व उसका सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र के सद्भाव होने से मिथ्यात्व और रागादि से भिन्न आत्मा को मानने, जानने और अनुभव करने लगता है तव वह सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, और सयत मुनि होता है। ऐसा होता हुआ विशेष प्रकार से वह द्रव्य और भाव रूप से होनेवाली मूल और उत्तर प्रकृति के नाश से मुक्त हो जाता है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से देखें तो आत्मा कर्ता नही है फिर भी अनादि कालीन कर्मवध के वश से मिथ्यात्व और रागादि रूप अज्ञान भाव के द्वारा कर्म बध करता ही है। इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य वतलाने के लिये चार गाथाए कही गई ॥ ३३४–३३५ ॥

आगे यह वतलाते है कि शुद्ध निश्चयनय से कर्मफल को भोगते रहना जीव का स्वभाव नही है क्योकि वह तो अज्ञान भाव है —

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ॥३३६॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥३३६॥

अर्थ—अज्ञानी (प्रमादी) जीव कर्म के फल को प्रकृति के स्वभाव में स्थित होता हुआ भोगता है परन्तु ज्ञानी (प्रमाद रहित) जीव उदय मे आये हुए कर्म के फल को जानता मात्र है भोगता नही है ॥ ३३६ ॥

तात्पर्यवृत्ति —**अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानस्याभावादज्ञानी जीव उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावे सुखदुःखस्वरूपे स्थित्वा हर्षविषादाभ्या तन्मयो भूत्वा कर्मफल वेदयत्यनुभवती। **णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि**

ज्ञानी पुन तन्मयो भूत्वा पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् वीतरागसहजपरमानदरूपसुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणत सन् कर्मफलमुदित वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्या तन्मयो भूत्वा वेदयतीति ।

अथाज्ञानी जीव सापराध सशकित सन् कर्मफल तन्मयो भूत्वा वेदयति, यस्तु निरपराधो ज्ञानीस कर्मोदये सति किं करोति ? इति कथयति—

टीका—(अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि) विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले आत्मतत्व के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप भेदज्ञान के न होने से (न रहने से) अज्ञानी जीव उदय मे आए हुए कर्म प्रकृति के स्वभाव मे अर्थात् सुख दु ख रूप मे स्थित होकर हर्ष विषादमय होकर उस कर्म के फल को वेदता है, अनुभव करता है। (णाणी पुण कम्मफल जाणदि उदिद ण वेददि) और ज्ञानी तो पूर्वोक्त भेदज्ञान के सद्भाव से वीतराग सहज परमानन्दस्वरूप सुखरस के आस्वादन द्वारा परम समरसी भाव रूप मे परिणत होता हुआ, उदय मे आये हुए फल को वस्तु का जैसा स्वरूप है उसी प्रकार जानता ही है। किन्तु हर्ष विषादमय होकर उसे वेदता अर्थात् भोगता नही है ।। ३३६ ।।

विशेषार्थ—ज्ञानी उदय मे आये हुए कर्म फल को जानता है किन्तु अज्ञानी उसे वेदता है। यहा प्रश्न हो सकता है कि जानना और वेदना दोनो का अर्थ यदि एक है तो फिर अन्तर क्या है ? उत्तर यह है कि अमुक वस्तु घडी आदि है, यह तो जानना हुआ पर इसमे अच्छे बुरेपन की मान्यता या विचार आता है वह उसका वेदना या भोगना कहलाता है। अज्ञानी जीव राग द्वेषवान होता है अत वह जिस वस्तु को भी देखता जानता है उसे अच्छी या बुरी मानकर उसमे हर्ष विषाद कर बैठता है एव नूतन कर्म बन्ध करता हुआ ससार मे फसा ही रहता है। किन्तु ज्ञानी विरागी जीव प्रसग प्राप्त वस्तु को देखता जानता मात्र है पर उसमे अच्छा बुरापन न मानकर हर्ष विषाद नही करता अत नूतन कर्म बन्ध नही करता यही अन्तर है।

अज्ञानी जीव अपराधी होता है इसलिये वह सशकित होता हुआ कर्मफल को तन्मय होकर भोगता है किन्तु निरपराध ज्ञानी (समाधि स्थित) होता है वह कर्मोदय होने पर क्या करता है सो बताते हैं—

जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ।।३३७।।

यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निःशंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्त्तते अहमिति विजानन् ।।३३७।।

अर्थ—जो अपराध रहित आत्मा होता है वह निश्शक होता है वह अपने आपको जानता अनुभव करता हुआ निरन्तर आराधना मे ही तत्पर होता है ।। ३३७ ।।

तात्पर्यवृत्ति—**जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्सकिदो दु सो होदि** यस्तु चेतयिता ज्ञानी जीव स निरपराध. सन् परमात्माराधनविषये निश्शको भवति । निश्शको भूत्वा किं करोति ? **आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि**

वियाणंतो निर्दोषपरमात्माराधनारूपया निश्चयाराधनया नित्य सर्वकाल-वर्तते । किं कुर्वन्? अनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा शुद्धात्मान सम्यग्जानन् परमसमरसी भावेन-चानुभवति इति ।

अज्ञानी कर्मणा नियमेन वेदको भवतीति दर्शयति—

टीका.—(जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि) जो चेतयिता ज्ञानी जीव निरपराध होता हुआ परमात्मा के आराधन मे निश्शंक होता है। वह निश्शक होकर क्या करता है? कि (आराहणाए णिच्च वट्टदि अहमिदि वियाणंतो) निर्दोष परमात्मा की आराधना तत्स्वरूप जो निश्चय आराधना उससे युक्त होकर निरन्तर सदा काल रहता है। क्या करता हुआ रहता है कि मैं अनन्त ज्ञानादि स्वरूप हू इस प्रकार विचार करके निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर शुद्ध आत्मा को अच्छी प्रकार से जानता हुआ वह परम समरसी भाव के द्वारा उसी का अनुभव करता रहता है ।।३३७।।

अब यहा बताते हैं कि अज्ञानी जीव नियम से कर्मों का वेदक ही होता है—

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइदूण सत्थाणि ।
गुड़दुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ।।३३८।।

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि ।
गुड़दुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति ।।३३८।।

अर्थ—शास्त्रो को अच्छी प्रकार पढ करके भी अभव्य जीव कर्मोदय के स्वभाव को नही छोडता अर्थात् उसकी प्रकृति नही बदलती जैसे गुड सहित दूध को पीते हुये भी सर्प निर्विष नही होते हैं ।।३३८।।

तात्पर्यवृत्ति—यथा पन्नगा सर्पा शर्करासहित दुग्ध पिवतोऽपि निर्विषा न भवति तथा ज्ञानी जीवो मिथ्यात्वरागादिरूपकर्मप्रकृत्युदयस्वभाव न मुंचति । किं कृत्वापि ? अधीत्यापि । कानि ? शास्त्राणि । कथ सुट्ठुवि सुष्ट्वपि । कस्मान्न मुंचति ? वीतरागस्वसवेदनज्ञानाभावात् कर्मोदये सति मिथ्यात्वरागादीना तन्मयो भवति यत कारणात् इति ।

ज्ञानी कर्मणा नियमेन निश्चयेन वेदको न भवतीति दर्शयति—

टीका—जैसे पन्नग अर्थात् साप शक्कर सहित दूध पीकर भी विष रहित नही होते हैं उसी प्रकार अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रागादिरूप कर्म प्रकृति के उदय स्वभाव को नही छोडता है। क्या करके नही छोडता है कि शास्त्रो को अच्छे प्रकार पढ करके भी अपने दुष्ठ स्वभाव को नहीं छोडता है क्योकि उसके वीतराग स्वसवेदन ज्ञान का अभाव रहता है इसलिये कर्मोदय के होने पर मिथ्यात्व और रागादि मे तन्मय होता है ।। ३३८ ।।

ज्ञानी जीव नियम से निश्चय से कर्मफल का वेदक नही होता है यह बतलाते हैं—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण पण्णत्तो ।।३३९।।

निर्वेद समापन्नो ज्ञानी कर्मं फलं विजानाति ।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन प्रज्ञप्तः ॥३३९॥

अर्थ—ज्ञानी जीव निर्वेद समापन्न अर्थात् वैराग्य सहित होता है इसलिये वह यद्यपि मीठा या कडुवा आदि अनेक प्रकार वाले कर्मफल को जानता है फिर भी वह उसका भोक्ता अर्थात् अनुभव करने वाला नही होता है ॥३३९॥

तात्पर्यवृत्ति—**णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणादि** परमतत्त्वज्ञानी जीव. ससारशरीर-भोगरूपत्रिविधवैराग्यसपन्नो भूत्वा शुभाशुभकर्मफलमुदयागत वस्तु, वस्तुस्वरूपेण विशेषण निर्विकारस्वशुद्धात्मनो भिन्नत्वेन जानाति । कथ भूत जानाति ? **महुरं कडुवं बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो** अशुभकर्मफल निंबकाजीर-विषहलाहलरूपेण कटुक जानाति । शुभकर्मफल बहुविध गुडखडशर्करामृतरूपेण मधुर जानाति । न च शुद्धात्मोत्थसहज-परमानन्दरूपमतीद्रियसुख विहाय पचेन्द्रियसुखे परिणमति, तेन कारणेन ज्ञानी वेदको भोक्ता न भवतीति नियम. । एव ज्ञानी शुद्धनिश्चियेन शुभाशुभकर्म फलभोक्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टय गत ।

अथ निरुपराग शुद्धात्मानुभूति लक्षण भेद ज्ञानी कर्म न करोति न च वेदयति इति प्रकाशयति—

टीका—(णिव्वेद समावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणादि) परम तत्वज्ञानी जीव संसार शरीर और भोग इन तीनो से वैराग्य सम्पन्न होकर उदय में आये हुए शुभाशुभ कर्म के फल को जैसा जिस वस्तु का स्वरूप है उसी रूप से ठीक प्रकार जानता है किन्तु निर्विकार अपनी शुद्धात्मा से विशेष रूप से भिन्न जानता है । कैसे जानता है कि (महु र कडुय बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो) अशुभ कर्म के फल को नीम, काजी, विष और हलाहल के रूप मे कडुवा जानता है और शुभ कर्म के फल को अनेक प्रकार का गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृत के रूप में मीठा जानता है । फिर भी वह शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए सहज परमानन्द रूप अतीन्द्रिय सुख को छोडकर पचेन्द्रिय के सुख मे कभी परिणमन नही करता इसलिये ज्ञानी जीव उसका वेदक अर्थात् भोक्ता नही होता यह नियम है । इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से (अर्थात् परम समाधि मे लगे रहने से) ज्ञानी जीव शुभ या अशुभ कर्म के फल का भोक्ता नही होता इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस तीसरे स्थल मे चार सूत्र कहे गये ॥३३९॥

विशेषार्थ–ज्ञानी तो परम समाधि मे निरत रहता है तब उसने आत्मानुभव के सिवा और सब कुछ करना छोड ही दिया है । रही भोक्तापन की बात सो वह जब शुद्धात्मा के अनुभव मे तल्लीन है तब इतर सव वाह्य पदार्थों से अत्यन्त विरक्त है ऐसी दशा मे भोक्तापन भी कैसे सभव हो सकता है । इस प्रकार जव कर्त्तापन और भोक्तापन भी नही है तव वह तो जानता मात्र है सो वह उसका सहज स्वभाव है एव वह सव प्रकार को झझटो से मुक्त होकर आत्मतल्लीन रहता है जैसाकि श्री अमृतचन्द्राचार्य भी अपने कलश मे वताते हैं—

> ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमय किल तत्स्वभाव ।
> जानन्पर करणवेदनयोरभावात् शुद्ध स्वभाव नियत स हि मुक्त एव ॥१९८॥

भाव इसका ऊपर स्पष्ट है ।

राग रहित शुद्धात्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसा भेदज्ञानी जीव न कर्मो को करता हैं और न भोगता है.—

ण वि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ ।
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३४०॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ॥३४०॥

अर्थ—ज्ञानी अनेक प्रकार के कर्मो को न तो करता ही है और न भोगता ही है परन्तु कर्म के बंधको तथा कर्मफल पुण्य और पाप को जानता ही है ॥३४०॥

तात्पर्यवृत्तिः—णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ त्रिगुप्तिगुप्तिबलेन ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनशून्येनानंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण सालंबने भरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थितो ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि निश्चयनयेन करोति न च तन्मयो भूत्वा वेदयत्यनुभवति । तर्हि किं करोति ? **जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च** परमात्मभावनोत्थसुखे तृप्तो भूत्वा वस्तुस्वरूपेण जानात्येव । किं जानाति ? सुखदुःखस्वरूपकर्मफलं प्रकृतिबंधादिभेदभिन्नं पुनः कर्मबंधं, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्ररूपं पुण्यं, अतोऽन्यदसद्वेद्यादिरूपं पापं चेति ।

तमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावं विशेषेण समर्थयति—

टीका—(णवि कुव्वदि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ) ज्ञानी त्रिगुप्ति मे गुप्त हो रहने रूप बल के द्वारा ख्याति, पूजा, लाभ, एवं देखे, सुने और अनुभूति मे आये ऐसे भोगो की आकाक्षारूप निदानबंध इत्यादिरूप समस्त परद्रव्य के आलम्बन से शून्य ऐसा अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यस्वरूप के द्वारा भरे हुये के समान स्वावलंबन ऐसी निर्विकल्प समाधि मे जो स्थित है वह नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि रूप मूल प्रकृति एव मतिज्ञानादि रूप उत्तर प्रकृति के भेद से जो विभिन्न प्रकार के हैं उन कर्मो को निश्चय नय के द्वारा न तो करता ही है और न तन्मय होकर उसको वेदता अनुभवता ही है। फिर क्या करता है ? कि (जाणदि पुण कम्मफल बंध पुण्ण च पाव च) परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुखमे तृप्त होकर जैसा जिस वस्तु का स्वरूप है उस रूप से जानता है । किसको जानता है ? कि सुख दुःख स्वरूप कर्म के फल को, प्रकृति बंधादि के भेद से अनेक प्रकार होने वाले कर्म के बंध को, तथा साता वेदनीय, शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्ररूप पुण्य को व इससे अन्य विपरीत असाता वेदनीय आदि रूप पाप को भी जानता है ॥३४०॥

अब इसी कर्तृत्व व भोक्तृत्व के अभाव का दृष्टात पूर्वक समर्थन करते हैं—

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३४१॥

दृष्टिः स्वयमपि ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव ।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥३४१॥

अर्थ—जैसे चक्षु देखने योग्य पदार्थ को देखता ही है उसका कर्ता तथा भोक्ता नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञान भी बध, मोक्ष, कर्मोदय के उदय, तथा कर्मों की निर्जरा को जानता ही है, कर्त्ता भोक्ता नही होता ।।३४१।।

तात्पर्यवृत्तिः—दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव यथा दृष्टि कर्त्री दृश्यमग्नि रूप वस्तुसधुक्षरणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्ताय पिंडवदनुभवरूपेण न वेदयति । तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वय शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति । अथवा पाठातर **दिट्ठी खयपि णाणं** तस्य व्याख्यान—न केवल दृष्टि क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारक तथैवा वेदकमपि । तथाभूत सन् किं करोति ? **जाणदि य बंधमोक्खं** जानाति च कौ ? बधमोक्षौ न केवल बधमोक्षौ **कम्मुदय णिज्जर चेव** शुभाशुभरूपं कर्मोदय सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरा चैव जानाति इति । एव सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व-भोक्तृत्व-बध-मोक्षादिकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचित । समुदायपातनिकाया पश्चाद्-गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविवरण कृत । पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञानानसामर्थ्यकथनरूपेण विशेषविवरण कृत । पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यान कृत । तदनतर शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वबधमोक्षादिककारणपरिणामवर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसहाररूपेण गाथाद्वय गत ।

इति **श्री जयसेनाचार्य कृतायां** समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया **तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकारसंबधिनी** चूलिका समाप्ता । अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकारः समाप्तः ।

टीका—(दिट्ठी सयपि णाण अकारय तह अवेदय चेव) जैसे चक्षु अग्निरूप दृश्य को देखता है किन्तु जलाने वाले पुरुष के समान वह उसे जलाता नही है, तथा तप्तायमान लोहपिंड के समान वह उसे अनुभवरूप से वेदता भोक्ता भी नही है । वैसे शुद्ध ज्ञान भी अथवा अभेद विवक्षा से शुद्धज्ञान में परिणत हुआ जीव भी शुद्ध उपादान रूप से (अन्य द्रव्यो को) न करता ही है और न वेदता ही है (अनुभवता ही है) । अथवा दूसरा पाठ यह है (दिट्ठी खयपि णाण) इसका अर्थ यह है कि केवल मात्र दृष्टि ही नही किन्तु क्षायिक ज्ञान भी निश्चय रूप से कर्मों का नही करने वाला और नही वेदनेवाना (अनुभवनेवाला) होता है । ऐसा होता हुआ वह क्या करता है ? कि (जाणदि य बध मोक्ख) वध और मोक्ष को जानता है । केवल बध मोक्ष को ही नही किन्तु (कम्मुदय णिज्जर चेब) शुभाशुभ रूप कर्म के उदय को, तथा सविपाक अविपाक रूप अथवा सकाम और अकाम रूपसे होनेवाली दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है । इस प्रकार शुद्ध पारिणामिकरूप परमभाव का ग्राहक एवं जो उपादान स्वरूप है ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के द्वारा कर्तापन, भोक्तापन, बध, मोक्षादि का कारण भूत परिणामसे रहित यह जीव है ऐसा सूचित किया है । इस प्रकार समुदाय पातनिका मे पीछे की चार गाथाओ द्वारा जीव के अकर्तापनगुण के व्याख्यान की मुख्यता से सामान्य वर्णन किया है । फिर चार गाथाओ मे यह वताया है कि निश्चयसे शुद्ध जीवके भी जो कर्म प्रकृतियो का बध होता है वह अज्ञानका माहात्म्य है इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य का विशेषरूप से वर्णन किया है । फिर चार गाथाओ मे जीवके अभोक्तापन के गुणका व्याख्यान मुख्यता से है । तत्पश्चात् कर्तापन बध मोक्षादि का कारणभूत परिणाम का निषेध १२ गाथाओ मे हुआ है जो कि शुद्ध निश्चयनयसे किया गया है उसीका उपसहार दो गाथाओ मे हुआ है ।।३४१।।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली तात्पर्य नामकी श्री समयसारजी की व्याख्या के हिन्दी अनुवादमे मोक्षाधिकार से सबध रखनेवाली यह चूलिका समाप्त हुई। अथवा दूसरे व्याख्यान के द्वारा मोक्ष अधिकार समाप्त हुआ ॥३४१॥

तात्पर्यवृत्ति—किं च विशेष—औपशमिकादिपचभावाना मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टय पर्यायरूप भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्पर-सापेक्ष द्रव्यपर्यायद्वयमात्मा पदार्थो भण्यते। तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्व शक्तिलक्षण। यत्पारिणामिकत्व तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरण शुद्धपारिणामिकभावसज्ञ ज्ञातव्य तत्तुबधमोक्षपर्यायपरिणतिरहित। यत्पुनर्दशप्राणरूप जीवत्व भव्याभव्यत्वद्वय तात्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभाव-संज्ञमिति। कथमशुद्धमिति चेत्? ससारिणा शुद्धनयेन सिद्धाना तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावा-दिति। तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासभव च मक्यक्त्वादिजीवगुणघातक देशघातिसर्वघातिसज्ञ मोहादिकर्मसामान्य पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादक भवति इति विज्ञेय। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्ति-र्भवति तदाय जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिक भावत्रय भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरि-णाम. शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसज्ञां लभते। स च पर्याय शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथचिद्भिन्न। कस्मात्? भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यद्येकातेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाश प्राप्नोति, नच तथा। ततः स्थित—शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूप यदौपशमिकादिभावत्रय तत्समस्तरागादिरहित-त्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारण भवति न च शुद्धपारिणामिक.। यस्तु शक्तिरूपो मोक्ष स शुद्धपारिणामिकपूर्व-मेव तिष्टति। अय तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते। तथा चोक्त सिद्धाते—'निष्क्रियशुद्धपारिणामिक' निष्क्रियइति कोऽर्थ? बध कारणभूता या क्रिया रागादिपरिणति, तद्रूपो न भवति। मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणति-स्तद्रूपश्च न भवति। ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति। कस्मात्? ध्यानस्य विनश्वरत्वात्। तथा योगींद्रदेवैरप्युक्त—

णवि उपज्जइ णवि मरइ, बधण मोक्खु करेइ।
जिउ पुरमत्थे जोइया, जिणवर एउ भणेइ ॥ १ ॥

किं च विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेय भावना निर्विकारस्वसवेदनलक्षणक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्ति-रूपा भवति तथापि ध्याता पुरुष यदेव सकलनिरावरणमखडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वर शुद्धपारिणामिकपरमभाव-लक्षण निजपरमात्मद्रव्य तदेवाहमिति भावयति न च खडज्ञानरूपमिति भावार्थ.। इद तु व्याख्यान परस्परसापेक्षागमा-ध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथित सिद्धयतीति ज्ञातव्य विवेकिभि।

अर्थ—अब यहा पर विचार किया जाता है कि जीव के औपशमिक आदि पाच भावो में से किस भाव के द्वारा मोक्ष होता है। सो वहा औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ऐसे चार भाव तो पर्यायरूप है और एक शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है। पदार्थ परस्पर अपेक्षा लिये द्रव्य पर्याय रूप है। वहा जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व तीन प्रकार का पारिणामिक भाव है। उसमे भी शक्ति

लक्षण शुद्ध जीवत्व पारिणामिक भाव है वही शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका आश्रय होने से निरावरण शुद्ध पारणामिक भाव है नाम जिसका ऐसा जानना चाहिये जो कि बध और मोक्षरूप पर्याय की परिणति से रहित है। और दश प्राण रूप जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये सब पर्यायार्थिक नयके आश्रय होने से अशुद्ध परिणामिक नाम वाला है। यहा प्रश्न होता है कि अशुद्ध पारिणामिक क्यो है? इसका उत्तर यह है कि दश प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व इन तीनो का सिद्धो मे तो सर्वथा अभाव है, किन्तु ससारी जीवो मे भी शुद्ध निश्चय नयसे अभाव है वहा इन तीनो मे से भव्यत्व लक्षणवाला पारिणामिक भाव है उसका तो पर्यायर्थिक नयसे मोहादिक कर्म सामान्य आच्छादक है जो देशघाती और सर्वघाती नाम वाला है एव सम्यक्त्वादि जीवके गुणोका घातक है ऐसा समझना चाहिये। वहा जब काल आदि लब्धियो के वश से भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भावरूपी लक्षण को रखने वाली ऐसे निज परमात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण की पर्याय के रूप मे परिणमन करता है उसी ही परिणमन को आगम भाषा मे औपशमिक क्षायोपशिक, और क्षायिक भाव इन तीनो नामो से कहा जाता है। वही अध्यात्म भाषामे शुद्ध आत्माके अभिमुख परिणाम कहलाता है जिसको शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायरूप नामसे कहते हैं। वह क्षुद्धोपयोगरूप पर्याय भी शुद्ध पारिणामिक भाव है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म द्रव्य से कथचित भिन्न रूप होती है क्योकि वह भावनारूप होती है। किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव भावनारूप नही होता है। यदि इस भावनारूप परिणाम को एकान्तरूप से शुद्ध पारमाणिक भावसे अभिन्न ही मान लिया जाय तो मोक्ष का कारणभूत भावना रूप परिणामका तो मोक्ष हो जाने पर नाश हो जाता है तब उसके नाश हो जाने पर शुद्ध पारिणामिक भाव का भी नाश हो जाना चाहिये सो ऐसा है नही। इसलिये यह निश्चित है कि शुद्ध पारिणामिक भाव के विषयमे जो भावना है उसरूप जो औपशमादिक तीन भाव हैं सो रागादिक समस्त विकारभावो से रहित होनेसे शुद्ध उपादान के कारणरूप हैं इसलिये मोक्षके कारण होते हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव मोक्ष का कारण नही है। हा, जो शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्ध पारिणामिक-रूप पहले से ही प्रवर्तमान है किन्तु यहा पर तो व्यक्तिरूप मोक्षका विचार चल रहा है, ऐसा ही सिद्धान्त मे लिखा हुआ कि "निष्क्रिय. शुद्ध पारिणामिक" अर्थात् शुद्ध पारिणामिक भाव तो निष्क्रिय होता है। निष्क्रिय कहने का भी क्या अर्थ है कि रागादिमय परिणतिवाली एव बधकी कारणभूत क्रियासे रहित है तथा मोक्षके कारणभूत जो क्रिया शुद्ध शुद्ध स्वरूप की भावनारूप परिणति है उससे भी रहित है। इससे यह जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप है परन्तु ध्यानरूप नही है क्योकि विनाशशील है। जैसाकि योगीन्द्र देव ने भी अपने परमात्मप्रकाश मे लिखा है—

'णवि उप्पज्जइ णवि मरइ बध ण मुक्खु करेइ, जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ।" अर्थात्—हे योगी। सुन, परमार्थ दृष्टि से देखने पर यह जीव न तो उपजता है, न मरता है, न बध ही करता है, न मोक्ष ही प्राप्त करता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि विवक्षा मे ली हुई एक देश शुद्ध नय के आश्रित होने वाली भावना निर्विकार स्वसवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसे क्षायोपशमिक ज्ञान से पृथकपने के कारण यद्यपि एक देश व्यक्ति रूप है फिर भी ध्यान करने वाला पुरुष यही भावना करता है कि जो सभी प्रकार के आवरणो से रहित अखड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय तथा नाश रहित और शुद्ध पारिणामिक लक्षणवाला निज परमात्मा द्रव्य है वही मैं हू अपितु खड ज्ञान रूप मै नही हू, यह सब व्याख्यान यहा परस्पर की अपेक्षा को लिये हुये जो

आगम और अध्यात्मनय इन दोनो का विरोध नही करने से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार विवेकी ज्ञानियो को समझना चाहिये।

विशेषार्थ—टीकाकारने यहा बतलाया है कि काल आदि लब्धि के बल से इस जीव को भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तभी यह जीव अपने परमात्मद्रव्य का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठान करने रूप मे परिणमन करता है। उस परिणमन को ही आगम भाषा मे औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव नाम से कहा जाता है व अध्यात्म भाषा मे वही शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम स्वरूप शुद्धोपयोग नाम पाता है। इस टीकाकार के उल्लेखसे चतुर्थगुणस्थान मे ही शुद्धोपयोग हो जाना सिद्ध होता है क्योकि वहा दर्शन मोह का क्षय, क्षयोपशम, या उपशम हो जाता है, तो फिर क्या चतुर्थ गुणस्थान मे ही शुद्धोपयोग मान लेना चाहिये क्योकि तज्जन्य औपशमादिक भाव भी उस गुणस्थान मे होते ही हैं? इसका उत्तर यह है कि यहा इस अध्यात्मशास्त्र मे दर्शन मोह, व चारित्र मोह को. पृथक् २ न लेकर मोह नाम भूलका लिया गया है। फिर वह भूल चाहे दर्शन सबधी हो, या चारित्र सबधी हो, भूल तो भूल ही है। इस प्रकार वह भूल जिसके उपयोगमे न हो वही सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी यहा पर लिया गया है और जैसा स्वयं टीकाकार श्री जयसेनाचार्यने भी अनेक स्थलो पर बतलाया है कि यहा पर पचम गुणस्थान से ऊपर वाले को ही सम्यग्दृष्टि शब्द से लिया गया है अर्थात् चारित्र सहित सम्यदृष्टि को ही यहा पर सम्यग्दृष्टि माना गया है। अथवा वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही यहा सम्यग्दृष्टि लिया है एव उसका औपशमादिक भाव शुद्धोपयोग है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानवाले का औपशमिक भाव और बारहवें गुणस्थानवाले का क्षायिक भाव। ग्यारहवे गुणस्थानसे नीचेवाले मुनिका क्षयोपशमिक भाव शुद्धोपयोग है यह कहना भी ठीक ही है। वह शुद्धोपयोग भी दो प्रकार का होता है—एकतो शुद्ध धर्मध्यानात्मक जो कि सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनिको होता है और दूसरा शुक्ल ध्यानात्मक शुद्धोपयोग जो कि आठवे आदि गुणस्थानो मे होता है। सातवे गुणस्थानसे नीचे वाले मुनिके भी ध्यान को वास्तविक धर्मध्यान न कहकर यहा पर शुभ सकल्प विकल्पात्मक होनेसे औपचारिक धर्मध्यान नामसे या* प्रशस्त आर्त्तध्यान के नाम से लिया गया है जो कि औदयिक भावरूप हुआ करता है और इसीलिये आचार्यदेवने उसे छोडदेने का बार-बार उपदेश किया है।

समयसार चूलिका

तात्पर्यवृत्तिः—अतः पर जीवादिनवाधिकारेषु जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वरूप यथास्थान निश्चयव्यवहार-विभागेन सामान्येन यत्पूर्वं सूचित, तस्यैव विशेषविवरणार्थ **लोकस्स कुणदि विह्णू** इत्यादि गाथामादि कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यंत चूलिकाव्याख्यान करोति—

चूलिकाशब्दस्यार्थ कथ्यते तथाहि—विशेषव्याख्यान, उक्तानुक्तव्याख्यान, उक्तनुक्तसकीर्णव्याख्यान चेति त्रिधा चूलिकाशब्दास्यार्थो ज्ञातव्य'। तत्र षण्णवतिगाथासु मध्ये विष्णोर्देवादिपर्यायकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन **लोगस्स**

*१ ज्ञानार्णव अष्टाविंश प्रकरण

सुख्योपचारभेदन द्वौ मुनि स्वामिनौ मतौ। अप्रमत्तप्रमत्ताख्यो धर्मस्यैतो यथायथम् ॥२५॥

कुणदि विह्लु इत्यादि गाथासप्तक च भवति । तदनंतर, अन्य कर्ता, भुंक्ते चान्य —इत्येकातनिषेधरूपेण बौद्धमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थ **केहिंदु पज्जयेहिं** इत्यादिसूत्रचतुष्टय । अत पर साख्यमतानुसारिशिष्य प्रति, एकातेन जीवस्य भावमिथ्यात्वकर्तृत्वनिराकरणार्थ **मिच्छत्ता जदि पयडी** इत्यादि सूत्रपचक । तत पर ज्ञानाज्ञानसुखदु खादिभावान् कर्मैवैकातेन करोति नचात्मेति पुनरपि सारव्यमतनिराकरणार्थ—**कम्मेहिं अण्णाणी** इत्यादि त्रयोदशसूत्राणि । अथानतरं कोऽपि प्राथमिकशिष्य शब्दादिपचेन्द्रियविपयाणा विनाश कर्तुं वाछति किंतु मनसि स्थितस्य विषयानुरागस्य घात करोमीति विशेपविवेक न जानाति तस्य सबोधनार्थं **दसणणाणचरित्तं** इत्यादि सूत्रसप्तक । तदनतर यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कु डलादिकर्म हस्तकुट्टकाद्युपकरणैं करोति । तत्फल मूल्यादिक भुक्ते च तथापि तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि द्रव्यकर्म करोति भुक्ते च तथापि तन्मयो न भवतीत्यादिप्रतिपादनरूपेण **जह सिप्पियो दु** इत्यादि गाथा सप्तक । तत पर यद्यपि श्वेतमृत्तिका व्यवहारेण कुड्यादिक श्वेत करोति तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि व्यवहारेण ज्ञेयभूत च द्रव्यमेव जानाति पश्यति परिहरति श्रद्दधाति च तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति इति ब्रह्माद्वैतमतानुसारिशिष्यसबोधनार्थं **जहसेडिया** इत्यादि सूत्रदशक । तत पर शुद्धात्मभावनारूपनिश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान–निश्चयालोचना—निश्चयचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन **कम्म जं पुव्वकयं** इत्यादिसूत्र चतुष्टय । तदनतरं रागद्वेपोत्पत्तिविपयेऽज्ञानरूपस्वकीयबुद्धिरूपदोप एव कारण नचाचेतनशब्दादिविपया इति कथनार्थं **णिंददि सुंथुदि वयणाणि** इत्यादि गाथादशक । अत पर उदयागत कर्म वेदयमानो मदीयमिद मया कृत च मन्यते स्वस्थभावशून्य सुखितो दुखितश्च भवति य: स पुनरप्यष्टविघ कर्म दु ख वीज वध्नातीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन **वेदंतो कम्मफलं** इत्यादि गाथात्रय । तदनतर आचारसूत्रकृतादि द्रव्यश्रुतेंद्रियविपयद्रव्यकर्म धर्माधर्माकाशकाला शुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूप न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **सच्छं णाणं ण हवदि** इत्यादि पचदश सूत्राणि ।तत परं यस्य शुद्धनयस्यभिप्रा येणात्मा मूर्तिरहितस्तस्याभिप्रायेण कर्मनोकर्माहाररहित इति व्याख्यानरूपेण **अप्पा जस्स अमुत्तो** इत्यादि गाथात्रय । तदनतर देहाश्रितद्रव्यलिंग निर्विकल्पसमाधिलक्षणभावलिंगरहित यतीना मुक्तिकारण न भवति भावलिंगसहिताना पुन सहकारिकारण भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **पाखंडी लिंगाणिय** इत्यादि सूत्रसप्तक । पुनश्च समयप्राभृताध्ययनफलकथनरूपेण ग्रथसमाप्त्यर्थं **जो समय पाहुडिमणं** इत्यादि सूत्रमेक कथयतीति त्रयोदशभिरतराधिकारैं समयसारचूलिकाधिकारेसमुदायपातनिका—

इदानी त्रयोदशाधिकाराणा यथाक्रमेण विशेपव्याख्यान क्रियते । तद्यथा—एकातेनात्मान कर्तार ये मन्यते तेपामज्ञानिजनवन्मोक्षो नास्तीत्युपदिशति—

टीका.—इसके आगे जीव आदि नव अधिकारो मे जीवका कर्त्तापन और भोक्तापन आदि के विपय से निश्चयनय और व्यवहारनय के विभागद्वारा सामान्यपने जो पूर्व मे वर्णन किया है उसी का अब विशेप वर्णन करने के लिये "लोगस्स कुणदि विण्हु" इत्यादि गाथा को आदि लेकर पाठक्रम से ६६ गाथाओ मे चूलिका का व्याख्यान करते है ।

चूलिका शब्द का अर्थ कहते हैं—"विशेष व्याख्यान, कहे हुवे और न कहे हुये का व्याख्यान, तथा कहा हुआ और न कहा हुआ से मिश्रित व्याख्यान इस प्रकार तीन प्रकार से व्याख्यान चूलिका शब्द से कहा जाता है ।

वहा इन ६६ गाथाओ मे सवसे पहले ७ गाथाओ मे यह बतलाया है कि देवादि पर्यायो को करने वाला विष्णु नही है इस प्रकार "लोगस्स कुणादि विण्हू" आदि सात गाथायें है । इसके बाद अन्य कर्ता है अन्य भोक्ता है इस प्रकार के एकात का निषेध करते हुए 'केहिंदु पज्जएहिं' इत्यादि ४ गाथायें बौद्धमत-

मत के अनुयायी शिष्य को समझाने के लिये कही हैं। इसके पश्चात् साख्यमतानुसारी शिष्य को लक्ष्य मे लेकर एकान्त से जीव के भाव मिथ्यात्वका कर्त्तापन निवारण करने के लिये "मिच्छत्ता जदि पयड़ि" इत्यादि पाच सूत्र हैं। इसके आगे ज्ञान, अज्ञान तथा सुख, दुख आदि भावो का करने वाला एकान्तसे कर्म है, आत्मा कर्त्ता नही ही इस प्रकार साख्यमत के निराकरण करने के लिये "कम्मेहि अण्णाणी" इत्यादि तेरह गाथा सूत्र हैं। इसके आगे कोई नवीन शिष्य शब्द आदि पाचो इन्द्रियो के विपयो को नष्ट करना चाहता है किन्तु मन मे तिष्ठे हुये विपयो के अनुराग को नाश करना चाहिये ऐसे विवेक से रहित है उसको सबोधन करने के लिये 'दमण णाण चरित्त' इत्यादि ७ सूत्र हैं। उसके आगे 'जह सिप्पियो दु' इत्यादि सात गाथायें है जिनमे वतलाया है कि जैसे स्वर्णकारादि शिल्पकार हथोडे आदि उपकरणो के द्वारा कुण्डल आदि वस्तुये वनाता है और उनमे उसे जो फल मिलता है, मूल्य आदि उसे भोगता है किन्तु उससे तन्मय नही होता उसी प्रकार जीव भी द्रव्यकर्म करता है और उसके फलको भोगता है किन्तु उससे तन्मय नही हो जाता। इसके वाद दस गाथाये हैं जिसमे व्रह्म अद्वैत मतानुसारी शिष्य को समझाने के लिये 'जह सेढिया' इत्यादि रूपसे वताया है कि जैसे श्वेत मिट्टी भोत आदि को सफेद करती है फिर भी निश्चयसे देखा जाय तो इससे वह तन्मय नही होती। इसी प्रकार जीव भी व्यवहार से ज्ञेय भूत द्रव्य को जानता है देखता है, दूर करता है, श्रद्धान करता है तो भी निश्चय से वह उसमे तन्मयी नही होता है। इसके आगे 'कम्म ज पुव्वकय' इत्यादि चार गाथाये हैं जिसमे शुद्धआत्मा की भावना रूप निश्चय प्रति क्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचनारूप निश्चय चारित्र का व्याख्यान किया गया है। इसके आगे रागद्वेप की उत्पत्ति के विषय मे अज्ञानरूप अपनी वुद्धि का दोष ही कारण है अचेतन शब्द आदि विषय रागद्वेष की उत्पत्ति मे कारग नही है ऐसा कथन करने के लिये "णिंदिद सथुद वयणाणि" इत्यादि दश गाथाये हैं। इसके आगे "वेदतो कम्मफल" इत्यादि तीन गाथाये है जिनमे वतलाया है कि उदय मे आये हुये कर्म के फल को भोगता हुआ ऐसा मानता है कि यह मेरा है, यह मुझसे किया गया है एव स्वस्थ भाव से शून्य होकर सुखी या दुखी होता है ताकि दुख के वीज आठ प्रकार के कर्म का फिर से वघ कर लेता है। इसके वाद"सत्थ णाण ण हवदि" इत्यादि पन्दरह गाथाओ मे यह वतलाया है कि शुद्ध निश्चय नय से आचारांग, सूत्र कृताग आदि द्रव्यश्रुत स्पर्शन आदि इन्द्रियो के विपय, तथा द्रव्यकर्म धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व कालद्रव्य एव रागादि विभाव ये सव भी जीवका स्वरूप नही है। इसके आगे "अप्पा जस्स अमुत्तो" इत्यादि तीन गाथाये हैं जिनमे वताया है कि जिस शुद्धनय के अभिप्राय से आत्मा अमूर्त्त है उसी नय अभिप्राय से कर्म, नोकर्म आहार से भी रहित है। इसके आगे "पाखडी लिंगाणिय" इत्यादि सात सूत्र हैं इनमे मुख्यतासे यह वतलाया है कि देहाश्रित जितने भी लिंग हैं निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भाव लिंग मे रहित यती लोग हैं उनका द्रव्यलिंग मुक्ति का कारण नही किन्तु भावलिंग सहित यतियो का ही द्रव्यलिंग मुक्ति का सहकारी कारण है। इसके पश्चात् इस समय प्राभृत ग्रथ के अध्ययन का फल वतलाते हुये इस ग्रन्थ को समाप्त करने के लिये 'जो समय पाहुड मिण' इत्यादि एक सूत्र है। इस प्रकार १३ अन्तर अधिकारो से समयसारजी की चूलिकाके अधिकार मे यह समुदाय पातनिका हुई।

आगे इन तेरह अधिकारो का क्रमसे व्याख्यान किया जाता है।

अव यहा वताते हैं कि जो एकान्त से आत्माको कर्त्ता मानते है उनका भी मोक्ष अज्ञानी लोगो के समान नहीं समझना चाहिये —

लोगस्स कुणदि विह्णू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए ॥३४२॥
लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो ।
लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पओ कुणदि ॥३४३॥
एवं ण कोवि मुक्खो दीसइ दुण्हंपि समण लोयाणं ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे ॥३४४॥

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान् ।
श्रमणानामप्यात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥३४२॥
लोकश्रमणानामेवं सिद्धांतं प्रति न दृश्यते विशेषः ।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥३४३॥
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयोषां ।
नित्यं कुर्वतां सदैवमनुजासुरसहितलोके ॥३४४॥ (त्रिकलम्)

अर्थ—आम लोगो का ऐसा मन्तव्य है कि सुर, नारक, तिर्यंच, और मनुष्य नाम के प्राणियो को विष्णु अर्थात् परमात्मा बनाता है। इस प्रकार यदि यतियो का भी यही विश्वास हो कि छह काय के जीवो को आत्मा करता है तो फिर लोगो का तथा श्रमणो का एक ही सिद्धान्त ठहरा इसमे कोई भी विशेषता नही है क्योकि लोगो की मान्यता मे जैसे विष्णु करता है उसी प्रकार श्रमणो की मान्यता मे आत्मा करता है। इस प्रकार कर्त्ता के मानने मे दोनो समान है इसलिये लोक और श्रमण इन दोनो मे से किसी का भी मोक्ष नही दीखता क्योकि जो देव, मनुष्य और असुर सहित लोगो को नित्य दोनो ही करते रहेगे तो मोक्ष कैसी ?

तात्पर्यवृत्ति—**लोगस्स कुणदि विह्णू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते** लोकस्य मते विष्णु करोति। कान्? सुरनारकतिर्यङ्मानुपान् सत्वान् **समणाणपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विये काए** श्रमणाना मते पुनरात्मा करोति यदि चेत् कान् ? पटजीवनिकायानिति **लोगसमणाणमेव सिद्धत पडि ण दिस्सदि विसेसो** एव पूर्वोक्त-प्रकारेण सिद्धात प्रति, आगम प्रति न दृश्यते कोऽपि विशेप कयो सबधी ? लोकश्रमणयो कस्मात्। इति चेत्— **लोगस्स कुणदि विण्हू समणाण (वि) अप्पओ कुणदि** लोकमते विष्णुनामा कोऽपि परकल्पितपुरुपविशेष करोति। श्रमणाना मते पुनरात्मा करोति, तत्र विष्णुसज्ञा श्रमणमते चात्मसज्ञा, नास्ति विप्रतिपत्तिर्नचार्थे। **एवं ण कोवि मुक्खो दीसदि दुण्हंपि समणलोयाण** एव कर्तृत्वे सति को दोष ? मोक्ष कोऽपि न दृश्यते कयोर्लोक-श्रमणयो । किं विशिष्टयो ? **णिच्च कुव्वताण सदेव मणुआसुरे लोगे** नित्य सर्वकाल कर्म कुर्वतो । क्व ? लोके। कथभूते ? देवमनुष्यासुरसहिते। किंच—रागद्वेषमोहरूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वमुच्यते। तत्र रागद्वेषमोहपरिणमने सति शुद्धस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गाच्च्यवन भवति ततश्च मोक्षो न भवतीति भावार्थ । एव पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रय गत ।

अथोत्तर नश्चयेनात्मन पुद्गलद्रव्येण सह कर्तृकर्मसवधो नास्ति कथ कर्ता भविष्यतीति कथयति—

टीका.—(लोगस्स कुणदि विण्हू सुरनारयतिरियमाणुसे सत्ते) लोको के मत मे तो विष्णु देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य नाम के जीवो को करता है। (समणाणपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे) काए) उसी प्रकार श्रमणो के मत मे आत्मा छह् काय के जीवो को करता है। (लोग समणाणमेव सिद्ध त पडि ण दिस्सदि विसेसो) इस पूर्वोक्त रीति से लोक और श्रमणो मे सिद्धान्त के प्रति और आगम के प्रति फिर कोई भेद नही दिखता है। (लोगस्स कुणदि विण्हू समणाण अप्पओ कुणदि) क्योकि लोगो के मत मे तो कल्पित किया हुआ विष्णु नाम का पुरुष विशेष करता है और श्रमणो के मत मे आत्मा करता है सो वहा करने वाले का नाम विष्णु है और श्रमणो के मन मे उस करने वाले का नाम आत्मा है। नाम भेद है पर अर्थ मे कोई भेद नही है। (एव ण -कोवि मुक्खो दीसदी दुण्हपि समणलोयाण) इस प्रकार के कतृत्व मे दोष क्या आता है ? कि फिर लोक और श्रमणो मे मोक्ष होना नही ठहरता है। कव और कहा ? कि (णिच्च कुव्वं ताण सदेवमणुआसुरे लोगे) निरतर सब ही काल मे कर्म करते हुओ को देव मनुष्य और असुर सहित लोक मे मोक्ष नही ठहरता। भावार्थ यह है कि रागद्वेष और मोह के रूप में परिणमन करने का नाम ही कर्त्तापन है रागद्वेष और मोहरूप परिणमन होने पर शुद्ध स्वभाव आत्मतत्व का समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप जो निश्चय रत्नत्रय तद्रूप जो मोक्षमार्ग उससे च्युत होता है तब वहा मोक्ष नही होता है ॥ ३४२-३४३-३४४ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष रूप से तीन गाथाये हुई ।

विशेषार्थ—यहा पर आचार्य ने इस वात पर जोर दिया है कि कोई मुमुक्षु अर्थात् मुनि होकर भी अपने आप को कर्त्ता मानता रहेगा तव फिर वह मुक्त नही हो सकता है। क्यो कि जो आपको कर्त्ता मान रहा है वह तो कुछ न कुछ करता ही रहेगा एव जब कर्त्ता रहेगा तो उसका फल भी भोगता रहेगा, ऐसी दशा मे मुक्त होने की वात कैसी ? हाँ, इसके साथ यह वात भी समझ लेना चाहिये कि गृहस्थपन मे कर्त्तापन से दूर नही हो सकता क्योकि गृहस्थपन का कर्त्तापन के साथ अविनाभाव सवध है। गृहस्थपन मे रहकर बुरा न करे तो भला करे किन्तु कुछ तो करना ही होगा अकर्त्ता नही रह सकता। फिर भी अकर्त्ता पन की श्रद्धावाला हो सकता है। किन्तु स्वय अकर्त्ता वनने के लिये गृहत्याग की एव मुक्त हो जाने के लिये अकर्त्तापन की आवश्यकता होती है।

अव पूर्वपक्ष के उत्तर मे कथन करते हैं कि निश्चयसे आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथमें कर्त्ताकर्म सवध नही है तव आत्मा कैसे कर्त्ता वनता है ? —

ववहार भासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था ।
जाणंति णिच्छयेण दु णय इह परमाणुमित्त मम किं चि ॥३४५॥
जह कोवि णरो जंपदि अह्म गामविसयणयररट्ठं ।
णय होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥३४६॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ॥३४७॥

तह्मा ण मेत्ति णच्चा दोह्ं वि एयाण कत्त ववसाओ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठी रहिदाणं ॥३४८॥(चतुष्कम्)

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंति विदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न चेह परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३४५॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रं।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३४६॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निस्संशयं भवत्येषः।
य परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥३४७॥
तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायं।
परद्रव्ये जानन् जानीयाद्दृष्टि रहितानां ॥३४८॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थ का स्वरूप जान लिया है ऐसे लोग भी व्यवहार की भाषा द्वारा यह (पीछी कमण्डलु आदि) पर द्रव्य मेरा है ऐसा कहते हैं परन्तु निश्चयनय के द्वारा वे लोग यह जानते हैं कि इन बाह्य वस्तुओ मे परमाणु मात्र भी कुछ मेरा नही है। जैसे कोई पुरुप कहे कि अमुक ग्राम, नगर, प्रात और देश मेरा है तो उसके कहने मात्र से वे सब उसके नही होजाते हैं किन्तु जीव मोह के वश से मेरा मेरा कहता है इसी प्रकार पर द्रव्य को परद्रव्य जानता हुआ भी ज्ञानी जीव 'यह मेरा है यह मेरा है' ऐसा कहता है उस परद्रव्य को अपना बनाता है तो उस समय वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टि है। इसलिये परद्रव्य मेरा नही हो सकता है ऐसा जानकर परद्रव्य के विषय मे लौकिक जन और ज्ञानी (मुनि) जन इन दोनो के ही इस कर्तापन के व्यवसाय को जानता हुआ ज्ञानी जीव तो उसे मिथ्यादृष्टियो का ही व्यवसाय जाने ॥ ३४५-३४६-३४७-३४८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—**ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदच्छा** पर द्रव्य मम भणति। के ते? विदितार्था–ज्ञातार्था तत्त्ववेदिन। केन कृत्वा भणति? व्यवहारभाषितेन व्यवहारनयेन। **जाणंति णिच्छयेण दु णय इह परमाणुमित्त मम किंचि** निश्चयेन पुनर्जानति। किं? नचेह परद्रव्य परमाणुमात्रमपि ममेति। **जह कोवि णरो जंपदि अह्माणं गाम विसयपुररट्ठं** तथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषो जल्पति। किं जल्पति? वृत्यावृतो ग्राम, देशाभिधानो विषय., नगराभिधान पुर, देशैकदेशसज्ञ राष्ट्रमस्माकमिति। **णय हुंति ताणि तस्स दु भणदिय मोहेण सो अप्पा** नच तानि तस्य भवति राजकीयनगरादीनि तथाप्यसौ मोहेन ब्रूते मदीय ग्रामादिकमिति दृष्टात। अथ दार्ष्टा त—एव पूर्वोक्तदृष्टातेन ज्ञानी व्यवहारमूढो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीय भणति तदा मिथ्यात्व प्राप्त सन् मिथ्यादृष्टिर्भवति निस्सशय निश्चित सदेहो न कर्तव्य इति। **तह्मा** इत्यादि **तह्मा** तस्मात् परकीयग्रामा-दिदृष्टातेन स्वानुभूतिभावनाच्युत सन् योऽसौ परद्रव्य व्यवहारेणात्मीय करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति भणित पूर्वं तस्मात्कारणाज्ज्ञायते **दुह्णं एदाण कत्तिववसाओ** परद्रव्ये तयो. पूर्वोक्तलौकिकजैनयो आत्मा परद्रव्य करोतीत्यनेन रूपेण योऽसौ परद्रव्यविषये कर्तृत्वव्यवसाय। किं कृत्वा? पूर्वं **ण ममेति णच्चा** निर्विकारस्वपरपरिच्छित्तिज्ञानेन परद्रव्य मम सर्वथा न भवति इति ज्ञात्वा **जाणंतो जाणिज्जो दिठ्ठिरहिदाणं** इम लौकिकजैनयो परद्रव्ये कर्तृत्व-व्यवसाय–अन्य कोऽपि तृतीयतटस्थ पुरुषो जानन् सन् जानीयात्। स कथभूत जानीयात्? वीतरागसम्यक्त्वसज्ञाया

तु निश्चयदृष्टिस्तद्रहिताना व्यवसायोऽयमिति । ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयवदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत् ? व्यवहारो हि म्लेच्छाना म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्य । प्राथमिकजनप्रतिबोधनकाल विहाय कतकफलवदात्मशुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्युतोभूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीय करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति । किं च विशेष लोकाना मते विष्णुः करोतीति यदुक्त पूर्व तल्लोकव्यवहारापेक्षया भणित । नचानादिभूतस्य देवमनुष्यादिभूतलोकस्य विष्णुर्वा ब्रह्मावामहेश्वरो वा कोऽपि कर्तास्ति । कथमिति चेत् सर्वोऽपि लोकस्तावदेकेंद्रियादिजीवैर्भृतस्तिष्ठति । तेषा च जीवानां निश्चयनयेन विष्णुपर्यायेण ब्रह्मपर्यायेण महेश्वरपर्यायेण जिनपर्यायेण च परिणमनशक्तिरस्ति तेन कारणेनात्मैव विष्णु, आत्मैव ब्रह्मा, आत्मैव महेश्वर, आत्मैव जिन । तदपि कथमिति चेत् कोऽपि जीव पूर्वं मनुष्यभवे जिनरूप गृहीत्वा भोगाकाक्षानिदानबधेन पापानुबधिपुण्य कृत्वा स्वर्गे समुत्पद्य तस्मादागत्य मनुष्यभवे त्रिखडाधिपतिरिर्द्धचक्रवर्त्ती भवति तस्य विष्णुसज्ञा नचापरः कोऽपि लोकस्य कर्ता विष्णुरस्ति इति । तथा चापर. कोऽपि जीवो जिनदीक्षा गृहीत्वा रत्नत्रयाराधनया पापानुबधिपुण्योपार्जन कृत्वा विद्यानुवादसज्ञ दशमपूर्वं पठित्वा चरित्रमोहोदयेन तपश्चरणच्युतो भूत्वा हुण्डावसर्पिणीकालप्रभावेण विद्याबलेन लोकस्याहृ कर्तेत्यादि चमत्कारमुत्पाद्य मूढजनाना विस्मय कृत्वा महेश्वरो भवति न सर्वावसर्पिणीषु । सा च हुण्डावर्पिणी सख्यातीतोत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु समुपयाति तथा चोक्त—

सखातीदवसप्पिणि गयासु हुडावसप्पिणी एय ।
परसमयह उप्पत्ती तहि जिणवर एव पभणेइ ।। १ ।।

नचान्य' कोऽपि जगत्कर्त्ता महेश्वराभिधान पुरुषविशेषोऽस्ति इति । तथा चापर कोऽपि पुरुषो विशिष्टतपश्चरण कृत्वा पश्चात्तप प्रभावेण स्त्रीविषयनिमित्त चतुर्मुखो भवति तस्य ब्रह्मा सज्ञा । नचान्य कोऽपि जगत कर्ता व्यापकैकरूपो ब्रह्माभिधानोऽस्ति । तथैवापर कोऽपि दर्शनविशुद्धिविनयसपन्नतेत्यादि षोडशभावना कृत्वा देवेंद्रादिविनिर्मितपचमहाकल्याणपूजायोग्य तीर्थंकरपुण्य समुपार्ज्य जिनेश्वराभिधानो वीतरागसर्वज्ञो भवतीति वस्तुस्वरूप ज्ञातव्य । एव यद्येकातेन कर्त्ता भवति तदा मोक्षाभाव इति विष्णुदृष्टातेन गाथात्रयेण पूर्वपक्ष कृत्वा गाथाचतुष्टयेन परिहारव्याख्यानमिति प्रथमस्थले सूत्रसप्तक गत ।

अथ द्रव्यार्थिकनयेन य एव कर्म करोति स एव भुक्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्य करोत्यन्यो भुक्ते इति च योऽसौ मन्यतेस सम्यग्दृष्टिर्भवतीति प्रतिपादयति—

टीका —(ववहार भासिदेणदु परदव्व मम भणति विदिदच्छा) जो विदितार्थ हैं—तत्व के जानने वाले हैं वे लोग भी परद्रव्य को मेरा है ऐसा व्यवहारनय के द्वारा व्यवहार की भाषा मे कहा करते है । (जाणति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणु मित्त मम किंचि) किन्तु निश्चयनय से जानते हैं कि यहाँ जो पर द्रव्य है उनमे से परमाणुमात्र भी मेरा नही है । (जह कोवि णरो जपदि अह्माण गामविसयपुर रट्ठं) जैसे कोई पुरुष ऐसा स्पष्ट कहे बाडी से घिरा हुआ ग्राम, देशनामवाला विषय, नगर है नाम जिसका वह पुर, देश का एक हिस्सा वह राष्ट्र ये सब हमारे है । (ण य हु ति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा) उसके कहने मात्र से वे सब उसके नही हो जाते है जो कि ग्रामादिक उस देश के राजा के हैं फिर भी मोहभाव के निमित्त से वह ऐसा कहता है कि अमुक ग्रामादिक मेरे हैं यह तो दृष्टाँत हुआ । अब दार्ष्टात कहते हे—इसी प्रकार पूर्वोक्त दृष्टात के द्वारा ज्ञानी जीव भी व्यवहार विमूढ होकर यदि परद्रव्य को अपना कहता है तो उस समय मिथ्यात्व को प्राप्त होता हुआ वह अवश्य मिथ्यादृष्टि हो जाता है इसमे सदेह नही करना चाहिये । तम्हा इत्यादि चौथी गाथा का अर्थ यह है कि परकीय ग्रामादि दृष्टात के द्वारा ही स्वात्मानुभूति की भावना पर से च्युत हुआ जीव पर दव्यको व्यवहार से अपना कहता है वह मिथ्यादृष्टि

होता है ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। इस कारण से जाना जाता है कि (दुण्ह एदाण कतिववसाओ) पर द्रव्य अर्थात् आत्मा से इतर वस्तुओ के बारे मे पूर्वोक्त लौकिक जन और जैन जन इन दोनो का ही आत्मा पर द्रव्य को करता है इस रूप से जो कर्त्तापन का व्यवसाय है उसको कोई तीसरा तटवर्ती पुरुष (ण ममेति णच्चा) विकार रहित जो स्व और पर परिच्छित्ती रूप ज्ञान के द्वारा पर द्रव्य मेरा सबधी नही हो सकता इस बात को जानकर (जाणं तो जाणिज्जो दिट्ठीरहिदाण इम) लौकिक जन और जैन जन इन दोनो के पर द्रव्य के बारे मे होने वाले कर्त्तापन के व्यवसाय को जानता हुआ इस प्रकार जाने कि वीतराग सम्यक्त्व है नाम जिसका ऐसी निश्चय दृष्टि जिनके नही है उन लोगो का यह अध्यवसाय है। इस पर शका होती है कि ज्ञानी होकर भी व्यवहार से जो पर द्रव्य को अपना कहता है वह अज्ञानी कैसे हो सकता है ? उसका उत्तर यह है कि व्यवहार तो प्राथमिक लोगो को सबोधन करने के लिये उस समय ही अनुसरण करने योग्य है जैसे कि म्लेच्छो को समझाने के लिये म्लेच्छ भाषा बोली जाती है। प्राथमिक जनके सबोधन काल को छोडकर अन्य काल मे भी यदि कोई ज्ञानी जीव कतक फल के समान आत्मा का सशोधन करने वाला शुद्धनय उससे च्युत होकर पर द्रव्य को अपना करता है कहता है उस समय वह मिथ्या दृष्टि होता है। अब इसका विस्तार से वर्णन करते हैं—जैसा पहले की तीन गाथाओ मे कह आये हैं कि लोगो के मत मे विष्णु ही सृष्टि का कर्त्ता है सो वह लोक व्यवहार को लेकर कही हुई बात है किन्तु अनादि स्वरूप इस देव मनुष्यादि प्राणियो से भरे हुये लोक का विष्णु या महेश्वर नाम का कोई भी एक कर्त्ता नही है। क्योकि यह सारा लोक ही एकेन्द्रियादि जीवो से भरा हुआ है उन सभी जीवो मे निश्चयनय से विष्णु के रूप से, ब्रह्म के रूप से, महेश्वर के रूप से और जिनके रूप से परिणमन करने की शक्ति विद्यमान है इसलिये आत्मा ही विष्णु है, आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही महेश्वर है और आत्मा ही जिन भी है। वह कैसे है सो बताते हैं—देखो, कोई जीव अपने पूर्व मनुष्य भवमे जिन दीक्षा लेकर भोगो की आकाक्षा रूप निदान बधके द्वारा पापानुबधी पुण्य करके स्वर्ग मे जा उत्पन्न हुआ, वहासे आकर मनुष्य भव मे तीन खण्ड का अधिपति अर्द्धचक्री वनता है उसी ही की विष्णु सज्ञा होती है और कोई लोकका कर्त्ता विष्णु नही है। इसी प्रकार कोई जिन दीक्षा लेकर रत्नत्रय की आराधना द्वारा पापानुवधी पुण्य उपार्जन करके विद्यानुवाद नाम के दशवें पूर्व को पढकर चारित्र मोह के उदय से तपश्चरण से भ्रष्ट होकर हु डावसर्पिणी काल के प्रभाव से और अपनी विद्या के वल से मैं इस लोकका कर्त्ता हूँ ऐसा चमत्कार दिखाकर मूढ लोगो मे आश्चर्य पैदा करके महेश्वर वनता है सो यह सभी अवसर्पिणीयो मे नही होता किन्तु हुण्डावसर्पिणी मे होता है जो कि असख्यात उत्सर्पिणी और असख्यात अवसर्पिणी कालो के बीतने पर ही आया करता है। जैसा कि लिखा हुआ है —

सखातीदव सप्पिणी गयासु हुण्डावसप्पिणी एइ।
पर समयहं उप्पत्ती तहिं जिणवर एव पभणेइ ॥१॥

अर्थात् असख्यात अवसर्पिणी कालो के बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है जिसमे जैनेतर मतो की भी उत्पत्ति हो जाती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं तो उसी मे महेश्वर पैदा होता है इसके सिवाय जगत् का कर्ता महेश्वर नाम का पुरुष नही है। इसी प्रकार कोई एक विशिष्ट तपश्चरण करके पश्चात् इस तपश्चरण के प्रभाव से स्त्री विषय का निमित पाकर चारमुख वाला हो जाता है उसी का ब्रह्मानाम है, और कोई व्यापक एक रूप वाला होकर जगत् का कर्ता हो ऐसा ब्रह्मा कोई नही है। इसी प्रकार कोई एक दर्शन विशुद्धि विनय सम्पन्नता आदि सोलह भावना को भाकर देवेन्द्रादि द्वारा की

हुई पच महाकल्याण पूजा के योग्य तीर्थंकर नाम पुण्य को उपार्जनकर जिनेश्वर नाम वाला वीतराग सर्वज्ञ होता है ऐसा वस्तु का स्वरूप है सो जानना चाहिये ।।३४५-३४६-३४७-३४८।।

विशेषार्थ—यहा पर यह बताया है कि जो पर द्रव्य को पर द्रव्य ही नही मानते वे तो मिथ्या दृष्टि हैं ही, किन्तु जो पर द्रव्य को पर द्रव्य जानते हुये भी व्यवहार के वश उसे अपना कहते हैं वह भी अज्ञानी एव मिथ्या दृष्टि हैं। जैसे कोई पुरुष अपना परिचय पूछने पर कहता है कि मैं अमुक नामवाला हूँ और अमुक मेरा गाव है। वहा वह यह तो अवश्य जानता है कि वह गाव तो मेरा नही है अमुक नाम वाले राजाका है फिर भी वह वहा रहने वाला है इसलिये उसे अपना कहता है किन्तु रहते तो वहा और भी बहुत है। एव वह उसे अपना कहता है तो अज्ञानी है मिथ्या दृष्टि है। वैसे ही जो मुनि यह जानकर कि यह पीछी मोर पखो की है और यह कमण्डलु काठ का है किन्तु उन्हे अपने पास मे रखे हुए है अत व्यवहार से उन्हे अपने कहता है तो वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। अपितु उसे तो चाहिये कि वह अपने उपयोग को उनसे भी हटाकर आत्मोन्मुखी करले आत्मतल्लीन बन रहे तभी वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है अन्यथा नही। अर्थात् यहा पर तो सर्वथा परावलम्ब का त्याग कर स्वावलम्वी बनने की प्रेरणा दी है क्योकि यहा पर तो एक मात्र मुक्ति का ही लक्ष्य है।

आत्मा को यदि एकान्त से कर्ता मान लिया जाय तो मोक्ष का अभाव ठहरता है इस बात का विष्णु दृष्टात के द्वारा तीन गाथाओ मे पूर्व पक्ष करके चार गाथाओ द्वारा उसका परिहार करने रूप वर्णन वाला सात गाथाओ मे पहला स्थल पूर्ण हुआ ।। ३४५-३४६-३४७-३४८ ।।

आगे यह बताते हैं कि द्रव्यार्थिक नयसे जो कर्म करता है वही उस फल को भोगता है और पर्यायार्थिक के नयसे अन्य ही कर्त्ता है और अन्य ही भोगता है इस प्रकार जो कोई मानता है वह सम्यग्दृष्टि होता है—

केहिं चि दु पज्जेयेहिं विणस्सए णेव केहिं चिदु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ।।३४९।।
केहिंचिदु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिं चिदु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ।।३५०।।
जो चेव कुणइ सो चेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ।।३५१।।
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ।।३५२।।

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांत ।।३४९।।
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ।।३५०।।

यश्चैव करोति स चैव वेदको यस्यैष सिद्धांतः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ।।३५१।।
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ।।३५२।।

अर्थ—क्योकि जीवनामा पदार्थ अपनी कितनी ही पर्यायोंसे विनाश को प्राप्त होता है, किन्तु कितनी ही पर्यायो से वह नष्ट नही होता है, इसलिये वह ही कर्त्ता होता है अथवा दूसरा कर्त्ता होता है इस विषय मे एकान्त नहीं है किन्तु स्याद्वाद है । इसी प्रकार जव जीव कुछ पर्यायो से तो नष्ट होता है और कुछ पर्यायो से नष्ट नहीं होता है इसलिये वही जीव भोक्ता होता है अथवा दूसरा भोक्ता होता है ऐसा भी एकान्त नही है किन्तु स्याद्वाद है । अब जिसका ऐसा मत है कि जो जीव कर्त्ता है वही भोगनेवाला होता है तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अर्हन्त मत का मानने वाला नही है ऐसा जानना चाहिये । इसी प्रकार जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि कर्त्ता तो कोई दूसरा है और भोगता कोई दूसरा ही है तो वह जीव भी मिथ्यादृष्टि है अर्हंत मतका मानने वाला नही है ऐसा जानना चाहिये ।

तात्पर्यवृत्तिः—**केहिचिदु पज्जयेहि विरणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो** कैश्चित्पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैः देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीव । न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः **जह्मा** यस्मादेव नित्यानित्यस्वभाव जीवरूप **तह्मा** तस्मात्कारणात् **कुव्वदि सो वा** द्रव्यार्थिकनयेन स एव कर्म करोति । स एव क ? इति चेत् ? यो भुक्ते । **अण्णो वा** पर्यायर्थिकनयेन पुनरन्यो वा । **णियतो** नचैकातोऽस्ति । एव कर्तृत्वमुख्यत्वेन प्रथमगाथा गता । **केहिचिदु पज्जयेहि विरणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो** कैश्चित् पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैः देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्चयति जीव न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थि कनयविभागैः । **जह्मा** यस्मादेव नित्यानित्यस्वभाव जीवस्वरूप **तह्मा** तस्मात्कारणात् **वेददि सोवा** निजशुद्धात्मभावनोत्थसुखामृतरसास्वादमलभमान स एव कर्मफल वेदयत्यनुभवति । स एव क ? इति चेत् येन पूर्वकृत कर्म । **अण्णोवा** पर्यायर्थिकनयेन पुनरन्यो वा **णेयतो** नचैकातोऽस्ति । एव भोक्तृत्वमुख्यत्वेन द्वितीयगाथा गता । किं च येन मनुष्यभवे शुभाशुभ कर्म कृत स एव जीवो द्रव्यार्थिकनयेन देव लोके नरके वा भुक्ते । पर्यायर्थिकनयेन पुनस्तद्भवापेक्षया वालकाले कृत यौवनादिपर्यायातरे भुक्ते । अतिसक्षेपेण अतर्मुहूर्त्तानन्तरे च भुक्ते । भवातरापेक्षया तु मनुष्यपर्यायेण कृत देवादिपर्यायेणभुक्ते इति भावार्थ । एव गाथाद्वयेनानेकातव्यवस्थापनारूपेण स्वपक्षसिद्धि कृता ।

अथैकातेन य एव करोति स एव भुक्ते । अथवान्य करोत्यन्यो भुंक्ते इति यो वदति स मिथ्यादृष्टिरित्युपदिशति—

जो चेव कुणदि सोचेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो य एव जीव शुभाशुभ कर्म करोति स एव चैकातेन भुक्ते न पुनरन्य, यस्यैष सिद्धान्त—आगम । **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** स जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्य । कथ मिथ्यादृष्टि ? इति चेत् यदैकातेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टकोत्कीर्ण. साख्यमतवत् तदा येन मनुष्यभवेन नरकगतियोग्यं पापकर्मकृत स्वर्गगतियोग्य पुण्यकर्म कृत तस्य जीवस्य नरके स्वर्गे वा गमन न प्राप्नोति । तथा शुद्धात्मानुष्ठानेन मोक्षश्च कुत ? नित्यैकातत्वादिति । **अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो** अन्य करोति कर्म भुक्ते चान्य, यद्येकातेन ब्रूते **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** तदा येन मनुष्यवे पुण्यकर्म कृत पापकर्मकृत मोक्षार्थ शुद्धात्मभावनानुष्ठान वा तस्य पुण्यकर्मणा देवलोकेन्य. कोऽपि भोक्ता प्राप्नोति न च स जीव । नरकेऽपि तथैव । केवलज्ञानादिव्यक्तिरूप मोक्ष चान्य कोऽपि लभते ततश्च

पुण्यपापमोक्षानुष्ठान वृथेति बौद्धमतदूषरण, इति गाथाद्वयेन नित्यैकान्तक्षणिकैकातमत निराकृत । एव द्वितीयस्थले सूत्र चतुष्टय गत । अथ यद्यपि शुद्धनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् कर्मणामकर्त्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनयेन रागादिभावकर्मणा स एव कर्ता न च पुद्गल इत्याख्याति— अत्र गाथापचकेन प्रत्येक गाथा पूर्वार्धेन साख्यमतानुसारिशिष्य प्रति पूर्वपक्ष , उत्तरार्धेन परिहार इति ज्ञातव्य—

टीका —(केहिंचिदु पज्जयेहि विणस्सदे णेव केहिंचिदु जीवो) पर्यायार्थिक नय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी देव मनुष्यादि पर्यायो के द्वारा यह जीव नाश को प्राप्त होता है, किन्तु द्रव्यार्थिकनय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी कुछ अवस्थाओ के द्वारा नाश को प्राप्त नही होता । (जम्हा) क्योकि जीव का स्वरूप नित्य और अनित्य स्वभाव वाला है (तम्हा) इसलिये (कुव्वदि सो वा) द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टि से तो वही जीव काम करने वाला है । वही कौन ? कि जो कि भोगता है वही (अण्णो वा) किन्तु पर्यायार्थिक नयसे दूसरा करने वाला होता है (णेयतो) इस विषय मे एकात नही है । (के हिं चिदु पज्जयेहि विणस्सए णेव केहिंचिदु जीवो) पर्यायार्थिक नय के द्वारा जिनका ग्रहण होता है उन कुछ देव मनुष्यादि अवस्थाओ के द्वारा तो यह जीव नष्ट होता है किन्तु द्रव्यार्थिकनय के द्वारा जिनका ग्रहण होता है उन अवस्थाओ के द्वारा नष्ट नही होता अर्थात् बना रहता है । (जम्हा) जबकि जीवका स्वरूप इस प्रकार नित्यानित्यात्मक है (तम्हा) इस कारण (वेददि सो वा) अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो सुखामृत रस उसको नही प्राप्त होने वाला जीव है वही जीव कर्मफल को वेदता है अनुभव करता है । वही कौनसा जीव ? जिसने पहले कर्म किया है (अण्णो वा) किन्तु पर्यायार्थिकनय से दूसरा ही जीव कर्म के फलको भोगता है (णेयंतो) इस प्रकार इस विषय मे भी एकात नही है । इस प्रकार भोगता की मुख्यता लेकर यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ । भावार्थ-यह है कि जिसने मनुष्य जन्म मे जो शुभाशुभ कर्म किया था वही जीव द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा इस लोक मे नर्क मे जाकर उसके फलको भोगता है और पर्यायार्थिकनय से उसी भव की अपेक्षा से अपने बालकाल मे किये हुए कर्मको यौवनादि अवस्थाओ मे भोगता है अतिसक्षेप से कहा जाय तो अन्तर्मुहुर्त के बाद भोगता है किन्तु भवातर की अपेक्षा देखे तो मनुष्य पर्याय मे किये हुए कर्म को देव पर्याय मे जाकर भोगता है । इस प्रकार इन दो गाथाओ से अनेकान्त की व्यवस्था करते हुये आचार्य देवने अपने स्याद्वाद की सिद्धि की । अब इसके आगे जो एकान्त से ऐसा मानता है कि जो कर्त्ता है वही भोगता है अथवा जो ऐसा मानता है कि कर्त्ता दूसरा है व भोक्ता दूसरा है इस प्रकार जो एकान्त करता है वह मिथ्यादृष्टि है इस प्रकार कथन आगे कर रहे है । (जो चेव कुणदि सो चेव वेदगो जस्स एस सिद्धतो) जिसका एकात से ऐसा सिद्धात है कि जो शुभ या अशुभ कर्म करता है वही उसके फल को भोगता है दूसरा नही (सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो) वह जीव मिथ्यादृष्टि है अर्हंत् मत का मानने वाला नही है ऐसा जानना चाहिये । वह मिथ्यादृष्टि क्यो है ? कि यदि जीव एकात से नित्य कूटस्थ अपरिणामी और टकोत्कीर्ण ही मान लिया जाय जैसा कि साख्यमत मे माना जाता है तो फिर जिस जीवने मनुष्य भवमे नरक गति के योग्य पापकर्म किया या स्वर्गगति के योग्य पुण्यकर्म किया उस जीवका नरक मे या स्वर्ग मे गमन नही हो सकता तथा शुद्धात्मा के अनुष्ठान के द्वारा फिर उसका मोक्ष भी कहा ? क्योकि यहा तो एकात नित्यता है । (अर्थात् जीव जैसा है वैसा सदा रहता है इसमे कुछ भी फेरफार होता ही नही) (अण्णो करेइ अण्णो परिभु जदि जस्स एस सिद्धतो) एकात से जो ऐसा कहता है कि कर्म तो कोई अन्य ही करता है और फल उसका कोई अन्य ही भोगता है (सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारहिदो)

तो फिर मनुष्य भव मे जिसने पुण्य कर्म किया या पापकर्म किया अथवा मोक्ष के लिये शुद्धात्मा की भावना का अनुष्ठान किया तो उसके उस पुण्य कर्म के फल का देवलोक मे कोई भी भोगने वाला बन जायगा अपितु वह जीव भोगता नही होगा। इसी प्रकार नर्क मे भी उसके पापकर्म का भोक्ता वह न होकर दूसरा हो जायगा तथा केवलज्ञानादि व्यक्ति रूप मोक्ष को भी कोई अन्य जीव ही प्राप्त करेगा ऐसी दशा मे पुण्य, पाप और मोक्षका अनुष्ठान व्यर्थ ही ठहरेगा। इस प्रकार से बौद्धमत मे दूषण वतलाया और इन दो गाथाओ के द्वारा नित्य एकातवादी के मत का और क्षणिक एकातवादी के मत का निराकरण किया। ३४९-३५०-३५१-३५२॥

विशेषार्थ—प जयचन्दजी का भावार्थ-वस्तु का स्वभाव जिनवाणी मे द्रव्य पर्याय स्वरूप कहा है इसलिये पर्याय अपेक्षा तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य अपेक्षा से नित्य है ऐसा अनेकान्त स्याद्वाद से सिद्ध होता है। ऐसा होने पर जीव नामा वस्तु भी ऐसा ही द्रव्य पर्याय स्वरूप है, इसलिये पर्याय अपेक्षा कर देखा जाय तव तो कार्य को करता तो अन्य पर्याय है और भोगता अन्य ही पर्याय है। जैसे मनुष्य पर्याय मे शुभाशुभ कर्म किये उनका फल देवादि पर्यायो मे भोगा। परन्तु द्रव्य दृष्टि कर देखा जाय तव जो करता है वही भोगता है ऐसा सिद्ध होता है, जैसे कि मनुष्य पर्याय मे जो जीव द्रव्य था जिसने शुभ तथा अशुभ कर्म किये थे वही जीव देवादि पर्याय मे गया वहा उसी जीव ने अपने किये का फल भोगा। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्त रूप सिद्ध होने पर भी शुद्ध नय मे तो सशय नही और शुद्ध नय के लोभ से वस्तु का पर्याय वर्तमान काल मे जो एक अश था उसी को वस्तु मानकर ऋजुसूत्र नय का एकात पकड कर जो ऐसा मानते हैं कि जो करता है वह भोगता नही है अन्य भोगता है। और जो भोगता है वह करता नही है अन्य करता है। ऐसे मिथ्या दृष्टि अरहत के मत के नही है। क्योकि पर्याय के क्षणिकपना होने पर भी द्रव्यरूप चैतन्य चमत्कार तो अनुभव गोचर नित्य है। जैसे प्रत्यभिज्ञान से ऐसा जाने कि जो वालक अवस्था मे मैं था वही अव तरुण अवस्था मे तथा वृद्ध अवस्था मे हू। इस प्रकार जो अनुभव गोचर स्वसवेदन मे आवे तथा जिनवाणी मे भी ऐसा कहे उसको जो न माने वही मिथ्या दृष्टि कहलाता है, ऐसा जानना।

इस प्रकार इस दूसरे स्थल मे चार गाथाए पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि यद्यपि शुद्धनयसे शुद्ध वुद्ध एक स्वभावरूप होने से यह जीव कर्मों का कर्त्ता नही है तो भी अशुद्ध नयसे रागद्वेषादि भाव कर्मों का वह ही कर्त्ता है पुद्गल नही है। यहा पाच गाथाए हैं इनमे प्रत्येक गाथा के पूर्वार्द्ध मे साख्यमत के अनुसार चलने वाले शिष्य का पूर्व पक्ष है तथा उत्तरार्द्ध से उसीका परिहार है ऐसा जानना चाहिये —

मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तह्मा अचेदणा दे पयड़ी णणु कारगो पत्तो ॥३५३॥
सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३५४॥

अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
तह्मा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ॥३५५॥
अह जीवो पयडी विय पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तह्मा दोहिकदत्तं दोह्णिवी भुंजंति तस्स फलं ॥३५६॥
अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तह्मा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तंतु णहु मिच्छा ॥३५७॥ (पंचकम्)

मिथ्यात्वं यदि प्रकृति मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानं।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥३५३॥
सम्यक्त्वं यदि प्रकृतिः सम्यग्दृष्टिं करोत्यात्मानं।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥३५४॥
अथवैषः जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥३५५॥
अथ जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वं।
तस्माद्द्वाभ्यां कृतं द्वावपि भुंजाते तस्य फलं ॥३५६॥
अथ न प्रकृतिर्न च जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥३५७॥

अर्थ—यहा जीव के जो मिथ्यात्व भाव होता है उमको निश्चय से कौन करता है इस वात का विचार करते हैं—यदि मिथ्यात्व नाम की मोह कर्म की प्रकृति जो कि पुद्गलद्रव्यमय है वही आत्मा को मिथ्यादृष्टि वनाती है (जैसा कि साख्यमत मे माना गया है वैसा मान लिया जाय) तो वहा जो प्रकृति है वह तो स्वय अचेतन है सो वह अचेतन प्रकृति जीव को मिथ्यात्व भाव को करनेवाली हो जाय इसी प्रकार यदि सम्यक्त नाम की मोह प्रकृति आत्मा को मम्यग्दृष्टि वनाती है तो निश्चयमे अचेतन कर्म प्रकृति को कर्तापन प्राप्त हो जाय पर ऐसा वनता नही। और यदि ऐमा माना जावे कि यह जीव ही पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को करता है तो फिर पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यादृष्टि मिद्ध हुआ, जीव मिथ्यादृष्टि नही ठहरा सो भी ठीक नही होता। और यदि ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृनि ये दोनो ही पुद्गल द्रव्य को मिथ्यात्वरूप करते हैं तो दोनो के द्वारा किये हुये का फल भी फिर दोनो को ही होना चाहिये मो वनता नही। और यदि ऐसा मानिये कि पुद्गल द्रव्य को मिथ्यात्वरूप न तो प्रकृति ही करनी है और न जीव ही करता है तो फिर पुद्गल द्रव्य स्वय मिथ्यात्व रूप हुआ कहना होगा सो ऐसा मानना तो भूल भरा है इसलिये यह मिद्ध होता है कि मिथ्यात्व नामा जीव का जो भाव है उसका कर्ता तो अज्ञानी जीव है और उमकेनिमित्त से पुद्गल परमाणु पिण्ड मे मिथ्यात्वकर्मरूप वनने की शक्ति आजाती है ॥३५३-३५४-३५५-३५६-३५७॥

तात्पर्यवृत्ति—मिच्छता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाएा द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृति कर्ता यद्यात्मान स्वयमपरिणामिन हठान्मिथ्यादृष्टिं करोति तह्मा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो तस्मात्कारणादचेतना तु या

द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृति सा तव मते नन्वहो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्री प्राप्ता जीवश्चैकांतेनाकर्ता प्राप्त । ततश्च कर्मबधभाव, कर्मबधाभावे ससाराभाव । स च प्रत्यक्षविरोध । **सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं** सम्यक्त्वप्रकृति कर्त्री यद्यात्मान स्वयमपरिणामिन सम्यग्दृष्टि करोति **तह्मा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो** तस्मात्कारणात् अचेतना प्रकृति दे तव मते नन्वहो कर्त्री प्राप्ता जीवश्चैकातेन सम्यक्त्वपरिणामस्याकर्तेति ततश्च वेदकसम्यक्त्वाभावो, वेदकसम्यक्त्वाभावे क्षायिकसम्यक्त्वाभाव ततश्च मोक्षाभाव । स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अत्राह शिष्य —प्रकृतिस्तावत्कर्मविशेष सच सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयरूपस्य त्रिविधदर्शनमोहस्य सम्यक्त्वाख्य प्रथमविकल्प सच कर्मविशेष कथ सम्यक्त्व भवति ? । सम्यक्त्व तु निर्विकारसदानदैकलक्षणपरमात्मतत्त्वादिश्रद्धानरूपो मोक्षबीजहेतुर्भव्यजीवपरिणाम इति । परिहारमाह—सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषोभवति तथापि यथा निर्विषीकृत विष मरण न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मन्त्रस्थानीयविशुद्धिविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्ति सन् क्षायोपशमिकादिलब्धिपचकजनितप्रथमौपशमिकसम्यक्त्वानतरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभाव तत्त्वार्थश्रद्धानरूप जीवपरिणाम न हति तेन कारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्व भण्यते स च तीर्थकरनामकर्मवत् परपरया मुक्तिकारण भवतीति नास्ति दोष । **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्त** अथवा पूर्वदूषणभयादेष प्रत्यक्षीभूतोजीव, द्रव्यकर्मरूपस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मतत्त्वादिषु विपरीताभिनिवेषजनक भावमिथ्यात्व करोति, न पुन: स्वय भावमिथ्यात्वरूपेण परिणमति इति मत **तह्मा पुग्गलदव्व मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो** तर्ह्येकातेन पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टिन पुनजीव । कर्मबध तस्यैव, ससारोऽपितस्यैव, न च जीवस्य, स च प्रत्यक्ष विरोध इति । **अह जीवो पयडीविय पुग्गलदव्व कुणंति मिच्छत्तं** अथ पूर्वदूषणभयाज्जीव प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्य कर्मतापन्न भावमिथ्यात्व कुरुत—इति मत **तह्मा दोहिकदत्तं** तस्मात्कारणाज्जीवपुद्गलाभ्यामुपादानकारणभूताभ्या कृत तन्मिथ्यात्व । **दुण्णिवि भुंजति तस्स फलं** तर्हि द्वौ जीवपुद्गलौ तस्य फल भुजाते ततश्चाचेतनाया प्रकृतेरपि भोक्तृत्व प्राप्त स च प्रत्यक्षविरोध इति । **अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्त** अथ मत न प्रकृति करोति नच जीव एव एकातेन । किं ? पुद्गलद्रव्य कर्मतापन्न । कथभूत । न करोति ? मिथ्यात्व भावमिथ्यात्वरूप **तह्मा पुग्गलदव्व मिच्छत्तं तत्तु णहु मिच्छा** तर्हि यदुक्त पूर्वसूत्रे **अहवा एसो जीवो पुग्गल दव्वस्स कुणदि मिच्छत्त** तद्वचन तु पुन हु स्फुट किं मिथ्या न भवति ? अपि तु भवेत्यव । किं च—यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धोजीवस्तथापि पर्यायार्थिकनयेन कथचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणाम गृह्णाति स्फटिकवत् । यदि पुनरेकातेनपरिणामी भवति तदोपाधिपरिणामो न घटते । जपापुष्पोपाधिपरिणमनशक्तौ सत्या स्फटिके जपापुष्पमुपाधिं जनयति न च काष्ठादौ, कस्मादिति चेत् तदुपाधिपरिणमनशक्त्यभावात् इति । एव यदि द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृति कर्त्री एकातेन यदि भावमिथ्यात्व करोति तदा जीवो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्ता न भवति । भावमिथ्यात्वाभावे कर्मबधाभाव ततश्च ससाराभाव. सच प्रत्यक्षविरोध । इत्यादि व्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापचक गत ।

अथ ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिकर्मैकातेन कर्मैव करोति नचात्मेति साख्यमतानुसारिणो वदति तान्प्रति पुनरपि नयविभागेनात्मन कथचित्कर्तृत्व व्यवस्थापयति—

तत्र त्रयोदशगाथासु मध्ये कर्मैवैकातेन कर्तृ भवति इति कथनमुख्यत्वेन **कम्मेहिं दु अण्णाणी** इत्यादि सूत्रचतुष्टय । तत पर साख्यमतेप्येव भणितमास्ते—इति सवाददर्शनार्थं ब्रह्मचर्यस्थापनमुख्यत्वेन **पुरुसित्थियाहिलासी** इत्यादि गाथाद्वय । अहिंसास्थापनमुख्यत्वेन **जह्मा घादेदि पर** इत्यादि गाथाद्वय । प्रकृतेरेव कर्तृत्व नचात्मन इत्येकातनिराकरणार्थं —अस्यैव गाथाचतुष्टयस्यैव दूषणोपसहाररूपेण **एव स खुवदेसं** इत्यादि गाथैका इति सूत्रपचकसमुदायेन द्वितीयमतरस्थल । तदनतर—आत्मा कर्म न करोति कर्मजनितभावाश्च किंत्वात्मान करोतीत्येकगाथाया पूर्वपक्षो गाथात्रयेण परिहार इति समुदायेन **अहवा मण्णसि मज्झ** इत्यादि सूत्रचतुष्टय । एव चतुरातराधिकारे स्थलत्रयेण समुदायपातनिका ।

टीका:—(मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं) जो आत्मा स्वय नही परिणमन करने वाला है उसको द्रव्य मिथ्यात्व प्रकृति हटात् मिथ्यादृष्टि वना देती है (तम्हा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो) तव हे साख्यमतिन् ! तेरे मत से तो अचेतनरूप यह द्रव्य मिथ्यात्व नाम की प्रकृति है वही भाव मिथ्यात्व की करने वाली ठहरी, जीव तो फिर सर्वथा अकर्त्ता ही ठहरा। तव फिर उसको तो कर्म वध नही होना चाहिये, और जव कर्म वध नही तो ससार का अभाव आया सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसी प्रकार (सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाण) सम्यक्त्व नाम वाली प्रकृति स्वय नही परिणमन करनेवाले आत्मा को सम्यग्दृष्टि वना देती है (तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो) तो फिर चैतन्य शून्य प्रकृति ही तेरे मतमे कर्त्ता ठहरी जीव तो सम्यक्त्व परिणामका कर्त्ता नही ठहरा अपितु अकर्त्ता ही रहा तो वेदक सम्यक्त्व का अभाव ही रहा, और वेदक सम्यक्त्व के अभावमे क्षायिक सम्यक्त्व का भी अभाव ठहरा और उससे मोक्ष का भी अभाव हुआ तव यह प्रत्यक्ष विरोध व आगम विरोध हुआ। इस पर प्रश्न होता है कि सम्यक्त्व प्रकृति तो कर्म का भेद है जो कि सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, और सम्यक् मिथ्यात्व के भेद से तीन प्रकार के होने वाले दर्शन मोह का प्रथम भेद है वह सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ? क्योकि सम्यक्त्व तो भव्य जीव का परिणाम होता है जो कि निर्विकार सदानन्द रूप है लक्षण जिसका ऐसा जो परमात्म तत्व उसे आदि लेकर जीवादि सातो तत्वो के श्रद्धान रूप होकर मोक्ष का वीज भूत होता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सम्यक्त्व प्रकृति कर्म विशेष है यह ठीक है किन्तु निर्विप किया हुआ विष जैसे मारने वाला नही होता है वैसे ही मन्त्र स्थानीय विशुद्धि विशेष मात्र शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम के द्वारा नष्ट करदी गई है मिथ्यात्व शक्ति जिसकी ऐसा वह सम्यक्त्व नामकर्म विशेष है वह क्षायोपशमिक आदि पाच लब्धियो के द्वारा उत्पन्न हुआ प्रथमोपशम सम्यक्त्व उसके अनन्तर उत्पन्न जो वेदक सम्यक्त्व उसका स्वभाव जो तत्वार्थ श्रद्धानरूप आत्म परिणाम उसको नष्ट नही करता है, इसलिये उपचार से सम्यक्त्व का हेतु होने के कारण यह कर्म विशेष भी सम्यक्त्व कहा जाता है, जो कि तीर्थंकर नामकर्म के समान परम्परा से मुक्ति का कारण भी होता हैं। इसमे कोई दोष नही है। (अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं) अव यदि उपर्युक्त दूषण से वचने के लिये यह कहा जाय कि यह प्रत्यक्षभूत जीव द्रव्य कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के शुद्धात्म तत्वादिक के विषय मे विपरीत अभिप्राय को पैदा करने वाले भाव मिथ्यात्व को कर देता है किन्तु स्वय भाव मिथ्यात्व रूप परिणमन नही करता है ऐसा तेरा मत है (तह्मा पुग्गलदव्व मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो) तो फिर एकात रूप से वह पुगद्ल द्रव्य ही मिथ्या दृष्टि होना चाहिये, जीव मिथ्या दृष्टि नही होना चाहिये। ऐसी दशा मे कर्मवध भी उसीके होना चाहिये, ससार भी उसी के, अपितु जीव के तो फिर कुछ नहीं होना चाहिये यह प्रत्यक्ष विरोध है। (अह जीवो पयडी विय पुग्गल दव्व कुणत्ति मिच्छत्त) फिर इस दूषण से वचने के लिये भी यह कहा जाय कि जीव और प्रकृति दोनो कर्म रूप पुगद्ल द्रव्य को भाव मिथ्यात्व रूप कर देते हैं (तम्हा दोवि कदत्त) तो उपादान कारणभूत उन दोनो के द्वारा किये हुये उस मिथ्यात्व के (दुण्णिवि भुजति तस्स फल) फल को जीव और पुगद्ल दोनो ही भोगें ऐसा होना चाहिये सो इसमे अचेतन रूप प्रकृति के भी भोक्तापन का प्रसग आया यह प्रत्यक्ष मे विरोध है। (अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्व करेदि मिच्छत्त) यदि ऐसा कहा जाय कि एकात से न तो प्रकृति ही करती है और न अकेला जीव ही इस कर्म को भाव मिथ्यात्व रूप करता है (तम्हा पुग्गलदव्व मिच्छत्त त तु ण हु मिच्छा) तव पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यात्व ठहरा सो ऐसा कहना क्या मिथ्यापन नही है ? किन्तु मिथ्या ही है क्योकि यह "अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्त" इस पूर्वोक्त वाक्य से विरुद्ध ही है।

स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से जीव शुद्ध ही है फिर भी पर्यायार्थिक नय से कथचित् परिणामीपना होने पर अनादि काल से धारा प्रवाह रूप से चले आये कर्मों के उदय के वश से यह जीव स्फटिक पाषाण के समान ही रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है। यदि एकात से यह अपरिणामी ही हो तो फिर इसमे उपाधि रूप परिणाम कभी घटित नही हो सकता है। स्फटिक पाषाण मे जपा पुष्प की उपाधिके द्वारा परिणमन कर जाने की शक्ति है इसलिये जपापुष्प उस स्फटिक मे उपाधि पैदा कर देता है किन्तु वही जपापुष्प काष्टादिक मे उपाधि पैदा नही करता क्योकि वहा उपाधि रूप से परिणमन शक्ति का अभाव है। ऐसी ही वात जीव के विषय मे है। इस प्रकार एकान्त से यदि ऐसा मान लिया जाय कि द्रव्य रूप मिथ्यात्व प्रकृति ही कर्त्ता वनकर भाव मिथ्यात्व को कर देती है तव फिर जीव भाव मिथ्यात्व का कर्त्ता नही ठहरता है, एव जीव मे भाव मिथ्यात्व के न होने पर कर्म का अभाव आ जाता है और कर्म के अभाव से ससार का अभाव आता है सो यह प्रत्यक्ष विरोध है। इत्यादि रूप से व्याख्यान द्वारा तृतीय स्थल मे पाच गाथाए पूर्ण हुई ॥३५३-३५४-३५५-३५६-३५७॥

आगे ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुख आदि कर्म एकात से कर्म ही करता है, आत्मा नही करता, ऐसे साख्यमत के अनुसार चलने वाले कहते हैं। उन्ही के प्रति नय विभाग से यह सिद्ध करते हैं कि यह जीव कथचित् कर्त्ता है। इसकी तेरह गाथायें हैं इनमे कर्म ही एकात से कर्त्ता होता है इसकी मुख्यता से 'कम्मेहि दु अण्णाणी' इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके वाद साख्य मत मे भी ऐसा कहा गया है इस सवाद को वतलाने के लिये ब्रह्मचर्य के स्थापन की मुख्यता से "पुरुसित्थीयाहिलासी" इत्यादि दो गाथायें हैं। अहिंसा की स्थापना की मुख्यता से "जह्मा घादेदि पर" इत्यादि दो गाथायें हैं। प्रकृति के ही कर्त्तापन है आत्मा के नही इस एकात के दूपण को दूर करने के लिये इसी ही चार गाथाओ का ही दिखाया हुआ सकोच रूप "एव सखुवदेस" इत्यादि एक गाथा है। ऐसे पाच सूत्रो के समुदाय से दूसरा अतरस्थल हुआ। उसके बाद आत्मा कर्म व कर्म जनित भाव नही करता किन्तु अपने आपको करता है इस प्रकार कहते हुये एक गाथा मे पूर्व पक्ष है और तीन गाथाओ मे उसका परिहार है इस प्रकार समुदाय रूप से "अहवा मण्णसि मज्झ" इत्यादि चार सूत्र है। इस प्रकार चार अन्तर अधिकार मे तीसरे स्थल के द्वारा समुदाय पातनिका हुई।

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ॥३५८॥
कम्मेहिं सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जदिय असंजयं चेव ॥३५९॥
कम्मेहिं भमाडिज्जदि उड्ढमहं चावि तिरियलोयम्मि।
कम्मेहिं चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ॥३६०॥
जह्मा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदित्ति हरदि जं किंचि।
तह्मा सव्वे जीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३६१॥

पुरुसिच्छियाहिलासी इच्छी कम्मं च पुरिसमहिलसदि ।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसि दु सुदी ॥३६२॥
तह्मा ण कोवि जीवो अबंभचारी दु तुह्ममुवदेसे ।
जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं अहिलसदी जं भणियं ॥३६३॥
जह्मा घादेदि परं परेण घादिज्जदेदि सापयडी ।
एदेणच्छेण दु किर भण्णदि परघादणामेत्ति ॥३६४॥
तह्मा ण कोवि जीवो उवघादगो अत्थि तुह्म उवदेसे ।
जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं घादेदि जं भणियं ॥३६५॥
एवं संखुवदेसं जेदु परूविति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारया सव्वे ॥३६६॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाण अप्पणो कुणदि ।
एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं भणंतस्स ॥३६७॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि ।
णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियोव कादुं जे ॥३६८॥
जीवस्स जीवरूवं विच्छरदो जाण लोग मित्तं हि ।
तत्तो किं सो हीणो अहियोव कंद भणसि दव्वं ॥३६९॥
जह जाणओ दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं ।
तह्मा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥३७०॥

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥३५८॥
कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥३५९॥
कर्मभिर्भ्राम्यते उर्द्धवमधश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावत्किंचित् ॥३६०॥

यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरतीति यत्किंचित् ।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवंत्यापन्नाः ॥३६१॥
पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥३६२॥
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे ।
यस्मात् कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति यद्भणितं ३६३॥
यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।
एतेनार्थेन तु किल भण्यते पर घातनामेति ॥३६४॥
तस्मान्नकोऽपि जीव उपघातकोऽस्ति युष्माकमुपदेशे ।
यस्मात् कर्मैव हि कर्म हंतीति भणितं ॥३६५॥
एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं: श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥३६६॥
अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैतन्मन्यमानस्य ॥३६७॥
आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥३६८॥
जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीही लोकमात्रं हि ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यं ॥३६९॥
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतं ।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥३७०॥

अर्थ—यह जीव कर्मों के द्वारा ही अज्ञानी किया जाता है, और कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी भी होता है, कर्मों के द्वारा ही सुलाया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जागरण पाता है। कर्मों के द्वारा ही सुखी और दुःखी भी होता है। कर्मों के द्वारा ही मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और कर्मों के द्वारा असयम को प्राप्त होता है। कर्मों के द्वारा ही उर्द्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक मे परिभ्रमण करता है। जो कुछ शुभ और अशुभ हो रहा है वह सब कर्मों के द्वारा ही किया हुआ हो रहा है। क्योकि कर्म ही तो करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, सब कुछ कर्म ही करता है इसलिये जीव तो सब ही अकारक है कुछ भी करने वाले नही हैं। यह आचार्यों की परम्परा से आई हुई बात है कि पुरुषवेद कर्म तो स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेद नाम कर्म पुरुष की इच्छा करता है। इसलिये कोई भी जीव आपके मत मे अब्रह्मचारी नही है क्योकि कर्म ही कर्म को चाहता है ऐसा शास्त्र मे कहा है। क्योकि दूसरे को मारता है और दूसरे के द्वारा मारा जाता है वह भी कर्म ही है इसलिये उसे

परघात नाम प्रकृति कहते हैं। इसलिये आपके मतमें तो कोई भी जीव उपघात करने वाला नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म को घातता है ऐसा कहा है। इस प्रकार जो कोई भी श्रमण सांख्यमत के अनुसार उपदेश करते हैं उनके यहां प्रकृति ही सब कुछ करती है, जीव तो सब अकारक ही हैं। (तब फिर उनके विचार से जिनवाणी में जो आत्माको कर्ता बताया है वह कैसे बनेगा?) यदि कहा जाय कि आत्मा तो अपने आपको ही करता है तो ऐसा कहना भी झूठा है क्योंकि आत्मा तो नित्य असंख्यात प्रदेशी सिद्धान्त में बतलाया है सो वह उससे हीन या अधिक नहीं किया जा सकता है। जीव का अपना स्वरूप विस्तार की अपेक्षा से लोकाकाश प्रमाण है उससे हीन या अधिक क्या कभी किया जा सकता है? अर्थात् नहीं किया सकता। तथा आत्मा को ज्ञायक भाव है वह ज्ञान स्वभाव ही रह रहा है इसलिये आत्मा अपने आपको करता है यह नहीं बनता है (इसलिये आत्मा अज्ञान दशा मे कथंचित् अपने अज्ञान भावरूप कर्मका कर्त्ता होता है) ॥ ३५८ से ३७० तक॥

तात्पर्यवृत्ति—कर्मभिरज्ञानी क्रियते जीव एकांतेन तथैव च ज्ञानी क्रियते कर्मभिः। स्वापं निद्रां नीयते जागरणं तथैवेति प्रथमगाथा गता। कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव च कर्मभिः। कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते तथैवासंयमं चैकांतेन द्वितीयगाथा गता। कर्मभिश्चैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं च भ्राम्यते कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यदन्यदपि किंचिदिति तृतीयगाथा गता यस्मादेव भणितं कर्मैव करोति कर्मैव ददाति कर्मैव हरति यत्किंचिच्छुभाशुभं तस्मा-देकांतेन सर्वे जीवा अकारका प्राप्ताः, ततश्च कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः—इति कर्मैकांत-कर्तृत्वदूषणमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं कर्मैव करोत्येकांतेनेति पूर्वोक्तमर्थं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवाः सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा पुनरपि समर्थयंति। वयं ब्रूमो हे पैशुनैवं न। भवदीयमतेऽपि भणितमास्ते पुंवेदाख्यं कर्म कर्तृ स्त्रीवेदकर्मा-भिलाषं करोति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुंवेदकर्माभिलाषमेकांतेन नच जीवः। एवमाचार्यपरंपरायाः समागता श्रुतिरीदृशी। श्रुतिः कोऽर्थः? आगमो भवता साख्यानामिति प्रथमगाथा गता। तथा सति किं दूषणं चेति? एवं न कोपि जीवो-ऽस्त्यब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे किंतु यथा शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवा ब्रह्मचारिणो भवंति तथैकांतेनाशुद्धनिश्चयेनापि ब्रह्मचारिण एव यस्मात् वेदाख्यं कर्म स्त्रीवेदाख्यं कर्माभिलषति नच जीव इत्युक्तं पूर्वं स च प्रत्यक्षविरोधः। इत्य-ब्रह्मकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं। यस्मात्कारणात् परं कर्मस्वरूप प्रकृतिः कर्त्री हंति परेण कर्मणा सा प्रकृतिरपि हन्यते न च जीवः। एतदर्थेन किल जैनमते परघातनामकर्मेति भण्यते। परं किंतु जैनमते जीवो हिंसा भावेन परिणमति परघातनाम सहकारिकारणं भवति इति नास्ति विरोध इति प्रथमगाथा गता। तस्मात्किं दूषणं? शुद्धपारिणा-मिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तावदपरिणामी हिंसापरिणामरहितो जीवो जैनागमे कथित, कथं? इति चेत् **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति वचनात् व्यवहारेण तु परिणामीति। भवदीयमते पुनर्यथा शुद्धनयेन चाशुद्धनयेना-प्युपघातको हिंसकः कोऽपि नास्ति। कस्मात्? इति चेत्, यस्मादेकांतेन कर्म चैवहि स्फुटमन्यत् कर्म हंति, नचात्मेति पूर्वसूत्रे भणितमिति। एवं हिंसाविचारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं। **एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसंसमणा** एवं पूर्वोक्त सांख्योपदेशमीदृशमेकांतरूपं ये केचन परमागमोक्तं नयविभागमजानंतः **समणा** श्रमणाभासाः द्रव्यलिंगिनः प्ररूपयंति कथयंति। **तेसिं पयडि कुव्वदि अप्पाय अकारया सव्वे** तेषां मतेनैकांतेन प्रकृतिः कर्त्री भवति। आत्मानश्च पुनरकारकाः सर्वे। ततश्च कर्तृत्वाभावे कर्माभाव, कर्माभावे संसाराभाव। ततो मोक्षप्रसंगः। स च प्रत्यक्षविरोध इति। जैनमते पुनः परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयद्वयेन सर्वं घटत इति नास्ति दोषः। एवं सांख्यमत-संवादं दर्शयित्वा जीवस्यैकांतेनाकर्तृत्वदूषणद्वारेण सूत्रपंचकं गतं। **अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि** हे सांख्य! अथवा मन्यसे त्वं पूर्वोक्तकर्तृत्वदूषणभयान्मदीयमते जीवो ज्ञानी, ज्ञानित्वे च कर्मकर्तृत्वं न घटते यत कारणादज्ञानिनां कर्मबंधो भवति। किंत्वात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन करोति ततः कारणादकर्तृत्वे दूषणं न भवति? इति चेत् **एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं मुणंतस्स** अयमपि मिथ्यात्वभाव एव मन्यमानस्य तव इति पूर्वपक्षगाथा गता।

अथ सूत्रत्रयेण परिहारमाह कस्मान्मिथ्यास्वभाव ? इति चेत् **जे** यस्मात् कारणात् **अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्मि** आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चासख्यातप्रदेशो देशित· समये परमागमे तस्यात्मन शुद्धचैतन्यान्वयलक्षणद्रव्यत्वं तथैवासख्यातप्रदेशत्व च पूर्वमेव तिष्ठति **णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे** तद्द्रव्य प्रदेशत्व च तत्प्रमाणादधिक हीन वा कर्तुं नायाति इति हेतोरात्मा आत्मान करोतीति वचनं मिथ्येति । अथ मत असख्यातमान जघन्यमध्योत्कृष्टभेदेन बहुभेद तिष्ठति तेन कारणेन जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपेणासख्यातप्रदेशत्व जीव करोति तदपि न घटते यस्मात्कारणात् **जीवस्स जीवरूव वित्थरदो जाण लोगमित्त हि** जीवस्य जीवरूप प्रदेशापेक्षया विस्तरतो महामत्स्यकाले लोकपूरणकाले वा अथवा जघन्यत सूक्ष्मनिगोदकाले नानाप्रकारमध्यमावगाहशरीरग्रहणकाले वा प्रदीपवद्विस्तारोपसहारवशेन लोकमात्रप्रदेशमेव जानीहि हि स्फुट **तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कद भणसि दव्वं** तस्माल्लोकमात्रप्रदेशप्रमाणात्स जीव किं हीनोऽधिको वा कृतो येन त्व भणसि आत्म द्रव्य कृत किंतु नैवेति । **अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदिमद** अथ हे शिष्य ! ज्ञायको भाव· पदार्थ आत्मा ज्ञानरूपेण पूर्वमेवास्तीति मत । **सम्मत्तमेव तह्मा णवि अप्पा अप्पय तु सयमप्पणो कुणदि** यस्मान्निर्मलानदैकज्ञानस्वभावशुद्धात्मा पूर्वमेवास्ति तस्मादात्मा कर्ता आत्मान कर्मतापन्न स्वयमेवात्मना कृत्वा नैव करोतीत्येक दूषण । द्वितीय च निर्विकारपरमतत्त्वज्ञानी तु कर्ता न भवतीति पूर्वमेव भणितमास्ते । एव पूर्वपक्षपरिहाररूपेण तृतीयातर स्थले गाथाचतुष्टय गत । कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथ हिंसा ? । अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायत ? तत्रापि हिंसा नास्तीति । तन्न, कायादिप्राणै सह कथचिद्भेदाभेद । कथ ? इति चेत् तप्ताय पिंडवद्वर्तमानकाले पृथक्त्व कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेद । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छति तेन कारणेन भेद । यद्येकातेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दु ख न भवति । तथा स्वकीयकायेऽपि दु ख न प्राप्नोति । न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्त भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदु खमपि व्यवहारेणेत्यस्माक सम्मतमेव । तन्नारकादि दु ख भवतामिष्ट चेत्तर्हि हिंसा कुरुत । भीतिरस्ति ? इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति । तत स्थितमेतत् एकातेन साख्यमतवदकर्ता न भवति किं तर्हि रागादिविकल्परहितसमाधिलक्षणभेदज्ञानकाले कर्मण कर्ता न भवति शेषकाले कर्तेति व्याख्यानमुख्यतयान्तरस्थलत्रयेण चतुर्थस्थले त्रयोदश सूत्राणि गतानि ।

अथ यावत्काल निजशुद्धात्मानमात्मत्वेन न जानाति पचेंद्रियविषयादिक परद्रव्य च परत्वेन न जानात्यय जीव तावत्काल रागद्वेषाभ्या परिणमतीत्यावेदयति–अथवा बहिरगपचेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसास्वादबलेन विषयकर्मकायाना विघात करोम्यहमिति—अजानन् स्वसवित्तिरहितकायक्लेशेनात्मान दमयति तस्य भेदज्ञानार्थं सिद्धात प्रयच्छति—

टीका —यह जीव एकात रूप से कर्मों के द्वारा अज्ञानी होता है और कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी होता है। कर्मों के द्वारा ही निद्रालु बना लिया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जागरूक। इस प्रकार पहली गाथा हुई। कर्मों से ही सुखी किया जाता है और कर्मों से ही दु खी किया जाता है। और एकात रूप से कर्मो से ही मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है और कर्मों के द्वारा हो असयत को प्राप्त होता है। यह दूसरी गाथा हुई। कर्मो के द्वारा ही उर्द्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक मे परिभ्रमण करता है, और भी जो कुछ शुभ या अशुभ होता है वह सब कर्मों के द्वारा ही किया गया होता है। यह तीसरी गाथा हुई। जहा एकात से ऐसा कहा गया है कि जो कुछ शुभ या अशुभ करता है वह कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है तो फिर जीव सब अकारकपने को प्राप्त हुये, इसमे जीव के कर्मों का

अभाव आया, कर्म के अभाव होने पर ससार का अभाव आया सो यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध हुआ। इस प्रकार एकान्त से कर्म को ही कर्त्ता मान लेने पर दूषण बताने की मुख्यता से चार गाथाए हुई । कर्म ही करता है इस प्रकार का उपर्युक्त सिद्धान्त साख्यमतवादियो का है ऐसा बताकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव फिर भी उसका समर्थन इस प्रकार करते हैं कि हम यह बात केवल मात्र द्वेप के वश होकर ही नही कहते हैं। आपके मत मे ऐसा लिखा हुआ है कि पु वेद नाम का कर्म स्त्रीवेद कर्म की अभिलापा करता है और स्त्रीवेद नाम का कर्म एकान्त रूप मे पु वेद नाम कर्म की अभिलाषा करता है, जीव ऐसी अभिलापा नही करता है। इस प्रकार यह आचार्य परम्परा से आई हुई श्रुति है। श्रुति है इसका क्या अर्थ है कि आप साख्य लोगों का यह आगम है। इस प्रकार फिर यह पहली गाथा हुई। अब ऐसा होने पर क्या दूपण आयगा ? कि आपके मत मे (साख्यमत मे) कोई भी जीव व्यभिचारी नही ठहरेगा किन्तु जैसे शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव ब्रह्मचारी है वैसे ही एकान्त रूप से अशुद्ध निश्चय नय से भी वे सब ब्रह्मचारी ही ठहरेगे क्योकि स्त्रीवेद नाम वाले कर्म की अभिलाषा तो पु वेद नाम का कर्म करता है जीव तो कुछ करता नही है यह पूर्व मे कहा है सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध पडता है। इस प्रकार दो गाथाओ मे अब्रह्मचर्य का कथन किया गया है। और क्योकि किसी दूसरे कर्म के स्वरूप को जो प्रकृति नाश करती है वह प्रकृति भी किसी दूसरे कर्म के द्वारा नष्ट करदी जाती है अपितु जीव नष्ट नही किया जाता है। इस ऐसे अर्थ को लिये हुए ही जैन मत मे परघात नाम का कर्म कहा गया है किन्तु ऐसा कहकर भी जैन मत मे तो वहा पर जीव ही हिंसा के रूप मे परिणमन करता है, परघात नाम का कर्म तो उसका सहकारी कारण होता है, इसलिये वहा कोई विरोध नही है। यह पहली गाथा हुई। यद्यपि जैन मत मे शुद्ध पारिणामिक रूप जो परमभाव का ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है उसके द्वारा जीव हिंसा परिणाम से रहित अपरिणामी कहा गया है जैसे कि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इस सूक्त से स्पष्ट होता है, फिर भी व्यवहार से वही जीव परिणामी भी माना गया है। किन्तु आप साख्यो के मत मे तो वह जैसे शुद्धनय से वैसे ही अशुद्धनय मे भी उपघातक या हिंसक रूप कभी कोई भी जीव नही होता है, क्योकि आपके यहा तो स्पष्ट एकात रूप से कर्म ही कर्म को मारता है किन्तु आत्मा नही मारता ऐसा पूर्व सूत्र मे कहा गया है। इस प्रकार हिंसा के विचार की मुख्यता से दो गाथाये कही गई । (एव सखुवदेस जे दु परूर्विति एरिसं समणा) इस प्रकार पूर्वोक्त साख्यमत के उपदेश को लेकर जो द्रव्य लिंगी श्रमणाभास परमागम मे कहे हुए नय विभाग को नही जानने वाले है वे लोग एकात पकड कर उसका कथन करते हैं। (तेसि पयडी कुव्वदि अप्पाय अकारया सव्वे) तब उनके एकात मत के द्वारा प्रकृति ही सब कुछ करने वाली होती है, आत्माये तो कुछ भी करने वाली नही ठहरती हैं। इस प्रकार जब आत्मा के कर्तापन का अभाव आता है तो वहा उसके कर्म का भी अभाव आता है और कर्म का अभाव होने पर ससार का भी अभाव हो जाता है। तब मोक्ष का प्रसग भी नही। इन सबका न होना प्रत्यक्ष मे विरुद्ध है। किन्तु जैन मत मे तो परस्पर सापेक्ष निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयो के द्वारा यह सब बाते घट जाती हैं इसमे कोई दोप नही आता है। इस प्रकार साख्यमत के सवाद को दिखला कर जीव को एकात रूप से अकर्त्ता मानने मे जो दूपण आता है उसका कथन पाच गाथाओ मे हुआ। (अहवा मण्णसि मज्झ अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि) आचार्य देव उसी साख्य मत को लक्ष्य मे लेकर फिर कहते हैं कि पूर्वोक्त दूपण के भय से तू ऐसा कहे कि मेरे मत मे तो जीव ज्ञानी ही है और जब ज्ञानी ही है तो वहा कर्म के कर्तापन की कोई बात ही नही घटती है क्योकि कर्म बध तो अज्ञानी के होता है। किन्तु आत्मा कर्ता है वह आत्मा को ही करता है और करणभूत आत्मा के द्वारा ही करता है इसलिये हमारे यहा आत्मा को अकर्त्ता मानने मे कोई दोप नही आता तो (एसो मिच्छ सहावो तुह्म एव मुणतस्स) इस प्रकार मानने

वाले तेरा यह भी मिथ्यात्व भाव ही है। इस प्रकार यह पूर्वपक्ष गाथा हुई। अब इसके आगे तीन सूत्रो से इसका परिहार करते है। अर्थात् उपर्युक्त तेरा मिथ्यात्व भाव क्यो है? कि (अप्पाणिच्चासखेज्जपदेसो देसिदोदु समयम्मि) द्रव्यार्थिक नय से आत्मा नित्य है और वह असख्यात प्रदेशी है ऐसा परमागम मे कहा गया है सो उस आत्मा का असख्यात प्रदेशीपना और शुद्ध चैतन्यपने का अन्वय ही है लक्षण जिसका ऐसा द्रव्यपना भी उसमे पहले से ही है (ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादु जे) सो उस असख्यात प्रदेशीपन तथा द्रव्यपन को उस परिमाण से हीनाधिक तो किया नही जा सकता इसलिये आत्मा आत्मा को करती है यह वचन मिथ्या ही रहा। इस पर यदि यह कहा जाय कि असख्यात का परिमाण तो जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट के भेद से बहुत प्रकार का है अतएव यह जीव उस असख्यात प्रदेशपने को जघन्य मध्यम उत्कृष्ट के रूप मे अनेक प्रकार से करता रहता है तो इस प्रकार का कहना भी घटित नही होता क्योकि (जीवस्स जीवरूव वित्थरदो जाण लोगमित्त हि) जीव का जो जीव रूप है वह प्रदेशो को अपेक्षा से जब विस्तार को प्राप्त हो तब महामत्स्य के काल मे, या लोक पूरण काल मे, और जघन्य रूप से सूक्ष्म निगोदिया के शरीर के काल मे, अथवा नानाप्रकार के मध्यम अवगाहनावाले शरीरो के ग्रहण के काल मे दीपक के प्रकाश के समान विस्तार और उपसहार के वश मे होकर भी लोकमात्र प्रदेशवाला ही रहता है ऐसा जानना चाहिये। (तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कद भणसि दव्व) ऐसी दशा मे जीव लोकमात्र प्रदेश के परिमाण से भी हीन या अधिक किया जा सकता है क्या जिससे कि तू आत्म द्रव्य को किया गया हुआ कह रहा है? किन्तु आत्मा तो कभी हीन या अधिक नही होता, लोक प्रमाण प्रदेश वाला होकर रहता है। (जह जाणओ दु भावो णाणसहावेण अत्थिदेदि मद) और हे भाई! ज्ञायक भाव अर्थात् पदार्थ जो आत्मा है वह तो ज्ञान रूप मे पहले से सदा से ही है यह बात भी मानी हुई है। (सम्मत्तमेव तह्मा णवि अप्पा अप्पय तु सयमप्पणो कुणदि) और जब निर्मल और आनन्द रूप एक ज्ञान ही है स्वभाव जिसका ऐसा शुद्धात्मा तो पहले से है ही तब फिर आत्मा को अपने आप आत्मा के द्वारा करता हैयह नही कहा जा सकता एक दोष तो यह हुआ। दूसरा दोष तुम्हारे कहने मे यह है कि निर्विकार परमतत्व का जानने वाला जीव कर्त्ता नही होता यह भी पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार जो शिष्यने प्रश्न किया था उसका परिहार करते हुये इस तीसरे स्थल में चार गाथाये कही गई।

अब यहा कोई कहता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न। यदि जीव से प्राण अभिन्न है तब तो जैसे जीव का नाश नही होता वैसे ही प्राणो का भी नाश नही होना चाहिए तो फिर हिंसा कैसे? यदि प्राण जीव से भिन्न हैं ऐसा कहा जाय तो प्राणो के घात होने पर भी आत्मा का क्या विगाड हुआ अत फिर भी वहा हिंसा नही है? अब इसका आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नही है क्योकि कायादि रूप प्राणो के साथ इस जीव का कथचित् भेद और कथचित् अभेद है। कैसे है? सो बताते हैं—जैसे तप्तायमान लोहे के गोले मे से उसी समय अग्नि को पृथक् नही किया जा सकता उसी प्रकार वर्तमान् काल मे कायादि प्राणो को जीव से पृथक् नही किया जा सकता इसलिये व्यवहार नय के द्वारा तो कायादि प्राणो का जीव के साथ अभेद है किन्तु निश्चयनय से यह जीव मरणकाल मे जब परलोक जाता है तो कायादि प्राण इस जीव के साथ नही जाते इसलिये कायादिक प्राणो के साथ जीव का भेद भी है। यदि एकान्त से भेद ही मान लिया जाय तब तो फिर दूसरे के शरीर के छिन्न भिन्न होने पर किसी को दु ख नही होता उसी प्रकार अपने शरीर के छिन्न भिन्न होने पर भी दु.ख नही होना चाहिये। किन्तु ऐसा नही है क्योकि इसमे तो प्रत्यक्ष विरोध आता है। इस पर फिर शकाकार का कहना है कि फिर जो हिंसा

हुई वह व्यवहार से ही हुई निश्चय से नही । आचार्य उत्तर देते हैं कि यह ठीक वात है अर्थात् तुमने ठीक ही कहा है कि व्यवहार से ही हिंसा होती है, और पाप भी व्यवहार से ही होता है, नारकादिको का दु ख भी व्यवहार से ही होता है यह बात तो हमको मान्य ही है। हाँ, वह नारकादिको का दु ख तुम्हे इष्ट है तो हिंसा करते रहो और यदि नरकादिक से तुम्हे डर लगता है तो हिंसा करना छोडदो । वस इस सारे विवेचन से यह वात सिद्ध हुई कि साख्यमत के समान जैनमत मे आत्मा एकात से अकर्ता नही है किन्तु रागादि रूप विकल्प से रहित जो समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के समय मे तो आत्मा कर्मों का कर्त्ता नही होता अवशेप काल मे वह कर्मों का कर्ता होता है ।

इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस चौथे स्थल मे तीन अन्तर्स्थलो के द्वारा तेरह गाथाये पूर्ण हुई ।। ३५८ से ३७० तक ।।

विशेषार्थ —पं जयचन्दजी का भावार्थ—साख्यमती पुरुष को एकान्तकर अकर्त्ता शुद्ध उदासीन चैतन्य मात्र मानते है । ऐसा मानने से पुरुष के ससार का अभाव आता है । प्रकृति को ससार माना जाय तो प्रकृति तो जड है उसके सुख दुख आदि का सवेदन नही है इसलिये किसका ससार ? इत्यादि दोष आते हैं क्योकि सर्वथा एकात वस्तु का स्वरूप नही है इस कारण वे साख्यमती मिथ्या दृष्टि हैं। उसी प्रकार जो जैनी भी मानते हैं तो वे मिथ्यादृष्टि होते है । इसलिये आचार्य उपदेश करते हैं कि साख्य-मतियो की तरह जैनी आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मत मानो । जहा तक आप और परका भेद विज्ञान न हो तब तक तो रागादिक अपने चेतन रूप भाव कर्मों का कर्त्ता मानो, भेद विज्ञान हुये पश्चात् (समाधि काल मे) शुद्ध विज्ञान धन समस्त कर्तापन के अभाव कर रहित एक ज्ञाता ही मानो । इस प्रकार एक ही आत्मा मे कर्त्ता और अकर्त्ता दोनो भाव विवक्षा के वश से सिद्ध होते है । यह स्याद्वाद जैनियो का है तथा वस्तु स्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नही है । ऐसा मानने से पुरुष के ससार मोक्ष आदि की सिद्धि होती है सर्वथा एकात मानने मे सव निश्चय व्यवहार का लोप हो जाता है ऐसा जानना ।

आगे कहते हैं कि जव तक अपने शुद्ध आत्मा को आत्मारूप से नही जानता है और पाचो इन्द्रियो के विपय आदिक परद्रव्य को अपने से भिन्न पररूप नही जानता है तव तक यह जीव रागद्वेषो से परिणमन करता है । अथवा वाहर के पाचो इन्द्रियो के विपय त्याग की सहायता से क्षोभ रहित चित्त की भावना से पैदा हुआ जो विकार रहित सुखमई अमृत रसका स्वाद उसके वल से मैं इन्द्रियो के विपय, कर्म और शरीर का घात करू इस वात को नही जानता हुआ स्वसवेदन ज्ञान से रहित कायक्लेश के द्वारा जो अपना दमन करता है उस जीवको भेद ज्ञान की प्राप्ति होने के अर्थ सिद्धान्त को कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे विसए ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ।।३७१।।
दंसणणाण चरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ।।३७२।।
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे काये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिता तेसु कायेसु ।।३७३।।

णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।
णवि तह्मि कोऽवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो ।।३७४।।
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु ।
तह्मा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ।।३७५।।
रागो दोसो मोहो जीवस्सेवदु अणण्ण परिणामा ।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ।।३७६।।

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।
तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु विषयेषु ।।३७१।।
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।
तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु कर्मसु ।।३७२।।
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु कायेषु ।।३७३।।
ज्ञानस्य दर्शनस्य भणितो घातस्तथा चरित्रस्य ।
नापि तत्र कोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य घातस्तुनिर्दिष्टः ।।३७४।।
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ।।३७५।।
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ।।३७६।।

अर्थ—आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं वे अचेतन विषय मे तो कुछ भी नही है इसलिये उन विषयो मे आत्मा उसका क्या घात करे क्योकि वहा घातने के लिये कुछ भी नही है । इसी प्रकार दर्शन ज्ञान और चारित्र ये अचेतन कर्म मे भी कुछ नही है इसलिये उन कर्मों मे भी आत्मा किसका क्या घात करे क्योकि वहा घातने के लिए कुछ भी नही है । इसी प्रकार ये दर्शन ज्ञान और चारित्र अचेतन काय मे भी कुछ नही है इसलिये उन कार्यो मे भी आत्मा किसका क्या घात करे क्योकि वहा भी घातने के लिये कुछ भी नहीं है । घात जो हुआ है वह तो दर्शन ज्ञान और चारित्र का हुआ कहा गया है पुद्गल द्रव्य का घात तो कुछ भी नही कहा गया है । क्योकि जीव के जो कुछ गुण हैं वे निश्चय से परद्रव्य मे नही है इसीलिये सम्यग्दृष्टि के विषयो मे राग नही होता है । राग, द्वेष और मोह ये सब भाव तो जीव के ही अनन्य परिणाम हैं, जीव से अभिन्नरूप है और इसलिये रागादिक है वे शब्दादिक मे नही हैं (अत सम्यग्दृष्टि तो अपने उन अज्ञान भावरूप उन परिणामो का ही अभाव करता है) ।।३७१-३७२-३७३-३७४ ३७५-३७६।।

तात्पर्यवृत्ति—दर्शनज्ञानचारित्र किमपि नास्ति । केषु शब्दादिपचेंद्रियविषयेषु ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मसु श्रौदारिकादिपचकायेषु । कथभूतेषु तेषु ? अचेतनेषु । तस्मात्कि घातयते चेतयिता आत्मा तेषु जडस्वरूपविषयकर्मकायेषु ? न किमपि । किंच शब्दादिपचेंद्रियविषयाभिलाषरूपो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबधकारणभूत कायममत्वरूपश्च योऽसौ मिथ्यात्वरागादिपरिणामो मनसि तिष्ठति तस्य घात कर्तव्य ते च शब्दादयो रागादीना बहिरगकारणभूतास्त्याज्या—इति भावार्थ । तस्यैव पूर्वोक्तगाथात्रयस्य विशेषविवरण करोति—तद्यथा **णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स** शब्दादिपचेंद्रियाभिलाषरूपेण कायममत्वरूपेण वा ज्ञानावरणादिकर्मबधनिमित्तमनतानुबध्यादिरागद्वेषरूप यन्मनसि मिथ्याज्ञान तिष्ठति तस्य मिथ्याज्ञानस्य निर्विकल्पसमाधिप्रहरणेन सर्वज्ञैर्घातो भणित न केवल मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च । तथैव मिथ्यात्वचारित्रस्य च **णवि तह्मि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो** नच चेतने शब्दादिविषयकर्मकायरूपे पुद्गलद्रव्ये कोऽपि घातो निर्दिष्ट । किं च यथा घटाधारभूते हते सति घटो हतो न भवति तथा रागादिनिमित्तभूते शब्दादिपचेंद्रियहतेऽपि सति मनसि गता रागादयो हता न भवति नचान्यस्य घाते कृते सत्यन्यस्य घातो भवति । कस्मात् ? अतिप्रसगादिति भाव । **जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु** यस्माज्जीवस्य ये केचन सम्यक्त्वादयो गुणास्ते परेषु परद्रव्येषु शब्दादिविषयेषु न सति खलु स्फुट **तह्मा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु दोसो विसयेसु** तस्मात्कारणान्निर्विषयस्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखतृप्तस्य सम्यग्दृष्टेर्विषयेषु रागो नास्तीति **रागो दोसो मोहो जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा** रागद्वेषमोहा यस्मादज्ञानिजीवस्याशुद्धनिश्चयेनाभिन्न परिणामा । **एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी** तेन कारणेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपचेंद्रियविषयेष्वचेतनेषु यद्यप्यज्ञानी जीवो भ्रातिज्ञानेन शब्दादिषु रागादीन् कल्पयत्यारोपयति तथापि शब्दादिषु रागादयो न सति । कस्मात् ? शब्दादीनामचेतनत्वात् । तत स्थित तावदेव रागद्वेषद्वयमुदयते बहिरात्मनो यावन्मनसि त्रिगुप्तिरूप स्वसवेदनज्ञान नास्ति । इति गाथाषट्क गत ।

एवमेतदायाति शब्दादींद्रियविषया अचेतनाश्चेतना रागाद्युत्पत्तौ निश्चयेन कारण न भवन्ति—

टीका—दर्शन ज्ञान, चारित्र इन तीनो मे से कुछ भी नही है । कहा नही हैं ? शब्दादि रूप पचेन्द्रियो के विषय मे, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों मे, औदारिक आदि पाँच शरीरो मे नही हैं क्योकि शब्दादिक विषय, ज्ञानावरणादि कर्म और औदारिकादि शरीर अचेतन है । इसलिये चेतन आत्मा इन जड स्वरूप विषय, कर्म और शरीरो मे से किसी का क्यो घात करे ? किन्तु शब्दादिक पचइन्द्रिय विषयो के अभिलाप रूप जो भाव हैं जो कि शरीर के ममत्व रूप हैं और ज्ञानावरणादि दव्य कर्म के वन्ध के कारण भूत हैं एव जो मिथ्यात्व व रागादि स्वरूप है ऐसे विभाव परिणाम इस आत्मा के मन मे स्थान किये हुये हैं उनका घात करना चाहिये । हा, यह शब्दादिक भी उन्ही रागादि विभावो के पैदा होने के वहिरग कारणभूत हैं । इसलिये इनका भी त्याग करना चाहिये ऐसा आचार्य के कथन का तात्पर्य है । अब इसमे आगे उपर्युक्त गाथा मे कहे हुये विपय का ही और विशेप विवरण किया जाता है वह ऐसे है (णाणस्स दसणस्स य भणिओ घादो तहा चरित्तस्स) शब्दादि पचेन्द्रियो के विषयो की अभिलाषा रूप और शरीर के साथ ममत्व रूप से होने वाला अनतानुवध्यादि राग द्वेष रूप मिथ्या ज्ञान है वह ज्ञानावरणादि कर्मों के वन्धका निमित्त कारण है और इस आत्मा के मन मे निवास करता है । उस मिथ्या ज्ञान का घात निर्विकल्प समाधि रूप हथियार से घात करना चाहिये ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है । हा, केवल मिथ्या ज्ञान का ही नही, किन्तु उसके साथ मिथ्या दर्शन और मिथ्याचारित्र का भी घात करना चाहिये । (ण वि तह्मि कोऽवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो) क्योकि उस अचेतन शब्द आदि विषय रूप, व द्रव्य कर्म और शरीर रूप पुद्गल द्रव्य मे कुछ भी घात नही कहा गया है । देखो, घडेका आधार भूत

जो कुछ भी है उसको नष्ट कर देने पर भी घडा नष्ट नही होता है वैसे ही रागादिभावो का निमित्त भूत जो पचेन्द्रियो के विपय शब्दादिक है उसके नप्ट कर देने पर भी मन मे होने वाले जो रागादिक हैं उनका नाश नही होता है। क्योकि अन्य के घात कर देने पर भी अन्य का घात नही होता ऐसा न्याय है, अन्यथा फिर अति प्रसग दोष आता है कोई भी व्यवस्था नही वनती। (जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु) क्योकि जीव के जो सम्यक्त्वादि गुण हैं वे शब्दादिक पर द्रव्यो मे नही हैं अर्थात् उनका उनके साथ वास्तविक कोई सवध नही है यह बात स्पष्ट है। (तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु) इसलिये विपयो से रहित अपने शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो सुख उसी मे तृप्त होने वाला जो सम्यग्दृष्टि है उसका विषयो मे राग नही होता। (रागो दोसो मोहो जीवस्सेव दु अणण्णपरिणामा) क्योकि राग, द्वेष, और मोह अज्ञानी जीव के परिणाम हैं जो कि अशुद्ध निश्चय से उससे अभिन्न है अर्थात् अशुद्ध अवस्था मे जीव के साथ तन्मय होते हैं। (एएण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी) इसलिये यद्यपि अज्ञानी जीव भ्रात ज्ञान के वश होकर अचेतन रूप शब्दादिमय मनोज्ञ और अमनोज्ञ पाचो इन्द्रियो के विपय है उन्ही मे रागादिक की कल्पना करता है उन्ही मे रागादिक का आरोप करता है (कि अमुक वस्तु मे मेरा राग है) तो भी शब्दादिक मे रागादिक नही होते हैं क्योकि शब्दादिक तो स्वय अचेतन हैं। इसलिये इस विवेचन से यह वात निश्चित हुई कि रागद्वेष ये दोनो तभी तक उत्पन्न होते हैं जब तक यह आत्मा वहिर्दृष्टि वाला रहता है और इसके मनमे त्रिगुप्तिरूप स्वसवेदन ज्ञान उत्पन्न नही हो पाता। यह छह गाथाओ का अर्थ हुआ ॥३७१-३७२-३७३-३७४-३७५-३७६॥

विशेषार्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये आत्मा के गुण हैं। ये जहा स्वस्थ भाव मे रहते है वहा आत्मा शुद्ध है किन्तु जहां ये विकृत हो वहा आत्मा ही विकृत होता है यह वात तो ठीक है। किन्तु ये आत्मा के गुण होने के कारण इनका आत्मा से ही सवध है वाह्य शब्दादि विषयो से नही, क्योकि इनके नष्ट होने पर भी इनका नाश नही होता और इनके वढ जाने पर इनकी वृद्धि नही होती। अत जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह इनके लिये शब्दादि वाह्य विपयो को क्यो स्मरण करे? वह तो अपने उपयोग को इनकी ओर जाने भी नही देता। हा, छद्मस्थ आत्मा के मन मे इन वाह्य वस्तुओ को लेकर जो राग द्वेप मोह उत्पन्न होता है अर्थात् उस रूप उसका जो ज्ञान परिणत होता है उसी से उसके ज्ञान दर्शन और चारित्र गुण का घात होता है। अत सम्यग्दृष्टि जीव तो इन राग द्वेष और मोह भावो को पैदा नही होने देता जिसके लिये वह त्रिगुप्ति रूप निर्विकल्प समाधि मे तल्लीन रहता है यही उसका प्रयास है और इसी मे उसका भला है।

आचार्य देव इसका निष्कर्प निकालकर यह वतलाते हैं कि शब्दादि जो इन्द्रियो के विषय हैं वे तो स्वय अचेतन हैं वे रागादिक की उत्पत्ति मे वास्तव मे नियमितरूप से कारण नही हो सकते—

अण्णदवियेण अण्णदव्वियस्स णो कीरदे गुणविधादो।
तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७७॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणविघातः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन ॥३७७॥

अर्थ—अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणो का विघात नही किया जा सकता इसलिये सर्व द्रव्य अपने अपने स्वभाव से ही उपजते हैं ॥ ३७७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—**अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो** अन्यद्रव्येण वहिरगनिमित्तभूतेन कु भकारादिनाऽन्यद्रव्यस्योपादानरूपस्य मृत्तिकादेर्न क्रियते स क ? चेतनस्याचेतनरूपेण, अचेतनस्य चेतनरूपेण वा चेतनाचेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात् । **तह्मा दु सव्वदव्वा उपज्जंते सहावेण** तस्मात्कारणन्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तृ णि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायते नच कु भकारादिवहिरगनिमित्तरूपेण । कस्मात् ? इति चेत् उपादानकारणसदृश कार्यं भवतीति यस्मात् । तेन किं सिद्ध ? यद्यपि पचेन्द्रियविपयरूपेण शब्दादीना वहिरगनिमित्तभूतेनाज्ञानिजीवस्य रागादयो जायते तथापि जीवस्वरूपा एव चेतना न पुन शब्दादि रूपा अचेतना भवतीति भावार्थः । एव कोऽपि प्राथमिकशिष्यचित्तस्थानुरागादीन्न जानाति वहिरगशब्दादिविपयाणा रागादिनिमित्ताना घात करोमीति निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानाभावाच्चिंतयति तस्य सबोधनार्थं पूर्वं गाथापट्केन सह सूत्रसप्तक गत ।

अथ व्यवहारेण कर्तृ कर्मणोर्भेद , निश्चयेन पुनर्यदेव कर्तृ तदेव कर्मेत्युपदिशति—

टीका—(अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुण विघादो) वहिरग निमित्त जो कु भकार आदि अन्य द्रव्य हैं उसके द्वारा उपादानरूप जो मिट्टी आदि अन्य द्रव्य हैं उसका चेतन का अचेतनरूप से और अचेतन का चेतनरूपसे इस प्रकार चेतन या अचेतन गुण का घात अर्थात् विनाश नही किया जा सकता (तम्हा दु सव्वदव्वा उपज्जते सहावेण) इसलिये मिट्टी आदिक सव द्रव्य जो घटादि के रूप मे उपजते है वे सव मृत्तिकादिरूप अपने अपने उपादान कारण के रूप मे उपजते हैं वहिरंग निमित्त कारण कु भकारादिके रूप मे नही उपजते क्योकि उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा अटल नियम है । इस कथन से यह वात सिद्ध हुई कि यद्यपि अज्ञानी जीव के जो रागादि उत्पन्न होते हैं वे सव वहिरगमे निमित्त भूत से होनेवाले पचेन्द्रिय के विपय रूप जो शब्दादि हैं उन्ही के द्वारा उपजते हैं फिर भी वे (रागादि) शब्दादिरूप अचेतन नही होते किन्तु चेतनतामय जीवस्वरूप होते हैं ऐसा तात्पर्य है ।

इस प्रकार कोई नया शिष्य अपने चित्त मे ठहरे हुये रागद्वेपादि भावो को तो जानता नही है किन्तु उन रागादिको मे निमित्त पडनेवाले वहिरगभूत शब्दादि विपयो का घात करने की चेप्टा करता है (क्योकि वह मानता है कि इन शब्दादिको ने ही मेरे रागादि पैदा किया है अत. इनको नप्ट करदू ऐसा सोचता है) क्योकि उसके निर्विकल्प समाधि ही है लक्षण जिसका ऐसा जो भेदज्ञान है उसका अभाव है । उस शिष्य को सवोधन करने के लिये ही आचार्य देवने इससे पूर्ववाली ६ गाथाओ के साथ साथ यह सातवी गाथा कही है ।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव रागद्वेपकी उत्पत्ति को पर द्रव्य से मानकर परद्रव्य के ऊपर कोप करता है कि इस परद्रव्य ने मेरे रागद्वेप उपजा दिये अत उस रागद्वेष को नप्ट करने के लिये इस परद्रव्य को ही नप्ट करू इस प्रकार व्यर्थ उलझन मे पड जाता है । उसे समझाने के लिये ही आचार्यश्री ने यह वात कही है कि हे भाई! रागद्वेप की उत्पत्ति तो अपने अज्ञान भाव से अपने मे ही होती है । यह सव रागद्वेप तेरे ही अशुद्ध परिणाम हैं, सो यह अज्ञान नाश को प्राप्त हो और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो ऐसा प्रयत्न कर । इन शब्दादि को भला वुरा मानकर इनके पीछे क्यो पडा है अपितु इन्हे भुलाकर अपने आत्मस्वरूप के अनुभव करने मे तल्लीन हो रह ।

आगे कहते हैं कि व्यवहार से कर्ता और कर्म का भेद हे परन्तु निश्चय से तो जो कर्ता है सो ही कर्म है ऐसा उपदेश करते हैं

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३७८॥
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३७९॥
जह सिप्पिउ करणाणिय गिह्लदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणाणिय गिह्लदि ण य तम्मओ होदि ॥३८०॥
जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ॥३८१॥
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥३८२॥
जह सिप्पओ दु चिट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो ॥३८३॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि ।
तत्तोसेय अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३८४॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥३७८॥
यथा शिल्पिकः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥३७९॥
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणानि च गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥३८०॥
यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ॥३८१॥
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥३८२॥

यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्य स्तस्याः ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥३८३॥
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥३८४॥

अर्थ—जैसे सुनार आदि कारीगर कुण्डलादि आभूषण कर्म को करता है किन्तु वह आभूषण आदि के साथ तन्मय नही होता, उसी प्रकार जीव भी पौद्गलिक कर्म को करता है फिर भी उससे तन्मय नही होता। और जैसे कारीगर हतोडा आदि उपकरणो के द्वारा कुण्डलादि कर्म करता है फिर भी उसके साथ तन्मय नही होता, उसी प्रकार जीव भी मन, वचन कायादि करणो के द्वारा कर्म करता है तो भी उसके साथ तन्मय नही होता। जैसे शिल्पी उन उपकरणो को ग्रहण करता है तो भी वह उनसे तन्मय नही होता उसी प्रकार जीव भी कायादि रूप करणो को ग्रहण करता है तो भी उनसे तन्मय नही होता। तथा जैसे शिल्पी कुण्डलादि कर्मों के फल को भोगता हैं तो भी वह उनसे तन्मय नही होता उसी प्रकार जीव भी कर्म के फल सुख दु खादि को भोगता है परन्तु उनसे तन्मय नही होता। इस प्रकार यह व्यवहारनय का मत है जो कि सक्षेप से कहने योग्य है। अब आगे निश्चय का वचन है उसे सुनो—जो कि अपने परिणामो के द्वारा किया हुआ होता है अर्थात् अपने रागादि विकल्पो के द्वारा सम्पादित होता है। जैसे कि शिल्पी अपने परिणामो की जैसी चेष्टा करता है तब वह उस चेष्टा से पृथक् नही होता तन्मय रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपने परिणाम स्वरूप कर्म को करता है तो उस चेष्टा रूप कर्म से वह पृथक् नही रहता किन्तु तन्मय रहता है। तथा जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरतर दु खी होता है तो वह उस दु ख से भिन्न नही रहता किन्तु तन्मय रहता है उसी प्रकार चेष्टा करता हुआ जीव भी दु खी रहता है॥ ३७८ से ३८४ तक॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा लोके शिल्पी तु सुवर्णकारादि सुवर्णकु डलादिकर्म करोति, कैः कृत्वा ? हस्तकुट्टकाद्युपकरणैः । हस्तकुट्टकाद्युपकरणानि च हस्तेन गृह्णाति, तथापि तैः सुवर्णकु डलादिकर्महस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः सह तन्मयो न भवति । तथैव ज्ञानी जीवोऽपि निष्क्रियवीतरागस्वसवेदन ज्ञानच्युत सन् ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि करोति । कैः कृत्वा ? मनोवचनकायव्यापाररूपैः कर्मोत्पादकरणैरुपकरणैः तथैव च कर्मोदयवशान्मनोवचनकायव्यापाररूपाणि कर्मोत्पादकरण्युपकरणानि सश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णातितथापि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्ममनोवचनकायव्यापाररूपकर्मोत्पादकोपकरणैः सह टकोत्कीर्णज्ञायकत्वेन भिन्नत्वात्तन्मयो न भवति । तथैव च स एव शिल्पी सुवर्णकारादि सुवर्णकु डलादिकर्मणि कृते सति यत्किमप्यशनपानादिक मूल्य लभते भुक्ते च तथापि तेनाशनपानादिना तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि शुभाशुभकर्मफल वहिरगेष्टाशनपानादिरूप निजशुद्धात्मभावनोत्थमनोहरानदसुखास्वादमलभमानो भुक्ते न च तन्मयो भवति । **एव ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण** एव पूर्वोक्तप्रकारेण गाथाचतुष्टयेन द्रव्यकर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वरूपस्य व्यवहारनयस्य दर्शन निदर्शन दृष्टात उदाहरण हे शिष्य ! वक्तव्य व्याख्येय कथनीय समासेन सक्षेपेण **सुणु णिच्छयस्स वयण परिणाम कदं तु ज हवदि** इद त्वग्रे वक्ष्यमाण निश्चयस्य वचन व्याख्यान शृणु, कथभूत ? परिणामकृत रागादिविकल्पेन निष्पादितमिति । **जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णोसो** यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कु डलादिकमेवमेव करोमीति मनसि चेष्टा करोति इति तया चेष्टया सह भवति चानन्यस्तन्मयः **तह जीवोविय कम्म कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो** तथैवाज्ञानी जीव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य योऽसौ साधको निर्विकल्पसमाधिरूप कारणसमयसारस्तस्याभावे सत्यशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिरूप भावकर्म करोति तेन भावकर्मणा सह भवति चानन्य इति भावकर्मकर्तृत्वगाथा गता । **जह चेट्ठं कुव्वतो दु सिप्पिओ णिच्च दु खिदो होदि** यथा स एव शिल्पी कु डलादिकमेवमेव करोमीति

मनसि चेष्टा कुर्वाण सन् चित्तखेदेन नित्य दु खितो भवति । न केवल दु खित । **तत्तोसेय अणण्णो** तस्माद् खविकल्पादनुभवरूपेणानन्यश्च म स्यात् **तह चेट्ठंतो दुही जीवो** तथैवाज्ञानिजीवोऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य साधको योऽसौ निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयमार, तस्यालाभे सुखदु.खभोक्तृत्वकाले हर्षविपादरूपा चेष्टा कुर्वाण सन्मनसि दु खितो भवति इति । तया हर्षविपादचेष्टया सह अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेणानन्यश्च भवति इति । एव पूर्वोक्तप्रकारेणाज्ञानिजीवो निर्विकल्पस्वसवदेनज्ञानात् च्युतो भूत्वा सुवर्णकारादिदृष्टातेन व्यवहारनयेन द्रव्यकर्म करोति भुक्ते च । तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावकर्म चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन पष्ठस्थले गाथासप्तक गत ।

अथ ज्ञान ज्ञेय वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतन्मृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मय न भवति इति निश्चयमुख्यत्वेन गाथापचक । यथैप ज श्वेतमृत्तिका कुडय श्वेत करोतीति व्यविह्रियते तथैव च ज्ञान ज्ञेय वस्तु जानात्येव व्यवहारोऽस्तीति व्यवहारमुख्यत्वेन गाथापचक । एव समुदायेन दशक । तद्यथा—

टीका—जैसे भूतलपर हम देखते हैं कि सुनार आदि कारीगर स्वर्ण के कुण्डलादि आभूपण को वनाता है । किन से वनाता है ? कि हतोड़े आदि उपकरणो के द्वारा वनाता है । उन हतोडे आदि उपकरणो को अपने हाथ मे ग्रहण करता है तो फिर उन सोने के कुण्डलादि आभूषणो से और हतोडे आदि उपकरणो से वह तन्मय नही हो जाता । वैसे ही * ज्ञानी जीव भी निष्क्रिय वीतराग स्वसवेदन ज्ञान से च्युत होता हुआ द्रव्य कर्मो को करता है । किन के द्वारा करता है ? कि कर्मो के उत्पादन करने वाले मन वचन काय के उपकरणो द्वारा करता है । वैसे ही यह जीव भी कर्मोदय के वश होकर कर्मों के उत्पादन करनेवाले मन वचन काय के व्यापार रूप कर्मो के उत्पादन करने वाले उपकरणो के साथ तन्मय नही होता किन्तु अपने टकोत्कीर्ण ज्ञायकपने से यह जीव उनसे भिन्न ही रहता है । जैसे सुनारादि कारीगर सोने के कुण्डलादि वन जाने पर उनका आहारपानादिरूप जो कुछ मूल्य प्राप्त करता है और उसे भोगता भी है, फिर भी वह उस अशनपानादि से तन्मय नही होता है वैसे ही जोव भी अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुये मनोहर आनदमई सुख के स्वाद को नही पाता हुआ बाह्य मे दीखनेवाले अशनपानादिरूप शुभ और अशुभ कर्म के फल को भोगता है फिर भी वह अशनपानादि रूप नही वन जाता । (एव ववहारस्स उ वत्तव्व दसण समासेण) इस पूर्वोक्त रीति से चार गाथाओ द्वारा हे भाई द्रव्य कर्म के कर्तापन और भोक्तापन रूप जो व्यवहारनय है उसका मत या दृष्टात या उदाहरण सक्षेप मे वताया गया है । (सुणु णिच्छयस्स वयण परिणामकद तु ज हवदि) अव इसके आगे निश्चयनय का वचन रूप व्याख्यान कहा जाता है उसको सुनो—जो कि रागादि विकल्प के द्वारा सम्पादित एव आत्माके परिणाम द्वारा किया होता है । (जह सिप्पिओ दु चेट्ठ कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो) जैसे सुनारादि कारीगर अपने मन मे जव इस प्रकार का विचार करता है कि मैं इस इस प्रकार के कुण्डलादि वनाऊ तव वह उस विचार रूप चेष्टासे अभिन्न अर्थात् तन्मय होता है, (तह जीवोवि य कम्म कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो) वैसे ही केवलज्ञानादि की अभिव्यक्ति होना है स्वरूप जिसका ऐसा जो कार्य समयसार उसका जो साधक निर्विकल्प समाधि रूप कारण समयसार उसका अभाव हो जाने पर यह अज्ञानी जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा मिथ्यात्व रागादिरूप भावकर्म को करने वाला होता है तव उस समय उस भाव कर्म के साथ अभिन्न होता है । यह भावकर्म के कर्तापन

---

* मनातन जैन ग्रथमाला से सम्पादित श्री वीर निर्वाण सवत्सर २४४० मे ज्ञानी पाठ है और अहिंसा मन्दिर प्रकाशन दिल्ली मे प्रकाशित मे अज्ञानी पाठ है—अर्थ की दृष्टि से दोनो ही पाठ ठीक वैठ जाते हैं

की गाथा हुई । (जह चेट्ठ कुव्वतो दु सिप्पम्रो रिगच्च दु खितो होदि) जैसे कि कारीगर अपने मनमे यह विचार करता है कि मैं अमुक अमुक प्रकार के कुण्डलादि बनाऊ ऐसा विचार करता हुआ वह नियम से अपने चित्त मे आकुल व्याकुलतारूप दु ख को प्राप्त होता है उस विचार से वह केवल दु खी ही नही होता किन्तु (तत्तो सेय अरगण्णो) उसके अनुभव मे आनेवाले दु ख रूप विकल्पसे अभिन्न ही रहता है। (तह चेट्ठन्तो दुही जीवो) उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी विशुद्ध ज्ञान दर्शनादि की अभिव्यक्ति रूप जो कार्य समयसार व उम कार्य समयसारका साधक जो निश्चय रत्नत्रयात्मक कारण समयसार है उसके लाभ मे अर्थात् अभाव मे सुख दु खादि के भोक्तापन के काल मे हर्ष विषादादि रूप चेष्टा को करता हुआ वह अपने मन मे दु खी होता है तब वह उस हर्ष विषादादि रूप चेष्टा के साथ अशुद्ध उपादान रूप अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा अभिन्न अर्थात् तन्मय होकर रहता है ।

इस प्रकार पूर्व कथित रीति से सुनार आदि के दृष्टात द्वारा जैसे वताया गया है वैमे यह अज्ञानी जीव निर्विकल्परूप स्वसवेदन ज्ञान से च्युत होकर व्यवहारनय के द्वारा तो द्रव्य कर्म को करता है व उसे भोगता है उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा वह भावकर्म को करता है और भोगता है इस प्रकार के व्याख्यान को लेकर इस छट्ठे स्थल मे ये सात गाथायें पूर्ण हुई ।।३७८ से ३८४।।

विशेषार्थ—यहा आचार्य देव ने वतलाया है कि व्याकरण के द्वारा बोलने मे कर्ता कर्म आदि की पद्धति भिन्न और अभिन्न रूप से होती है । जैसे वढई वसोले से रथ बनाता है यह तो भिन्न कर्त्ता कर्म का उदाहरण है । और दीपक अपने द्वारा अपने आपको प्रकाशित करता है यह अभिन्न कर्त्ता कर्म का उदाहरण है । सो छद्मस्थ आत्मा जव तक समाधिस्थ रहता है तव तक अपने आपका अनुभव करते हुये सहजानन्द का भोगने वाला रहता है किन्तु जव समाधि से च्युत होकर वाह्य दृष्टि पर आता है तो शुभाशुभ रूप करने लगता है और उनके फल स्वरूप सुख दुख को भोगने वाला होता है ।

इस प्रकार आत्मा के भिन्न कर्तृत्व और अभिन्न कर्तृत्व को वताकर आगे यह वतलाते है कि ज्ञान ज्ञेय वस्तु को जानता है फिर भी निश्चयनय से उससे तन्मय नही होता । जैसे कि सफेद मिट्टी दीवाल को सफेद करती है फिर भी वह मिट्टी दीवाल से भिन्न रहती है । इस प्रकार निश्चय की मुख्यता से पाच गाथाओ मे कह कर आगे की पाच गाथाओ मे यह वतलाते है कि खडिया दीवाल को सफेद कर देती है यह व्यवहार है वैसे ही ज्ञान भी ज्ञेय वस्तु को जानना है यह व्यवहार है । इस प्रकार दोनो मिलाकर दश गाथायें हैं —

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि ।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ।।३८५।।
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि ।
तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सो दु ।।३८६।।
जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि ।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सोदु ।।३८७।।

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३८८॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसण चरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्सय वत्तव्वं से समासेण ॥३८९॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणदि णादा विसएण भावेण ॥३९०॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सदि जीवोवि सएण भावेण ॥३९१॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विरमदि णादावि सएण भावेण ॥३९२॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३९३॥
एसो ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥३९४॥ (दशकम्)

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥३८५॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥३८६॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥३८७॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥३८८॥
एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥३८९॥
यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३९०॥

यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं पश्यति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६१॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६२॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६३॥
एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥३६४॥

अर्थ—अब यहा अभिन्न कर्ता कर्म रूप निश्चय कथन को और भिन्न कर्ता कर्म रूप व्यवहार कथन को दृष्टात द्वारा समझाते हैं—जैसे सफेदी करने वाली खडिया मिट्टी अन्य भीत आदि वस्तु को सफेद करने वाली है इसलिये खडिया है ऐसी वात नही किन्तु वह तो अपने आप ही खडिया मिट्टी है भीत से भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार जो ज्ञायक है जानने वाला है वह परद्रव्य को जानने वाला है इसलिये ज्ञायक है ऐसा नही है किन्तु वह तो सहज ज्ञायक रूप ही है। इसी प्रकार उपरोक्त उदाहरण के समान जो दर्शक है वह भी पर द्रव्य को देखने वाला होने से दर्शक नहीं है किन्तु वह तो अपने सहज स्वभाव से ही दर्शक है। इसी प्रकार सयत भी पर को त्याग ने से सयत नहीं हुआ है किन्तु अपने भाव से सयत है। इसी प्रकार दर्शन भी अर्थात् श्रद्धान भी पर वस्तु के यथार्थ श्रद्धान करने से दर्शन नहीं हुआ है किन्तु वह तो सहज स्वभाव से ही दर्शन अर्थात् श्रद्धान है। ऐसा यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विषय मे निश्चयनय का कहा हुआ वचन है। अब जो व्यवहारनय का वचन है उसे सक्षेप से कहते हैं उसे सुनो। जैसे खडिया अपने स्वभाव के द्वारा भीत आदि परद्रव्यो को सफेद करती है उसी प्रकार जानने वाला भी अपने स्वभाव के द्वारा पर द्रव्य को जानता है, उसी प्रकार दर्शक अपने स्वभाव के द्वारा पर द्रव्य को देखता है, तथा सयत अपने स्वभाव के द्वारा पर द्रव्य को छोडता है और श्रद्धान करने वाला अपने स्वभाव के द्वारा ही पर द्रव्य का श्रद्धान करता है। यह ज्ञान दर्शन और चारित्र के विषय मे व्यवहारनय का जो निर्णय है वह कहा गया है। इसी प्रकार और वातो में भी लगा लेना चाहिये।

तात्पर्यवृत्ति—यथा लोके श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका परद्रव्यस्य कुड्यादेर्निश्चयेन श्वेतमृत्तिका न भवति तन्मयो न भवति बहिर्भागे तिष्ठतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? श्वेतिका श्वेतिकैव स्वस्वरूपे तिष्ठती त्यर्थः। तथा श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एव ब्रह्माद्वैतवादिवत्—ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति—इति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव च श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन दर्शकआत्मा दृश्यस्य घटादिपदार्थस्य निश्चयेन दर्शको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? दर्शको दर्शक एव स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः। एव सत्तावलोकनदर्शन दृश्यपदार्थरूपेण न परिणमतीति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन सयत आत्मा त्याज्यस्य परिग्रहादेः परद्रव्यस्य निश्चयेन त्याजको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? सयत सयत एव निर्विकारनिजमनोहरानदलक्षणस्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एव वीतरागचारित्रमुख्यत्वेन गाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धानकारक न भवति, तन्मय न भवती-

त्यर्थ । तर्हि किं भवति ? सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शनमेव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थ । एव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शन-मुख्यत्वेन गाथा गता ।

एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते एव पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन भापित व्याख्यान कृत । कस्य सबधित्वेन ? निश्चयनयस्य । क्व ? विपये ज्ञानदर्शनचारित्रे । **सुणु ववहारणयस्सय वत्तव्व** इदानी हे शिष्य ! शृणु समाकर्णय किं ? वक्तव्य व्याख्यान । कस्य सबधित्वेन ? व्यवहारनयस्य । कस्य सबधिव्यवहार ? **से** तस्य पूर्वोक्तज्ञानदर्शनचारित्रत्रयस्य केन ? **समासेण** संक्षेपेण । इति निश्चयनयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपचक गत ।

अथ व्यवहार कथ्यते—यथा येन प्रकारेण लोके परद्रव्य कुडचादिक व्यवहारनयेन श्वेतयते श्वेत करोति नच कुडचादिपरद्रव्येण सह तन्मयी भवति । का ? कर्त्री श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका । केन कृत्वा श्वेत करोति ? स्वकीयश्वेतभावेन । तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन परद्रव्य घटादिक ज्ञेय वस्तु व्यवहारेण जानाति नच परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । कोऽसौ ? कर्ता ज्ञातात्मा[1] । केन जानाति ? स्वकीय ज्ञानभावेनेति, प्रथमगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन घटादिक दृश्य परद्रव्य व्यवहारेण पश्यति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । कोऽसौ ज्ञातात्मा[2] । केन पश्यति ? स्वकीयदर्शनभावेनेति द्वितीयगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन परिग्रहादिक परद्रव्य व्यवहारेण विरमति त्यजति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति स क । कर्ता ज्ञातात्मा । केन कृत्वा त्यजति ? स्वकीयनिर्विकल्प समाधिपरिणामेनेति तृतीयगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन जीवादिक परद्रव्य व्यवहारेण श्रद्धधाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । स क ? कर्ता सम्यग्दृष्टि केन कृत्वा ? स्वकीय श्रद्धान-परिणामेनेति चतुर्थगाथा गता । **एसो ववहारस्स दु विणिच्छियो णाणदसणचरित्ते भणिदो** भणित कथित कोऽसौ ? कर्मतापन्न, एष प्रत्यक्षीभूत, पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन[3] निर्दिष्टो विनिश्चय, व्यवहारानुयायी निश्चय इत्यर्थं कास्य सबंधी ? व्यवहारनयस्य । क्व ! विपये ज्ञानदर्शनचारित्रत्रये । **अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो** इदमोद-नादिक मया भुक्त, इदमहिविपकटकादिक त्यक्त, इद गृहादिक कृत, तत्सर्वं व्यवहारेण । निश्चयेन पुन स्वकीयरागा-दिपरिणाम एव कृतो भुक्तश्च । एवमित्याद्यन्येष्वपि पर्यायेपु निश्चयव्यवहारनयविभागो ज्ञातव्य इति । किंच यदि व्यवहारेण परद्रव्य जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह—यथा स्वकीयसुखादिक तन्मयो भूत्वा जानाति तथा वहिर्द्रव्य न जानाति तेन कारणेन व्यवहार यदि पुन परकीय सुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्म यो भूत्वा जानातितर्हि तथा स्वकीयसुखसवेदने सुखी भवति तथा परकीयसुखदु खसवेदनकाले सुखी दु खी च प्राप्नोति न च तथा । यद्यपि स्वकीयसुखसवेदनापेक्षया निश्चय, परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थ-जनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति । ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञ तस्य किमिति दूपण दीयते भवद्भिरिति ! तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृपा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति । जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृपा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति । यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसग । एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्य जानाति पश्यति निश्चयेन पुन स्वद्रव्यमेवेति । ततएतदायाति ग्रामारामादि सर्वं खल्विदब्रह्म ज्ञेयवस्तु किमपि नास्तियद् ब्रह्माद्वै-तवादिनो वदति तन्निपिद्ध । यदपि सौगतो[1] वदति ज्ञानमेव घटपटादिज्ञेयाकारेण परिणमति नच ज्ञानाद्भिन्न ज्ञेय किमप्यस्ति तदपि निराकृत । कथ ! इति चेत्, यदि ज्ञान ज्ञेयरूपेण परिणमति तदा ज्ञानाभाव प्राप्नोति यदि वा ज्ञेय ज्ञानरूपेण परिणमति तदा ज्ञेयाभावस्तथा सत्युभयशून्यत्व, स च प्रत्यक्षविरोध । एव निश्चयव्यवहारव्याख्यायान-मुख्यतया समुदायेन सप्तमस्थले सूत्रदशक गत ।

---

१ अत्र क पुस्तक ज्ञानात्मेति पाठ । २ अत्रापि क ज्ञानात्मेत्येव पाठ । ३ चतुष्टये पाठोय ख. पुस्तके ।

१ सौगता वदति इति ख पुस्तके पाठ । २ सूत्रसप्तक पाठोऽय क पुस्तके । ३ श्वेत्यस्य पाठोऽय क आत्मख्यातौ ।

अथ निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनपरिणतस्तपोधन एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीत्युपदिशति—

टीका—जैसे संसार मे हम देखते हैं कि श्वेटिका अर्थात् सफेद खडिया मिट्टी निश्चय से परद्रव्यरूप भीत आदि की नही होजाती अर्थात् उससे लगकर भी भिन्न रहती है तन्मय नही होती किन्तु बाहर मे ही रहती है अर्थात् श्वेटिका तो श्वेटिका ही है और अपने आपके स्वरूप मे ही रहती है। इसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात द्वारा ज्ञानात्मा भी निश्चय के द्वारा घटपटादि ज्ञेय पदार्थों का ज्ञायक नही होता है अर्थात् उन्हे जानते हुए भी उनसे तन्मय नही होता। फिर क्या होता है ? कि ज्ञायक तो ज्ञायक ही होता है अपने स्वभाव मे रहता है। इस प्रकार यहा पर आचार्यदेव ने यह बतलाया है कि ज्ञान ज्ञेयके रूप में परिणमन नही करता जैसा कि ब्रह्म अद्वैतवादियो के यहा ज्ञान ज्ञेयरूप मे परिणमन कर जाता है। इस प्रकार की कथन करने वाली गाथा हुई। इसी प्रकार श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर दर्शक आत्मा भी निश्चय से दृश्यरूप जो घटपटादि पदार्थ हैं उनका दर्शक नही होता अर्थात् उनके साथ मे तन्मय नही होता। तो क्या होता है ? कि दर्शक तो दर्शक ही होता है अपने स्वरूप मे रहता है। इस प्रकार सत्ताव-लोकनरूप दर्शन दृश्यमान पदार्थों के द्वारा पररूप मे परिणमन नही कर जाता, इस प्रकार के कथन की मुख्यता से दूसरी गाथा हुई। उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात को लेकर सयत आत्मा त्याज्य जो परिग्रहादि पर द्रव्य हैं उनका निश्चय से त्यागनेवाला नहीं होता अर्थात् उनके साथ मे तन्मय नही होता। तो क्या होता है ! कि सयत तो सयत ही रहता है अर्थात् निर्विकार अपना मनोहर आनन्द है लक्षण जिसका ऐसे अपने स्वरूप मे ही रहता है। इस प्रकार वीतराग चारित्र की मुख्यता से तीसरी गाथा हुई। उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात द्वारा जो तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, वह श्रद्धान करने योग्य जो वहिर्भूत जीवादि पदार्थ हैं उनका श्रद्धान करने वाला निश्चय से नही होता अर्थात् उनके साथ तन्मय नही होता। तो क्या होता है ! सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है अपने स्वरूप मे रहता है। इस प्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन ही मुख्यता से यह चौथी गाथा हुई।

(एव तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाण दसण चरित्ते) इस प्रकार पूर्व की चार गाथाओ द्वारा ज्ञान दर्शन चारित्र के विषय मे निश्चय सवधी कथन का व्याख्यान हुआ। (सुणु ववहारनयस्स य वत्तव्व से) अब हे शिष्य ! तुम व्यवहार के व्याख्यान को सुनो। जो कि व्यवहारनय का व्याख्यान पूर्वोक्त ज्ञान दर्शन चारित्र के विषयमे है। (समासेण) जिसको मैं सक्षेप मे कहता हू। इस प्रकार निश्चयनय के व्याख्यान की मुख्यतासे पाच सूत्र कहे अब व्यवहार का कथन किया जाता है—जैसे लौकिक मे परद्रव्य भीत आदि है उनको श्वेत खडिया मिट्टी अपने श्वेत भाव के द्वारा सफेद करती है फिर भी उन भीत आदि परद्रव्य के साथ तन्मय नही हो जाती। उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात से समझना चाहिये कि ज्ञाता आत्मा परद्रव्य घटपटादि जो ज्ञेय द्रव्य हैं उनको व्यवहार से जानता है फिर भी परद्रव्यो के साथ तन्मय नही हो जाता केवल मात्र अपने ज्ञान भाव के द्वारा उन्हे जानता ही है। यह पहली गाथा का अर्थ हुआ। उसी प्रकार उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात को लेकर ज्ञान स्वरूप आत्मा दृश्य-मान घटपटादि परद्रव्य को व्यवहार से देखता है किन्तु उस परद्रव्य के साथ तन्मय नही होता अपितु केवलमात्र अपने दर्शन गुण के द्वारा उसे देखता है। यह दूसरी गाथा हुई। उसी प्रकार उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टान्त को लेकर ज्ञाता आत्मा परिग्रहादिक जो परद्रव्य है उनको व्यवहार मे त्यागता है किन्तु वह परद्रव्यो के साथ तन्मय नही होता। तो फिर वह छोडता कैसे है ? कि अपने निर्विकल्प रूप समाधि

परिणाम के द्वारा उनसे उदासीन हो जाता है। यह तीसरी गाथा हुई। उसी प्रकार उस श्वेत मिट्टी के दृष्टात को लेकर यह सम्यग्दृष्टि जीव जीवादिक पर द्रव्यो के व्यवहार से अर्थात् भेदरूप से श्रद्धान करता है किन्तु वह उनके साथ तन्मय नही हो जाता है। किसके द्वारा नही होता है ? कि अपने श्रद्धान परिणाम के द्वारा वह सम्यग्दृष्टि जीव पर द्रव्य को पर द्रव्य समझते हुये अपने श्रद्धान मे अपने से भिन्न मानता है इस प्रकार यह चौथी गाथा का अर्थ हुआ। (एसो ववहारस्स दु विणिच्छियो णाणदसण चरित्ते भणिदो) यह प्रसग प्राप्त जो कि पूर्वोक्त चार गाथाओ से कहा गया है वह विनिश्चय अर्थात व्यवहार अनुयायी निर्णय कहा गया है। किसके विषय मे ? ज्ञान दर्शन और चारित्र के विषय मे अर्थात् व्यवहारनय के द्वारा उपर्युक्त प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र का निर्णय किया जाता है। (अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो) जैसा व्यवहार ऊपर ज्ञान दर्शन चारित्र के विषय मे बतलाया गया है वैसा और भी अवस्थाओ मे लगा लेना कि जैसे यह मातादि मेरे द्वारा खाया गया, यह साप का विष व कंटकादि मेरे द्वारा छोड दिया गया, यह घर मेरे द्वारा बनाया गया यह सब तो व्यवहार है यदि निश्चय से कहे तो इस प्रकार कहना चाहिये कि इन ओोदनादिक को खाने का मैंने अपना रागरूप परिणाम किया और उसी को भोगा। इसी प्रकार और सब स्थानो मे भी निश्चयनय और व्यवहारनय के विभाग को समझ लेना चाहिये।

इस पर फिर भी प्रश्न होता है कि यदि पर द्रव्य का जानना व्यवहार से ही होता है तब फिर सर्वज्ञ भी व्यवहार से ही कहे जायगे, निश्चय से नही। ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते है कि हे भाई ! जिस प्रकार आत्मा अपने सुखादि को तन्मय होकर जानता है वैसे बाह्य द्रव्यो को तन्मय होकर नही जानता इसलिये उस जानने को व्यवहार से जानना कहा है। यदि दूसरे के सुखादि को भी यह आत्मा अपने सुखादि के समान तन्मय होकर जाने तब तो जैसे अपने सवेदन मे सुखी होता है उसी प्रकार पर के सुख दु ख के सवेदन काल मे भी सुखी दु खी होना चाहिये सो वह होता नही है। यद्यपि सर्वज्ञ का ज्ञान स्वकीय सुख सवेदन की अपेक्षा तो निश्चय रूप है किन्तु परकीय सुख के सवेदन की अपेक्षा से वही सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवहार रूप है अर्थात् परकीय सुख को जानता है फिर भी उससे भिन्न है इसलिये उसे व्यवहाररूप कहा गया है, किन्तु छद्मस्थ को अपेक्षा तो दूसरे के सुख को जानने वाला सर्वज्ञ का ज्ञान भी वास्तविक है—निश्चय है (काल्पनिक नही है)।

यहा पर शकाकार फिर शका करता हैं कि बौद्धमती भी ऐसा कहते हैं कि हमारे सौगत बुद्ध भगवान् व्यवहार से सर्वज्ञ होते है, फिर आप उनको दूषण क्यो देते हो ? इसका परिहार करते हैं कि सौगत आदि के मत मे जैसे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार सत्य नहीं है वैसे ही व्यवहार से भी व्यवहार इनके यहा झू ठा ही है, किन्तु जैन मत मे तो व्यवहारनय यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्या है किन्तु व्यवहार रूप मे तो सत्य ही है। यदि लोक व्यवहार रूप मे भी सत्य न हो तो फिर सारा लोक व्यवहार मिथ्या हो जाय ऐसा होने पर कोई भी व्यवस्था नही बने। इसलिये जैसा ऊपर कहा गया है वह ठीक ही है कि पर द्रव्य को तो आत्मा व्यवहार से जानता है देखता है किन्तु निश्चय से अपने आपको देखता जानता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्म अद्वैतवादी जो कहा करते हैं कि ग्राम, बगीचा आदि जो वस्तुये है वे सब ब्रह्मस्वरूप ही है ब्रह्म के सिवाय कोई भी ज्ञेय वस्तु नही है इस बात का यहा पर निषेध किया गया है। सौगत लोग जो कहते हैं कि ज्ञान ही घटपटादि रूप परिणमन कर जाता है, ज्ञान से भिन्न कोई भी ज्ञेय वस्तु नही है इस कहने का भी निराकरण हो जाता है क्योकि ज्ञान यदि ज्ञेय रूप में

परिणमन करता है तो ज्ञान के अभाव का प्रसग आता है और ज्ञेय रूप मे परिणमन करता है तो ज्ञेय के अभाव का प्रसग आता है एव दोनो का अभाव ठहरता है सो प्रत्यक्ष विरोध है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार की मुख्यता से समुदाय रूप से इस सातवें स्थल मे दश सूत्र हुए ।। ३८५ से ३९४ तक ।।

विशेषार्थ—आत्मा का निश्चयनय मे एक चेतना भाव स्वभाव है, उसी को देखना, जानना, श्रद्धान करना, एवं पर द्रव्य से निवृत्त होना यह उसी के रूपान्तर हैं। निश्चय नय से जब सोचें तो आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नही कहा जा सकता, न दर्शक कहा जा सकता और न श्रद्धाता (श्रद्धा करने वाला) और न त्याग करने वाला भी कहा जाता है क्योकि निश्चयनयमे आत्मा का परद्रव्यके साथ कोई भी सबंध ही नही है अत. परद्रव्य का ज्ञाता, द्रष्टा, श्रद्धाता, एव त्यागकरनेवाला तो यह आत्मा व्यवहार मे ही कहा जाता है, क्योकि परद्रव्य के साथ मे निमित्त नैमित्तिकादि सबंध होता है वह व्यवहार का ही विषय होता है। यही बात आचार्यदेव ने ऊपर बताई है सो यह निश्चयनय का और व्यवहारनय का अपना अपना विषय है सो अपने अपने स्थान ठीक है। इसे भले प्रकार समझकर यथार्थ श्रद्धान करना यही पाठको का कर्त्तव्य है।

अब इसके आगे निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना के रूप मे परिणत हुआ स्वय तपोधन ही अभेदनय से निश्चय चारित्र होता है ऐसा व्याख्यान आगे की गाथामे करते हैं—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ।।३९५।।
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावेण बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवे चेदा ।।३९६।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेय वित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि स खलु आलोयणं चेदा ।।३९७।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो पडिक्कमदि।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा ।।३९८।। (चतुष्कम्)

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेक विस्तरविशेषं।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं ।।३९५।।
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्त्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ।।३९६।।
यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषं।
तं दोषं यश्चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ।।३९७।।

नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यमपि यः प्रतिक्रामति ।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ।।३९८।।

अर्थ—पहले के किये हुए कार्यो से ममत्व रहित होना प्रतिक्रमण है आगे न करने का दृढ सकल्प करना सो प्रत्याख्यान है किन्तु वर्तमान के कार्यो से भी दूर रहना आलोचना कहलाती है। यही चारित्र का विधान है सो ही वता रहे हैं कि अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तृत पूर्वकाल मे किये हुये जो शुभाशुभ कर्म हैं उनसे जो जीव अपने आपको छुडालेता है वह आत्मा ही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है। आगामी काल मे शुभ या अशुभ कर्म जिस भावके होने पर वन्धे उस अपने भाव से जो ज्ञानी दूर रहता है वह ज्ञानी ही प्रत्याख्यान होता है। अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तृत शुभ या अशुभ कर्म वर्तमान मे उदयमे आ रहा है उसे भी जो ज्ञानी दोप मानता है अर्थात् उससे भी वचना चाहता है, मिटा देने योग्य भावना करता है वह आत्मा निश्चय से आलोचना स्वरूप होता है। एव जो इस प्रकार के प्रतिक्रमण को, प्रत्याख्यान को और आलोचना को निरन्तर करता रहता है वह ज्ञानी जीव निश्चयसे चारित्रवान होता है ।। ३९५-३९६-३९७-३९८ ।।

तात्पर्यवृत्ति—**णियत्तदे अप्पयंतु जो** इहलोकपरलोकाकाक्षारूपख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाक्षालक्षणनिदानवधादिसमस्तपरद्रव्यालवनोत्पन्नशुभाशुभसकल्पविकल्परहिते शून्ये विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवनरूपाभेदरत्नत्रयात्मकेनिर्विकल्पपरमसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजपरमानदस्वभावसुखरसास्वादसमरसीभावपरिणामेन सालवने भरितावस्थे केवलज्ञानाद्यनतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादके कारणसमयसारे स्थित्वा य कर्ता, आत्मान कर्मतापन्न निवर्तयति। कस्मात्सकाशात् ? **कम्म जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं तत्तो** शुभाशुभमूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं पूर्वकृत यत्कर्म तस्मात् **सो पडिक्कमण** स पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयप्रतिक्रमण भवतीत्यर्थ । **णियत्तदे जो** अनतज्ञानादिस्वरूपात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूति स्वरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे परमसामायिके स्थित्वा य कर्ता आत्मान निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? **कम्म जं सुहमसुहं जह्मियभावेह्मि वज्झदि भविस्स तत्तो** शुभाशुभानेकविस्तरविस्तीर्णं भविष्यत्कर्म यस्मिन्मिथ्यात्वादिरागादिपरिणामे सति वध्यते तस्मात् **सो पच्चक्खाणं हवे चेदा** स एवगुणविशिष्टस्तपोधन एवाभेदनयेन निश्चयप्रत्याख्यान भवतीति विज्ञेय **जो वेददि** नित्यानदैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मके सुखदु खजीवितमरणादिविपय सर्वोपेक्षासयमे स्थित्वा य कर्ता वेदयत्यनुभवति जानाति । **जं** यत्कर्म **तं** तत् । केन रूपेण ? **दोसं** दोषोय मम स्वरूप न भवति । कथ भूत कर्म ? **उदिण्णं** उदयागत । पुनरपि कथभूत ? **सुहमसुह** शुभाशुभ । पुनश्च किंरूप **अणेयवित्थरविसेसं** मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्ण । **संपडिय** सप्रति काले खलु स्फुट । **सो आलोयणं चेदा** स चेतयिता पुरुप एवाभेदनयेन निश्चयालोचन भवतीति ज्ञातव्य । **णिच्च पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चपि जो पडिक्कमदि णिच्च आलोचेदिय** निश्चयरत्नत्रयलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा य कर्ता पूर्वोक्तनिश्चयप्रत्याख्यानप्रतिक्रमणालोचनानुष्ठानानि नित्य सर्वकाल करोति **सोदु चरित्तं हवदि चेदा** स चेतयिता पुरुप एवाभेदनयेन निश्चयचारित्र भवति। कस्मात् ? इति चेत् शुद्धात्मस्वरूपे चरण चारित्रमिति वचनात् । एव निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानरूपेणाष्टमस्थले गाथाचतुष्टय गत ।

अर्थेंद्रियमनोविपयेपु रागद्वेपौ मिथ्याज्ञानपरिणत एव जीव करोतीत्याख्याति—

टीका—(णियत्तदे अप्पय तु जो) जो कारण समयसार इस लोक और परलोक की आकाक्षामय ख्याति पूजा और लाभ तथा दृष्ट श्रुत और अनुभूत जो भोग उनकी आकाक्षा रूप निदान वध इत्यादि

समस्त परद्रव्यो का जो आलम्बन उससे उत्पन्न जो शुभाशुभ सकल्प विकल्प से रहित तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो आत्मतत्व उसके समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप जो अभेद रत्नत्रय सो ही है आत्मा अर्थात् स्वरूप जिसका ऐसी जो निर्विकल्प रूप परम समाधि उससे उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहज परमानन्द स्वभावरूप सुखरस का आस्वाद वही हुआ समरसीभाव परिणाम इसके आलम्बन से भरा पूरा है और जो केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की अभिव्यक्ति रूप कार्य समयसार का समुत्पादक है ऐसे उस कारण समयसार मे स्थित होकर अपने आपको दूर कर लेता है। किससे दूर करता है ? कि (कम्म जं पुव्वकय सुहासुहमणेय वित्थर विसेस तत्तो) अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तीर्ण जो पूर्वकाल के किये शुभाशुभ कर्म हैं उनसे दूर कर लेता है (सो पडिक्कमण) वह पुरुष ही अभेदनय से निश्चय प्रतिक्रमण होता है। तथा (णियत्तो जो) अनन्त ज्ञानादि स्वरूप जो आत्मद्रव्य, उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव स्वरूप जो अभेद रत्नत्रय, वह अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे परम सामायिक मे स्थित होकर आत्मा को वचा लेता है। किससे वचा लेता है ? (कम्म ज सुहमसुह जह्मि य भावह्मि वज्झदि भविस्स तत्तो) शुभ और अशुभरूप अनेक प्रकार के फैलाव में फैला हुआ भविष्यतकालीन कर्म जिस मिथ्यात्व या रागादिरूप परिणाम के होने पर वन्धता है उस परिणाम से वचा लेता है दूर कर रखता है (सो पच्चक्खाण हवे चेदा) वह इस प्रकार के गुणवाला तपोधन ही अभेद नय से निश्चयरूप प्रत्याख्यान होता है ऐसा जानना चाहिये। तथा (जो वेददि) सदा वना रहने वाला जो आनन्द वही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो अभेद रत्नत्रयवाले एव सुख और दु ख तथा जीवन और मरण आदि के विषय मे समभाव रखने वाले सब और उपेक्षा रखने वाले सयम मे स्थित होकर वेदता है, अनुभव करता है जानता है। क्या जानता है ? कि (ज त) जो कोई कर्म है वह (दोस) मेरा किया हुआ दोष है किन्तु वह मेरा स्वरूप नही है। वह कौनसा कर्म ? (उद्दोण्ण) जो कि उदय मे आ रहा है। फिर वह कैसा है ? कि (सुहमसुह) शुभ और अशुभरूप है। फिर कैसा है कि (अणेयवित्थर विसेस) मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार के फैलाव मे फैला हुआ है (सम्पडि य) जो कि वर्तमान काल मे स्पष्ट हो रहा है (सो आलोयण चेदा) सो वह उपर्युक्त प्रकार से जानने वाला आत्मा ही अभेदनय से आलोचना रूप होता है ऐसा जानना चाहिये। (णिच्च पच्चक्खाण कुव्वदि णिच्चपि जो दु पडिक्कमदि णिच्च आलोचेदिय) निश्चय रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसा जो शुद्धात्मा का स्वरूप है उसमे स्थित होकर जो जीव उपर्युक्त निश्चय प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना रूप अनुष्ठान नित्य ही सदा काल करता रहता है (सो दु चरित्त हवदि चेदा) वह सचेतन पुरुष ही अभेद नय से निश्चय चारित्र होता है क्योकि शुद्धात्मा के स्वरूप मे चरण करना तल्लीन होना सो चारित्र है इस प्रकार का आर्ष वचन है।

इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना और चारित्र के व्याख्यान रूप से इस आठवे स्थल मे चार गाथाये पूर्ण हुई ॥ ३९५-३९६-३९७-३९८ ॥

विशेषार्थ—यहा इन चार गाथाओ मे निश्चय चारित्र का कथन किया गया है। चारित्र मे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विवरण आवश्यक है। वहा अपने चारित्रमे लगे हुये दोषो से आत्मा को निवर्तन करना तो प्रतिक्रमण है। आगे को दोष लगाने का त्याग करना प्रत्याख्यान है। और वर्तमान कालीन दोष से दूर रहना सो आलोचना है। वे तीनों चारित्रवान् आत्मा के गुण हैं जो कि उस आत्मा से अभिन्न है, उनको आत्मा से पृथक् रूप से वर्णन करना सो व्यवहार होता है। किन्तु

निश्चय से विचारा जावे तव तो तीनो कालो सवधी दोपो से सदा बचते रहने वाला आत्मा तो प्रतिक्रमण है, वही प्रत्याख्यान है और वही आलोचनारूप है और तीनो स्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभव करना ही जारित्र है जैसा कि यहा वताया गया है इस। निश्चय चारित्र अर्थात् स्वरूपाचरणमय होने का नाम ही ज्ञान चेतना है जिससे कि आत्मा शुद्ध हो जाती है किन्तु इसके विरुद्ध अज्ञान चेतना अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफल चेतना है वह वन्धकारक होती है जैसा कि श्री अमृचन्द्राचार्य ने निम्न वृत्त मे स्पष्ट कर वताया है —

ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्य प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्ध।
अज्ञान सचेतनया तु धावन् वोधस्य शुद्धि निरुणद्धि बध. ।।२२४।।

अर्थात्—ज्ञान मे रागद्वेप भावकी अर्थात् आर्त्तरौद्र भावकी पुट न होना, ज्ञान का ज्ञान मात्र होना सो ज्ञानकी संचेतना कहलाती है इसी का दूसरा नाम निर्विकल्प समाधि दशा है। इसके द्वारा नित्य शाश्वत वना रहने वाला शुद्ध ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान प्रगट होता है। यदि वह अविच्छिन्न ज्ञान धारा प्रवाह रूप से एक सम्पन्न मुहूर्त्त मात्र काल तक वनी रह जाय तो केवलज्ञान हुए बिना न रहे। किन्तु छद्मस्थ का उपयोग तो मुहूर्त्त के भीतर ही या तो छद्मपने को दूरकर बताता है और नही तो फिर निर्विकल्प दशा से हटकर सविकल्पदशा पर आना ही पडता है जिसका नाम अज्ञान चेतना है जिससे ज्ञान अशुद्ध वनकर वन्ध होने लगता है।

आगे कहते हैं कि मिथ्याज्ञान मे परिणमन करता हुआ यह जीव पाच इन्द्रिय और मनके विषयोमे राग और द्वेप करता है —

णिंदिद संथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदिय अहं पुणो भणिदो ।।३९९।।
पोग्गलदव्वं सद्दत्तह परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि किं रूससे अवुहो ।।४००।।
असुहो सुहोव सद्दो ण तं भणदि सुणसु मंति सो चैव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदु विसयमागदं सद्दं ।।४०१।।
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणदि पेच्छ मंति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ।।४०२।।
असुहो सुहो य गंधो ण तं भणदि जिग्घ मंति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं ।।४०३।।
असुहो सुहो य रसो ण तं भणदि रसय मंति सो चेव।
ण यदि ए विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं ।।४०४।।

असुहो सुहो य फासो ण तं भणदि फासमंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ॥४०५॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ॥४०६॥
असुहं सुहं च दव्वं ण तं भणदि बुज्झमंति सो चेव ।
ण य यदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं ॥४०७॥
एवं तु जणि दव्वस्स उवसमं णेव गच्छदे मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥४०८॥

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि ।
तानि श्रुत्वा रूष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥३९९॥
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः ।
तस्मान्न त्वां भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ॥४००॥
अशुभः शुभो वा शब्दः न त्वां भणति श्रृणु मामिति स एव ।
नचैति विनिर्गृहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दं ॥४०१॥
अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
नचैति विनिगृहीतुं चक्षुर्विषयमागंत रूपं ॥४०२॥
अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
नचैति विनिर्गृहीतुं घ्राणविषयमागतं गंधं ॥४०३॥
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
नचैति विनिर्गृहीतुं रसनविषयमागतं तु रसं ॥४०४॥
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।
नचेति विनिर्गृहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शं ॥४०५॥
अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
नचैति विनिर्गृहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ॥४०६॥
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
नचैति विनिर्गृहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यं ॥४०७॥

एवं तु ज्ञातद्रव्यस्य उपशमं नैव गच्छति मूढः ।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ।।४०८।।

अर्थ—बहुत प्रकार के निन्दा और स्तुति के वचन रूप मे पुद्‌गल वर्गणाए परिणमती हैं उसको सुनकर अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मुझे भला बुरा कहा गया है ऐसा जानकर या तो क्रोध करता है अथवा सतुष्ट होता है। इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि शब्द रूप मे परिणत हुआ पुद्‌गल द्रव्य है उसका गुण तो पुद्‌गलमय है तेरे से अन्य है इसलिये हे भोले ! तुझे तो उसने कुछ भी नही कहा है तू अज्ञानी हुआ क्यो रोष करता है आदि। देख-अशुभ या शुभ शब्द हैं वह तुझे ऐसा कहता है क्या ? कि तू मुझे सुन अपितु नही कहता और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय मे आये हुए शब्द को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नही दौडता। इसी प्रकार अशुभ तथा शुभ रूप भी तुझे ऐसा नही कहता है कि मुझे देख और चक्षु के विषय मे आये हुये रूप को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नही दौडता इसी प्रकार अशुभ या शुभ गध भी तुझे ऐसा नही कहता कि मुझे सूघ और घ्राण इन्द्रिय के विषय मे आये हुये गध को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नही दौडता। इसी प्रकार अशुभ या शुभ रस भी तुझे नही कहता कि तू मुझे चख और रसना के विषय मे आए हुए रस के ग्रहण करने के लिए आत्मा वहा नही जाता। वैसे ही अशुभ तथा शुभ स्पर्श भी तुझे ऐसा नही कहता कि तू मुझे छूले और स्पर्शन इन्द्रिय के विषय मे आए हुए स्पर्श के ग्रहण करने को आत्मा भी नही जाता। इसी प्रकार किसी भी बाह्य द्रव्य का गुण जो अशुभ तथा शुभ है वह तुझे ऐसा नही कहता कि तू मुझे जान, बुद्धि के विषय मे आये हुए गुण को ग्रहण करने के लिए आत्मा भी नही दौडता। इसी प्रकार अशुभ तथा शुभ द्रव्य हैं वह भी तुझे ऐसा नही कहता कि तू मुझे जान और बुद्धि के विषय मे आये हुए द्रव्य के ग्रहण करने को आत्मा दौड नही लगाता। ऐसा जानकर भी यह मूढ जीव उपशम भाव को प्राप्त नही होता प्रत्युत पर के ग्रहण करने का ही मन करता है क्योकि कल्याणकारी बुद्धि अर्थात् समुचित समीचीन ज्ञान की प्राप्ति नही हुई है।।३६६ से ४०८ तक।।

तात्पर्यवृत्ति—रूसदि तूसदिय एकेंद्रियविकलेंद्रियादिदुर्लभपरपराक्रमेणातीतानतकाले दृष्टश्रुतानुभूतमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामाधानतया अत्यतदुर्लभेन कथचित्कालादिलब्धिवशेन मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीना तथैव चारित्रमोहनीयस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थादिश्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यकश्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानतकेवलज्ञानादिचतुष्टयाभिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च। किं कृत्वा ? **सुणिऊण** श्रुत्वा। पुनः पश्चात् केन रूपेण ? **अहं भणिदो** अनेनाह भणित इति। कानि श्रुत्वा ? **णिंदिदसथुदवयणाणि** निंदितसस्तुतवचनानि **ताणि** तानि। किं विशिष्टानि ? **पोग्गलापरिणमति बहुगाणि** भाषावर्गणायोग्यपुद्‌गला कर्तारो यानि कर्मतापन्नानि बहुविधानि परिणमंति। ज्ञानी पुनर्व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गभूत पूर्वोक्तद्विविधकारणसमयसार ज्ञात्वा बहिरगेष्टानिष्टविषये रागद्वेषौ न करोतीति भावार्थ। **पुग्गलदव्वं सद्दत्तहपरिणदं** भाषावर्गणायोग्यपुद्‌गलद्रव्य कर्तृ म्रियस्वेति जीवत्वमिति रूपेण निंदितसस्तुतशब्दरूपत्वपरिणत **तस्स जदि गुणो अण्णो** तस्य पुद्‌गलद्रव्यस्य शुद्धात्मस्वरूपाद्यदि गुणोऽन्यो भिन्नो जडरूप, तर्हि जीवस्य किमायात ? न किमपि। तस्यैवाज्ञानिजीवस्य पूर्वोक्तव्यवहारकारणसमयसारनिश्चयसमयसारकारणरहितस्य सबोधन क्रियते। कथ ? इति चेत् यस्मान्निदितसस्तुतवचनेन पुद्‌गलाः परिणमंति **तह्मा ण तुम भणिदो किंचिवि** तस्मात्कारणात्त्व न भणित किंचिदपि **किं रूससे अबुहो** किं रुष्यसे अबुध ! बहिरात्मान्निति। स चैवाज्ञानिजीवो व्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्या रहित पुनरपि सबोध्यते। हे अज्ञानिन् ! शब्दरूपगधरसस्पर्शरूपा मनोज्ञामनोज्ञपंचेंद्रियविषया कर्तार, त्वा कर्मतापन्न किमपि न भणति। किं न

भणति ? हे देवदत्त ! मा कर्मतापन्न शृणु, मा पश्य, मा जिघ्र, मा स्वादय, मा स्पृशेति । पुनरप्यज्ञानी ब्रूते एते शब्दादय कर्तारो मा किमपि न भणति, पर किंतु मदीयश्रोत्रादिविषयस्थानेषु समागच्छति ? आचार्या उत्तरमाहु — हे मूढ ! नचायाति विनिर्गृहीतु —एते शब्दादिपचेंद्रियविषया । कथभूता सत ? श्रोत्रेंद्रियादिस्वकीयस्वकीयविषयभावमागच्छत । कस्मात् ? इति चेत् वस्तुस्वभावादिति । यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीव स पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्या बाह्याभ्यतररत्नत्रयलक्षणाभ्या सहित सन् मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयेषु समागतेषु रागद्वेषौ न करोति, किंतु स्वस्थभावेन शुद्धात्मस्वरूपमनुभवतीति भावार्थ । यथा पचेंद्रियविषये मनोज्ञामनोज्ञे द्रियसकल्पवशेन रागद्वेषौ करोत्यज्ञानी जीव । तथा परकीयगुणपरिच्छेदरूपे परद्रव्यपरिच्छेदरूपे मनोविषयेऽपि रागद्वेषौ करोति तस्याज्ञानिजीवस्य पुनरपि सबोधन क्रियते तद्यथा—परकीयगुण शुभोऽशुभो वा चेतनोऽचेतनो वा । द्रव्यमपि परकीय कर्तृत्व कर्मतापन्न न भणति हे मनोबुद्धे ! हे अज्ञानिजनचित्त ! मा कर्मतापन्न बुध्यस्व जानीहि । अज्ञानी वदति—एव न ब्रूते किंतु मदीयमनसि परकीयगुणो द्रव्य वा परिच्छित्तिमकल्परूपेण स्फुरति प्रतिभाति । तत्रोत्तर दीयते—स चैव परकीयगुण परकीयद्रव्य वामनोबुद्धिविषयमागत विविर्गृहीतु नायाति । कस्मात् ? ज्ञेयज्ञायकसंबधस्य निषेधयितुमशक्यत्वात् इति हेतो —यद्रागद्वेषकरणं तदज्ञान । यस्तु ज्ञानी स पुन पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारण समयसार जानन् हर्षविषादौ न करोतीति भावार्थ **एवं तु** एव पूर्वोक्तप्रकारेण मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिपचेंद्रियविषयस्य परकीयगुणद्रव्यरूपस्य मनोविषयस्य वा । कथभूतस्य ? **जाणिदव्वस्स** ज्ञातद्रव्यस्य पचेंद्रियमनोविषयभूतस्येत्यर्थ । तस्य पूर्वोक्तप्रकारेण स्वरूप ज्ञात्वापि **उवसमेणेव गच्छदे मूढो** उपशमेनैव गच्छति मूढो वहिरात्मा स्वय । कथभूत ? **णिग्गहमणा** निग्रहमना: निवारणबुद्धि । कस्य सबधित्वेन ? **परस्सय** परस्य पचेंद्रियमनोविषयस्य । कथभूतस्य ? परकीमशब्दादिगुणद्रव्यरूपस्य । पुनरपि कथभूतस्य ? स्वकीयविषयमागतस्य प्राप्तस्य । पुनरपि किं रूपश्चाज्ञानी जीव । **सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो** स्वय च शुद्धात्मसवित्तिरूपा बुद्धिमप्राप्त । वीतरागसहजपरमानदरूप शिवशब्दवाच्य सुख चाप्राप्त इति । किंच यथायस्कातोपलाकृष्टा सूची स्वस्थानात्प्रच्युत्यायस्कातोपलपाषाणसमीप गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तक्षोभरूपविकृतिकरणार्थं जीवसमीप न गच्छति । जीवोऽपि तत्समीप न गच्छति निश्चयत किंतु स्वस्थाने स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति । एव वस्तुस्वभावे सत्यपि यदज्ञानी जीव उदासीनभाव मुक्त्वा रागद्वेषौ करोति तदज्ञानमिति ।

हे भगवन् पूर्व वधाधिकारे भणित—

एव णाणी सुद्धो ण सय परिणमदि रायमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादिएहिं भावेहिं ।। १ ।।

इत्यादि रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परद्रव्यजनिता रागादय इत्युक्त । अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादय परेषा शब्दादिपचेन्द्रियविषयाणा दूषण नास्तीति पूर्वापरविरोध ? अत्रोत्तर—भाहतत्र वधाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यत्वात् ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमिति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिता. । अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता न चाज्ञानी जीव स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभि परिणमति, तेन कारणेन परेषा शब्दादिपचेंद्रियविषयाणा दूषण नास्तीति भणित । तत कारणात् पूर्वापरविरोधो नास्ति इति । एव निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गभूत निश्चयकारणसमयसारव्यवहारकारणसमयसारद्वयमजानन् सन्नज्ञानी जीव स्वकीयबुद्धिदोषेण रागादिभि. परिणमिति । परेषा शब्दादीना दूषण नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन नवमस्थले गाथादशक गत ।

अथ मिथ्यात्वरागादिपरिणतजीवस्याज्ञानचेतना केवलज्ञानादिगुणप्रच्छादक कर्मवध जनयतीति प्रतिपादयति—

टीका—'रसदि तूसदि य' इत्यादि- एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय आदि की उत्तरोत्तर दुर्लभ परम्परा उसके क्रम मे भूतकालीन अर्थात् बीते हुए अनन्त काल मे देखे, सुने और अनुभव किये मिथ्यात्व और

कपायादि रूप विभाव परिणाम उनके वशवर्तीपने से जो अत्यन्त दुर्लभ है, और जो कथचित् कालादि लब्धि के वश से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियो का और चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने से होने वाला पट्द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्त तत्व, नव पदार्थ आदि के श्रद्धान और ज्ञान के साथ साथ रागद्वेष के त्याग रूप ऐसा भेद रत्नत्रय तदात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग ही है नाम जिसका ऐसे व्यवहार कारण समयसार के द्वारा जो साध्य है और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्धात्म तत्व उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप ऐसा जो अभेद रत्नत्रय तदात्मक जो निर्विकल्प समाधी स्वरूप है तथा जो अनन्त केवल ज्ञानादि चतुष्टय की अभिव्यक्ति रूप कार्य समयसार का उत्पादक है ऐसे निश्चय कारण समयसार के हुए विना यह अज्ञानी जीव रोष करता है और सतुष्ट होता है। क्या करके ? सुनकर, किनको सुनकर ? (अह भणिदो) इसने मुझे कहा इस प्रकार सुनकर (णिदिय सथुय वयणाणि) निंदा और स्तुति के वचनो को सुनकर। कैसे है वचन ! (पोग्गला परिणमति वहुयाणि) नाना प्रकार भाषा वर्गणा योग्य पुग्दल द्रव्य से वने हुये नाना प्रकार के निन्दा और स्तुति के वचन रूप परिणमन करते हैं। परन्तु ज्ञानी तो व्यवहार मोक्ष मार्ग और निश्चय मोक्ष मार्ग जो पहले कह आये हैं उन दोनो स्वरूप जो दो प्रकार का कारण समयसार है उसको जानकर इन वहिरग इष्ट अनिष्ट विपयो मे राग द्वेप नही करता है यह यहा पर इस कथन का भावार्थ है। (पुग्गल दव्व सद्दत्तपरिणद) मर जावो या जीते रहो इत्यादि रूप निन्दा और स्तुति को लिए हुए जो भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य हैं, (तस्स जदि गुणो अण्णो) उस पुद्गल द्रव्य का गुण धर्म यदि शुद्धात्मा के स्वरूप से पृथक रूप है जडता लिये हुए हैं तो फिर उससे जीव को क्या हानि लाभ है ? कुछ भी नही। इस प्रकार कहकर फिर भी पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनो से रहित जो जीव है उसे सम्वोधन कर कहते हैं कि हे भाई ! जो निन्दा और स्तुति रूप मे परिणत हुए शव्द वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्ध है (तह्मा ण तुम भणिदो किंचिवि) उन्होने तुमसे कुछ भी नही कहा है कि (किं रूससे अवुहो) हे अवुध, वहिरात्मन् ! तू क्यो रोप करता है इत्यादि। तथा फिर भी व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनो से रहित जो अज्ञानी जीव है उसी को सम्वोधन कर कहते हैं कि हे अज्ञानिन् ! शव्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शात्मिक मनोज्ञ या अमनोज्ञ ऐसे जो पाचो इन्द्रियो के विषय हैं वे सव तो तुम्हे कुछ भी नही कहते हैं कि हे देवदत्त ! तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सू घ, तू मुझे चख, तू मुझे छूले। इस पर अज्ञानी जीव वोलता है कि यद्यपि ये शव्दादि तो मुझे कुछ नही कहते हैं किन्तु ये शव्दादि मेरे श्रोत्रादि इन्द्रियो के विषय वनने को आया करते हैं तो आचार्य इस पर उत्तर देते हैं कि हे मूढ ! ये पाचो इन्द्रियो के विपय भोग शव्दादि है सो तेरे पास चलाकर आते भी नही है किन्तु इनका तो ऐसा स्वभाव ही है कि अपनी २ श्रोत्रादि इन्द्रियो के विपय हुआ करते हैं (फिर भी तू इनको अच्छा वुरा मानकर इनमे राग द्वेप करता है यह अज्ञान है) वाह्य रत्नत्रय और अभ्यन्तर रत्नत्रय है क्रम से लक्षण जिसका ऐसे पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनो से युक्त होता हुआ जो परम तत्वज्ञानी जीव है, वह तो आप्राप्त (आये) हुये इन अच्छे या वुरे शव्दादि रूप पाचो इन्द्रियो के विपयो मे रागद्वेप नही करता है अपितु वह तो स्वस्थ भाव के द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप का ही अनुभव करता रहता है ऐसा भावार्थ है। जैसे अज्ञानी जीव पचेन्द्रियो के विषय मे भले और वुरे का सकल्प करके रागद्वेप करता है वैसे ही अज्ञानी जीव दूसरे के गुण के वारे मे विचार करने रूप और दूसरे द्रव्य का विचार करने रूप मन के विपय मे भी रागद्वेष करता रहता है। उस अज्ञानी जीवको यहा सवोधन किया जा रहा है कि हे भाई ! देख, दूसरे का शुभ या अशुभ तथा चेतन और अचेतन रूप गुण

है वह तथा पर का जो द्रव्य है वह तेरे मनको कभी ऐसा नही कहता है कि हे मनोवुद्धे ! हे अज्ञानिजन चित्त ! तू मुझे जानले, मानले । इस पर अज्ञानी प्राणी बोलता है कि ऐसा तो वह नही कहता है किन्तु मेरे मन मे पर का गुण या द्रव्य जानकारी के रूप में प्रस्फुरित होता है प्रतिभासता है । तो इसका उत्तर यह है कि पर का गुण या द्रव्य जो तेरे मन के विचार का विषय हुआ है वह तुझे ग्रहण करने के लिये तो कुछ कहता ही नही है, हा, उसके साथ में तेरे मन का जो ज्ञेय ज्ञायक सबध है वह तो दूर किया नही जा सकता है सो उसके जानलेने मे तो कोई हानि नही है, किन्तु तू या तेरा मन वहा पर रागद्वेष क्यो कर लेता है ? यह रागद्वेष करना या उसे अच्छा बुरा मान लेना ही तेरा अज्ञान भाव है । हां, पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार को जानने वाला ज्ञानी होता है, वह वहा हर्ष विषाद नही करता है यही तात्पर्य है । (एवतु) इस प्रकार जानने योग्य पचेन्द्रियो के विषय भले और बुरे शब्दादि तथा मन के विषय जो पर के गुण और द्रव्य उन (जाणिदव्वस्स) मन और इन्द्रियो के विषय को जानकर भी मूढ अज्ञानी जीव (उवसमणेव गच्छदे) उपशम भाव को प्राप्त नही होता है, शान्त नही रहता है किन्तु (णिग्गहमणा) वह तो अपने जानने मे आये हुए (परस्सय) दूसरे के शब्दादि गुण या द्रव्य रूप उन पचेन्द्रिय और मन के विषय भूत वस्तु का निग्रह करना चाहता है क्योकि (सय च वुद्धि सिवमपत्तो) स्वय शुद्धात्मा के सवेदन स्वरूप निर्दोष बुद्धि को प्राप्त नही हो रहा है अर्थात् शिव शब्द के द्वारा कहे जाने योग्य वीतराग और सहज परमानन्द स्वरूप सुख को नही पा रहा है ।

साराश यह है कि चुम्बक पाषण से खेंची हुई लोह शलाका अपने स्थान से च्युत होकर चुम्बक पाषाण के पास पहुँच जाती है वैसे ही शब्दादिक इस जीव के चित्त को विकृत बनाने के लिए जीव के पास नही जाया करते है तथा जीव भी उनके पास नही जाता है अपितु अपने स्थानमे अपने ही रूप रहता है ऐसा वस्तुका का स्वभाव है । फिर भी यह अज्ञानी जीव अपने उदासीन भाव को छोड़ कर रागद्वेष करने लगता है यह इसका अज्ञान भाव है । इस पर कोई शंका करता है कि हे भगवन् ! आपने वधाविकार मे तो यह वताया था कि “एव णाणी सुद्धो ण सय परिणमदि रायमादीर्हि । राइज्जदि अण्णेहि दु सो रत्तादि एहि भावेहि ।।” अर्थात् ज्ञानी जीव रागादिकों का करने वाला नही किन्तु रागादि भाव तो पर द्रव्य जनित होते हैं किन्तु आप ही यहा कह रहे है कि रागादि भाव इस आत्मा की अपनी ही बुद्धि के दोष से पैदा हुए हैं, इसमें दूसरो का किन्ही का भी कोई दोष नही है, सो यह वात तो पूर्वापर विरुद्ध है । आचार्य देव इसका उत्तर देते हैं कि हे भाई ! वहा वन्धाविकार के व्याख्यान मे ज्ञानी जीव की मुख्यता है सो ज्ञानी जीव तो रागादिरूप मे परिणमन करता नही है, इसलिये वहां पर उनको परद्रव्य जनित वता आये हैं । किन्तु यहा पर तो अज्ञानी की मुख्यता है जो कि अज्ञानी जीव अपनी बुद्धिके दोष से परद्रव्य का निमित्तमात्र लेकर रागादि के रूप मे परिणमन करता है इसलिये पर वस्तु जो शब्दादिरूप पचेन्द्रियो के विषय हैं उनका कोई दोष नही है ऐसा कहा है, इसमे पूर्वापर विरोध नही है ।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग स्वरूप जो निश्चय कारण समयसार और व्यवहार कारण समयसार है उन दोनो को नही जानता हुआ अज्ञानी जीव अपनी ही बुद्धि के दोषसे रागादिके रूप में परिणमन करता है । पर पदार्थरूप जो शब्दादि है उनका इसमे कोई दोष नही है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यतासे नवमे स्थलमे दश गाथाए पूर्ण हुई ।। ३९९ से ४०८ तक ।।

विशेषार्थ —यहा कार्य समयसार और कारण समयसार तथा व्यवहार मोक्षमार्ग तथा निश्चय मोक्षमार्ग के विषय मे कहा गया है । समयसार नाम तो परमात्मा का है, जिसके विषय में यह ससार का अज्ञानी

प्राणी भूला हुआ विषय कषायो में उलझा रहता है। वह किसी भी प्रकार से इन विषय कषायो को भुलाकर तथा परमात्मा को जान पहचानकर आप आत्मा से परमात्मा वन जाय यहा यह कर्त्तव्य है। परमात्मा वन जाने का नाम तो कार्य समयसार है, और परमात्मा से पूर्व की सन्निकट सवधित अवस्था का नाम कारण समयसार है, जिसको स्पष्ट अन्तरात्मा कहा जाता है। यह कारण समयसार ही मोक्षमार्ग है जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय स्वरूप है। यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का है। जव अनादिकाल का भूला भटका शरीर और आत्मा को एक समझने वाला अज्ञानी जीव भाग्योदय वश सद्गुरुओ के निकट पहुँचता है और सुनता है कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है क्योकि शरीर तो जड और नाशवान है और आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। ऐसी दशामे शरीर को पुष्ट वनाये रखने के लिए पाप पाखण्ड करने की क्या आवश्यकता है? तव इस गुरु की वाणी पर विश्वास लाते हुए वह शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न सोच समझकर पापो से दूर हो जाता है। यह भिन्न रत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग हुआ। इसके अनन्तर-फिर इस आत्मा का ससार की इन वाह्य वातों से वास्तविक सवंध न होने के कारण आत्मा आत्मतल्लीन हो जाता है आत्मा को जानने, मानने और पहिचानने मे लग रहता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि मे तल्लीन हो जाता है यह अभिन्न रत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग है। इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग मे पूर्वोत्तर काल का भेद होकर परस्पर मे साधन और साध्यपना पाया जाता है। व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है जो पूर्व में होता है किन्तु निश्चय मोक्षमार्ग उस व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा साध्य होता है प्राप्त करने योग्य होता है। एव दोनो ही मोक्षमार्ग मुमुक्षु के लिए उपयोगी होते हैं किन्तु जो इन दोनो ही प्रकार के मोक्षमार्गों से रहित होता है वह मोही जीव तो इन वाह्य के विषय कषायो मे उलझा हुआ रहकर निरन्तर कर्मवन्ध करता रहता है।

आगे कहते हैं कि मिथ्यात्व व रागादि परिणत जीव के अज्ञान चेतना होती है वह केवल ज्ञानादि गुणो को प्रच्छादन करने वाली कर्म वध को पैदा करती है —

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणदि कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४०९॥
वेदंतो कम्मफलं मयेकदं जो दु मुणदि कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४१०॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो दु हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधदि वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥४११॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं यस्तु करोति कर्मफलं।
स तत्पुनरपि वध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥४०९॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं यस्तु जानाति कर्मफलं।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥४१०॥

वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति चेतयिता ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ।।४११।।

अर्थ—उदय मे आये हुए कर्म को भोगता हुआ जो जीव उस कर्म को या कर्म के उदय को अपना लेता है वह दु ख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्म बन्ध को फिर से करने लगता है । वह अपनाना दो प्रकार से है एक तो यह है कि कर्म मेरा है मैंने किया है इत्यादि यह तो कर्म चेतना है, और दूसरा यह—कि मैं इस कर्म के उदय से सुखी हो रहा हूँ या दु खी हो रहा हू ऐसा सवेदन करना सो कर्म फल चेतना है । यह दोनो प्रकार की चेतना अज्ञान चेतनामें गर्भित होती हैं जिसके होने से यह जीव ससार के बीज रूप आठ प्रकार के कर्म को फिर से बाधने लगता है ।।४०६-४१०-४११।।

तात्पर्यवृत्ति—ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद्द्विविधा भवति । इय तावदज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते—उदयागतं शुभाशुभ कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीव स्वस्थभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीय कर्मेति भणति । मया कृत कर्मेति च ये भणति । स जीव पुनरपि तदष्टविध कर्म बध्नाति । कथभूत ? बीज कारण । कस्य ? दु खस्य । इति गाथाद्वयेनाज्ञानरूपा कर्म चेतना व्याख्याता । कर्मचेतना कोऽर्थ. ? इति चेत् मदीयं कर्म मया कृत कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन—ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरण यत्, सावधकारणभूता कर्मचेतना भण्यते । उदयागत कर्मफल वेदयन् शुद्धात्मस्वरूपमचेतयमानो मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयनिमित्तेन य सुखितो दु खितो वा भवति स जीव पुनरपि तदष्टविध कर्म बध्नाति । कथभूत ? बीज कारण । कस्य ? दु खस्य । इत्येकगाथया कर्मफलचेतना व्याख्याता । कर्मफलचेतना कोऽर्थ ? इति चेत् स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासभव व्यक्ताव्यक्तस्वभावेनेहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेण हर्षविषादमय सुखदु खानुभवन यत्, सा बधकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते । इय कर्मचेतना कर्मफलचेतना च द्विरूपापि त्याज्या बधकारणत्वादिति । तत्र तयोर्द्वयो कर्मचेतनाकर्मफलचेतनयोर्मध्ये पूर्वं तावन्निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनास्वरूप यत्पूर्वं व्याख्यात तत्र स्थित्वा शुद्धज्ञानचेतनाबलेन कर्मचेतनासन्यासभावना नाटयति । कर्मचेतनात्यागभावना कर्मबधविनाशार्थं करोतीत्यर्थ । तद्यथा—

यदहमकार्षं यदहमचीकर यदह कुर्वंतमप्यन्य प्राणिन समन्वज्ञासिप । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पड्सयोगेनैकभग । यदहमकार्षं यदहमचीकर यदह कुर्वंतमप्यन्य प्राणिन समन्वज्ञासिपं । केन ? मनसा वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पचसयोगेन, एकैकापनयनेन भगत्रय भवति । संयोगेनेत्याद्यक्षसंचारेणैकोनपंचाशद्भ गा भवतीति टीकाभिप्राय । अथवा त एव सुखोपायेन कथ्यते । कथ ? इति चेत् कृत कारितमनुमतमिति प्रत्येक भगत्रय भवति । कृतकारितद्वय कृतानुमतद्वय कारितानुमतद्वयमिति द्विसयोगेन च भगत्रय जात । कृतकारितानुमतत्रयमिति त्रिसयोगेनैको भग इति सप्तभगी । तथैव च मनसा वाचा कायेनेति प्रत्येकभगत्रय भवति । मनोवचनद्वय मन कायद्वय वचनकायद्वयमिति द्विसयोगेन भगत्रय जात । मनोवचनकायत्रयमिति च त्रिसयोगेनैको भग इयमपि सप्तभगी । कृत मनसा सह, कृत वाचा सह, कृत कायेन सह, कृत मनोवचनद्वयेन सह, कृत मन कायद्वयेन सह, कृत वचनकायद्वयेन सह, कृत मनोवचनकायत्रयेण सहेति कृते निरुद्धे विवक्षिते सप्तभगी जाता यथा । तथा कारितेऽपि तथाअनुमतेऽपि, तथा कृतकारितद्वयेऽपि, तथा कृतानुमतद्वयेऽपि, तथा कारितानुमतद्वयेऽपि, तथा कृतकारितानुमतत्रये चेति प्रत्येकमनेन क्रमेण सप्तभगी योजनीया । एव-एकोनपचाशद्भ गा भवतीति प्रतिक्रमणकल्प समाप्त ।

इदानीं प्रत्याख्यानकल्प कथ्यते—तथाहि—यदह करिष्यामि यदह कारयिष्यामि यदह कुर्वंतमप्यन्य प्राणिन समनुज्ञास्यामि । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् पट्सयोगेनैको भग । यथा यदह करिष्यामि

यदह् कारयिष्यामि यदहं कुर्वंतमप्यन्य प्राणिन ममनुज्ञास्यामि । केन ? मनमा वाचा चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववदेकैकापनयनेन पचसयोगेन भगत्रय मवति । एव पूर्वोक्तक्रमेणएकोनपंचाशद्भ गा ज्ञातव्या. । इति प्रत्याख्यानकल्प. समाप्त. ।

इदानीमालोचनाकल्प. कथ्यते तद्यथा—यदह् करोमि यदह् कारयामि यदह् कुर्वंतमप्यन्य प्राणिन समनुजानामि । केन ? मनमा वाचा कायेनेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् पट्सयोगेनैकभंगः । तथा यदह् करोमि यदह् कारयामि यदह् कुर्वंतमप्यन्य प्राणिन समनुजानामि केन ? मनसा वाचेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति-एकैकापनयनेन पचसयोगेन भगत्रय भवति । एव पूर्वोक्तप्रकारेण एकोनपचाशद्भ गा ज्ञातव्याः । इत्यालोचनाकल्प समाप्त । कल्प पर्व परिच्छेदोऽधिकारोऽध्याय प्रकरणमित्याद्येकार्था ज्ञातव्या । एव निश्चयतिक्रमण-निश्चयप्रत्याख्यान-निश्चयालोचनाप्रकारेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनारूपेण गाथाद्वयव्याख्यानेन कर्मचेतनासन्यासभावना समाप्ता । इदानी शुद्धज्ञानचेतनाभावनावलेन कर्मफलचेतनासन्यासभावना नाटयति करोतीत्यर्थ ।

तद्यथा—नाह् मतिज्ञानावरणीयकर्मफल भु जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये सम्यगनुभवे इत्यर्थ । नाह् श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफल भु जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव मचेतये । नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफल भु जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव मचेतये । नाह् मन पर्यज्ञानावरणीयफल भु जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । नाह् केवलज्ञानावरणीयफल भु जे । किं तर्हि करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये इति पचप्रकारज्ञानावरणीयरूपेण कर्मफलचेतनासन्यासभावना व्याख्याता । नाह् चक्षुर्दर्शनावरणीयफल भु जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । एव टीकाकथितक्रमेण—

पण णव दु अट्ठवीसा चउ तिय णउ दीय दुण्णि पचेव ।
वावण्णहीण वियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥१॥

इमा गाथामाश्रित्य अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमितोत्तरप्रकृतीना कर्मफलसन्यासभावना नाटयितव्या, कर्तव्येत्यर्थं । किंच जगत्त्रयकालत्रयसर्वमनोवचनकायकृतकारितानुमतख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाक्षारूपनिदानबधादिसमस्तपरद्रव्यालवनोत्पन्नशुभाशुभसकल्पविकल्परहितेन शून्येन चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसजातवीतरागसहजपरमानदरूपसुखरसास्वादपरमसमरसीभावानुभवसालवने भरितावस्थेन केवलज्ञानाद्यनतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसाररूपेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनावष्टभेन कृत्वा कर्मचेतनासन्यासभावना कर्मफलचेतनासन्यासभावना च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति भावार्थ । एव गाथाद्वय कर्मचेतनासन्यासभावनामुख्यत्वेन, गाथैका कर्मफलचेतनासन्यासभावनामुख्यत्वेनेति दशमस्थले गाथात्रयं गत ।

अथेदानी व्यावहारिकजीवादिनवपदार्थेभ्यो भिन्नमपि टंकोत्कीर्णज्ञायकैकपपारमार्थिकपदार्थसज्ञं गद्यपद्यादिविचित्ररचनारचितशास्त्रै शब्दादिपचेन्द्रियविषयप्रभृतिपरद्रव्यैश्च शून्यमपि रागादिविकल्पोपाधिरहित सदानदैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थपरमात्मतत्व प्रकाशयति ।

टीका—ज्ञान और अज्ञानके भेद से चेतना दो प्रकार की होती है एक ज्ञान चेतना और दूसरी अज्ञान चेतना । अब यहा पर तीन गाथाओ से अज्ञान चेतना का वर्णन किया जाता है-उदय मे आये हुए शुभ या अशुभ कर्म को भोगता हुआ यह अज्ञानी जीव अपने स्वस्थ भावसे भ्रष्ट होकर इस प्रकार कहता जानता है कि यह मेरा कर्म है तथा इसको मैंने ही किया है ऐसा सोचने वाला जीव फिर से आठ प्रकार

के ज्ञानावरणादि कर्म को बाधता है। कैसा है वह कर्म ? बीज है, कारण है, किसका ? कि दु ख का। इस प्रकार दो गाथाओ मे कर्म चेतना का व्याख्यान हुआ। कर्म चेतना का क्या अर्थ है ? कि यह मेरा है, मैंने ही इसे किया है इस प्रकार अज्ञान भाव के द्वारा वीतरागमय जो शुद्धात्मानुभूति है उससे च्युत हुए जीव का जो इष्ट अनिष्ट रूप से इच्छापूर्वक मन, वचन और काय की चेष्टा करना है वह कर्म चेतना कहलाती है जो नवीन बध का कारण होती है। इसी प्रकार उदय मे आये हुए कर्म के फल को भोगता हुआ अतएव शुद्धात्मा के स्वरूप को नही अनुभव करता हुआ जो जीव मनोहर अथवा अमनोहर रूप इन्द्रियो के विषयो के निमित्त से सुखी अथवा दु खी होता है वह जीव दु.खके बीज या कारण भूत ज्ञानावरणादि आठ कर्मो को फिर से बाधने लग जाता है। इस प्रकार एक गाथा से कर्म फल चेतनाका व्याख्यान हुआ। कर्मफल चेतना का यह अर्थ है कि स्वस्थ भाव से रहित अज्ञान भाव के द्वारा यथा सभव व्यक्त अथवा अव्यक्त (अप्रकट) रूप से इच्छा पूर्वक इष्ट और अनिष्ट विकल्प के रूप मे हर्ष विषादमय सुख या दु ख का अनुभव होना सो कर्म फल चेतना कहलाती है जो बध का कारण है। इस प्रकार कर्म चेतना और कर्मफल चेतना ये दोनो प्रकार की चेतना बध का कारण होने से त्यागने योग्य है वही कर्म चेतना और कर्मफल चेतना इन दोनो मे पहले कर्म चेतना के संन्यास की भावना को नचाते है अर्थात् कर्मबध को निवारण करने के लिये कर्म चेतना के त्याग की भावना करते हैं सो निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना जिनका स्वरूप पहले बताया जा चुका है उसमे स्थित होकर शुद्ध ज्ञान चेतनाके बल के द्वारा उस कर्म चेतना के त्याग की भावना करते हैं (क्योकि बिना ज्ञान चेतना के बल के कर्म चेतना के त्याग की भावना होना असभव है—सभव नही है) इसका स्पष्टी करण करते हैं.—

जो मैंने पहले किया, मैंने पहले किसी से करवाया अथवा करते हुये को भला माना, मन से वचन से अथवा काय से किसी भी प्रकार वह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार यह छहो के सयोगरूप पहला भग हुआ। मैंने किया, अथवा किसी से करवाया और किसी भी करते हुए को भला माना, मनसे और वचन से वह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार यह पाच सयोग का एक भग हुआ। एक एक को हटा देने से तीन भग पाच सयोगी होगे। इस प्रकार सयोग करने पर अक्ष सचार के द्वारा सारे उनचास (४९) भग हो जाते है यही टीकाकार के कहने का अभिप्राय है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी टीकामे बताया है। अब यहा और भी सरल रूप से बताया जा रहा है। देखो-कृत, कारित और अनुमत इस प्रकार प्रत्येक तीन तीन भग हुए, फिर कृत, कारित ये दोनो, कृत अनुमत ये दोनो, कारित अनुमत ये दोनो, इस प्रकार दो दो के सयोगसे तीन भग हुए। और कृत कारित और अनुमत इन तीनो के सयोग से एक भग हुआ। इस प्रकार सब मिलकर एक सप्तभगी हुई। उसी प्रकार मनसे, वचन से, कायसे प्रत्येक को लेकर तीन भग हुए। फिर मन वचन ये दो, मन और काय ये दो, वचन व काय दो, इस प्रकार दो के सयोग से तीन भग हुए। मन वचन और काय इन तीनो के सयोगसे एक भग हुआ। इस प्रकार यह दूसरी सप्त भगी हुई। मन के साथ करना, वचन के साथ करना, और काय के साथ करना, मन और वचन दोनो के साथ करना, मन और काय दोनो के साथ करना, वचन और काय दोनो के साथ करना, और मन, वचन, काय इन तोनो के द्वारा करना इस प्रकार कृत का निरुद्ध अर्थात् निषेध होने पर तीसरी सप्तभगी हुई। जिस प्रकार कृत की सप्त भगी बतलाई उसी प्रकार कारित पर, अनुमत पर, तथा कृत कारित इन दोनो पर, कृत और अनुमति इन दोनो पर, और कारित

अनुमति इन दोनो पर, तथा कृत, कारित और अनुमति इन तीनो पर भी प्रत्येक से इस क्रम से सप्तभगी लगा लेना चाहिए इस प्रकार ये सब मिलकर उनचास (४९) भग होते है यह प्रतिक्रमण कल्प समाप्त हुआ ।

अब प्रत्याख्यान कल्प का वर्णन करते हैं—जो मैं करूगा, जो मै कराऊगा, करते हुए किसी अन्य को भला मानूगा, मन से, वचन से, काय से, किसी भी प्रकार से यह मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यह यह छहो के सयोग रूप पहले के अनुसार एक पहला भग हुआ । इसी प्रकार मैं करूगा, मै कराऊंगा और मैं करते हुए किसी अन्य को भला मानूगा—मन से और वचन से सो सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या होवे यह पच सयोगी भग भी पूर्व कहे अनुसार एक एक को हटा देने पर तीन प्रकार का होता है । इसी प्रकार पहले कहे अनुसार इसको फला लेने से उनचास (४९) भग हो जाते हैं । यह प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ ।

अब आलोचन कल्प को कहते है वह इस प्रकार है—जैसे कि जो मैं करता हू, कराता हू अथवा करते हुए अन्य को अच्छा मानता हूँ मन से वचन से काय ये ये सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यह पहले के के समान छहो के सयोग रूप पहला भग हुआ । इसी प्रकार जो मैं करता हू, कराता हूँ, और करते हुये अन्य प्राणी को भला मानता हू मन से वचन से, सो सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार क्रम से एक एक को कम करने पर पच सयोगात्मक तीन भग होते है । इस प्रकार पूर्वोक्त कहे अनुसार सारे मिलकर उनचास (४९) भग हो जाते है यह आलोचना कल्प समाप्त हुआ । कल्प कहो, पर्व कहो, अधिकार कहो, अध्याय कहो, परिच्छेद कहो इत्यादि सब एकार्थ नाम हैं ।

इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, और निश्चय आलोचना रूप जो शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना उस शुद्ध ज्ञान चेतना भावात्मक इन दो गाथाओ के व्याख्यान से कर्म चेतना के त्याग को भावना समाप्त हुई । अब इसके आगे शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना के बल से ही कर्मफल चेतना के सन्यास अर्थात् त्याग की भावना को करते हैं —

जैसे कि मतिज्ञानावरण कर्म के फल को नही भोगता हू । तब फिर क्या करता हू ? कि मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वभावमय आत्मा को ही भले प्रकार अनुभव करता हू । मैं श्रुतज्ञानावरण कर्म के फल को नही भोगता । तब फिर क्या करता हूँ ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । मै अवधिज्ञानावरण कर्म के फल को नही भोगता । तब फिर क्या करता हूँ ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हू । मैं मन पर्यय ज्ञानावरण कर्म के फल को भी नही भोगता । तब फिर क्या करता हूँ ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । इस प्रकार पाच प्रकार के ज्ञानावरणी कर्म के रूप मे कर्मफल सज्ञा वाली भावना का वर्णन हुआ । मैं चक्षु दर्शनावरण कर्म के फल को भी नही भोगता । तब फिर क्या करता हूँ ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हू । इस प्रकार टीका मे बताये हुए क्रम के अनुसार—

पणणवदुअट्ठवीसा चउतिय णउदीय दुण्णि पचेव ।
बावण्णहीन वियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ।।१।।

पाच ज्ञानावरण कर्म की, नव दर्शनावरण की, दो वेदनीय की, अट्ठाइस मोहनीय की, चार आयु की, तराणव (९३) नाम की, दो गोत्र की, व पाच अ तराय की इस प्रकार सव मिलाकर बावन (५२) कम दोसो (२००) अर्थात् एक सौ अडतालीस (१४८) कर्म प्रकृतियें हुई इन सव प्रकृतियो का नाशकर सिद्ध होते हैं। इस गाथा का आशय लेकर १४८ संख्या वाली उत्तर कर्मकी प्रकृतियो के फल के त्याग की भावना करने योग्य है।

भावार्थ यह है कि तीन लोक और तीनकाल से सवव रखनेवाले ऐसे जो मन, वचन, काय तथा कृत कारित और अनुमत तथा ख्याति, पूजा और लाभ एवं देखे' सुने और अनुभव किये हुए भोगो की आकाक्षारूप निदानवध उसको आदि लेकर जो समस्त परद्रव्य हैं उनके आलम्बन से उत्पन्न जो शुभाशुभ सकल्प विकल्प हैं उनसे जो रहित हैं और चिदानद एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा तत्व के समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप जो अभेद रत्नत्रय उस अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहज परमानद सुख उसके रसका आस्वाद वही हुआ परम समरसीभाव उसके अनुभव के आलम्वन से जो भरापूरा है और जो केवलज्ञानादि अनत चतुष्टय के अभिव्यक्तिरूप साक्षात उपादेयभूत कार्य समयसार का उत्पादक है और जिसमे शुद्ध ज्ञानचेतनाकी भावना का वल है ऐसे निश्चय कारण समयसार के द्वारा मोक्षार्थी जीव को कर्मचेतना के त्याग की भावना और कर्मफल चेतना के त्याग की भावना करनी योग्य है।

इस प्रकार इस दसवे स्थल मे दो गाथाए कर्म चेतना के त्याग की भावना को प्रधान लेकर और एक गाथा कर्मफल चेतना के त्याग की भावना को प्रधान लेकर इस प्रकार तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥४०९ ४१० ४११॥

विशेषार्थ —यहा यह है कि कर्म चेतना और कर्मफल चेतना पर से जव तक यह आत्मा दूर नही होता, तव तक ज्ञान चेतना पर नही पहुँच पाता है। क्योकि कर्मचेतना और कर्मफल चेतना ये दोनो अज्ञानरूप हैं, किन्तु ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञानरूप है एव ज्ञान और अज्ञान के परस्पर मे दिन और रात सरीखा विरोध है। तथा ज्ञान चेतना जव तक तक प्राप्त नही हो पाती तव तक नवीन कर्मो का उपार्जन होता ही रहता है। अत मुमुक्षु को नूतन कर्म वंध से वचने के लिए कर्म चेतना और कर्मफल चेतना से दूर हटकर ज्ञान चेतना को प्राप्त करने का अर्थात् परम समाधि मे लगे रहने का यत्न करना चाहिये।

अव यहा आगे उस परमात्म तत्व का प्रकाश करते हैं जो व्यवहारनय से कहे हुए जीव आदि नव पदार्थो से पृथक् रहने वाला है तो भी टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावरूप जो पारमार्थिक पदार्थ ऐसा नामवाला है। तथा गद्य पद्य आदि विचित्र रचना से रचे हुए शास्त्रो से व शब्द आदि पाचो इन्द्रियो के विषय को लेकर जो समस्त परद्रव्य हैं उनसे भी शून्य है तो भी रागद्वेषादि विकल्पो की उपाधि से रहित सदा आनदमई एक लक्षण को रखने वाले सुखामृत रस के आस्वाद से भरा पूरा है ऐसे उस परमात्म तत्व का व्याख्यान करते हैं—

सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥४१२॥
सद्दो णाणं ण हवदि जह्मा सद्दो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥४१३॥

रूवं णाणं ण हवदि जह्मा रूवं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥४१४॥
वण्णो णाणं ण हवदि जह्मा वण्णो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥४१५॥
गंधो णाणं ण हवदि जह्मा गंधो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥४१६॥
ण रसो दु होदि णाणं जह्मा दु रसो अचेदणो णिच्चं ।
तह्मा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा विंति ॥४१७॥
फासो णाणं ण हवदि जह्मा फासो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥४१८॥
कम्मं णाणं ण हवदि जह्मा कम्मं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥४१९॥
धम्मच्छिओ ण णाणं जह्मा धम्मो ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥४२०॥
णहवदि णाणमधम्मच्छिओ जं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥४२१॥
कालोदि णत्थि णाणं जह्मा कालो ण याणदे किंचि ।
तह्मा ण होदि णाणं जह्मा कालो अचेदणो णिच्चं ॥४२२॥
आयासंपि य णाणं ण हवदि जह्मा ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णायासं अण्णं णाण जिणा विंति ॥४२३॥
अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं ।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्ण ॥४२४॥
जह्मा जाणदि णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४२५॥
णाणं सम्मादिट्ठी दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वजं अज्झवंति वुहा ॥४२६॥ (पंचदशकम्)

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना वदंति ॥४१२॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना वदंति ॥४१३॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना वदंति ॥४१४॥
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना वंदति ॥४१५॥
गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किंचित् ।
तस्माज्ज्ञानमन्यदन्यं गंधं जिना वदंति ॥४१६॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो अचेतनो नित्यं ।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना वंदति ॥४१७॥
स्पर्शो ज्ञानं न भवति यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना वंदति ॥४१८॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना वदंति ॥४१९॥
धर्मास्तिकायो न ज्ञानं यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना वदंति ॥४२०॥
न भवति ज्ञानमधर्मास्तिकायो यस्मान्न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यम धर्मं जिना वंदति ॥४२१॥
कालोऽपि नास्ति ज्ञानं यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।
तस्मान्न भवति ज्ञानं यस्मात्कालोऽचेतनो नित्यं ॥४२२॥
आकाशमपि ज्ञानं न भवति यस्मान्न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्याकाशमन्यज्ज्ञानं जिना वदंति ॥४२३॥
अध्यवसानं ज्ञानं न भवति यस्मादचेतनं नित्यं ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥४२४॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं ॥४२५॥

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतं ।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयांति बुधाः ॥४२६॥ (पंचदशकम्)

अर्थ—शास्त्र और ज्ञान एक नही है क्योकि शास्त्र कुछ भी नही जानता (वह तो जड है) इसलिये ज्ञान अन्य भिन्न वस्तु है और शास्त्र उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान कहते हैं। शब्द भी ज्ञान नही है क्योकि शब्द भी कुछ नही जानता इसलिये ज्ञान अन्य है और शब्द उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवानने कहा है। रूप भी ज्ञान नही है क्योकि रूप भी कुछ नही जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है रूप उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। वर्ण भी ज्ञान नही है क्योकि वर्ण कुछ नही जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है और वर्ण उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। गध भी ज्ञान नही है क्योकि गध भी कुछ नही जानता इसलिए ज्ञान भिन्न वस्तु है गध उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। रस भी ज्ञान नही है क्योकि रस तो नित्य अचेतन जड है इसलिये ज्ञान उससे अन्य है रस उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। स्पर्श भी ज्ञान नही है क्योकि स्पर्श भी कुछ नही जानता इसलिये ज्ञान भिन्न वस्तु है स्पर्श उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। कर्म भी ज्ञान नही है क्योकि कर्म भी कुछ नही जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है कर्म उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। धर्म द्रव्य भी ज्ञान नही है क्योकि धर्म द्रव्य कुछ नही जानता है, इसलिये ज्ञान अन्य है धर्म द्रव्य उससे अन्य है ऐसा जिन भगवानने कहा है। अधर्म द्रव्य भी ज्ञान नही है क्योकि अधर्म द्रव्य भी कुछ नही जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है अधर्म द्रव्य उससे भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। काल द्रव्य भी ज्ञान नही है क्योकि काल द्रव्य भी कुछ नही जानता है, इसलिये काल ज्ञान नही होता क्योकि काल नित्य अचेतन है जड है। आकाश भी ज्ञान नही है क्योकि आकाश भी कुछ नही जानता है इसलिये ज्ञान अन्य वस्तु है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। उसी प्रकार अध्यवसान भी ज्ञान नही है क्योकि अध्यवसान अचेतन है इसलिए ज्ञान अन्य वस्तु है और अध्यवसान उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जीव जबकि सदा जानता है इसलिये जीव ज्ञायक है वह ज्ञानी है और ज्ञान उस ज्ञायक से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये। इसलिये ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही सयम है, ज्ञान ही अगपूर्वगत सूत्र है और धर्म और अधर्म ज्ञान ही है और दीक्षा भी ज्ञान ही है ऐसा ज्ञानीजन अगीकार करते हैं ॥४१२ से ४२६ तक ॥

तात्पर्यवृत्ति—न श्रुत ज्ञान—अचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेक । न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेक । न रूप ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेक । न वर्णो ज्ञानमचेनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेक । न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगधयोर्व्यतिरेक । न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेक । न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेक । न कर्म ज्ञान अचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेक । न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेक । नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेक । न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेक । नाकाश ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यनिरेक । नाध्यवसान ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेक । इत्येव ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यै सह व्यतिरेक निश्चयसाधितो द्रष्टव्य । अथ जीव एवैको ज्ञान चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेक । नच जीवस्य स्वय ज्ञानत्वात् ततो व्यतिरेक कश्चनापि शकनीय । एव सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमेव सयम, ज्ञानमेवागपूर्वरूप सूत्र, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेकोनिश्चयसाधितो द्रष्टव्य ।

अथैव सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण चातिव्याप्तिमव्याप्ति च परिहरमाणमनादिविभ्रममूल धर्माधर्मरूप परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमासाद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिस्वरूप स्वसमयमवाप्य मोक्ष-

मार्गमात्मन्येव परिणत कृत्वा समवाप्तसपूर्णविज्ञानघनभाव हानोपादानशून्य साक्षात्समयसारभूत परमार्थरूप शुद्धज्ञानमेकमेवावस्थित द्रष्टव्य ।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियत बिभ्रत्पृथग्वस्तुतामादानोज्झनशून्यमेतदमल ज्ञान तथावस्थित ।
मध्याद्यतविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभास्वर , शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥१॥
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेपतस्तत्तथात्तमादेयमशेपतस्तत् यदात्मन सहृतसर्वशक्ते पूर्णस्य सधारणमात्मनीह ॥२॥

तपश्चरण च यत् केन नयेन एतत्सर्व ज्ञान मन्यते ? इति चेत् मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यंतस्वकीयस्वकीयगुणस्थानयोग्यशुभाशुभशुद्धोपयोगाविनाभूतविवक्षिताशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेणेति । तत. स्थित शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवादिव्यावहारिक नवपदार्थेभ्योभिन्नमादिमध्यातमुक्तमेकमखडप्रतिभासमय निजनिरजनसहजशुद्धपरमसमयसाराभिधान सर्वप्रारोपादेयभूत शुद्धज्ञानस्वभाव शुद्धात्मतत्त्वमेव-श्रद्धेय ज्ञेय ध्यातव्यमिति । एव व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तव स्थित इति व्याख्यानमुख्यत्वेन एकादशमस्थले पचदश गाथा गता ।

किंच—मत्यादिसज्ञानपचक पर्यायरूप तिष्ठति शुद्धपारिणामिकभावस्तु द्रव्यरूप । जीवपदार्थो हि न च केवल द्रव्य, न च पर्याय , किंतु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायधर्माधर्मभूतो धर्मी । तत्रेदानी केन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति विचार्यते—केवलज्ञान तावत्फलभूतमग्रे भविष्यति । अवधिमन पर्ययज्ञानद्वयच **रूपिश्ववधे । तदनतभागे मन. पर्ययस्य** इति वचनात्-मूर्तविषयत्वादेव मूर्त. मोक्षकारण न भवति । तत सामर्थ्यदेव बहिर्विपयमतिज्ञानश्रुतानसज्ञविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्माभिमुखपरिच्छित्तिलक्षण निश्चयनिर्विकल्पभावरूपमानमतिज्ञानश्रुतज्ञान सज्ञ पचेद्रियाविपयत्वेनातीद्रिय शुद्धपारिणामिकभावविपये तु या भावनातद्रूपनिर्विकारस्वसवेदनशब्दवाच्य ससारिणा क्षायिकज्ञानाभावात् । क्षायोपशमिकमपि विशिष्टभेदज्ञान मुक्तिकारण भवति कस्मात् ? इति चेत् समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पोपाधिरहित-स्वशुद्धात्मभावनोत्थपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादैकाकारपरमसमरसीभावपरिणामेन कार्यभूतस्यानतज्ञानसुखादिरूपस्य मोक्षफलस्य विवक्षितैकशुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानकारणत्वादिति । तथा—चोक्त

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१॥

अत परमेव मति शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मतत्त्वस्य देह एव नास्ति कथमाहारो भविष्यत्युपदिशति—

टीका —शास्त्र भी ज्ञान नही है क्योकि शास्त्र तो अचेतन है, इसलिये ज्ञानमे और शास्त्र मे भेद है भिन्नता है । शब्द भी ज्ञान नही है क्योकि वह भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और शब्द मे भिन्नता है पृथकपना है । रूप भी ज्ञान नही है क्योकि रूप भी अचेतन है इसलिये ज्ञान मे और रूपमे परस्पर भेद है । रूप भी ज्ञान नही है क्योकि रूप भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे और वर्ण मे परस्पर भेद है । गध भी ज्ञान नही है क्योकि गध भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और गध मे परस्पर भेद है रस भी ज्ञान नही है क्योकि रस भी अचेतन है इमलिये ज्ञान और गध मे परस्पर भेद है । स्पर्श भी ज्ञान नही है क्योकि स्पर्श अचेतन है इसलिये ज्ञान मे और स्पर्शमे भेद है । कर्म भी ज्ञान नही है क्योकि कर्म भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे और कर्म मे पृथकता है । धर्मद्रव्य भी ज्ञान नही है क्योकि धर्मद्रव्य भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे और धर्मद्रव्य में भिन्नता है अधर्मद्रव्य भी ज्ञान नही है क्योकि अधर्मद्रव्य भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे

और अधर्मद्रव्य मे भिन्नता है। कालद्रव्य भी ज्ञान नही है क्योकि काल भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे और काल में भिन्नता है आकाश भी ज्ञान नही है क्योकि आकाश भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे और और आकाश मे पृथकपना है। अध्यवसान भी ज्ञान नही है क्योकि अध्यवसान भी अचेतन हैं इसलिये ज्ञान और अध्यवसान मे भिन्नता है। इस प्रकार ज्ञान का सब ही द्रव्यो के साथ व्यतिरेक है। यह निश्चय के द्वारा सिद्ध किया हुआ है ऐसा मान लेना चाहिए। अब जो एक जीव है वह ज्ञान है क्योकि वह चेतना है इसलिये ज्ञानमे और जीव मे अभेद है। जीव का स्वभाव ही ज्ञानमय है इससे जीव की और ज्ञान की भिन्नता है ऐसी शका नही करनी चाहिये। जब यह बात निश्चित् है तब फिर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही सयम है, ज्ञान हो अगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म और अधर्म है, ज्ञान ही दीक्षा है, इस प्रकार ज्ञान का जीव की प्रत्येक पर्याय के साथ अभेद है यह निश्चयसे सिद्ध किया हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

अब इस प्रकार सब परद्रव्यके साथ भेद होने से और जीव के जो दर्शनादि स्वभाव है उनके साथ अभेद होने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को दूर करता हुआ जो परसमय है जो कि अनादिसे होनेवाले विभ्रमका मूल कारण है और धर्म अधर्म स्वरूप है उसको दूर हटाकर और अपने आप प्रव्रज्यारूप प्राप्त होकर अपने आत्मा मे ही मोक्षमार्ग को प्राप्त करने और प्राप्त करली है सपूर्ण विज्ञान की सघनता को जिसने और जो छोडने और ग्रहण करनेसे रहित हो चुका है, और जो साक्षात समयसार भूत है और परमार्थस्वरूप है ऐसा एक शुद्ध ज्ञान अवास्थित हुआ प्राप्त हुआ समझना चाहिये, यही बात दोनो कलशो मे अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं —

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियत विभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमे तदमल ज्ञान तदावस्थित ।
मध्याद्यतविभागमुक्तसहज स्फार प्रभाभास्वर,
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदित स्तिष्ठति ॥२३५॥
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मन सहृतसर्वशक्ते. पूर्णस्य सधारणमात्मनीह ॥२३६॥

अर्थात्—यह शुद्ध ज्ञान उस तरह अवस्थित हुआ है जैसा कि उसकी महिमा निरन्तर बनी रहे, प्रतिपक्षी जो कर्म हैं वे उसे दवा नही सकते। ऐसा वह सदा उदयमान ज्ञान अन्य सभी द्रव्यो से भिन्न अवस्थित हुआ हैं जो अपने आपमे ही निश्चित है, ससार की अन्य सभी वस्तुओ से पृथकरूप है क्योकि ससार की सव वस्तुए अचेतन है यह चेतन है और जो ग्रहण त्याग से रहित है अर्थात् शुद्ध ज्ञान होने पर उसमे कुछ भी त्याग और ग्रहण नही होता है जो रागादि मल से रहित है ऐसे उस शुद्ध ज्ञान की महिमा नित्य उदयरूप है जो महिमा आदि मध्य अन्तपनेसे रहित स्वाभाविक विस्ताररूप हुए प्रकाश के द्वारा दैदीप्यमान है ॥२३५॥

जिस ज्ञानने जो कुछ छोडनाथा वह सब कुछ छोड दिया है और जो कुछ लेने योग्य था वह सव कुछ लेलिया है और जिसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति समेटली है ऐसी आत्मा को आत्मा मे ही लगा लिया है ऐसा वह शुद्ध ज्ञान अवस्थित हो ॥२३६॥

यहा कोई प्रश्न करता है कि यह सब तो तपश्चरण है सो इसे ज्ञान किस नयके द्वारा कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर क्षीण कषाय बारहवे गुणस्थान पर्यंत अपने अपने गुणस्थान के योग्य शुभ, अशुभ अथवा शुद्धोपयोग के साथ अविनाभाव रखनेवाला जो विवक्षित अशुद्ध निश्चयनय है जो कि अशुद्ध उपादानरूप है उस अशुद्धनय के द्वारा यह सव ज्ञान माना जाता है। इस सव कथन से यह वात निश्चित हुई कि शुद्ध पारिणामिक रूप जो परमभाव उसका ग्रहण करनेवाला जो शुद्धद्रव्यार्थिक नय है वह शुद्ध उपादान स्वरूप है। उस शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के द्वारा शुद्ध ज्ञान है स्वभाव जिसका ऐसा शुद्धात्म तत्व ही श्रद्धान करने योग्य, जानने योग्य और ध्यान करने योग्य होता है। यह शुद्धात्मतत्व जीवादिक व्यवहारिक नव पदार्थों से भिन्न है और आदि मध्य अ त इन कल्पनाओ से रहित है। एक अखड प्रतिभास रूप है, अपने निरजन सहज शुद्ध परम समयसार इस प्रकार के नाम वाला है। जो सव प्रकार से उपादेयभूत है उस शुद्धात्म तत्व का श्रद्धान,ज्ञान तथा ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार व्यवहारिक नव पदार्थो मे भूतार्थनयसे वास्तवमे एक शुद्ध जीव ही स्थित है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस ग्यारहवे स्थल मे इन पन्द्रह गाथाओ का कथन किया गया।

प० जयचन्दजी का भावार्थ—सव परद्रव्यो से तो जुदा और अपने पर्यायो से अभेदरूप ऐसा ज्ञान एक दिखलाया। इसलिये अति व्याप्ति और अव्याप्ति नाम वाले लक्षण के दोष दूर होगये। क्योकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, उपयोग मे ज्ञान प्रधान है वह अन्य अचेतन द्रव्यो मे नही है इस कारण तो अतिव्याप्ति स्वरूप नही, और अपनी सव अवस्थाओ मे है इसलिये अव्याप्ति स्वरूप नही है। यहा पर ज्ञान कहने से आत्मा ही जानना क्योकि अभेद विवक्षा मे गुण और गुणी का आपस मे अभेद है इसलिए विरोध नही। यहाँ ज्ञान को ही प्रधान कर आत्मा का अधिकार है इसी लक्षण से सव पर द्रव्यो से भिन्न अनुभव गोचर होता है। यद्यपि आत्मा मे अनन्त धर्म है तो भी उनमे कोई तो छद्मस्थ के अनुभव गोचर ही नही कि उसको कहे। (फिर) छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहचाने ? नही पहचान सकता। कोई धर्म अनुभव गोचर हैं उनमे कोई अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयादि हैं वे अन्य द्रव्यो से साधारण (समान) है उनके कहने से जुदा आत्मा नही जाना जाता। कोई परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं उनको कहने से परमार्थ आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जाय ? इसलिये ज्ञान ही कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहचान सकता है। इसलिये ज्ञान को ही आत्मा कहकर इस ज्ञान मे अनादि अज्ञान से शुभ अशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मे प्रवृत्ति रूप स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग मे आत्मा को परिणमा के सपूर्ण ज्ञान को जव प्राप्त होता है तव फिर त्याग ग्रहण के लिए कुछ नही रहता। ऐसा साक्षात समयसार स्वरूप पूर्ण ज्ञान परमार्थ भूतशुद्ध ठहरे उसको देखना। यहा पर देखना भी तीन प्रकार जानना। एक तो शुद्ध नय के ज्ञान द्वारा इसका श्रद्धान करना—यह तो अविरत आदि अवस्था मे भी मिथ्यात्व के अभाव से होता है। दूसरा-ज्ञान श्रद्धान हुए वाद वाह्य सव परिग्रह का त्याग करना इसका अभ्यास करना। उपयोग को ज्ञान मे ही ठहराना। जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना श्रद्धान किया वैसा ही ध्यान मे लेकर एकाग्र चित्तको टहराना वाग्वार इसीका अभ्यास करना। सो यह देखना अप्रमत्त दशा मे होता है। सो जहा तक ऐसे अभ्यास से केवल ज्ञान प्राप्त हो वहा तक यह अभ्यास निरतर करना—यह देखना दूसरा प्रकार है। यहा तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्ध नयके आश्रय परोक्ष देखना है। और तीसरा यह है कि केवलज्ञान प्राप्त हो तव साक्षात देखना होता है। उस समय सव विभावो से रहित हुआ सवको देखने जाननेवाला ज्ञान होता है। यह पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है। यह ज्ञान है वही आत्मा है अभेद विवक्षा मे ज्ञान कहो या आत्मा कहो कुछ विरोध नही जानना।

अब (तात्पर्यवृत्तिकार के शब्दो में) विचार करते हैं—जीव मे मत्यादि पाच प्रकार के ज्ञान होते हैं वे तो पर्यायरूप हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है, जीव पदार्थ न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप ही किन्तु परस्पर सापेक्ष द्रव्य पर्यायरूप धर्मों का आधारभूत धर्मी है, वहा अब मोक्ष कौनसे धर्म से होता है यह विचार किया जाता है—सो केवल ज्ञान तो फलस्वरूप होता है जो कि आगे जाकर होगा। अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान ये दो ज्ञान "रूपिष्ववधे और तदनतभागे मन पर्ययस्य" इन सूत्रो के अनुसार मूर्त्त पदार्थ को ही विषय करने वाले है इसलिये मूर्त्त है। अत ये दोनो ज्ञान भी मोक्ष के कारण नही हो सकते। इसलिये सामर्थ्य से यह वात सिद्ध हुई कि वहिर्विषयक मतिज्ञान श्रुतज्ञान के विकल्पो से रहित होने के कारण जो ज्ञान अपने शुद्धात्मा के अभिमुखरूप परिच्छित्ती (जानकारी) ही है लक्षण जिसका ऐसा तथा निश्चितरूप से निर्विकल्प भावनारूप मानस मतिज्ञान श्रुतज्ञान है नाम जिसका तथा पचेन्द्रिय का विषय न होने से अतीन्द्रिय है ऐसा और जो शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय मे जो भावनारूप होता है तथा निर्विकार स्वसवेदन शब्द के द्वारा जिसको कहा जाता है, एव सांसारिक जीवो को क्षायिक ज्ञान होता नही है इसलिये क्षायोपशमिकरूप है, ऐसा जो विशिष्ट भेदज्ञान होता हैं वही मुक्ति का कारण होता है। क्योकि वह विशिष्ट भेदज्ञान ही सव प्रकार के मिथ्यात्व और रागादिरूप विकल्पो की उपाधि से रहित ऐसी जो अपनी शुद्धात्मा उसकी भावना से उत्पन्न हुआ परम आह्लाद वही है लक्षण जिसका ऐसा जो सुखामृत रस उसके आस्वादन के साथ एकाकाररूप जो परम समरसी भाव परिणाम उस परिणाम के कार्यभूत जो अनतज्ञानादि सुखादि स्वरूप मोक्ष का फल है उसका विवक्षित एक (प्रधान) शुद्धनय के द्वारा शुद्धोपादान कारणरूप है। यही वात अमृताचन्द्राचार्य स्वामी ने कही है—

भेद विज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन, तस्यैवाभावतो वद्धा वद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ—जो कोई भी सिद्ध होते है वे सव नियमपूर्वक भेद विज्ञान के द्वारा ही अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मध्यान के द्वारा ही होते हैं जव वह शुद्ध आत्मध्यान नही रह पाता उस समय फिर से कर्मबध करने लगते है अर्थात् कर्मवधन से छूटने का उपाय एक निर्विकल्प शुद्धात्मा का ध्यान स्वरूप भेद विज्ञान ही है ॥ ४१२ से ४२६ तक ॥

जव कि परमात्मा शुद्ध वुद्ध रूप एक स्वभाववाला है ऐसी हालत मे जव परमात्मा के देह ही नही है तो उसके आहार कैसे होगा ? यह वतलाते हैं—

अत्ता जस्स अमुत्तो णहु सो आहारओ हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ दु ॥४२७॥

णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुंचदे चेव जं परं दव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउग्गिय विस्ससोवापि ॥४२८॥

तह्मा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गिह्लदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचिवि जीवाजीवाणं दव्वाणं ॥४२९॥

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवं ।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुगद्लमयस्तु ॥४२७॥
नापि शक्यते ग्रहीतुं यन्न मुंचति चैव यत्परं द्रव्यं ।
स कोऽपि च तस्य गुणो प्रायोगिको वैस्नसो वापि ॥४२८॥
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित् ।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥४२९॥

अर्थ—जैसा कि ऊपर बता आये हैं कि ज्ञान या आत्मा सपूर्ण पर द्रव्योसे भिन्न है और अमूर्त्त है। उन गाथाओ के उल्लेखानुसार जिसके विचार मे आत्मा अमूर्त्त है, वह नियम से आहार को ग्रहण नही कर सकता। क्योकि आहार तो मूर्तिक है जो कि पुगलमय है, पर द्रव्य स्वरूप है, वह अमूर्तिक आत्मा के द्वारा ग्रहण भी नही किया जा सकता और छोडा भी नही जा सकता। यह कोई ऐसा ही आत्मा का गुण है चाहे उसे वैस्रसिक कहा जाय या प्रायोगिक किन्तु यह उस आत्मा का अटल गुण है कि जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव और अजीव जो पर द्रव्य हैं उनमे से किसी को न तो कभी ग्रहण करता है और न कभी किसी को छोडता है ॥४२७-४२८-४२९॥

तात्पर्यवृत्ति—**अत्ता जस्स अमुत्तो** आत्मा यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेण मूर्तो न भवति **णहु सो आहारगो हवदि एवं** स एवममूर्तत्वे सति हु स्फुट तस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणाहारको न भवति। **आहारो खलु मुत्तो** आहार कथभूत ? खलु स्फुट मूर्त। **जह्मा सो पुग्गलमओ दु** यस्माद् स नोकर्माद्याहार पुद्गलमय.।

सो कोविय तस्स गुणो स कोपि तस्य गुणोऽस्त्यात्मन। **कथं ? पाउग्गिय विस्ससो वापि** प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। प्रायोगिक कर्मसयोगजनित। वैस्रसिक स्वभावज। येन गुणेन किं करोति ? **णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुंचिदुं चेव जं परं दव्वं** परद्रव्यमाहारादिक ग्रहीतु मोक्तु च न शक्नोति। अहो भगवन् ! कर्मजनित-प्रायोगिकगुणेन आहार गृह्णन्नपि कथमनाहारको भवति इति ? हे शिष्य ! भद्रमुक्त त्वया पर किंतु निश्चयेन तन्मयो न भवति स व्यवहारनय। इद तु निश्चयव्याख्यानमिति।

तह्मादु जो विशुद्धो चेदा यस्मान्निश्चयनयेनानाहारक तस्मात्कारणात् यस्तु विशेषेण शुद्धो रागादिरहितश्चे-तयितात्मा **सो णेव गिह्णदे किंचि णेव विमुंचदि किंचिवि जीवाजीवाणदव्वाण** कर्माहार-नोकर्माहार-कवलाहार-लेप्याहार-ओजआहार-मानसाहाररूपेण जीवाजीवद्रव्याणा मध्ये सचित्ताचित्ताहार नैव किंचिद्गृह्णाति न मुचति। तत कारणान्नोकर्माहारमयशरीर जीवस्वरूप न भवति। शरीराभावे शरीरमयद्रव्यलिंगमपि जीवस्वरूप न भवति इति। एव निश्चयेन जीवस्याहारो नास्ति, इति व्याख्यानमुख्यत्वेन द्वादशस्थले गाथात्रय गत।

अथैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनो नोकर्माहाराद्यभावे सत्याहारमयदेहो नास्ति। देहाभावे देहमय-द्रव्यलिंग निश्चयेन मुक्तिकारण न भवतीति प्रतिपादयति—

टीका—(अत्ता जस्स अमुत्तो) शुद्धनय के अभिप्राय से जहा आत्मा अमूर्त्त होती है—मूर्त्त नही होती (ण हु सो आहारगो हवदि एव) अमूर्त्तपना होने पर वह जीव स्पष्टरूप से शुद्धनय का अभिप्राय होने से आहारक नहीं हो सकता—आहार ग्रहण नही कर सकता। (आहारो खलु मुत्तो) क्योकि आहार तो स्पष्टरूप से मूर्तिक होता है (जह्मा-सो पुग्गलमओ दु) क्योकि वह नोकर्मादि आहार पुद्गल-

मय होता है (इसलिये आत्मा को अमूर्तिक मानने वाला पुरुष उस आहार को ग्रहण नही कर सकता)। (सो को वि य तस्स गुणो) क्योकि वह कोई उस आत्मा का गुण ही अर्थात् स्वभाव ही होता है। कैसा होता है ? कि (पाउग्गिय विस्ससोवापि) वह या तो प्रायोगिक या वैस्रसिक है अर्थात् कर्म सयोग जनित को प्रायोगिक कहते हैं और स्वभावजन्य को वैस्रसिक कहते हैं। उस गुणसे वह आत्मा क्या करता है ? (णवि सक्कदि घित्तु जे ण मुञ्चिदु चेव ज पर दव्व) परद्रव्य रूप आहारादि को वह न तो ग्रहण ही कर सकता है और न छोड ही सकता है। यहा पर शका करता है कि हे भगवन् ! कर्मोके निमित्त से जो उत्पन्न हुआ प्रायोगिक गुण है उससे जो आहार भी ग्रहण करते है ये सब अनाहारक कैसे माने जा सकते है ? इसका आचार्य समाधान करते है कि हे भाई ! तुमने जो कहा है सो ठीकही है किन्तु निश्चय के साथ जो तन्मय नही होता वहाँ व्यवहार नय है किन्तु यहा पर निश्चय का व्याख्यान किया जा रहा है। (तम्हा दु जो सो विसुद्धो चेदा) क्योकि निश्चयनय के द्वारा जो आत्मा रागादि रहित विशुद्ध हो जाता है वह अनाहारक होता है। (सो णेव गिह्लदे किंचि णेव विमुंचदि किंचिवि जीवा-जीवाण दव्वाण) वह कर्म आहार, नोकर्म आहार, कवलाहार, लेप आहार, ओज आहार, और मानस आहार के रूपमे जीव अजीव के भेदसे जितने भी द्रव्य हैं उनमे से सचित्त आहार तथा अचित्त आहार किसी भी प्रकार के आहारको न तो ग्रहण ही करता है और न छोडता है। क्योकि नोकर्म आहाररूप जो शरीर है वह जीव का स्वरूप नही है और जब शरीर का अभाव है तो शरीरमय जो द्रव्य लिंग है वह भी जीव का स्वरूप नही है।

इस प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के आहार ही नही है इस प्रकार व्याख्यान की मुख्यता से बारहवे स्थलमे तीन गाथाए हुई ॥ ४२७-४२८-४२९ ॥

विशेषार्थ—निश्चयनयसे देखाजाय तो आत्मा के साथ शरीर का कोई सबध नही है क्योकि ससारी आत्मा के साथ भी शरीर का सयोग सबध है जो कि व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय तादात्म्य सबध को लेकर चलता है सो शरीर का तादात्म्य सबध आत्मा के साथ मे किसी भी दशामे नही है। आत्मा निश्चयनय की दृष्टि मे तो सदा शरीर रहित है। अब जो मुनि निश्चयनयपर आरुढ होते हैं अर्थात् आत्म समाधि मे लगकर अपने शुद्धात्मा का अनुभव करने लगते है तो वहा तो आत्मा अमूर्त्त है शरीर रहित है। और जब शरीर ही नहीं है तो फिर किसी भी प्रकार के आहार ग्रहण की आवश्यकता ही क्या है। इसलिये आहार ग्रहण करना तो दूर रहा वहा इसकी बात भी नही है जिसका यहा वर्णन किया गया है। हा जब वे व्यवहार दृष्टि मे आते हैं तब उन्हे शरीर के सयोग को लक्ष्यमे लेकर आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है तो वहा आचार शास्त्र विधानानुसार समुचित आहार ग्रहण करते हैं, जिसका कथन यहा पर गौण है। हा, इस निश्चय और व्यवहार को ठीक नही समझने वाले कुछ भाई यहा ऐसा कह दिया करते है कि आहार करते हुये भी आत्मा आहार नही करता क्योकि आत्मा अमूर्तिक है, आहार तो शरीर ग्रहण करता है। सो शरीर तो जड है उसकी ओर से तो चाहे कैसा भी हो कोई बात नही है। ऐसा कहने वालो को यह सोचना चाहिये कि निश्चयनय मे शरीर वस्तु ही क्या है जो कि आहार को ग्रहण करता है। शरीर तो पुद्गल परमाणुओ का पिण्ड है जोकि सयोगा-त्मक होने से व्यवहारनय का विषय है। अत निश्चयनय मे तो आहार ग्रहण करने की बात ही नही बनती है। जब आत्मा व्यवहारनय पर आता है अर्थात् समाधि से च्युत होता है तो शरीर के साथ सयोग होने से शरीर की स्थिती रखने के लिये शरीर के द्वारा समुचित आहार ग्रहण करता है। ऐसा यहा

तात्पर्य है। किंच कर्माहार की अपेक्षा से देखे तो स्पष्ट शुद्धात्मा सिद्ध भगवान ही अनाहारक है और सभी ससारी आत्मा सदा आहारक ही है। नोकर्म आहार की अपेक्षा विग्रहगती समापन्न जीव भी अनाहारक होता है, कवलाहार की अपेक्षा से सयत आत्मा जब अप्रमत्त दशामे होता है तव तक अनाहारक होता है किन्तु जब आहार ग्रहण करता है तव भी वह इन्द्रिय सपोषण के लिये नही करता किन्तु धर्म्य-ध्यान मे लगे रहने के लिये करता है इसलिये उपचार से अनाहारक ही कहा जाता है।

उपर्युक्त लिखे अनुसार विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले परमात्मा के नोकर्म आदि आहार के अभाव होने पर आहारमय देह नही है। देह के अभाव में देह मई द्रव्य लिंग भी नही होता जो कि निश्चय से मुक्ति का कारण नही है—

पाखंडिय लिंगाणि य गिहलिंगाणिय बहुप्पयाराणी।
घित्तुं वंदति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥४३०॥
ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि से वंति ॥४३१॥

पाखंडिलिंगानि च गृहलिंगानि च बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदंति मूढ़ा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति ॥४३०॥
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममा अर्हंतः।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवंते ॥४३१॥

अर्थ—पाखडी (वनावटी) साधुओ के और गृहस्थो के जो लिंग है—शरीर पर वनाये हुए जो भेष है—वे अनेक प्रकार के होते है उन्ही को ग्रहण करके मूढ लोग ऐसा मानने लगते हैं कि यह भेष ही मुझे मोक्ष देने वाला है। इसको लक्ष्य मे लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भाई! यह धारण किया हुआ वाह्य भेष ही मोक्ष का कारण नही हो सकता क्योकि ये अर्हत देव तो देह से निर्ममत्व होते हुए—इस वाह्य लिंग की उपेक्षा करके—दर्शन ज्ञान और चारित्र की सेवा करते हैं। (रत्नत्रय को ही अपनी आत्मा मे प्रगट करते हैं क्योकि वस्तुत रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है)।

तात्पर्यवृत्ति—पाखडिलिंगानि गृहस्थलिंगानि च बहुप्रकाराणि गृहीत्वा वदति मूढा। किं वदति? इद द्रव्यमयलिंगमेव मुक्तिकारण। कथभूता सत? रागादिविकल्पोपाधिरहित परमसमाधिरूप भावलिंगमजानत **णय होदि मोक्खमग्गो लिंग** भावलिंगरहित द्रव्यलिंग केवल मोक्षमार्गो न भवति कस्मात्? इति चेत् **जं** यस्मात्कारणात् **देहणिम्ममा अरिहा** अर्हतो भगवतो देहनिर्ममा सत किं कुर्वति? **लिंग मुइत्तु** लिंगाधार यच्छरीर तस्य शरीरस्य मन्ममत्व तन्मनोवचनकायैर्मुक्त्वा। पश्चात् **दंसणणाणचरित्ताणि सेवते** चिदानदैकस्वभावशुद्धात्म-तत्त्वविषये यानि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपानि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि तानि सेवते भावयतीत्यर्थ।

अथैनदेव व्याख्यान विशेषेण दृढयति।

टीका—जो मोही है अर्थात् रागादि विकल्प की उपाधि से रहित परम समाधिरूप भावलिंग के विषय के जानकार नही है, वे नाना प्रकार के वनावटी साधुओ के भेष अथवा गृहस्थो के भेष लेकर मान

बैठते हैं कि यह द्रव्यमय मेरा भेष मुझे मुक्ति प्राप्त करा देगा। उसके लिये आचार्य कहते है कि (ण य होदि मोक्खमग्गो लिंग) भावलिंग से रहित अर्थात् अतरग शुद्धि से रहित केवलमात्र शरीर पर स्वीकार किया हुआ द्रव्य लिंग ही मोक्ष का मार्ग नही हो सकता क्योकि (ज देह णिम्ममा अरिहा) अर्हंत भगवान देह से निर्मत्व होते हुए और (लिग मुइत्तु) लिग का आधार जो शरीर उसके ममत्व को मन वचन काय से छोड़कर (दमणणाणचरित्ताणि सेवति) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सेवा करते हैं। अर्थात् चिदानद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसा जो शुद्धात्म तत्व उसके विषय मे जो श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है उनको वार वार उपार्जन करते है ।।४३०-४३१।।

विशेषार्थ —यहा पर आचार्यदेव ने वतलाया है कि वास्तव मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही रत्नत्रय है उसी को मोक्षमार्ग वताकर वाह्य लिग मोक्षमार्ग नही होता। किंतु वाह्य लिंग मोक्ष मार्ग नही होता ऐसा वताते हुए उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अनेक प्रकार के गृहस्थो के और पाखडी वनावटी साधुओ के लिग उन सवका निपेध किया है, न कि यथाजात दिगम्वर साधु के भेष को क्योकि इन्ही कुन्द कु दाचार्य देवने अपने अष्ट पाहुड ग्रन्थ मे 'णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मगया सव्वे' वताया हैं कि छलरहित नग्नपना ही मोक्ष मार्ग है इसके सिवाय सव उन्मार्ग है, ऐसी दशा मे ये स्वय ही यथाजात दिगम्वरभेष का निपेध कैसे कर सकते थे। अत गृहस्थो के लिंग के साथ इन्होने वनावटी पाखडी छली साधुओ के लिगो को लिया है न कि यथाजात नग्न दिगम्वर लिगो को। क्योकि पाखडी शव्द का अर्थ वनावटी छली साधु ही होता है जैसा कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे लिखा है —

"सग्रथारभ हिंसाना ससारावर्त्त वर्तिना, पाखण्डिना पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डि मोहनम् ।।

अर्थात् हिंसा आरभ और परिग्रह से सहित एव सासारिक उलझनो मे ही फसे रहने वाले पाखडी अर्थात् साधुपन से दूर होकर भी अपने आपको साधु कहने वाले लोगो का आदर सत्कार करना पाखडी मूढता कहलाती है जिससे सम्यग्दृष्टि जीव दूर रहता है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य ने यहा पर पाखडी शव्द से वनावटी साधुओ को ही लिया है, वास्तविक साधुभेष को नही क्योकि रत्नत्रय ही वास्तविक मोक्षमार्ग माना गया है वह भी किसी आधार विशेष मे ही होगा। इस पनपते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आधार छलरहित यथाजात भेष ही है जिसको कि प्रत्येक ऋषभादि तीर्थंकरने स्वीकार किया है। उसके विना निराधार रूप से न तो किसी तीर्थ कर ने रत्नत्रय का सेवन ही किया और न हो सकता है। अत प्रत्येक मुमुक्षु को अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को पनपाकर सम्पन्न करने के लिए यह निश्छल निर्ग्रन्थ दिगम्वर भेष धारण करना ही चाहिये, ऐसा किये विना रत्नत्रय सम्पन्न नही हो सकता, किन्तु निश्छल यथाजात दिगम्वर वनकर भी सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय को भूल नही जाना चाहिये।

इसी वात को आचार्यदेव फिर विशेपरूप से और भी दृढ करते हैं —

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ।।४३२।।

नाप्येष मोक्षमार्गः पाखंडिगृहमयानि लिंगानि।
दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदंति ।।४३२।।

अर्थ—वनावटी छली साधु के द्वारा स्वीकार किये हुये और गृहस्थ के द्वारा स्वीकार किये गये जो नाना भेष हैं वे मोक्षमार्ग नही है किन्तु मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है (जो कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेप मे ही आधार आधेय मात्र से पाया जाता है) ऐसा जिन भगवानने कहा है ।। ४३२ ।।

तात्पर्यवृत्ति—णवि एस मोक्खमग्गो नचैप मोक्षमार्ग एप क ? **पाखडिगिहमयाणि लिंगाणि** निर्विकल्पसमाधिरूपभावलिंगनिरपेक्षाणि रहितानि यानि पाखडिगृहिमयानि द्रव्यलिंगानि । कथभूतानि निर्ग्रंथकौपीनग्रहणरूपाणि वहिरगारचिह्नानि । तर्हि को मोक्षमार्ग ? इति चेत् **दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति** शुद्धबुद्धैकस्वभाव एव परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदति कथयति ।

यत एव—

टीका—(ण वि एस मोक्खमग्गो) यह मोक्ष का मार्ग नही है । कौन मोक्षका मार्ग नही है ? कि (पाखडिगिहिमयाणि लिंगाणि) निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग से सर्वथा रहित जो पाखडी व अथवा गृहस्थो के द्वारा स्वीकार किये जो नाना भेष हैं वे मोक्षमार्ग नही हैं । ये भेष कौनसे कौनसे हैं ? कि (अ तरग शुद्धि के विना) वाह्यमे सर्वथा निर्ग्र न्थ होकर रहना अथवा कोपीन धारण करना आदिरूप वहिरग आकारके चिह्नरूप हैं ये सव मोक्षमार्ग नही है । मोक्षमार्ग क्या हैं ? कि (दसणणाण चरित्तावि मोक्ख मग्ग जिणा विंति) शुद्ध बुद्ध रूप एक स्वभाव वाला जो परमात्मतत्व उसका श्रद्धान ज्ञान और अनुभव ही है स्वरूप जिनका ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षका मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।।४३२।।

विशेषार्थ—आत्मा सव कर्मो से रहित हो रहे इस प्रकार के आत्मा के परिणाम का नाम ही मोक्ष है इसलिये उसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिये क्योकि कारण कार्य मे परस्पर पूर्वोत्तर भाव होता है । एव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा के परिणाम हैं जिनका कि फल मोक्ष होता है । वाह्य लिंग तो देहमय है जो कि पुद्गल द्रव्य रूप है इसलिये उसके साथ आत्मा के मोक्ष का कोई वास्तविक सवध नही है । हा, यह वात दूसरी है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे जो चारित्र है वह विश्वभर के सम्पूर्ण पदार्थो से दूर हट कर आत्म तल्लीन होने का नाम है और वाह्य समस्त पदार्थो से स्पष्ट रूपसे पृथक रहना ही नग्न दिगम्वर भेप है जिसके होने पर ही आत्म तल्लीनतारूप वास्तविक चारित्र सम्पन्न हो पाता है । अत आत्म तल्लीनतारूप निश्चय चारित्र का आधार होने से निश्छल दिगम्वर भेप भी कारण का कारण होने से उपादेय है किन्तु कोई केवल मात्र नग्नता को ही मोक्षमार्ग मानले उसका यहा निषेध किया गया है और वताया गया है कि भाई ! मुक्ति की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होने से ही होगी केवलमात्र वाह्य नग्न आदि भेप से नही । इसलिये आचार्य देव कहते हैं:—

तह्मा दुहित्तु लिंगे सागारणगारिएहिं वा गहिदे ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ।।४३३।।
तस्मात्तु हित्वा लिंगानि सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि ।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ।।४३३।।

अर्थ—जवकि केवल द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नही है इसलिये आचार्य कहते हैं कि गृहस्थो के अथवा घरहीनो के द्वारा ग्रहण किये गये लिंगो को छोडकर अपने आपको दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग मे लगाओ ।।४३३।।

तात्पर्यवृत्ति—**तह्मा जहित्तु लिगे सागारणगारिएहि वा गहिदे** यस्मात्कारणात्पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना प्रतिपादयति तस्मात्त्यक्त्वा कानि निर्विकारस्वसवेदनरूपभावलिगरहितानि सागारानगारवर्गे समूहे–गृहीतानि वहिरगाकारद्रव्यलिगानि । पश्चात् कि कुरु ? **दसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे** हे भव्य ! आत्मान योजय सबध कुरुष्वक्व ? केवलज्ञानाद्यन तचतुष्टयस्वरूपशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षपथे मोक्षमार्गे ।

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य इत्युपदिशति—

टीका—(तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहि वा गहिदे) जव कि ऊपर लिखे अनुसार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवान प्रतिपादान करते है तो निर्विकार स्वसवेदनज्ञानरूप जो भाव लिंग है उससे रहित होने वाले सागार गृहस्थ और अनगार त्यागी मुनियो के द्वारा केवलमात्र वाह्यमे ग्रहण किये हुए द्रव्य लिगो को छोडकर फिर क्या करो ? कि (दसणणाणचरित्ते अप्पाणं जु ज मोक्खपहे) हे भव्य ! केवलज्ञानादि अनतचतुष्टय स्वरूप जो शुद्ध आत्मा उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे मोक्षमार्ग मे अर्थात् मोक्ष मोक्ष के उपाय मे अपने आपको युक्त करो अर्थात् तल्लीन वन जावो ।। ४३३ ।।

पं० जयचन्दजी का भावार्थ—यहा द्रव्यलिग को छुडाकर दर्शन ज्ञान चारित्र मे लगने का वचन है सो यह सामान्य परमार्थ वचन है । कोई समझेगा कि मुनि श्रावक के व्रत छुडाने का उपदेश है ऐसा नही है । जो केवल द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जान भेष रक्खे उसको उसका पक्ष छुडाया है कि भेषमात्र मोक्षमार्ग नही है, परमार्थरूप मोक्षमार्ग आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणाम है वे ही है । व्यवहार आचार सूत्र मे कहे अनुसार जो मुनि श्रावक के वाह्य व्रत है वे व्यवहार कर निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं । उनको छुडाते नही परन्तु ऐसा कहते हैं कि उनका भी ममत्व छोड परमार्थ मोक्षमार्ग मे लगने से ही मोक्ष होता है, केवल भेपमात्र से मोक्ष नही है ऐसा जानना ।

अव आचार्य यह उपदेश करते हैं कि मोक्षार्थी जीव को शुद्धात्मानुभूति रूप लक्षणवाले निश्चय रत्नत्रयात्कमक मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिये—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि चेदयहि झायहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।४३४।।

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय चेतयस्व ध्याय हि तं चैव ।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ।।४३४।।

अर्थ—हे भव्य ! तू अपने आपको मोक्षमार्ग मे स्थापन कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उस आत्मा मे ही निरन्तर विहार कर और अन्य द्रव्यों मे विहार मत कर ।।४३४।।

तात्पर्यवृत्ति—**मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि** हे भव्य ! आत्मान स्थापय क्व ? शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयस्वरूपे मोक्षपथे । **चेदयहि** तमेव मोक्षपथ चेतयस्व परमसमरसीभावेन अनुभवस्व **झायहि त चेव** तमेव ध्याय निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय । **तत्थेव विहर णिच्चं** तत्रैव विहर वर्तनापरिणतिं कुरु ।

नित्य सर्वकाल । **मा विहरसु अण्णदव्वेसु** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाक्षारूपनिदानबधादिपरद्रव्यालबनोत्पन्नशुभाशुभसकल्पेषु मा विहार्षी, मा गच्छ मा परिणति कुर्विति ।

अथ सहजशुद्धपरमात्मानुभूतिलक्षणभावलिंगरहिता ये द्रव्यलिंगे ममता कुर्वंति तेऽद्यापि समयसार न जानतीति प्रकाशयति—

टीकाः—(मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि) हे भव्य! शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाले आत्मतत्वका समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो अभेद रत्नत्रय वही है स्वरूप जिसका ऐसे मोक्षमार्ग मे अपने आपको स्थापन कर। (चेदयहि) उसी मोक्षमार्गका अनुचिंतन कर अर्थात् परमसमरसी भाव के द्वारा उसी का अनुभव कर। (झायहि त चेव) उसीका ध्यान कर अर्थात् निर्विकल्प समाधि मे लगकर उसकी बार बार भावना कर। (तत्थेव विहर णिच्च) उसी मे नित्य पर्यटन कर (मा विहरसु अण्णदव्वेसु) देखे हुये, सुने हुए, अनुभव किये हुये भोगो की आकाक्षारूप निदान बधादि पर द्रव्यो के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले शुभाशुभ सकल्प विकल्पो मे मत जा, उन्हे स्मरण मतकर, उनरूप अपनी परिणति मत होने दे ।।४३४।।

विशेषार्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि निश्चयनय से आत्मा के परिणाम सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, उनमे आत्मा का स्थित रहना ही मोक्षका मार्ग है। अत मुमुक्षु को चाहिये कि उस मोक्षमार्ग मे ही अपने आपको स्थिर करे, उसीका ध्यान करे, उसी का अनुभव करे, और ससार के सब द्रव्यो को छोडकर इसी में प्रवृत्त रहे तभी मोक्ष प्राप्त होगा अन्यथा नही।

आगे कहते हैं कि जो सहज शुद्ध परमात्मानुभूति लक्षण वाले भाव लिंग से तो रहित हैं। किन्तु द्रव्यलिंग मे (बाहरी वेषभूषा मे) ही ममता करते हैं वे आज भी समयसार को नही जानते—

पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं ।।४३५।।

पाखंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकाररेषु ।
कुर्वंति ये ममतां तैर्न ज्ञातः समयसारः ।।४३५।।

अर्थ—जो लोग नाना प्रकार के पाखडी लिगो मे और गृहस्थ लिगो मे ही ममत्व किये हुए हैं (कि इन्हे यही भेष मोक्ष दिलादेगा) वे लोग समयसार को नही जानते ।। ४३५ ।।

तात्पर्यवृत्ति—**पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्ति** वीतरागस्वसवेदनज्ञानलक्षणभावलिंगरहितेषु निर्ग्रन्थरूपपाखडिद्रव्यलिंगेषु कौपीनचिह्नादिगृहस्थद्रव्यलिंगेषु बहुप्रकारेषु ये ममता कुर्वंति **तेहिं ण णादं समयसारं** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिख्यातिपूजालाभमिथ्यात्वकामक्रोधादिसमस्तपरद्रव्यालबनसमुत्पन्नशुभाशुभसकल्पविकल्परहित शून्य चिदानदैकस्वभावशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसजातवीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपसुखरसानुभवपरमसमरसीभावपरिणामेन सालबन पूर्णकलशवद्भरितावस्थ केवलज्ञानाद्यनतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ निश्चयकारणसमयसार स खलु तैर्न ज्ञात इति ।

अथ निर्विकारशुद्धात्मसवित्तिलक्षणभावलिंगसहित निर्ग्रन्थयतिलिंग कौपीनकरणादिबहुभेदसहित गृहिलिंगं चेति

द्वयमपि मोक्षमार्गो व्यवहारनयो मन्यते । निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिंगानि न मन्यत इत्याख्याति—

टीका —(पाखडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वति जे ममत्ति) वीतरागस्वरूप स्वसंवेदन ज्ञान लक्षण वाले ऐसे भाव लिंग से जो रहित हैं ऐसे निर्ग्रन्थरूप पाखण्डियो के द्रव्य लिगो मे और कोपीन आदि चिह्नवाले गृहस्थ के द्रव्य लिगो मे जो कि अनेक प्रकार के हैं उनमे जो ममता किये बैठे हैं (तेहि ण णाद समयसार) वे लोग निश्चय समयसार को नही जानते। वह निश्चय कारण समयसार कैसा है ? कि जो तीन लोक और तीन काल मे होने वाले ख्याति, पूजा, लाभ, मिथ्यात्व, काम और क्रोधादि समस्त परद्रव्यो के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले शुभ तथा अशुभ सकल्प विकल्पो से रहित है और चिदानदमई एक स्वभावरूप शुद्धात्म तत्व का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण तद्रूप जो अभेद रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न हुआ वीतराग सहज अपूर्व परम आह्लाद रूप सुखरसका अनुभवन करना वही हुआ परम समरसीभाव रूप परिणाम उसके आलम्बनसे पूर्ण कलश के समान भरा पूरा है और केवलज्ञानादि अनत चतुष्टय की प्रकटतारूप साक्षात् उपादेयभूत कार्यसययसार का उत्पादक है ऐसा जो निश्चय कारण समयसार है, उसको नही जानते ॥४३५॥

अब इसके आगे आचार्य बतलाते हैं कि विकार रहित शुद्धात्मा का सवेदन ही है लक्षण जिसका ऐसे भावलिंग से युक्त जो निर्ग्रन्थ यति लिंग होता है और कोपीन आदि से युक्त जो बहुत प्रकार का गृहस्थ लिंग होता है उन दोनो को व्यवहारनय मोक्षमार्ग मानता है किन्तु निश्चयनय तो सब ही द्रव्य लिगो को मोक्षमार्ग नही मानता—

ववहारिओ पुन णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ दु णिच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४३६॥

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे ।
निश्चयनयस्तु नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥४३६॥

अर्थ—व्यवहारनय तो मुनि और श्रावक के भेद से दोनो प्रकार के ही लिगो को मोक्षमार्ग मानता है किन्तु निश्चयनय सब ही बाह्यलिगो मे किसी को भी मोक्षमार्ग नही मानता ॥४३६॥

तात्पर्यवृत्ति—**ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे** व्यावहारिकनयो द्वे लिंगे मोक्षपथे मन्यते । केन कृत्वा ? निर्विकारस्वसवित्तिलक्षणभावलिंगस्य बहिरग सहकारिकारणत्वेनेति । **णिच्छयणओ दु णेच्छदि मुक्खपहे सव्वलिंगाणि** निश्चयनयस्तु निर्विकल्पसमाधिरूपत्रिगुप्तिगुप्तबलेन अह निर्ग्रंथलिंगी, कौपीनधारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यलिंगविकल्प रागादिविकल्पवन्नेच्छति । कस्मात् ? स्वयमेव निर्विकल्पसमाधिस्वभावत्वात् इति ।

किंच—अहो शिष्य ! **पाखंडीलिंगाणि** य इत्यादि गाथा सप्तकेन द्रव्यलिंग निषिद्धमेवेति त्व मा जानाहि किं तु निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूप भावलिंगरहिताना यतीना सबोधन कृत । कथ ? इति चेत् अहो तपोधना ! द्रव्यलिंगमात्रेण सतोष मा कुरुत, किं तु द्रव्यलिंगाधारेण निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपभावना कुरुत ।

ननु भवदीयकल्पनेय, द्रव्यलिंगनिषेधो न कृत इति ग्रथे लिखितमास्ते **णय होदि मोक्खमग्गो लिंगमित्यादि ?**

नैव **णयहोदि मोक्खमग्गो लिंग** मित्यादिवचनेन भावलिंगरहितं द्रव्यलिंग निषिद्ध न च भावलिंगसहितं। कथ ? इति चेत् द्रव्यलिंगाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्व निषिद्ध। नच द्रव्यलिंग निषिद्ध। केन रूपेण ? इति चेत् पूर्वं दीक्षाकाले सर्वसगपरित्याग एव कृतो न च देहत्याग। कस्मात् ? देहधारणध्यानज्ञानानुष्ठान भवति इति हेतोः। नच देहस्य पृथक्त्व कर्तुमायाति शेषपरिग्रहवदिति। वीतरागध्यानकाले पुनर्मदीयो देहोऽह लिंगीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्तव्य। देह निर्ममत्व कृत,कथ ज्ञायते ? इति चेत् **जं देहणिम्ममा अरिहा दंसणणाणचरित्ताणि सेवते** इत्यादि वचनेनेति। न हि शालितदुलस्य वहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यतरतुषस्य त्याग कर्तुमायाति। अभ्यतर तुषत्यागे सति वहिरगतुषत्यागो नियमेन भवत्येव। अनेन न्यायेन सर्वसगपरित्यागरूपे वहिरग द्रव्यलिंगे सति भावलिंग भवति न भवति वा नियमो नास्ति। अभ्यतरे तु भावलिंगे सति सर्वसगपरित्यागरूप द्रव्यलिंग भवत्येवेति।

हे भगवन्! भावलिंगे सति वहिरग द्रव्यलिंग भवतीति नियमो नास्ति **साहारणासाहारणे** त्यादि वचनादिति? परिहारमाह-कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टन कृत। आभरणादिक वा कृत तथाप्यसौ निर्ग्रंथ एव। कस्मात् ? इति चेत् वुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पाडवादिवत्। येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्ष गता भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रंथरूपेणैव। पर किंतु तेषा परिग्रह त्याग लोका न जानति स्तोककालत्वादिति भावार्थ। एव भावलिंगरहिताना द्रव्यलिंगमात्र मोक्षकारण न भवति। भावलिंगसहिताना पुन. सहकारिकारण भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गाथाष्टक गत।

अत्राह शिष्य —केवलज्ञान शुद्ध छद्मस्थज्ञान पुनरशुद्ध शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारण न भवति। कस्मात् ? इति चेत्—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो इति वचनात् इति ? नैव छद्मस्थज्ञानस्य कथचिच्छुद्धाशुद्धत्व। तद्यथा यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्ध न भवति तथापि मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्ध। अभेदनयेन पुन छद्मस्थाना सवधि भेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव तत कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूप केवलज्ञान जायते नास्ति दोष।

अथ मत सावरणत्वात्क्षायोपशमिकत्वाद्वा शुद्ध न भवति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति। कस्मात् ? छद्मस्थाना ज्ञान यद्यप्येकदेशेन निरावरण तथापि केवलज्ञानापेक्षया नियमेन सावरणमेव क्षायोपशमिकमेवेति। अथाभिप्राय पारिणामिकभाव शुद्धः तेन मोक्षो भविष्यति तदपि न घटते। कस्मात् ? इति चेत् केवलज्ञानात्पूर्वं परिणामिकभावस्य शक्तिमात्रेण शुद्धत्व न व्यक्तिरूपेणेति—

तथाहि जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वरूपेण त्रिविधोहि पारिणामिकः। तत्र तावदभव्यत्व मुक्तिकारण न भवति यत्पुनर्जीवत्वभव्यत्वद्वय तस्य द्वयस्य तु यदाय जीवो दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयलाभेन वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्व। तच्च शुद्धत्व- औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य भवधि मुख्यवृत्त्या, पारिणामिकस्य पुनर्गौणत्वेनेति। तत्र शुद्धपरिणामिकस्य वधमोक्षस्य कारणरहितत्व पचास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते—

मोक्ष कुर्वंति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिवा।
वधमौदयिको भावो निष्क्रिय पारिणामिक ॥१॥

तत एव स्थित निर्विकल्पशुद्धात्मपरिच्छित्तिलक्षण वीतरागसम्यक्त्वचारित्राविनाभूतमभेदनयेन तदेव शुद्धात्मशब्दवाच्यक्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञानं मोक्षकारण भवतीति। शुद्धपरिणामिकभाव पुनरेकदेशव्यक्तिलक्षणाया

कथचिद्भेदाभेदरूपस्य द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थाया ध्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति नच ध्यानपर्याय-रूपेण, कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् इति ।

अथेद शुद्धात्मतत्त्व निर्विकारस्वसवेदनप्रत्यक्षेण भावयन्नात्मा परमाक्षयसुख प्राप्नोतीत्युपदिशति—

टीका—(ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिगाणि भणदि मोक्खपहे) व्यवहारिक नय मोक्षमार्ग मे निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिग और उत्तम श्रावकका लिंग इन दोनो लिगो को मोक्षमार्ग मे उपयोगी मानता है क्योकि वह निर्विकार स्वसवेदन लक्षणवाले भावलिग का वहिरग सहकारी कारण है किन्तु (णिच्छय-णओ दु णेच्छदि मुक्खपहे सव्वलिंगाणि) निश्चयनय तो स्वय निर्विकल्प समाधिरूप है इसलिये निर्वि-कल्प समाधिरूप होने से वह—मैं निर्ग्रन्थ लिंगी हूँ अथवा कोपीन धारक हूँ—इस प्रकार के मन मे पैदा होने वाले सभी द्रव्य लिंगो के विकल्प को सर्वथा नही चाहता जैसे कि वह रागादि विकल्प को नही चाहता ।।४३६।।

अव यहा आचार्य शिष्य को सवोधन कर कहते है कि हे शिष्य ! यहा पर "पाखडी लिंगाणि य" इत्यादि सात गाथाओ के द्वारा जो द्रव्यलिग का निषेध किया है उसे सर्वथा निपिद्ध ही मत मानलेना, किन्तु निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावलिग है उससे रहित होनेवाले यतियोको संवोधन किया है कि हे तपोधन लोगो ! तुम अपने इस द्रव्य लिग मात्र से ही सतोप मत कर वैठना किन्तु द्रव्य लिग के आधार से निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावना को प्राप्त करने की चेष्टा करना ।

इस पर शिष्य फिर कहता है कि यह आपका कहना है 'यहा द्रव्यलिंग का निपेध नही किया है' किन्तु यहा तो स्पष्ट रूप से "ण य होदि मोक्खमग्गो लिगमित्यादि" लिखा हुआ है जिसका अर्थ होता है कि द्रव्यलिग मोक्ष मार्ग नही है इत्यादि । आचार्य कहते है कि तुम कहते हो सो बात नही है किंतु "ण य होदि मोक्खमग्गो लिगमित्यादि" इस वचनसे भावलिग रहित द्रव्यलिग का निषेध किया है न कि भावसहित द्रव्य लिंग का क्योकि द्रव्यलिग का आधार भूत जो देह है उसके ममत्व का यहा निषेध किया है न कि द्रव्य लिंग का । क्योकि पहले जव दीक्षा ली गई उस समय सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किया गया था तब वहा देहका त्याग नहीं किया गया, क्योकि देहके आधार से ध्यान और अनुष्ठान होता है । और शेप परिग्रह के समान देह को पृथक् भी नही किया जा सक्ता, अत फिर वीतराग रूप ध्यानके कालमे ही यह मेरा देह है मैं लिंगी हू इत्यादि विकल्प व्यवहार के द्वारा भी नही करना योग्य है । इस कथन से देह का ममत्व छुडाया है यह कैसे जाना जाय ? इसका उत्तर यह है कि "ज देह णिम्ममा अरिहा दसणणाण चरित्ताणि सेवते" इत्यादि मूलग्रन्थकारका वचन, है इससे स्पष्ट जाना जाता है कि यहा देह का ममत्व छुडाया है और वह ठीक भी है। क्योकि शाली तदुल के ऊपर वाहर मे जव तक तुष लगा रहे तब तक अ तरग के तुसको नही छुडाया जा सकता । जहा अ तरग तुसका त्याग होता है वहाँ उसके वहिरग तुसका त्याग अवश्य होता ही है । इस न्यायसे जहा सर्वसग अर्थात् परिग्रह के त्याग स्वरूप बहिरग द्रव्यलिंग होता है वहा भाव लिंग होता भी है और नही भी होता कोई एक नियम नहीं है, किन्तु अन्तरग भाव लिंग जहाँ होता है वहा सर्व परिग्रह त्यागरूप द्रव्यलिग अवश्य होता ही है ऐसा नियम है ।

यहा पर शिप्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! जहा भावलिंग होता है वहा वहिरग (सर्व-सग त्यागरूप) द्रव्य लिंग भी होता ही है ऐसा भी नियम नही है क्योकि "साहारणासाहारणे" इत्यादि

आगम वचन मिलता है। आचार्य इसका परिहार करते हैं कि बात ऐसी है कि कोई तपस्वी ध्यान लगाये बैठा है वहा कोई दुष्ट आकर दुष्ट भाव से उस ध्यान मे बैठे हुए तपस्वी के कपड़ा लपेट जाय या उसे कोई आभूषण आदि पहना दे तो भी वह तो निर्ग्रन्थ ही रहता है क्योकि उसके बुद्धिपूर्वक ममत्व का अभाव है जिसके लिए पाण्डवादिक उदाहरण स्पष्ट है। तथा भरत चक्रवर्ती आदि भी दो घडी काल मे ही मुक्त होगये हैं वे भी निर्ग्रन्थ रूप धारण करके ही मुक्त हुये हैं परन्तु उनके परिग्रह के त्यागरूप अवस्था का काल स्वल्प होने से साधारण लोग उनके परिग्रह के त्यागको नही जानते हैं ऐसा यहाँ आशय है।

इस प्रकार भाव लिंग से रहित केवल मात्र द्रव्यलिंग से मोक्ष नही होता किन्तु जो भावलिंग सहित हैं उनका वहा द्रव्य लिंग सहकारी कारण है (उसके विना भाव लिंग नही होता) इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से यहा तेरहवे स्थल मे सात गाथायें कही गई ॥

यहा पर शिष्य फिर प्रश्न करता है कि केवलज्ञान तो शुद्ध होता है और छद्मस्थो का ज्ञान अशुद्ध, वह छद्मस्थो का ज्ञान शुद्धरूप केवलज्ञान का कारण नही हो सकता क्योकि "सुद्ध तु वियाणतो सुद्धमेवप्पय लहदि जीवो" इस प्रकार इसी समयसारमे वचन आया है अर्थात् शुद्धको जानने वाला ही आत्मा शुद्ध वनता है ऐसा इस समयसार मे लिखा है।

इसका आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि हे भाई! तुम जैसा कहते हो ऐसा नही है। अपितु छद्मस्थ का ज्ञान कथचित् शुद्ध भी होता है तो कथञ्चित् अशुद्ध भी। केवलज्ञान की अपेक्षा तो छद्मस्थ का ज्ञान अशुद्ध ही होता है किन्तु मिथ्यात्व और रागादि से रहित हो जाने के कारण और वीतराग सम्यक्त्व और चारित्रसे सहित होने के कारण वह शुद्ध भी होता है। अभेदनय से वह छद्मस्थ सबंधित भेद विज्ञान आत्म स्वरूप ही होता है, इसलिये एक देश व्यक्तिरूप उस ज्ञान के द्वारा सकलदेश व्यक्तिरूप केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है इसमे कोई दोप नही है। इस पर भी यदि तुम्हारा ऐसा अभिप्राय हो कि छद्मस्थो का ज्ञान तो सावरण और क्षायोपशमिक होता है इसलिये वह शुद्ध नही होता। ऐसा आशय लेनेपर तो फिर मोक्ष ही नही हो सकता क्योकि छद्मस्थो का ज्ञान एक देश निरावरण तो होता है किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा वह नियमपूर्वक आवरण सहित और क्षायोपशमिक ही होता है। इस पर यदि तुम ऐसा कहो कि परिणामिक भाव शुद्ध हैं उससे मोक्ष हो सकेगा। तो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नही बैठता क्योकि केवलज्ञान होने के पहले तो पारिणामिक भाव भी व्यक्ति रूप से नही किन्तु शक्तिरूप से ही शुद्ध होता है। देखो, पारिणामिक भाव जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के भेद से तीन प्रकार का है। उसमे अभव्यत्व भाव तो मुक्ति का कारण नही हो सकता है। शेप दो जीवत्व और भव्यत्व, इन दोनो मे शुद्धता तव होती है जवकि यह जीव दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम को प्राप्त कर लेने से वीतराग सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र के रूप मे परिणत होता है। वह शुद्धता वहा पर मुख्य रूप मे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव सवंधी होती है। पारिणामिक भाव की तो वहा गौणता रहती है। दूसरी वात यह है कि शुद्ध पारिणामिक भाव तो वध मोक्ष का कारण ही नहीं होता ऐसा श्री पचास्तिकाय के निम्न श्लोक मे कहा है—

मोक्ष कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधा.।
वधमौदयिको भावो निष्क्रिय पारिणामिक:॥

अर्थात् जीव के भाव औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक के भेदसे पाच प्रकार के है। उसमे से औदयिक भाव तो बध करने वाला है, और औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और क्षायिक भाव मुक्ति देने वाले हैं। पारिणामिक भाव निष्क्रिय होता है।

अतएव यह बात निश्चित होती कि मोक्ष का कारण तो क्षायोपशमिक रूप भाव श्रुतज्ञान ही है जो कि वीतराग सम्यक्त्व और चारित्र के साथ मे नियमसे होता है और जो निर्विकल्प रूप शुद्धात्मा की परिच्छित्तीरूप लक्षणवाला है। अतएव अभेदनय से वही शुद्धात्मा शब्द से कहा जाता है। ऐसा वह भाव श्रुतज्ञान जो कि क्षायोपशमिक होता है वही मोक्ष का कारण होता है शुद्ध पारिणामिक भाव कथचित् भेदाभेदात्मक द्रव्य पर्याय स्वरूप जो जीव पदार्थ है उसकी एक देश अभिव्यक्ति वाला शुद्ध भावना रूप अवस्था मे ध्येयरूप द्रव्यके रूपमे रहता है न कि ध्यान पर्याय के रूपमे क्योकि ध्यान तो विनश्वर हुआ करता है।

अब इस शुद्ध आत्मतत्व को निर्विकार स्वसवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा भाता हुआ आत्मा परमोत्तम अक्षय सुख को प्राप्त हो जाता है ऐसा आगे की गाथामे कहते है या **श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव इस समयसार ग्रन्थ** को समाप्त करते हुए इसका जो फल होता है उसे बतलाते है—

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो पावदि उत्तमं सोक्खं ॥४३७॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स प्राप्नोत्युत्तमं सौख्यं ॥४३७॥

अर्थ—जो ज्ञानी जीव इस समयसार ग्रन्थ को पढकर अर्थ और तत्व से जानकर उसके अर्थ में ठहरेगा अर्थात् इस ग्रन्थ के कहे अनुसार अपना परिणमन करलेगा वह स्वय उत्तम सुख को प्राप्त करलेगा ॥४३७॥

तात्पर्यवृत्ति.—श्री कुंदकुंदाचार्यदेवा समयसारग्रंथसमाप्ति कुर्वंत फल दर्शयति–तद्यथा–**जो समयपाहुडमिणं पठिदूणय** यः कर्ता समयप्राभृताख्यमिद शास्त्र पूर्वं पठित्वा न केवल पठित्वा **अत्थ तच्चदो णादुं** ज्ञात्वा च कस्मात् ? अथार्थत न केवल अ थार्थत ? तत्त्वतो भावपूर्वेण **अत्थे ठाहिदि** पश्चादुपादेयरूपे शुद्धात्मलक्षणेऽर्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थास्यति **चेदा सो पावदि उत्तम सोक्ख** स चेतयितात्मा भाविकाले प्राप्नोति लभते। किं लभते ? वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूप आत्मोपादानसिद्ध स्वयमतिशयवद्वीतबाध विशालवृद्धिह्रासव्यपेत विषयविरहित नि प्रतिद्वद्वभाव अन्यद्रव्यानपेक्ष निरुपम, अमित, शाश्वत सर्वकालमुत्कृष्टानतसार परमसुख सिद्धस्य जातमिति।

अत्राह शिष्य —हे भगवन् ! अतीद्रियसुख निरतर व्याख्यात भवद्भिस्तच्च जनैर्न ज्ञायते ? भगवानाह कोऽपि देवदत्त स्त्रीसेवनाप्रभृतिपचेद्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्त, तिष्ठति स केनापि पृष्ट भो देवदत्त ! सुखेन तिष्ठसि त्वमिति ? तेनोक्त सुखमस्तीति तत्सुखमतीद्रिय कस्मात ? इति चेत् सासारिकसुख पचेद्रियप्रभव। यत्पुनरतीद्रियसुख तत्पंचेंद्रियविषयव्यापाराभावेऽपि दृष्ट यत इद तावत्सामान्येनातीद्रियसुखमुपलभ्यते। यत्पुन. पचेद्रियमनोभवसमस्तविकल्पजालरहिताना समाधिस्थपरमयोगिना स्वसवेदनगम्यमतीन्द्रियसुख तद्विशेषेणेति। यच्च

मुक्तात्मनामतींद्रियसुखं तदनुमानगम्यमगम्यं च । तथाहि—मुक्तानामिंद्रियविषयव्यापाराभावेऽपि अतींद्रियसुखमस्तीति पक्ष । कस्मात् ? इति चेत् इदानी तेन विषयव्यापारातीतनिर्विकल्पसमाधिरतपरममुनींद्राणा स्वसंवेद्यात्मसुखोपलब्धिरिति हेतु । एव पक्षहेतुरूपेण द्व्यगमनुमान ज्ञातव्य । आगमे तु प्रसिद्धमेवात्मोपादानसिद्धमित्यादि वचनेन । अत. कारणात् अतींद्रियसुखे सदेहो न कर्तव्य इति । उक्तं च—

यद्देवमनुजा सर्वे सौख्यमक्षार्थसभव ।
निर्विशति निराबाध सर्वाक्षप्रीणनक्षम ॥१॥

सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिक ।
भाविनो ये च भोक्ष्यति स्वादिष्ट स्वातरजकं ॥२॥

अनतगुणित तस्मादत्यक्ष स्वस्वभावज ।
एकस्मिन् समये भुक्त तत्सुख परमेश्वर ॥३॥

एव पूर्वोक्तप्रकारेण विष्णुकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथासप्तक । तदनतरमन्य. करोति अन्योभुक्ते—इति बौद्धमतैकातनिराकरणमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय । तत परमात्मा रागादिभावकर्म न करोति इति सांख्यमतनिराकरणरूपेण सूत्रपचक । तत पर कर्मैव सुखादिक करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतैकातनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयोदश । तदनतर चित्तस्थरागस्य घात कर्तव्य-इत्यजानन्बहिरग शब्दादिविषयाणा घात करोमीति योऽसौ चिंतयति तत्सबोधनार्थं गाथासप्तकं । तदनंतर द्रव्यकर्म व्यवहारेण करोति भावकर्म निश्चयेन करोतीति मुख्यत्वेन गाथासप्तकं । तत परं ज्ञान ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनरूपेण सूत्रदशक । तदनंतर शुद्धात्मोपलब्धिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्र व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टय । तदनतर पचेन्द्रियमनोविषयनिरोधकथनरूपेण सूत्रदशक । तदनतर कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविनाशनिरूपण मुख्यत्वेन गाथात्रय । तत पर शास्त्रेंद्रियविषयादिक ज्ञानं न भवतीति प्रतिपादन रूपेण गाथापचदश । तत पर शुद्धात्मा कर्मनोकर्माहारादिक निश्चयेन न गृह्णाति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय । तदनतर शुद्धात्मभावनारूप भावलिंगनिरपेक्ष द्रव्यलिंग मुक्तिकारण न भवतीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन गाथासप्तक । तदनतर सुखरूपफलदर्शनमुख्यत्वेन सूत्रमेक ।

इति श्री जयसेनाचार्यकृताया समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ समुदायेन पचविंशत्युत्तरगाथाभिस्त्रयोदशाधिकारैः समयसार—

चूलिकामिदानी सर्वविशुद्धज्ञाननामा दशमोऽधिकार समाप्त —

टीका—(जो समयपाहुडमिण पठिदूणय) श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव इस समयसार ग्रन्थ को समाप्त करते हुये इसका फल दर्शाते हैं कि कोई भी जीव इस समय प्राभृत नाम के ग्रन्थ को पढकर, केवल पढकर ही नहीं (अत्थ तच्चदो णादु) अर्थ और तत्व से भी जानकर अर्थात् उसके भाव को भी समझकर (अत्थे ठाहिदि) पश्चात् शुद्धात्म लक्षण वाले उपादेय पदार्थ मे अर्थात् निर्विकल्प समाधि मे लग रहेगा (चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्ख) वह आत्मा आगामीकाल मे वीतरागरूप सहज अपूर्व परम आह्लाद रूप सुख को प्राप्त करेगा । वह सुख कैसा है —

आत्मोपादानसिद्ध स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं,
वृद्धिह्रासव्यपेत विषयविरहितं नि प्रतिद्व द्वभाव ।

अन्यद्रव्यानपेक्ष निरुपममित शाश्वत सर्वकाल-
मुत्कृष्टांनतसार परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ।।

अर्थात्—(इस समयसार के पढने और अपने जीवन मे उतारने से) जो सिद्ध होता है उसको वह परमसुख होता है जिसका कि आत्मा ही उपादान है अर्थात् आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अपने आप अतिशय सहित है, सभी प्रकार की बाधाओ से रहित है, विशाल है, अर्थात् उससे अच्छा सुख दूसरा कोई नही है, हानि और वृद्धि से रहित है, विषयो की वासना से रहित है, जिसमे दु ख का लेश भी नही है, जो अन्य द्रव्यो की अपेक्षा रखने वाला नही है, निरुपम है अर्थात् जिसकी तुलना करने वाला दूसरा सुख नही है, अमित है अर्थात् सीमातीत है, सर्वकाल रहने वाला है, उत्कृष्ट है और अनतसार वाला है।

यहा शिष्य प्रश्न करता है कि हे प्रभो! आपने अनेक बार अतीन्द्रिय सुख की बात कही है किंतु वह अतीन्द्रिय सुख कैसा है ऐसा लोग नही जानते ? भगवान आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं- देखो, कोई व्यक्ति स्त्री प्रसग आदि पचेन्द्रिय के विपय सुख व्यापार से रहित अवस्था मे सभी प्रकार की आकुल व्याकुलता से दूर होकर बैठा हुआ है उसको किसी ने आकर पूछा कि कहो भाई देवदत्त! सुख से तो हो ? इस पर वह उत्तर देता है कि सुख से हूँ, तो यह सुख अतीन्द्रिय है क्योकि सासारिक सुख विषयो के सेवन से पैदा होता है और यहा पचेन्द्रियो के विपय के व्यापार का अभाव होते हुये भी सुख दीख रहा है वह अतीन्द्रिय है। किन्तु यह जो सुख हो रहा है वह सामान्यात्मक साधारण सा अतीन्द्रिय सुख है। किंतु जो पाचो इन्द्रियो से और मन से होने वाले सभी प्रकार के विकल्प जालो से रहित ऐसे जो समाधिस्थ परम योगीराज को स्वसवेदनात्मक अतीन्द्रिय सुख होता है वह विशेष रूप से होता है (अर्थात् इससे भी और अपूर्व विशेपता लिये हुये होता है)। जो मुक्तात्माओ को अतीन्द्रिय सुख है, वह हम तुम सरीखे लोगो के या तो अनुमान गम्य है या आगम गम्य है। देखो, मुक्तात्माओ को इन्द्रिय विषयो के व्यापार के न होने पर भी अतीन्द्रिय सुख होता है, यह पक्ष हुआ। क्योकि वर्तमान मे होने वाला विषय व्यापार से रहित निर्विकल्प समाधि मे रत होकर रहने वाले परम मुनीश्वरो को स्वसवेद्यात्मक सुख की उपलब्धि होती है, यह हेतु हुआ। यह पक्ष और हेतु रूप दो अगवाला अनुमान हुआ ऐसा जानना चाहिये। आगम मे तो जैसा ऊपर "आत्मोपादान सिद्ध" इत्यादि वचन से ऊपर कह आये है वह वचन अतीन्द्रिय सुखका वर्णन करने वाला प्रसिद्ध ही है। इसलिये अतीन्द्रिय सुख के विषय मे सदेह नही करना चाहिये—यही वात और स्थान भी कही है—

यद्देव मनुजा· सर्वे सौख्यमक्षार्थ सभव, निर्विशति निराबाध सर्वाक्षप्रीणनक्षम ।।१।।
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्त महर्द्धिक, भाविनो ये च भोक्ष्यति स्वादिष्ट स्वातरंजक।।२।।
अनतगुणिन तस्मादत्यक्ष स्वस्वभावज, एकस्मिन समये भुक्ते तत्सुख परमेश्वर ।।३।।

अर्थात्—वर्तमान् मेजो पुण्याधिकारी देव और मनुष्य है वे सब निरंगल रूप से अपने सभी इन्द्रियो को प्रसन्न करने वाला इन्द्रिय जन्य और ऋद्धि आदि से प्राप्त हुए सुख भोग रहे है। और जो सुख पहले भूतकाल मे पुण्याधिकारी देव और मनुष्यो ने महर्द्धिक सुख भोगा है तथा आगे होने वाले पुण्याधिकारी देव और मनुष्य इन्द्रियजन्य स्वादिष्ट और मनोरजक सुखको भोगेगे उस समस्त सुख से भी अनन्तगुणा सुख अतीन्द्रिय जन्य अपने स्वभाव से उत्पन्न होने वाला सुख परमेश्वर सिद्ध भगवान को एक समय मे होता है।

जैसा कि पूर्व में वर्णन कर आये हैं सात गाथाओ मे विष्णु के कर्तापन का निराकरण किया है, उसके वाद चार गाथाओ मे वौद्धोकी इस मान्यता का निराकरण है कि कर्त्ता कोई दूसरा ही है और भोक्ता कोई दूसरा ही है। उसके आगे पाच गाथाए आई हैं जिनमे परमात्मा रागादि भावो का कर्त्ता नही है इस प्रकार की साख्यमतवालो की जो मान्यता है उसका निराकरण है। उसके आगे तेरह गाथाएं ऐसी हैं जिनमे इन्ही साख्यमतवालो की "कर्म ही सुखादि करता है आत्मा कुछ नही करता" इस मान्यता का निराकरण है। इसके पश्चात् सात गाथाए ऐसी हैं जिनमें जो पुरुष, चित्त मे होने वाले रागभाव का घात करना चाहिये, इस वात को नही जानकर वहिरग शव्दादि विषयो का ही घात करने के लिए सोचता रहता है, उसको समझाया है। इसके वाद सात गाथाए है, जिनमे यह वताया गया है कि आत्मा व्यवहार से द्रव्य कर्म का कर्त्ता है और निश्चय नय से भाव कर्म का कर्त्ता है। उसके भी आगे दस सूत्र ऐसे हैं, जिनमे वताया गया है कि ज्ञान गुण ज्ञेय रूप से परिणमन नही करता। उसके वाद चार गाथाओ में शुद्धात्मा की उपलव्धि रूप निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना रूप चारित्र का व्याख्यान किया गया है। उसके वाद दस सूत्र हैं, जिनमे पाचो इन्द्रिया और मनके विषयो के निरोध का कथन हैं। उसके वाद तीन गाथाये हैं, जिनमे यह वताया गया है कि कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का नाश करना चाहिये। इसके पश्चात् पन्दरह गाथाए आई हैं, जिनमें वताया गया है कि शास्त्र और इन्द्रियो के विषय शव्दादिक ये सव ज्ञान नही, ज्ञान इन सवसे भिन्न वस्तु है। इसके वाद तीन गाथाऐ हैं, जिनमें वताया गया है कि शुद्धात्मा निश्चय से कर्म और नोकर्म आदि आहार को ग्रहण नही करता। इसके वाद सात गाथाए हैं, जिनमे मुख्यता से यह वताया गया है कि शुद्धात्मा की भावना रूप जो भावलिंग है उस भावलिंग से शून्य जो द्रव्यलिंग है, वह मुक्ति का कारण नही होता, और इन सवके अन्त मे एक गाथा है, जिसमे मुख्यता से यह वतलाया गया है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने का फल सुख प्राप्ति है

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ की **श्री जयसेनाचार्य कृत** शुद्धात्मानुभूति लक्षण वाली तात्पर्य नाम की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद मे सव मिलाकर छिनवे (९६) गाथाओ के द्वारा तेरह अन्तर अधिकारो मे यह समय सार चूलिका है दूसरा नाम जिसका, ऐसा **सर्वविशुद्धिज्ञान** नामका दसवा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ स्याद्वादाधिकार

तात्पर्यवृत्ति —

अत्र स्याद्वादसिद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते॥

चिन्त्यते विचार्यते कथ्यते मनाक् संक्षेपेण भूय पुनरपि काऽसौ ? वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति ? वस्तुतत्त्वस्य वस्तुतत्त्वस्वरूपस्य व्यवस्थितिर्व्यवस्था। किमर्थं ? स्याद्वादशुद्धयर्थं स्याद्वादनिश्चयार्थं। अत्र समयसार व्याख्याने समाप्तिप्रस्तावेन केवल वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिर्विचार्यते। उपायोपेयभावश्च। उपायो मोक्षमार्ग उपेयो मोक्ष इति।

अत पर स्याद्वादशब्दार्थ क ?—इति प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरमाहु —**स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणानेकांतरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वाद** सच स्याद्वादी भगवतोऽर्हत शासनमित्यर्थ । तच्च भगवत. शासन किं करोति ? सर्व वस्तु, अनेकातात्मकमित्यनुशास्ति । अनेकात इति कोऽर्थ ? इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादक—अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूप परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वय यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकातो भण्यते । मचानेकातो किं करोति ? ज्ञानमात्रो योऽसौ भावो जीवपदार्थ शुद्धात्मा स तदतद्रूप एकानेकात्मक सदसदात्मको नित्यानित्यादि स्वभावात्मको भवतीति कथयति । तथाहि ज्ञानरूपेण तद्रूपो भवति । ज्ञेयरूपेणातद्रूपो भवति । द्रव्यार्थिकनयेनैक । पर्यायार्थिकनयेनानेक । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेन सद्रूप । परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेनासद्रूप । द्रव्यार्थिकनयेन नित्य । पर्यायार्थिकनयेनाऽनित्य । पर्यायार्थिकनयेन भेदात्मक द्रव्यार्थिकनयेनाभेदात्मको भवतीत्याद्यनेकधर्मात्मक इति ।

तदेव स्याद्वादस्वरूप तु समतभद्राचार्यदेवैरपि भणितमास्ते—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया ।
सवथेति प्रदुष्यति पुष्यति स्यादितीह ते ।।१।।

सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षक ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषा ।। २ ।।

अनेकातोप्यनेकान्त प्रमाणनयसाधन ।
अनेकात प्रमाणात्ते तदेकातोऽर्पितान्नयात् ।।३।।

धर्मिणोऽनतरूपत्व धर्माणा न कथचन ।
अनेकातोप्यनेकात इति जैनमत तत ।।४।।

एव कथचिच्छब्देन वाचकस्यानेकातात्मकवस्तुप्रतिपादकस्य स्याच्छब्दस्यार्थः सक्षेपेण ज्ञातव्य । तत्रैवमनेकातव्याख्यानेन ज्ञानमात्रभावो जीवपदार्थ एकानेकात्मको जात । तस्मिन्नेकानेकात्मके जाते सति ज्ञानमात्रभावस्य जीवपदार्थस्य नयविभागेन भेदाभेदरत्नत्रयात्मक निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयरूपेणोपायभूत साधकरूप घटते । मोक्षरूपेण पुनरुपेयभूत साध्यरूपं च घटत इति ज्ञातव्य । अथ प्राभृताध्यात्मशब्दयोरर्थं कथ्यते । तद्यथा—यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किंचित्सारभूत वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृत भण्यते। तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्र प्राभृत । कस्मात् ? सारभूतत्वात् इति प्राभृतशब्दस्यार्थ । रागादिपरद्रव्यनिरालवनत्वेन निजशुद्धात्मनिविशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्म। इद प्राभृतशास्त्र ज्ञात्वा किं कर्तव्य ? सहजशुद्धज्ञानानदैकस्वभावोऽह निर्विकल्पोऽह, उदासीनोऽह निजनिरजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसजातवीतरागसहजानदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसवेदनेन सवेद्यो गम्य प्राप्यो भरितावस्थोऽह । राग द्वेष-मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ-पचेंद्रियविषयव्यापार-मनोवचनकायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ- दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाक्षारूपनिदानमाया-मिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहित शून्योऽह । जगत्त्रयेऽपि कालत्रयेऽपि मनोवचनकायै कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वजीवा । इति निरन्तर भावना कर्तव्या । **इति स्याद्वादोऽधिकार ।**

अत्र ग्रथे प्रचुरेण पदाना सधिर्न कृता वाक्यानि च भिन्नाभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं । तेन कारणेन लिंग वचन क्रिया-कारक-सधि-समास विशेष्य-विशेषण वाक्यसमाप्त्यादिक दूषण न ग्राह्य विवेकेभि । शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये यदज्ञानात् किंचिद्विस्मृत तदपि क्षमितव्यमिति ।

जय उरमि पउमरगदी जेरग महातच्च पाहुडम्मेनो ।
बुद्धिमिन्गुद्धरिश्रो ममप्पिश्रो मव्वलोयम्म ।। १ ।।
ज मेलीणा जीवा तरनि ममार सायरमगान ।
त सव्वजीवमरगा गादउ जिण मामग मुइर ।। २ ।।

यश्चाम्यस्यति सग्रृणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात् ।
तात्पर्याख्यमिद स्वरूपरमिकं सर्वणित प्राभृन ।
शश्वद्रूपमल विचित्रसकल ज्ञानात्मक केवल ।
सप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिललनारक्त सदा वर्तते ।।

इति श्रीकुंदकुंददेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रंथस्यसंबधिनी श्री जयसेनाचार्य कृता दशाधिकारैरेकं.नचत्वारिंशदधिकगाथा शतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्ति समाप्ता ।।

।। इति सतात्पर्यवृत्तिसमयसारप्राभृत समाप्तं ।।

टीका—अव थोडा फिर भी इस वात का विचार किया जाना है कि वस्तु तत्त्व की व्यवस्थिती (व्यारया) किस प्रकार की है ? यह विचार भी स्याद्वाद की सिद्धि के लिए अर्थात् उसके निर्णय के लिए किया जा रहा है। यहा इम समयसार के व्याख्यान मे समाप्ति के अवसर पर केवल वस्तुतत्व की व्यवस्था का ही विचार नही किया जा रहा है किन्तु इसके साथ मे , उपाय उपेय भाव का भी विचार किया जा रहा है। यहा उपेय तो मोक्ष है और उपाय उस मोक्ष का मार्ग है। अव यहा प्रश्न होता है कि स्याद्वाद शव्द का क्या अर्थ है ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं—कि 'स्यात्' अर्थात् कथचित् विवक्षित प्रकार मे (अपनी विवक्षा को लिए हुए) अनेकात रूप मे वोलना (कथन करना) सो स्याद्वाद है। यह स्याद्वाद भगवान अर्हत देवका शासन है। यह भगवान का शासन सम्पूर्ण वस्तुओ को अनेकान्तात्मक वतलाता है। अव अनेकान्त का क्या अर्थ है ? सो स्पष्ट वतलाते हैं— एक ही वस्तु मे वस्तुत्व को निप्पन्न करने वाली अस्तित्व नास्तित्व सरीखी दो परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तियो का जो प्रतिपादन किया जाता है उसका नाम अनेकान्त है। वह अनेकान्त यह वताता है कि "ज्ञानमात्र जो भाव है अर्थात् जीव पदार्थ है शुद्धात्मा है वह तद्रूप या अतद्रूप या एकानेकात्मक अथवा सदसदात्मक किवा नित्यानित्यादि स्वभावात्मक है।" इसका स्पष्टीकरण यह है कि आत्मा ज्ञानरूप से तद्रूप है, तो ज्ञेयरूप से वही अतद्रूप भी है। द्रव्यार्थिकनय से एक है तो पर्यायार्थिक नय से वही अनेक भी है। अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय के द्वारा जो सद्रूप है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय के द्वारा असद्रूप भी है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य है तो पर्यायार्थिक नय से अनित्य भी है। पर्यायार्थिक नय के द्वारा भेदात्मक है तो द्रव्यार्थिक नय के द्वारा वही अभेदात्मक भी है इत्यादि अनेक धर्मवाला आत्मा है। श्री समतभद्राचार्य ने भी स्याद्वाद का स्वरूप ऐसा ही वतलाया है—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया ।
सर्वथेति प्रदुष्यति पुष्यति स्यादितीह ते ।।१।।

सत् - असत्, नित्य - अनित्य, एक - अनेक, और वक्तव्य - अवक्तव्य ये परस्पर विरुद्ध आठ नयो के चार जोडे हैं। इनको यदि सर्वथा एकान्त दृष्टि से माने तो ये एक दूसरे के विरुद्ध हो जाते है किन्तु

यदि स्यात् अर्थात् कथचित् रूप से इन्हे स्वीकार करने पर ये एक दूसरे के पोषक बने रहते हैं।

सर्वथा नियमत्यागी यथा दृष्टमपेक्षक ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्यैषामात्मविद्विषाम् ।।२।।

हे भगवन् ! 'स्यात्' शब्द आपके ही न्याय मे है जो कि सर्वथा एकान्त का त्यागी है, जैसा प्रत्यक्ष देखने मे आता है। एकानेकात्मक तत्व उस तत्व को लेकर चलने वाला है सो यह 'स्यात्' शब्द अपने आपका भी विगाड करने वाले ऐसे अन्य लोगो के यहा नही है।

अनेकातोप्यनेकात प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकात प्रमाणात्ते तदेकातोऽर्पितान्नयात् ।।३।।

हे भगवन् ! यद्यपि आपका मत अनेकातात्मक है तो भी वह अनेकात भी एकात से नही है, किन्तु वहा भी कथचित् एकात और कथचित् अनेकात है जोकि प्रमाण और नय के द्वारा सिद्ध कर लिया जाता है अर्थात् आपके यहा प्रमाण के द्वारा तो प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप है किन्तु अपेक्षित नय के द्वारा देखी गई जो वस्तु नित्य है वह उस नय से नित्य ही है और अनित्य है सो अनित्य ही है।

धर्मिणोऽनतरूपत्व धर्माणा न कथंचन ।
अनेकातोप्यनेकात इति जैनमतं तत ।।

जैसे कि धर्मी मे अनन्तरूपता है किन्तु प्रत्येक धर्म पृथक् पृथक् एक एक है। इसीलिये अनेकात में भी अनेकातपना है यह जैनमत कहता है।

इस प्रकार कथचित् शब्द का वाचक व अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन करने वाले 'स्यात्' शब्द का अर्थ सक्षेप से कहा गया समझ लेना चाहिये। इस प्रकार अनेकात के व्याख्यान से ज्ञानमात्र स्वभाववाला जीव पदार्थ भी अनेकान्तात्मक सिद्ध हुआ। उसके एकानेकात्मक रूप सिद्ध हो जाने पर ज्ञानमात्र स्वभाव वाले उस जीव पदार्थ का नयो के विभागद्वारा निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग के भेद से जो दो प्रकार वाला है, जो भेदाभेद रत्नत्रयात्मक है, ऐसा उपायभूत साधकरूप घटित हो जाता है और मोक्षरूप से उपेयभूत साध्यरूप भी घटित हो जाता है ऐसा समझना चाहिए। अब इसके आगे प्राभृत शब्द का और अध्यात्म शब्द का अर्थ कहा जाता है, वह ऐसे है—जैसे कोई देवदत्त नाम का मनुष्य राजा को देखने के लिये जब जाता है तो उस राजा को भली वस्तु देता है, उसी को प्राभृत कहा जाता है वैसे ही परमात्मा का आराधक जो पुरुष है उसके पास निर्दोष परमात्मा के दर्शन करने के लिये यह शास्त्र प्राभृत है क्योकि यह सारभूत है। इस प्रकार यह प्राभृत शब्द का अर्थ है। रागादि परद्रव्यो के आलवन से रहित जिसका आधार भी विशुद्ध है ऐसे अपने शुद्धात्मा मे स्थित हो जाना सो अध्यात्म शब्द का अर्थ है।

अब इस प्राभृत शास्त्र को जानकर क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्रकार की भावना करनी चाहिये कि 'मै तो शहज शुद्ध एक ज्ञानानन्द स्वभावमय हूँ, निर्विकल्प हूँ, अर्थात् किसी प्रकार के रागद्वेष से अथवा आर्त्तरौद्रभाव से रहित हू, उदासीन हूँ अर्थात्

दूसरे द्रव्यो से अब मेरा कोई सबध नही है, अपनी निरंजन जो शुद्धात्मा उसी के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान (आचरण) रूप जो निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहजानन्द रूप सुख उसका अनुभव करना ही है लक्षण जिसका ऐसे स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा मैं सवेद्य हूँ, गम्य हूँ, प्राप्य हूँ, अर्थात् उसी अनुभव से भरा पूरा हूं। रागद्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ और पचेन्द्रियो के विषयो का व्यापार तथा मन वचन काय का व्यापार और भाव कर्म द्रव्यकर्म नोकर्म एव ख्याति पूजा लाभ तथा देखे हुये, सुने हुये, और अनुभव मे लाये हुये ऐसे भोगो की आकांक्षा रूप निदान तथा माया मिथ्या शल्य आदि और भी जो विभाव परिणाम है इन सबसे मैं रहित हूँ। मैं तो शुद्ध निश्चयनय के द्वारा तीनो लोको में और तीनो कालो में मन वचन काय के द्वारा और कृत कारित और अनुमोदना के द्वारा पूर्वोक्त विभाव परिणामो से सर्वथा शून्य हूं वैसे ही निश्चयनय से और भी सब जीव हैं। यह स्याद्वाद अधिकार समाप्त हुआ।

यहाँ इस ग्रन्थमे लोगो को सरलता से ज्ञान प्राप्त हो जाय इसलिये प्राय. पदोकी सन्धि नही की गई है और वाक्य भी भिन्न भिन्न रक्खे गये हैं, इसलिए विवेकियो को यहां पर लिंग वचन क्रिया कारक सन्धि समास विशेष्य विशेषण और वाक्य परिसमाप्ति आदि विषय की कही कमी दीख पड़े तो ध्यान नहीं देना चाहिये, तथा शुद्ध आत्मादि तत्वो के प्रतिपादन के विषय में अज्ञान के कारण से कही कोई भूल रह गई हो तो क्षमा कर देने योग्य है।

(अब टीकाकर अन्तिम मंगलाचरण करते हैं) जिन महर्षि पद्मनन्दी ने अपनी बुद्धिरूपी सिर से महातत्व पाहुड अर्थात् समयसार पाहुड रूप पर्वत को उठाकर भव्य जीवो के लिये अर्पण कर दिया वे पद्मनन्दी महर्षि जयवंत रहो ॥१॥ जिसका आश्रय लेकर भव्य लोग अनत संसार सागर को पार कर जाते हैं, वह सब जीवो के लिये शरणभूत हो रहने वाला जिन शासन चिरकाल तक जयवन्त रहे ॥२॥ (यहां वृत्तिकार आशीर्वाद सूचक मगलाचरण करते हैं) आत्म रस के रसिको के द्वारा वर्णन किया हुआ यह तात्पर्य नाम का प्राभृत शास्त्र है इसको जो कोई आदरपूर्वक सुनेगा, पढेगा, अभ्यास करेगा और इसे फैलावेगा वह जीव सदा रहने वाला अद्भुत सकल ज्ञानस्वरूप समर्थ केवलज्ञान को प्राप्त करके उसके आगे सदा के लिये मुक्तिरूपी स्त्री मे आसक्त हो रहेगा।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा रचे गये समयसार प्राभृत नाम के ग्रन्थ की श्री जयसेनाचार्य के द्वारा बनाई हुई चारसो उनतालीस गाथाओ द्वारा दश अधिकार वाली इस तात्पर्यवृत्ति टीका का हिन्दी अर्थ श्री १०८ श्री आचार्य ज्ञानमूर्त्ति चारित्रभूषण ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा समाप्त हुआ।

आचार्य श्री की ओर से लाघव प्रदर्शन

अक्षरमात्रापदादिहीनम् यद्विहितोदितमन्त्यपराचीनम्।
क्षन्तव्यं साधुभिरक्षुद्रे को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥१॥
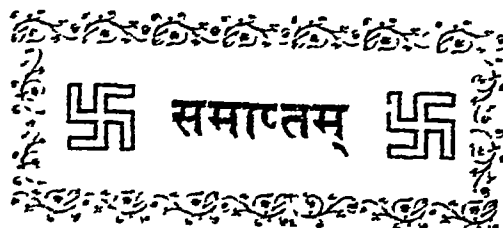
टीकाकार श्री जयसेनाचार्य की प्रशस्ति

अज्ञान तमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।
तत्प्रकाश समर्थाय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ॥१॥
सूरिः श्री वीरसेनाख्यो मूलसंघेपि सत्तपाः ।
नैर्ग्रन्थ्यं पदवीं भेजे जातरूपधरोपि यः ॥२॥
ततः श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः ।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥३॥
शीघ्रं बभूव मालु साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ॥४॥
यः संततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थ पुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥५॥
श्रीमन्त्रिभुवनचंद्रं निजमतवाराशितायना चन्द्रम् ।
प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधराम् ॥६॥
जगत्समस्तसंसारिजीवाकारण बन्धवे ।
सिंधवे गुणरत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥७॥
त्रिभुवनचंद्रं चंद्रं नौमि महासंयमोत्तमं शिरसा ।
यस्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ॥८॥

अर्थ—अज्ञान रूपीअन्धकार से यह रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग लिप्त हो रहा है उसके प्रकाश करने को समर्थ श्री कुमुदचन्द या पद्मचन्द्र मुनि को नमस्कार हो। इस मूलसंघ मे परम तपस्वी निर्ग्रन्थ पदधारी नग्न मुद्रा से सुशोभित श्री वीरसेन नाम के आचार्य हो गये हैं। उनके शिष्य अनेक गुणो के धारी आचार्य श्री सोमसेन हुए। उनका शिष्य यह जयसेन तपस्वी हुआ। सदा धर्म मे रत प्रसिद्ध मालु साधु नाम के हुए हैं उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है। उनसे चारुभट नाम का पुत्र उपजा है, उसे सर्व ज्ञान प्राप्त कर सदा आचार्यों के चरणो की आराधना पूर्वक सेवा करता है। उस चारुभट अर्थात् जससेनाचार्य ने जो अपने पिता की भक्ति की विलोप करने से भयभीत था इस प्राभृत नाम ग्रन्थ की टीका की है। मैं श्रीमान त्रिभुवनचन्द्र को नमस्कार करता हू, जो जगत के सब ससारी जीवो के निष्कारण बन्धु हैं और गुरुरूपी रत्नो के समुद्र है। फिर मै महा सयम के पालने मे श्रेष्ठ चन्द्रमातुल्य श्री त्रिभुवन-चन्द्र को नमस्कार करता हू जिसके उदय से जगत के प्राणियो के अन्तरग का अन्धकार समूह नष्ट हो जाता है।

नोट—यह श्री जयसेनाचार्य की प्रशस्ति प्रवचनसार मे छपी है वहा से ली गई है।

॥ समयसार आकारदि क्रमेण गाथा सूची ॥

॥ संस्कृत टीका में उद्धृत पद्य ॥

। इति ।

॥ भाषा टीका में उद्धृत पद्य ॥

॥ विशेष शब्द अणुक्रमिका ॥

ज्ञ

।। समयसार शुद्धि पत्र ।।

पृ० सख्या	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२६	सवघामिवेय	सवघामिघेय
३	४	रहित हैं।	रहित अचल हैं।
३	१७	रूप जो	अथवा
६	६	पूर्वमनशो	पूर्वमनतशो
६	१०	स्वसवेदद्य	स्वसवेद्य
७	२४	प्रमत'	प्रमत्तश्च
१२	३	गत। अथ	गत ॥१२॥ अथ
१२	४	॥ १२ ॥	×
१५	१६	अभेद	भेद
१३२	१४	वनाते हैं	वताते हैं
१	२	द्वादशागवम	द्वादशागवगम
१६६	८	अहम्म	अधम्म
२१५	१२	सम्यग्हइष्टे	सम्यग्दृष्टे
२४६	१४ १५	मे पहुचकर व्यवहार	×
२७०	२८	वव्ये	वध्ये
२७१	७	विभावरिणाम	विभावपरिणाम
२७२	१४	अर्थ–	×
२८०	२६	तत्म	तत्त्व
२८१	१	मायेन	मावेन
२८५	२	के उदय	×
२८५	६	तथैवा वेदकमपि	तथैवावेदकमपि
२८८	३१	सुख्यो	मुख्यो
३१३	२८	रागादि की निमित्त रूप से	चेतन रूप रागादि की उत्पत्ति में निश्चय से
३२१	२२	दिक्तन्मयो	दिक तन्मयो
३६०	२६	शुद्धयर्थं	सिद्धयर्थं
३६२	३३	परस्पय	परस्पर

॥ श्री ॥

हिसाब १ श्री समयसार जी ग्रन्थ प्रकाशन का

गत मिति आषाढ शुक्ला ५ विक्रम स. २२५ को **बाल ब्रह्मचारी श्री विद्यासागरजी के मुनिदीक्षा समारोह** के मगल प्रसग पर निकाली गई शोभा यात्राओ मे समाज द्वारा व्यक्तिगत एवम हस्तेवार प्राप्त धन राशि का विवरण

२७४३)८० श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज की मुनि दीक्षा पर भेंट द्वारा प्राप्त

१०८१)	शोभायात्रा मे श्री हुकमीचदजी नेमीचदजी दोसी के मारफत
५२०) ७५	शोभायात्रा मे ,, जैसवाल जैनसमाज केसरगज अजमेर के मारफत
३०३)	शोभायात्रा मे मेसर्स नेमीचद शान्तिलालजी बडजात्या के मारफत
१६४)	शोभायात्रा मे श्री पुसालाल जी गदिया बीर वाला के मारफत
१५०)	,, मे श्री निहालचदजी कैलासचदजी लुहाडिया के मारफत
११३)	शोभायात्रा मे श्री राजमल जी चूडिवाल के मारफत
१०१)	,, मे श्री हुकमीचदजी लुहाडिया पुरानीमडी अजमेर के मारफत
१०१)	,, मे श्री छीतरमल दोसी
१०१)	,, मे श्री गुप्त भेंट
१०९)५	,, मे खेरीज मे आया

२७४३)८०

समयसार ग्रन्थ प्रकाशन हेतु प्राप्त भेंट निम्नलिखित महानुभावों द्वारा

५००) श्री हुकमीचदजी लुहाडिया

२५१) श्री दीनानाथ जी जैन वल्युकेसल

२४५) श्री मथुरालालजी हीराचद जी वज

२३९) श्री सुमतचन्दजी ज्ञानचद जी जैन केसरगंज

२३५) श्री नेमीचदजी जैन बाम्वे टेन्ट हाउस अजमेर

२२१) श्री मलप्पा जी महावीर जी अष्टगे मु सदलगा

२०२) श्री चीरजीलाल जी सोनी

२०१) श्री रामस्वरूप जी जैन वल्युकेमल

१७८) श्री कपूरचद जी जैन जैनआदर्श पुरानीमडी अजमेर

१६६) श्री नत्थीलालजी कपूरचदजी जैन

११४) श्री भवरलालजी पारसमल जी गदिया वीरवाले
११२) श्री मूलचन्दजी मोतीलालजी पाटनी मारोठ वाले
१११) श्री मगलचन्दजी करमचन्दजी जैन
१०८) श्री माधूलालजी लादूलालजी गदिया वीर वाले
१०७) श्री रीखवदासजी नेमीचन्दजी वडजात्या
१०४) श्री रामप्रसादजी (चरणदेवी) केसरगंज
१०४) श्री भोगीरामजी कैलाशचदजी केसरगज
१०३) श्री यतिजी जैन केसरगंज
१०१) श्री सौभाग्यवती कनकलता धर्म पत्नि नथमलजी दोसी
१०१) श्री गोकुलालजी रतनलालजी गदिया
१०१) श्री माणकचन्दजी सोगाणी वकील
१०१) श्री छीतरमलजी नोरतमलजी दोसी
१०१) श्री फूलचन्दजी सुमेरमलजी पहाड़िया तनसुखीया
१०१) श्री वीसम्वरदयालजी राजेन्द्रकुमारजी जैन हाथी भाटा
१००) श्री ताराचन्दजी लुहाडिया
१०१) श्री गोरीलालजी छावडा राणोली
१०१) श्री गंभीरमलजी सेठी नसीरावाद
१०१) श्री गुप्त नाम से हस्ते श्री महेन्द्र कुमारजी वोहरा
१०१) श्री ताराचन्दजी महेन्द्रकुमारजी गगवाल अजमेर निवासी
९७) श्री छगनलालजी मदनलालजी गोधा
८१) श्री जैन समाज जाटियावास मदार गेट अजमेर
७२) श्री नत्थीलालजी जैन टीकमगज (प्रेम वाले)
७२) श्री कन्हैयालालजी जैन न्यूहार्डवेयर केसरगज अजमेर
६१) श्री भजनलालजी
५१) श्री करणसिहजी जैसवाल
५१) श्री छोगालालजी गुलावचन्दजी राणोली
११८७)५ फुटकर मे आये वगैर नाम के खेरीज के

८८२५)८५